श्रीपञ्चप्रतिक्रमणसूत्र

व

नवस्मरण

प्रबोधटीकानुसारी

शब्दार्थ, अर्थसङ्कलना तथा सूत्र-परिचय सहित

सम्पादक
प पू प श्री भद्रकर विजय जी गणि
प पू प श्री धर्मधुरधर विजय जी गणि
पडितवर्य श्री लालचद्र भगवानदास गाधी

आत्मानन्द जैन सभा
२/८२ रूप नगर, दिल्ली-११० ००७

दो शब्द

पंचप्रतिक्रमणसूत्र प्रबोधटीकानुसारी पू. पं. श्री भद्रंकर विजय जी गणि, पू. पं. श्री धुरंधर विजय जी गणि व पंडितवर्य श्री लालचन्द्र भगवानदास गांधी द्वारा गुजराती भाषा में तैयार की गई थी और इसका प्रकाशन 48 वर्ष पूर्व हुआ था। इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की उपयोगिता को देखते हुऐ इसका प्रथम हिंदी संस्करण सन 1955 में जैन साहित्य विकास मण्डल, मुम्बई द्वारा प्रकाशित हुआ। दूसरी तथा तीसरी बार इसका प्रकाशन सन 1968 एवं 1979 में हुआ।

उत्तरी भारत के जैन समाज के लिये इस सुन्दर ग्रंथ को उपलब्ध कराने के लिये जैन भारती, साध्वी रत्न, पूज्य महत्तरा मृगावती श्री जी महाराज की सुशिष्या परम विदुषी साध्वी सुव्रता श्री जी ने अपने विचार दिल्ली श्री संघ के समक्ष वर्ष 1996 के चार्तुमास में रखे। सरल हिंदी भाषा में अर्थ-सहित सभी सूत्रों का वर्णन धर्म-भावना को जागृत करेगा—इसी प्रेरणा के फलस्वरूप श्री आत्मानन्द जैन सभा ने इसे छपवाने का निर्णय लिया। जैन साहित्य विकास मण्डल, मुम्बई ने हमारे निवेदन को सहर्ष स्वीकार करते हुऐ हमें इस ग्रंथ को छपवाने की अनुमति प्रदान करके हमारे उत्साह और मनोबल को बढ़ाया है। इसके लिये हम हृदय से आभार व्यक्त करते हैं।

अभय कुमार जैन
महामन्त्री
श्री आत्मानन्द जैन सभा (रजि.)

जैन भारती महत्तरा साध्वी-रत्न
श्री मृगावती श्री जी महाराज जी
का संक्षिप्त

जीवन चरित
(1926-1986)

"आकृतिर्गुणान् कथयति"

विशाल, तेजस्वी मस्तक, निश्छल सौजन्य, करुणा नितरती आंखें, गुलाब के फूल जैसा सुख-दुःख में सदा खिला चेहरा, स्नेह-अमृत बरसाती दृष्टि, भारतीय संस्कृति और सभ्यता की पावन मर्यादाओं के प्रति अडिग, आस्थावान्, उज्ज्वल शुद्ध खादी में साध्वी श्री जी महाराज के प्रथम दर्शन में ही दर्शक को परमशांति का अनुभव होता था। उनके पास जो एक बार आया, सदा के लिए नतमस्तक हो गया। उनके पास ऐसी आत्मिक शक्ति थी, जो चुम्बक की तरह मानव को बरबस खींचती रहती थी। उनकी आकृति भव्य और आकर्षक थी। प्रवचन देते समय वे श्रोताओं के दिलों पर जादुई असर डालते थे। उनके व्यक्तित्व में कोमलता और सहानुभूति के साथ साहस और विवेक का सामञ्जस्य था। वे किसी अन्याय को भारती देवी और झांसी की रानी लक्ष्मीबाई की तरह प्रश्रय नहीं देते थे।

मनुष्य विचारवान् प्राणी है और उसकी सतत प्रगति का कारण है, उसके विचारों को बांटने और अपनाने की क्षमता। साध्वी जी महाराज ने विचारो की क्षमता से युग के नवनिर्माण का बीड़ा उठाया; युवकों में उत्साह फूंका; महिला-समाज को एक नई दिशा दी; मानव को सबसे राह दी और धर्म को कर्मकांडों, मन्दिरों तक ही सीमित न रखकर उसे व्यवहार में उतारा। उन्होंने अपनी वाणी के बल पर अनेक संस्थाओं का निर्माण करवाया। इतना ही नहीं वे खुद में एक बहुत बड़ी संस्था थे—देशोद्धार की संस्था, व्यक्ति के उद्धार की संस्था, धर्म, ज्ञान और विवेक की संस्था, संस्कृति और मनीषा की संस्था। कंठ की मधुरता, भाषा की ओजस्विता, विनम्रता और स्निग्धता उनकी वाणी की अपनी मौलिक विशेषताएं थीं। साध्वी जी महाराज के पास शंकराचार्य जैसा तेजस्वी प्रखर वैराग्य-वैभव, विलक्षण प्रतिभा, भारत की गार्गी और मैत्रेयी जैसी

गम्भीर ज्ञानगरिमा तथा सहजोबाई और मुक्ताबाई जैसी गुरुभक्ति की सम्पदा थी । उनके पास दौलत थी सत्य की, आचरण की और पांच महाव्रतों की। इस दौलत को उन्होंने खुले हाथों दुनियां को बांटा; लुटाया। समाज से उन्होंने जो कुछ पाया, उसको सहस्त्रो गुणा करके वापिस दे दिया।

गुरु आत्म का शौर्य, गुरुवल्लभ की दूरदृष्टि, गुरु समुद्र की गुरु भक्ति का त्रिवेणी संगम उनमें साकार था। अभूतपूर्व आत्मविश्वास और कठिन से कठिन परिस्थिति में भी धैर्य खोए बिना स्वविवेक से निर्णय लेने की क्षमता जैसे विलक्षण गुण उनके महत्तरा पद के अनुरूप ही थे। मोतीलाल नेहरू के शब्दों में "कुछ लोग ऐसे होते हैं जो काम करते हैं और कुछ ऐसे जो केवल श्रेय लूटने की चाह में रहते हैं।" साध्वी श्री जी प्रथम श्रेणी के व्यक्तियों की भांति सदैव कार्यरत रहे ।

आज जबकि जीवन-मूल्य अनिश्चित हैं, व्यक्ति पर अहम् प्रभावी है, युवावर्ग को कोई रचनात्मक दिशा प्राप्य नहीं है, कुप्रथाओं और कुव्यसनों में मानव बुरी तरह फंसता जा रहा है, पंचमकाल के विषम वातावरण में मानव बेहद अशान्त, परेशान हैं, ऐसे मानव के लिए आप अन्धकार में सूर्योदय की भांति सिद्ध हुए। आपने एक सीधी स्पष्ट दिशा का निर्माण करके उन्हें ऐसा मार्ग दिखाया, जिस पर महान् लोगों के पदचिह्न अंकित हैं। यह मार्ग कंटीला भी है और सुगन्धित भी, जिस पर फूल नहीं बिछते हैं, पर जहां आत्मा स्वयं फूल की तरह महक-महक उठती है, सुगन्धि फैलाये जाती है, जहां शान्त निर्झर नहीं बहते, पर व्यक्ति स्वयं झरना बन जाता है। आप जैसे पावन संतों के बल पर जगत् जीता है, दु:ख-सुख को समान भाव से सहता है, निराशा आशा में परिणत होती है, जीवन जीने जैसा लगता है।

आप प्रत्येक मानव का आदर करते थे। जो काम हाथ में लेते थे, उसे पूरा करके ही छोड़ते थे। "देहं पातयामि कार्य वा साधयामि" का व्रत बाने की तरह उनके जीवन में बुना हुआ था, इसलिए सफलताएं उनके चरण चूमती थीं। जो बोलते थे, उसे आचरण में कर दिखाते थे, किसी को झूठा आश्वासन नहीं देते थे। साहित्यकारों, कलाकारों, विद्वानों का सदैव सम्मान करते थे। साधर्मिक बन्धुओं, विधवाओं, नि:सहायों, अनाथों, विद्यार्थियों की गुप्त सहायता करना उनका नित्यकर्म था। वे प्रान्त, लिंग, जाति एवं साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से ऊपर उठे हुए थे।

वस्तुत: उनको जगत्वंदनीय बनाने का श्रेय पू. माता गुरु वयोवृद्ध, तपोमूर्ति सा० शीलवती श्री जी महाराज को है जिन्होंने सच्चे शिल्पी की तरह उनके जीवन को

गढ़ा एवं सेवा-साधना-समर्पण की साक्षात् मूर्ति ज्येष्ठ शिष्या साध्वी श्री सुज्येष्ठा श्री जो महाराज का है, जिन्होंने अपने गुरुजी की 40 वर्ष अप्रमत्तभाव से उत्तर साधक बनकर सेवा की और उनके हर कार्य में सहायक बने।

श्री वल्लभ स्मारक की मूल प्रेरणा स्रोत ऐसी विलक्षण विभूति, कर्मठ आध्यात्मिक नेता साध्वी श्री मृगावती जी के असामयिक निधन से केवल जैन-जगत् को ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के समस्त शांतिप्रिय समाजों की भारी क्षति हुई है।

पूज्य साध्वी महत्तरा श्री मृगावती जी महाराज की सुशिष्या साध्वी सुव्रता श्री जी की प्रेरणा से सहयोगी दान कर्ताओं की सूची

1.	श्री आत्म वल्लभ जैन महिला मण्डल, रूप नगर	दिल्ली
2.	श्रीमती जीवन प्रभा	दिल्ली
3	श्री दीनानाथ धनराज सुशील कुमार जैन, रूप नगर	दिल्ली
4	श्री पदम कुमार अभिनन्दन कुमार जैन	दिल्ली
5.	श्रीमती रीता सतीश ओसवाल, राजपुर रोड	दिल्ली
6.	श्रीमती कमलकान्ता शान्तिलाल जैन	दिल्ली
7	श्री आत्मवल्लभ जैन महिला मण्डल, वल्लभ विहार, रोहिणी	दिल्ली
8.	श्रीमती कुसम जैन	गुड़गांवा
9.	श्री सुरिन्द्र कुमार सन्तोष रानी जैन, अशोक विहार	दिल्ली
10.	श्री रोशन लाल राकेश कुमार जैन, रूप नगर	दिल्ली
11.	श्रीमती सुदर्शन कुमारी अश्वनी कुमार जैन	दिल्ली
12.	श्रीमती तरसेम जैन, वीर नगर	दिल्ली
13.	श्री श्रीपाल अरुण कुमार जैन	जगाधरी
14.	श्री बाबू लाल महेन्द्र कुमार जैन	जगाधरी
15	श्रीमती विमला जैन, तिमारपुर	दिल्ली
16.	श्रीमती शशी जैन	गुड़गांवा
17.	श्री यशेष छेड़ा	दिल्ली
18.	श्रीमती शिव रानी जैन, अशोक विहार	दिल्ली
19.	श्रीमती भारती बेन शान्तिलाल चौधरी	दिल्ली
20	श्रीमती पल्लवी बेन दीपक भाई	मुम्बई
21.	श्रीमती अनिला बेन श्रेयांस कुमार जैन	दिल्ली
22.	श्रीमती जय रानी, पीतमपुरा	दिल्ली
23.	श्रीमती कुसम बेन जयन्ती लाल मरडिया	दिल्ली
24.	श्रीमती कमला बेन राजकुमार जैन, रूप नगर	दिल्ली

25	श्री सुरिन्द्र कुमार निर्मल कुमार	दिल्ली
26	श्रीमती महिमावन्ती जगदीश लाल जैन	दिल्ली
27	श्रीमती साधना जैन कमला नगर	दिल्ली
28	श्रीमती जसमीना जैन कमला नगर	दिल्ली
29	श्रीमती सुमित्रा देवी मुनीलाल जैन वीर नगर	दिल्ली
30	श्रीमती नवलबेन मिलाप चन्द जैन	दिल्ली
31	श्रीमती तारा बेन हुक्मी चन्द जैन	दिल्ली
32	श्रीमती सुनन्दा शशी जैन	दिल्ली
33	श्रीमती आशारानी जैन रूप नगर	दिल्ली
34	श्रीमती शोभा जैन	दिल्ली
35	श्रीमती लीलावती कान्तीलाल जैन	दिल्ली
36	श्रीग्ती कन्चन पन्ना पुष्पा बेन बीकानेर वाले	दिल्ली
37	श्रीमती मीनाक्षी जैन महेन्द्र एन्कलेव	दिल्ली
38	श्रीमती अनुपम जैन पीतमपुरा	दिल्ली
39	श्रीमती सुभाष कान्ता जैन कमला नगर	दिल्ली
40	श्रीमती हरशी छेडा	दिल्ली
41	श्रीमती शिमला सूरज प्रकाश गुडमण्डी	दिल्ली
42	श्रीमती कान्ता	दिल्ली
43	श्रीमती शीला	दिल्ली
44	श्रीमती दयारानी देवेन्द्र कुमार जैन	दिल्ली
45	श्रीमती पदमा युवराज कुमार जैन	दिल्ली
46	श्रीमती बिमला देवी अभय कुमार जैन	दिल्ली
47	श्रीमती रशमी जैन	गुडगावा
48	श्री कस्तूरी लाल जैन	गुडगावा
49	गुप्त दान	
50	श्रीमती सुदर्शन कुमारी अभय कुमार जैन अशोक विहार	दिल्ली
51	श्रीमती स्नेहलता जैन	दिल्ली
52	श्री तिलक चन्द शशीकान्त	दिल्ली

प्रकाशकीय निवेदन ... ...

प्रतिक्रमण के सूत्र मंत्र गर्भित हैं। इनके रचयिता समर्थ, प्रबुद्ध, प्रकांड् विद्वान एवं विशुद्ध चारित्र धारी आचार्य भगवंत हैं। इन सूत्रो पर आधारित क्रिया को आवश्यक क्रियाओं के सूत्र कहे गये हैं। और आत्मोन्नति का अमोघ साधन एवं सोपान समझे गये हैं। जैन परम्परा में इन क्रियाओं को बहुत ही महत्त्व का स्थान प्राप्त है। हर एक साधु – साध्वी श्रावक – श्राविका इसको सनातन काल से करते आ रहे हैं।

ऐसी महत्वपूर्ण, भव्य, लोकोत्तर व कल्याणकारी क्रिया का रहस्य भालिभाति समझ मे आये, इस हेतु से इस संस्था के सस्थापक विद्वान स्व. श्रेष्ठिवर्य श्री. अमृतलाल कालीदास दोशी, बी. ए. ने प्रबोध टीका प्रतिक्रमण सूत्रों की पुस्तक तैयार करने का सकल्प किया। फलतः पू. पं. श्री. भद्रंकर विजयजी गणी, पू. पं. श्री. धुरंधर विजयजी गणी व पंडितवर्य श्री. लालचंद्र भगवानदास गांधी ने पंच प्रतिक्रमण सूत्र प्रबोध टीकानुसारी गुजराती भाषा में तैयार की। इसका प्रथम, द्वितीय व तृतीय भाग क्रमशः वि. सं. २००७, २००८ और २००९ में प्रकाशित हुए, जिनका जैन मुनिवर्ग व समाज ने बड़े ही उत्साहपूर्वक स्वागत किया।

इस पुस्तक में प्रत्येक सूत्रका मूलनाम उसके शीर्षस्थान पर दिया गया है, और प्रचलित नाम नीचे कोष्टकमें दिखलाया गया है। इसके पश्चात् मूलपाठ दिया गया है, जिसमें पद्योंके छन्दका नाम निर्देश भी है। 'संसार-दावानल थुई', 'वर्धमान – स्तुति', 'प्राभातिक – स्तुति', 'पासनाह जिण थुई' आदि सूत्र देखने से जिसका स्पष्ट रूप सामने आ जाता है। तदनन्तर दो विभागों में शब्दार्थ है, जिसमें प्रथम शब्दका मूल अर्थ दिया गया है और जहाँ जहाँ उसका लाक्षणिक अथवा तात्पर्यार्थ दिखानेकी आवश्यकता प्रतीत हुई, वहाँ वहाँ दूसरा अर्थ भी दिया गया है। जैसे कि —

मत्थएण – मस्तक से, मस्तक झुकाकर।
अयरामरं ठाणं – अजरामर स्थानको, मोक्षको।

यदि शब्द सामासिक हो, तो एसा अर्थ दिखलाने के पश्चात् पृथक् पृथक् शब्दों के अर्थ भी बतलायें हैं। जैसे —

नवविह – बंभचेर – गुत्तिधरो – नवविध ब्रह्मचर्य की गुप्ति को धारण करनेवाला। नवविह – नवविध, नव प्रकारकी, बंभचेर – गुत्ति – ब्रह्मचर्य की गुप्ति, ब्रह्मचर्य पालन संबन्धी नियम। धरो – धारण करनेवाला।

इसके बाद शुद्ध हिन्दी में अर्थ संकलना दी गई है और अंत में सूत्र परिचय दिया गया है। जिस में प्रस्तुत सूत्र कब, किस हेतुसे बोला जाता है, इसका निर्देश किया गया है और तत्सम्बन्धी जो सम्प्रदाय अथवा किवदन्ती प्रचलित है, उसका वहां वैसे ही स्वरूपमें निदर्शन करा दिया है। इसके अतिरिक्त कुछ स्थलों पर सूत्र परिचयके बाद सरल भाषा मे संक्षिप्त प्रश्नोत्तरी दी गयी है, जो सूत्रका विषय स्पष्ट करने मे बहुत ही उपयोगी है।

प्रस्तुत पुस्तकमें सामायिक लेनेकी तथा पूर्ण करनेकी विधि, चैत्यवंदन की विधि, देवसिक – रात्रिक – पाक्षिक – चातुर्मासिक – सावत्सरिक – प्रतिक्रमण विधि, पौषध विधि, छींक आये तो करने की विधि तथा पच्चक्खाण पारनेकी विधि दी गई है। और इनके हेतु भी विस्तारपूर्वक दिये हैं, जिससे

पाठकगण उन-उन विधियोका रहस्य समझ सके और उनके अनुशीलन का आनन्द भी प्राप्त कर सके।

साथ ही मंगल भावना, प्रभुके सम्मुख बोलने के दोहे, शत्रुंजयको प्रणिपात करते समय बोलने के दोहे, नवाङ्ग पूजा के दोहे, अष्टप्रकारी पूजाके दोहे, ४ प्रभुस्तुति, १६ चैत्यवंदन, १५ स्तवन, १५ स्तुतियां, ५ सज्झाय, ६ छंद तथा पद, २ आरती, २ मंगल दीपक, छुटे बोल तथा श्रावक के प्रतिदिन के धारने योग्य चौदह नियम एवं सत्रह प्रमार्जना दी गयी है, जिससे जैन धार्मिक शिक्षण संघ, बम्बई एवं अन्य परिक्षा संस्थाओं के अभ्यासक्रमकी परीक्षा देनेवाले छात्र सरलतासे तैयारी कर सकेंगे।

इस पुस्तक को पढते समय गुजराती श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र प्रबोध टीका के तीनों भाग पास रखने से किसी प्रकारकी पाठभेद अथवा अर्थभेद सम्बन्धी कठिनाई नहीं होगी।

इसी गुजराती टीका के आधार पर हिन्दीका प्रथम सस्करण सन् १९५५ एवं दूसरा सन् १९६८ में प्रकाशित हुए। अब हम तीसरा संस्करण प्रकट कर रहे हैं। इसमें अत्यधिक विलंब हुआ है। इसका प्रमुख कारण छपाई की असुविधा रही। इसको दूर करने के लिए संस्थाको स्वयं कम्पोजिंग विभाग स्थापित करना पड़ा और इस प्रकार हम तीसरा संस्करण प्रकाशित करने में समर्थ हुए हैं। आशा करते हैं कि इससे जैन समाज लाभान्वित होगा।

प्रस्तुत संस्करण में चार और स्मरण – तिजयपहुत्तस्तोत्र, नमिऊणस्तोत्र, भक्तामरस्तोत्र एवं कल्याणमंदिरस्तोत्र सम्मिलित किये गये हैं, ताकि पाठकों को नवस्मरण एक ही स्थान पर उपलब्ध हो सके। इनमें भी दूसरे सूत्रों के अनुसार शब्दार्थ, अनुवाद, सूत्र परिचयादि दिये गये हैं।

साथ साथ में पू. पं. श्री भद्रंकरविजयजी, म. सा. व पू. पं. श्री धुरंधर विजयजी, म. सा. कृत 'प्रतिक्रमणनी पवित्रता' का हिन्दी अनुवाद भी दिय

गया है। इन गणीवर्योंने प्रतिक्रमण क्रियाकी महत्ता को, विस्तृत विवेचन कई ग्रन्थोंका आधार लेकर, किया है। इसको पढ़कर, हम आशा करते हैं कि, आज के जन मानस पर आध्यात्मिकता की अनिवार्यताका अवश्य प्रभाव पड़ेगा और जो प्रतिक्रमण क्रियाको निरर्थक मानते हैं, उन गुणग्राही वाचकों को इसकी यथार्थताका समाधान होगा और इस क्रिया के प्रति श्रद्धा जागृत होगी।

निवेदक
चंद्रकांत अमृतलाल दोशी
ट्रस्टी
जैन साहित्य विकास मंडळ

अगस्त, १९७९
इरला, विलेपारले,
बंबई - ४०० ०५६.

विषयानुक्रम

उपयोगी विषयों का संग्रह

२५ स्तुतियाँ :—

२६ सज्झाय :—

———

નમસ્કાર-યંત્ર
નમો સિદ્ધાણં
એસો પંચ નમુક્કારો
નમો આયરિયાણં
નમો ઉવજ્ઝાયાણં
નમો લોએ સવ્વ સાહૂણં
પઢમં હવઇ મંગલં
નમો અરિહંતાણં

प्रतिक्रमण की पवित्रता +

निर्युक्तिकार श्रुतकेवली भगवन् श्री भद्रबाहुस्वामी आवश्यक निर्युक्ति नामक ग्रन्थरत्न में फरमाते हैं कि —

केवलज्ञान द्वारा, अर्थों को जानकर, उनमें जो प्रज्ञापनीय अर्थ हैं उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। वह उनका वाग्योग है और वह द्रव्यश्रुत है। '

जगत में पदाथ दो प्रकार के हैं — (१) अनभिलाप्य और (२) अभिलाप्य। अनभिलाप्य अर्थात् जो कहे न जा सकें और अभिलाप्य अर्थात् जो कहे जा सकें। इन में भी जो कहे जा सकते है ऐसे पदार्थों के भी दो विभाग हैं —एक अप्रज्ञापनीय अर्थात् न बताए जाने योग्य और दूसरे प्रज्ञापनीय अर्थात् बताए जाने योग्य। (जो कहे जा सकें ऐसे होते हुए भी तीर्थंकरों की आयु मर्यादित होने के कारण न कहे जा सके व और दूसरे प्रज्ञापनीय अर्थात् वे जो कहे जा सके) उसमें अनभिलाप्य के अनंतवे भाग में अभिलाप्य हैं आभलाप्य के अनंतवे भाग में प्रज्ञापनीय है और प्रज्ञापनीय के अनतवे भाग में सूत्रा मे गूँथित है। प्रज्ञापनीय पदार्थों को कहना प्रभु का वाग्योग है, श्रोताओंके भावश्रुत का कारण है इसलिये वह द्रव्यश्रुत भी कहलाता है। (प्रज्ञापनीय पदार्थों को जानने के लिये बोले जाने वाले शब्दों का समूह प्रभु का वाग्योग है।)

\+ यह भाग प्रथम और दूसरी आवृत्ति में उपोद्घात् के रूप में था।

१ केवल्णाणणत्थे, णाउं जे तत्थ पण्णवणजोगे।
ते भासइ तित्थयरो वयजोगसुयं हवइ सेसं॥
— आ नि गा ७८

केवलज्ञाननार्थान् ज्ञात्वा ये तत्र प्रज्ञापनयोग्या श्रोतृशक्त्यपेक्षया कथ नार्हास्तान् तीर्थंकरो भाषते। इहाऽर्था द्विधा–अनभिलाप्या अभिलाप्याश्च, अभिलाप्या द्विधा अप्रज्ञाप्या प्रज्ञाप्याश्च तत्रानभिलाप्यानामनन्ते भागे अभिलाप्या, तेषामप्यनन्ते भागे प्रज्ञाप्यास्तेषामप्यनन्तभाग पूर्वेषु बद्ध स्यादिति॥ — आवश्यक दीपिका भाग १ ला पृ० ११

उस श्रुतज्ञान को अरिहंत किस विधि से कहते हैं ? इसका वर्णन करते हुए वे महापुरुष फरमाते हैं कि :—

तप, नियम और ज्ञानरूपी वृक्ष पर आरूढ अपरिमित ज्ञानी केवली भगवन्त भव्य जीवों को बोध देने के लिये वचनरूपी पुष्पों की वृष्टि करते हैं। उसे गणधर भगवन्त बुद्धिमय पटद्वारा ग्रहण करके सूत्र रूप में गूँथते हैं। जिनेश्वर के वचन सुखपूर्वक ग्रहण और धारण हो सके तथा सुखपूर्वक दिये और लिये जा सकने के कारण अपना कल्प समझकर गणधर उनकी सूत्ररूप रचना करते हैं। कहा है कि :—

अरिहंत अर्थ कहते हैं, शासन के हित के लिये गणधर उसे निपुण रीति से सूत्रमें गूँथते हैं और उसमे श्रुत प्रवर्तित होता है।[१]

केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् अरिहंतों के द्वारा स्वमुखसे कथित और निपुण बुद्धिनिधान गणधरों द्वारा भावी शासन के हितार्थ स्वयमेव रचित श्रुत क्या है इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि :—

सामायिक से लगाकर बिन्दुसार (चौदहवाँ पूर्व) पर्यन्त श्रुतज्ञान है। इस श्रुतज्ञान का सार चारित्र है और चारित्र का सार निर्वाण (मोक्षसुख) है।[२]

प्रतिक्रमण सूत्र के रचयिता कौन ?

अपना प्रस्तुत विषय प्रतिक्रमण सूत्र है। प्रतिक्रमण सूत्र सामायिक से लगाकर बिन्दुसार पर्यन्त श्रुतज्ञान का ही एक भाग है। अतः उसे अर्थ से कहने वाले अरिहंत भगवंत हैं और सूत्र से गूँथने वाले गणधर भगवन्त हैं।

---

१. अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ॥ –आ. नि. गाथा–९२

२. सामाइयमाईयं, सुयनाणं जाव बिन्दुसाराओ।
तस्स वि सारो चरणं, सारो चरणस्स निव्वाणं॥

— आ. नि. गाथा – ९३

इसी बात को सविशेष प्रमाणित करने के लिये हम आवश्यक सूत्र पर रचित निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाग्रन्थों के कई सत्य उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

आवश्यक सूत्र जिसके छः अध्ययन हैं और जिसका प्रथम अध्ययन सामायिक है, वह अर्थ से अरिहंतों के द्वारा प्रकाशित है – यह बात निर्युक्तिकार भगवान श्री भद्रबाहुस्वामी के वचनों से हम देख चुके हैं।

निर्युक्तिकार के बाद उल्लेखनीय स्थान प्राप्त होता है भाष्यकार का। आवश्यक सूत्र के प्रथम अध्ययन की निर्युक्ति पर विशेषावश्यक भाष्य के रचयिता समर्थ शास्त्रकार पुण्यनामधेय श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं, और उस पर विशद वृत्ति के रचयिता मलधारगच्छीय आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी हैं। ग्रन्थ के प्रारंभमें ही वृत्तिकार फरमाते हैं कि :—

चरण–करण–क्रिया–कलापरूप वृक्ष के मूल सदृश सामायिक अध्ययन रूप और श्रुतस्कंधरूप श्री आवश्यक सूत्र अर्थ से श्रीतीर्थंकर देवों और सूत्र से श्री गणधर भगवन्तों द्वारा रचित है। इस सूत्र की अतिशय गंभीरता और सकल-साधु-श्रावक वर्ग की नित्य (क्रिया में) उपयोगिता जानकर चौदह पूर्वधर श्री भद्रबाहुस्वामीने आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान इत्यादि प्रसिद्ध ग्रन्थस्वरूप निर्युक्ति की रचना की है।[1]

तत्पश्चात् तीन प्रकार के लोकोत्तर आगमों में आवश्यक सूत्र किस में अवतार प्राप्त करता है – इसका वर्णन करते हुए भाष्यकार महर्षि स्वयमेव फरमाते हैं कि :–

---

१ इह चरणकरणक्रियाकलापतरुमूलकल्पं सामायिकादिषडध्ययनात्मकं श्रुतस्कंधरूपमावश्यकं तावदर्थतस्तीर्थंकरैः, सूत्रतस्तु गणधरैर्विरचितम्। अस्य चातीव गम्भीरार्थतां सकलसाधुश्रावकवर्गस्य नित्योपयोगितां च विज्ञाय चतुर्दशपूर्वधरेण श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिना एतद्व्याख्यानरूपा आभिनिबोधिकज्ञानं श्रुतज्ञानं चेव ओहिनाणं च इत्यादि प्रसिद्ध ग्रन्थरूपा निर्युक्तिः कृता।

सुयओ गणहारीणं, तस्सिसाणं, तहाऽवसेसाणं ।
एवं अत्ताणंतर – परंपरागमपमाणम्मि ॥
अत्थेण उ तित्थंकरगणधरसेसाणमेवेदं ।

— वि. भा. गाथा ६४८ – ९

इसका स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार महर्षि फरमाते हैं कि :—

लोकोत्तर आगम तीन प्रकार के हैं :— (१) आत्मागम, (२) अनन्तरागम, (३) परंपरागम । श्री आवश्यकसूत्र सूत्र से गणधरों को आत्मागम है, क्यों कि उन्होंने ही सूत्र की रचना की है, अर्थात् उनसे ही वह प्रकट हुआ है। उनके शिष्य जंबूस्वामी आदि को अनंतरागम है, क्यों कि गणधरों से उन्हें सीधा प्राप्त है और उनके शिष्य प्रभवस्वामी, शय्यंभवस्वामी आदि को यह सूत्र परंपरागम है, क्यों कि आचार्यों की परम्परा से उन्हें प्राप्त है। अर्थ से अनुक्रमशः तीर्थंकरों को आत्मागम, गणधरों को अनंतरागम और शेष जंबूस्वामी आदि को परंपरागम है, क्यों कि अर्थ के प्रथम उत्पादक श्री तीर्थंकर देव हैं।

भाष्यकार के पश्चात् तीसरा स्थान आता है चूर्णिकार के उल्लेख का। आवश्यक सूत्र किसके द्वारा रचित हैं? इसका उत्तर देते हुए आवश्यकसूत्र की चूर्णि के रचयिता फरमाते हैं कि:- (प्रश्न) सामायिक किसने की? (उत्तर) अर्थ की, अपेक्षा से श्री जिनेश्वर भगवंतों ने और सूत्र की अपेक्षा से श्री गणधर भगवंतो ने। [१]

सामायिक अध्ययन को आवश्यक सूत्र में प्रथम स्थान क्यों? इसका स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार श्री हरिभद्रसूरिजी आदि महर्षिओने फरमाया है कि:-

---

१ केणं कयं सामायिकं ? अर्थं समाश्रित्य जिनवरैः सुत्तं गणहरेहिं।

समभाव लक्षणवाला सामायिक यहाँ प्रथम अध्ययन है। चतुर्विंशति-स्तव आदि उसी के भेद होने से सामायिक की प्राथमिकता है। [1]

चूर्णिकार के बाद टीकाकारों में—आवश्यक पर विद्यमान टीकाओं में प्रथम टीकाकार के रूप में स्थान आचार्यपुंगव श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी का आता है। वे श्री आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा ७४२ पर टीका करते हुए फरमाते हैं कि:—

तीर्थंकर देव कृतकृत्य होने से सामायिक अध्ययन को तथा अन्य चतुर्विंशतिस्तव आदि अध्ययनों को किस प्रयोजनसे कहते हैं? उसका समाधान यह है कि तीर्थंकरनामकर्म मैंने पूर्व में उपार्जित किया है, उसे मुझे भोगना चाहिये—ऐसा जानकर श्री तीर्थंकर देव सामायिक और दूसरे चतुर्विंशतिस्तवादि अध्ययन कहते हैं।[2]

इसी बात को विशेषावश्यक के टीकाकार मलधारी श्री हेमचन्द्र-सूरीश्वरजी तथा आवश्यक के टीकाकार महर्षि श्री मलयगिरिजी महाराज स्वरचित टीकाओं में अक्षरशः प्रतिपादित करते हैं।

इस प्रकार निर्युक्तिकार, भाष्यकार, चूर्णिकार और टीकाकारोंके स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होने से आवश्यक सूत्र और तदन्तर्गत सामायिक और प्रतिक्रमणादि अध्ययनों के रचयिता तीर्थंकरो के आद्य शिष्य बीजबुद्धि के स्वामी

---

१ तत्र प्रथमध्ययनं–सामायिकं समभावलक्षणत्वात्, चतुर्विंशतिस्तवादीनां च तद्भेदत्वात् प्राथम्यमस्येति।

२ तित्थयरो किं कारणं, भासइ सामाइयं तु अज्झयणं।
तित्थयरनामगोत्तं, कम्मं मे वेइयव्वं ति।–आ. नि. गाथा–७४२।

टीका–तीर्थकरणशीलस्तीर्थंकरः, तीर्थं पूर्वोक्तं, स किं कारणं–किं निमित्तं भाषते सामायिकं त्वध्ययनं? तु शब्दादन्याध्ययनपरिग्रहः, तस्य कृतकृत्यत्वादिति हृदयम्, अत्रोच्यते–तीर्थंकरनामगोत्रं, तीर्थंकरनामसंज्ञं, गोत्रशब्दः संज्ञायाम्, कर्म मया वेदितव्यमित्यनेन कारणेन भाषते, इति गाथार्थः।

और चतुर्शपूर्व की लब्धि धारण करने वाले गणधर भगवंत हैं-इस बात में लेशमात्र भी संशय नहीं रहता और इसीलिये प्रतिक्रमण सूत्रोका महत्त्व संघ में इतना अधिक क्यों है ? तथा जैन संघ में उसके प्रति आदरभाव यथावत् क्यों टिका हुआ हैं ?–इसका स्पष्टीकरण स्वतः हो जाता है। साथ ही इस प्रश्न का समाधान भी हो जाता है कि पूर्वाचार्य महर्षिओं द्वारा विरचित सूत्र निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका ये पाँचों ही शास्त्र के अंग अस्खलित रूप से सुरक्षित रखे जा रहे हैं, उस संघ के हितैषी व्यक्ति जैन संघ के अभ्युदयार्थ धार्मिक अध्ययनक्रममें सर्व प्रथम सामायिक–प्रतिक्रमणके सूत्र पढ़ाने का आग्रह क्यों करते हैं।

आवश्यक सूत्रों की महिमा–

अनंतज्ञानी श्री अरिहंत देव के मुखकमल में से निकले हुए और बुद्धिनिधान श्री गणधरदेवों द्वारा संघके हितार्थ एक अन्तर्मुहूर्तमें ही रचित सूत्रों के अन्तर्गत श्री आवश्यक और श्री आचारांगादि सूत्रों की महिमा तथा उसका अर्थ–गांभीर्य अन्य सभी शास्त्रों की अपेक्षा अधिक है।–यह स्वाभाविक है। सूत्र रचना की अपेक्षासे, अर्थ गांभीर्य की अपेक्षा से, सूत्र और अर्थ तदुभय के वैशिष्ट्य की अपेक्षा से गणधररचित कृतिओं का मूल्य सबसे अधिक है। इस दृष्टिसे प्रतिक्रमण सूत्र और उनका अध्ययन चतुर्विध संघ के मन अधिक आदर पात्र रहे, इसमें लेशमात्र भी आश्चर्य करने जैसी बात नहीं है। गणधररचित श्री आचारांगसूत्र आदि अन्य रचनाएँ केवल मुनिगण के योग्य और वह भी अधिकारी और पात्र जीवों के योग्य होने से श्री आवश्यकसूत्र का स्थान उनसे अधिक व्यापक है, क्यों कि उसका अधिकारी बाल, बुध और मध्यम तीनों प्रकार का वर्ग है। तीनों प्रकार के साधु और श्रावक वर्ग के लिये ये सूत्र दैनिक क्रिया में उपयोगी होने से इनका अध्ययन श्रीजिनाज्ञावर्ती चतुर्विध संघ में अधिक व्यापक और अग्रगण्य स्थान ले – यह सर्वथा सुघटित है।

आज यह शिकायत है कि प्रतिक्रमण सूत्रों का अध्ययन विद्यार्थी वर्ग को नीरस लगता है और उसकी क्रिया उकताने वाली लगती है; इसलिये धार्मिक पाठ्यक्रम में परिवर्तन तथा सुधार होना चाहिये। इस शिकायत के संबंध में यही कहना है कि श्रीगणधर भगवंतों की कृति रसपूर्ण ही होती है, मात्र उस रस के आस्वादन हेतु हमें स्वयं को तदनुकूल बनना चाहिये, उसका अधिकारी बनना चाहिये।

इस अधिकार के लिये ज्ञान और श्रद्धा दोनों अपेक्षित हैं। ज्ञान भाषा संबंधी, सूत्ररचना संबंधी और अर्थ गाम्भीर्य संबंधी होना चाहिये। श्रद्धा रचयिता संबंधी, रचयिता के व्यक्तित्व और चारित्र संबंधी, रचयिता की विशाल बुद्धि और अनंत करुणा संबंधी होनी चाहिये, परन्तु अँग्रेजी भाषा के अत्यधिक आदर और सम्मान से आज की प्रजाने संस्कृत और प्राकृत भाषा का ज्ञान लगभग खोया ही है। साथ ही थोड़े अक्षरों में अधिक अर्थ समाविष्ट कर लेने की शक्तिवाले सूत्र और उनकी रचनाशैली की श्रेष्ठता नहीं समझने के कारण, अधिक शब्दों में अल्प ही अर्थ कहने वाले अन्य वाचन में शक्ति का अधिक व्यय हो रहा है तथा जिसके अभ्यास से एक ही जन्म में अनेक जन्मों के कार्य सिद्ध हो सकें ऐसे अर्थ और तत्त्वों से भरे हुए शास्त्रों को छोड़कर एक ही जन्म के तत्क्षण पर्यन्त कार्य की संदिग्ध सिद्धि को बताने वाले ग्रन्थों के वांचन में ही समय काटने में आज का व्यक्ति अभ्यस्त हो गया है; इसीलिये गणधररचित सूत्रों, उनकी शैली, उनकी भाषा तथा उनमें संग्रहित महान् अर्थों से संबंधित अध्ययन में रुचि उत्पन्न नहीं होती।

इसी प्रकार श्रद्धा भी आज चाहे जिस व्यक्ति पर, चाहे किसी की बुद्धि पर रखने के लिये लोकमानस अभ्यस्त हो गया है। ऐसी स्थिति में शुद्ध व्यक्तित्व वाले, शुद्ध चारित्र वाले, विशाल बुद्धि वाले और निष्कारण करुणा वाले महापुरुषों ने महान् प्रयोजन की सिद्धि हेतु जो सूत्र और जो क्रियाएँ बताई हैं उनके अभ्यास में उदासीनता, प्रमाद या आलस्य का अनुभव होता है तो वह भी सहज है।

आवश्यक सूत्रों की भाषा सर्व श्रेष्ठ है, अर्थ बड़े गंभीर हैं, रचना सर्व-मंगलमय है, इस प्रकार का ज्ञान और रचयिता सर्वश्रेष्ठ चारित्र सम्पन्न, सर्वोत्तम बुद्धि के निधान और लोकोत्तर करुणा के भंडार हैं। इस प्रकार की श्रद्धा होने के पश्चात् आवश्यक सूत्रों के अध्ययन में तथा शास्त्रोक्त विधि के अनुसार नित्य प्रतिक्रमण की क्रिया में रुचि उत्पन्न न हो – यह सभव नहीं हैं : बल्कि अन्य सभी अभ्यासों और अन्य सभी क्रियाओं के रस की अपेक्षा उसका रस बढ़कर है – ऐसा अनुभव अवश्य होता है।

तत्वज्ञान के ग्रंथों का अभ्यास प्रथम क्यों नहीं ?

आवश्यक सूत्रों का अभ्यास मात्र क्रिया करने वालों के लिये ही उपयोगी है, परन्तु ज्ञान की तीव्र अभिलाषा वाले को उस में से कुछ भी विशिष्ट ज्ञान प्राप्त नहीं होता – ऐसी एक शिकायत सुनने को मिलती है। इसका उत्तर निर्युक्तिकार भगवान श्री भद्रबाहुस्वामी स्वयं ही निर्युक्ति की गाथाओं में सचोट रूप से देते हैं। सम्पूर्ण श्रुतज्ञान का सार चारित्र है और सम्पूर्ण चारित्रका सार मोक्ष है। यह जिनशासन का मुद्रालेख है। जिस ज्ञान के पीछे चारित्र का हेतु नहीं, वह ज्ञान नहीं परन्तु एक प्रकार का अज्ञान है; प्रकाश नहीं परन्तु एक प्रकारका अंधकार है। जिस चारित्र के पीछे मोक्ष का साध्य नहीं, वह चारित्र नहीं परन्तु एक प्रकारका कायकष्ट है; गुण नहीं परन्तु गुणाभास है। मोक्ष ही सर्व प्रयोजनों का प्रयोजन है; सर्व साध्यों का साध्य है। मोक्ष का साधन है इसलिये चारित्र आदरणीय है, मोक्ष के साधन का साधन है इसलिये ज्ञान आदरणीय हैं। यदि ज्ञान चारित्र का साधन न बने, और चारित्र मोक्ष का साधन न बने तो शास्त्रकारों की दृष्टि से दोनों निष्फल हैं, निरर्थक हैं, हानिकर है। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर ज्ञान और क्रिया का विचार करना है।

प्रतिक्रमण की क्रिया और तत्सम्बधी ज्ञान तत्वज्ञान के अर्थी को निरर्थक लगते हों तो वह तत्वज्ञान का सच्चा अर्थी ही नहीं, परन्तु तत्वज्ञान के नाम पर कोई अन्य ही ज्ञान प्राप्त करने का पिपासु है, वह ज्ञान शास्त्र-

ज्ञानी की दृष्टि में मात्र बोधरूप प्रमाद का पोषक अथवा अहंकारादि की वृद्धिरूप बनने की भारी संभावना है अथवा तो उससे उसे कोई भी आत्मिक प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। श्री जैन शासन में क्रिया के लिये ही ज्ञान है। जहाँ क्रिया की आवश्यकता नहीं वहाँ ज्ञान की आवश्यकता नहीं। अथवा दया के लिये ज्ञान है इसलिये जहाँ दया की आवश्यकता नहीं वहाँ ज्ञानवृद्धि की भी क्या आवश्यकता है। दया की रुचि से रहित को ज्ञान अधिक निर्दय बनाता है, उसी प्रकार क्रिया की रुचि से विहीन को ज्ञान अधिक निष्क्रिय (प्रमादी) या अधिक असत्क्रिय (पापपरायण) बनाता है।

पढमं नाणं तओ दया – प्रथम ज्ञान और बाद में अहिंसा। इन शास्त्र-वचनों का मर्म दया या अहिंसा को पीछे रखने के लिये नहीं है, परन्तु अधिक पुष्ट करने हेतु है। दया साध्य है और ज्ञान उसका साधन है। साध्य की सिद्धि हेतु साधन की आवश्यकता होती है, साध्य को भूल जाने के लिये नहीं। साध्य भूल जाने के बाद साधन साधन ही नहीं रहता। दया को पुष्ट बनाने के लिये ज्ञान पढ़ो। अहिंसा को दृढ बनाने के लिये ज्ञान का आदर करो – यह यहाँ तात्पर्य है। दया का आदर्श रखकर ज्ञान को पढ़ना है। दया को छोड़कर ज्ञान पढ़ने का उपदेश नहीं। यहाँ दया चारित्र का उपलक्षण है। यही बात क्रिया के सम्बन्ध में है। क्रिया को स्थायी बनाने के लिये ज्ञान पढ़ो। क्रिया या चारित्र के बिना मोक्ष नहीं, अत: ऐसा ज्ञान खूब पढ़ो जिससे चारित्र और क्रिया सुदृढ़ हो। प्रतिक्रमण की क्रिया भी चारित्र की शुद्धि के लिये है। जिस प्रकार चारित्र के बिना मोक्ष नहीं, उसी प्रकार प्रमादग्रस्त और दोषों से भरे हुए जीवों के लिये इन दोषों की बार २ शुद्धिरूप प्रतिक्रमण किये बिना चारित्र भी नहीं। जैन शास्त्रकारों का यह भारपूर्वक उपदेश है कि मात्र भावना से या मात्र तत्त्वज्ञान के बल से किसी जीव का मोक्ष नहीं हुआ, होता नहीं, होगा नहीं। सद्गति या मोक्ष का मुख्य आधार अकेला ज्ञान नहीं परन्तु ज्ञानयुक्त क्रिया है। ज्ञान तो मात्र क्रिया का उत्तेजक तथा शुद्ध करनेवाला है। जिस ज्ञान से वह

कार्य न हो सके वह ज्ञान बाँझ है, निष्फल है, शून्यवत् है। **ज्ञानस्य फलं विरतिः** प्र. र. गा. ७२।

निर्युक्तिकार श्री भगवान भद्रबाहुस्वामी फरमाते हैं कि :—

श्रुतज्ञान में वर्तता हुआ जीव यदि तप और संयममय योगों को करने में असमर्थ हो तो वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता।

आगे बढ़कर वे फरमाते हैं कि :—

ज्ञानरूपी निर्यामक प्राप्त करते हुए भी जीवरूपी पोत (नाव), तप-संयम रूपी पवन के बिना, संसार समुद्र का पार – मुक्तिस्थान प्राप्त नहीं कर सकती। संसार सागर में मनुष्यभव आदि सामग्री प्राप्तकर, कुछ ऊँचा आने के बाद, और बहुत कुछ जानते हुए भी यदि चारित्र गुण विहीन रह गया तो पुनः डूब जाएगा। चारित्रगुण से हीन को अधिक ज्ञान भी अंधे के आगे लाखों और करोड़ों दीपकों की भाँति क्या फल देगा? चारित्रयुक्त को प्राप्त अल्प भी श्रुत चक्षुसहित को एक भी दीपक की तरह प्रकाश करने वाला होता है। चंदन के बोझ को वहन करने वाला गधा बोझ का भागी होता है, परन्तु चंदन की सुगंध का भागी नहीं होता, उसी प्रकार चारित्र से हीन ज्ञानी ज्ञान का (अर्थात् ज्ञान पढ़ने से उत्पन्न कष्ट का) भागी होता है, परन्तु सुगति का भागी नहीं होता। ज्ञान के साथ क्रिया का संयोग होने से मोक्ष होता है परन्तु अकेले ज्ञान से नहीं। जिस प्रकार एक चक्र मे रथ नहीं चलता परन्तु दो चक्रों से चलता है अथवा जैसे अंधा और पंगु दोनों साथ मिलकर इष्ट स्थानपर पहुँचते हैं, उसी प्रकार ज्ञान और क्रिया साथ मिलकर ही मोक्ष को सधाते हैं, एकाकी रूप में कदापि नहीं। जिस प्रकार घर की शुद्धि करनी हो तो दीपक का प्रकाश चाहिये, पुराने कचरे को निकालना चाहिये और नवीन आते हुए कचरे को रोकना चाहिये, उसी प्रकार जीव की शुद्धि में ज्ञान दीपक की भाँति प्रकाश करने वाला है और क्रिया जो तप संयम उभय स्वरूप है वह अनुक्रम से कर्मरुपी कचरे का निकन्दन करनेवाली तथा नवीन आते हुए कर्मरुपी कचरे को रोकनेवाली है।

इस प्रकार मोक्ष मार्ग में क्रिया मुख्य उपकारकर्ता है और ज्ञान उसका एक साधन मात्र है। इसलिये तप–संयमरुपी क्रिया को पुष्ट और शुद्ध करने वाली प्रतिक्रमणादि आवश्यक क्रिया और उससे सम्बन्धित सूत्रों का अध्ययन –अध्यापन मोक्षमार्ग का अनिवार्य अंग है।

प्रथम तत्त्वार्थाधिगमसूत्र या प्रथम प्रतिक्रमणसूत्र ?

मुक्तिमार्ग पर प्रयाण करने के इच्छुक मुमुक्षु आत्मा को सर्व प्रथम अध्ययन तत्त्वज्ञान के ग्रन्थों का करवाएँ या क्रिया प्रधान सूत्रों का करवाएँ? यह प्रश्न बड़ा विचारणीय है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रथम अध्ययन मुख्यतः क्रिया प्रधान सूत्रों का करवाया जाता है जब कि दिगम्बर संप्रदाय में (तत्त्वार्थसूत्र जिन में मुख्य है ऐसे) तत्त्वप्रधान ग्रन्थों का करवाया जाता है। मुक्तिमार्ग में दोनों ही वस्तु इष्ट होने परभी एकाकीरूप से दोनों निष्फल हैं – यह बात हम ऊपर देख आए हैं। अब जब क्रम का ही विचार करना है तो सर्व प्रथम ज्ञान को मुख्यता दे या क्रिया को? यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है। संविज्ञ, भवभीरु और गीतार्थ श्वेताम्बर महर्षियों के पास पंचांगी-सहित समस्त श्रुतज्ञान की धरोहर होने से उसके मन्थनस्वरूप उन्होंने क्रिया-प्रधान सूत्रों के अध्ययन का ही क्रम पसंद किया है और अपने अनुयायियों का जीवन तदनुसार ढालने के लिये ही मुख्य प्रयास किया है। इसका परिणाम आज प्रत्यक्षरूप से भी देखने को मिलता है कि श्वेताम्बर संप्रदाय में दोष की शुद्धि के लिये प्रतिक्रमणरूपी आवश्यक क्रिया प्रतिदिन चलती रहती है, प्रतिदिन न कर सकने वाला प्रतिपक्ष, प्रतिचातुर्मास और अन्त में प्रतिवर्ष एक बार तो अवश्य करता ही है जिससे संघ व्यवस्था बनी रहती है, पाप से पीछे हटने रूपी कर्तव्य का पालन करने की समग्र संघ की धर्मभावना बनी रहती है; समान सूत्रों द्वारा सभी के लिये वह क्रिया करणीय होने से सकल संघ (फिर वह द्रव्य की अपेक्षा से साधु–साध्वी, श्रावक–श्राविका रूप हो अथवा क्षेत्र की अपेक्षा पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण के देश का निवासी हो, अथवा वय की अपेक्षा बाल, वृद्ध, युवान या प्रौढ हो; अथवा भाव की

अपेक्षा अधिक गुणी, अल्पगुणी, मध्यमगुणी या सामान्यगुणी हो – सभी) स्वयं को लगे हुए दोषों की शुद्धि करवाने वाली क्रिया के आराधक बनकर सुगति को साधने के लिये शक्तिमान होते हैं। क्रिया प्रधानता का यह महान लाभ है। ऐसे क्रियाप्रधान संघ में जितना ज्ञान बढता जाए उतना लाभ-दायक है, आभूषणरूप है, शोभारूप है, कुगति के मार्ग को काटने वाला है। इसके विपरीत जहाँ क्रिया मुख्य नहीं मानी गई और ज्ञान ही मुख्य माना गया है, वहाँ ज्ञान बढ़ने के साथ २ अधिक अधिकांशतः अहंकार की वृद्धि, क्रिया की उपेक्षा, प्रमाद की पुष्टी और आलस्य का आदर होता जाता है। परिणामस्वरूप आत्मा की अधोगति और स्वेच्छाचार की परम्परा बढ़ती है। अनादिकाल से जीव के स्वेच्छाचार से विहारकरने और स्वच्छंदाचारण करने की बुरीलत पड़ी हुई है। उस बुरी लत से अभ्यस्त जीवों को ज्ञान की बात मधुर लगती है और क्रिया की बात कटु लगती है परन्तु शास्त्रकार महर्षियों की दृष्टि में ऐसे व्यक्तियों की स्थिति —

> जैसे पाग कोऊ शिर बाँधे, पहिरन नहि लँगोटी;
> सद्‌गुरु पास क्रिया बिनु सीखे, आगम बात त्युं खोटी०

(– उपाध्याय श्री यशोविजयजी गु. सा. सं. भाग १, पृ. १६२, गा. १) उसके जैसी होती है। नीचे का अंग ढँकने के लिये जिसके पास एक छोटी सी लँगोट भी नहीं, वह मस्तकपर बड़ी सी पगड़ी बांधकर बाज़ार में होकर निकले तो हास्यास्पद ही होती है। उसी की भाँति लगे हुए पाप का शुद्धिकरण करने हेतु स्वल्प क्रिया भी जिसने नहीं रखी वह ज्ञान और शास्त्र की बड़ी २ बातें करे तो मात्र बातें करने से उसकी शुद्धि या सद्‌गति नहीं हो सकती।

जो प्रतिक्रमण की क्रिया को इस दृष्टि से सोच सकते हैं, उनके लिये इस क्रिया के लिये अल्प किन्तु अत्यन्त आवश्यक सूत्र पढ़ने के लिये अरूचि या ऊब होने का लेशमात्र भी संभव नहीं; बल्की इतने अल्प सूत्रों में ऐसी महान् क्रिया को चतुर्विध संघ के हितार्थ उतार देने वाले अपूर्व रचना शक्ति

के धारक गणधर भगवंतों के ज्ञान और करुणा पर अत्यन्त आदर होना संभव है और इन सूत्रों के अध्ययन और इसके आधार पर होती हुई विधियुक्त प्रतिक्रमण की क्रिया के विधानों को आज तक हम तक पहुँचाने वाले श्रद्धा-सम्पन्न चतुर्विध संघ की अविच्छिन्न परम्परा का उपकार हमारे लक्ष्य में आने की संभावना है। इससे फलित होता है कि तत्त्वज्ञान के सूत्रों का अध्ययन करवाने से पूर्व क्रियाप्रधान सूत्रों का अध्ययन हो तो वह मोक्षमार्ग में अत्यन्त आवश्यक है।

जहां तक प्रमाद है, वहाँ तक प्रतिक्रमण की आवश्यकता है।

प्रतिक्रमण का अर्थ स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार महर्षि फरमाते हैं कि :–

प्रमादवश अपना स्थान छोड़कर परस्थान में पहुँचा हुआ जीव स्वस्थान में लौटता है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं।[1]

अपना स्थान अर्थात् स्वयं प्राप्त किया हुआ धर्मस्थान अथवा गुण स्थान। प्राप्त धर्मस्थान या गुणस्थान से जीव के भ्रष्ट होने का कोई भी कारण हो तो वह प्रमाददोष की अधीनता है। जीव का यह प्रमाद दोष सातवें और उससे ऊपर के गुणस्थान प्राप्त होने से पूर्व सर्वथा दूर नहीं होता। गुणस्थानों का यह स्वरूप जो जानते नहीं, वे आत्मज्ञान के नाम, ब्रह्मविद्या के नाम या स्वरूपरमणता के नाम एक प्रकार की भयंकर भ्रांति के शिकार बन जाते हैं जो मुक्तिमार्ग में एक बड़े से बड़ा भय स्थान है। इस विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही शास्त्रकारों ने एक जैसी चेतावनी दी है। जीव के उत्क्रान्ति मार्ग के सोपान के रूप में दोनों ही शास्त्रकारों ने एक जैसी चेतावनी दी है। जीव के उत्क्रान्ति मार्ग के सोपान के रूप में दोनों ही शास्त्रों में चौदह प्रकार के गुणस्थानों का वर्णन किया है जिसके अनुसार जहाँ तक जीव मिथ्यात्वदोष के अधीन है, वहाँ तक वह प्रथमगुणस्थान से

---

[1] स्वस्थानाद् यत्परस्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते॥ १॥

ऊपर नहीं जा सकता। जहाँ तक अविरति के दोष के अधीन है, वहाँ तक चौथे गुणस्थान से ऊपर नहीं चढ़ सकता और जहाँ तक प्रमाददोष के अधीन है, वहाँ तक छठे गुणस्थान से ऊपर नहीं बढ़ सकता। वर्तमान में काल, क्षेत्र और जीवों की धृति तथा संघयणके दोष के कारण छठे और सातवें गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान नहीं माने जाते। सातवें गुणस्थान का सम्पूर्ण काल एकत्रित किया जाए तो भी वह एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं हो सकता। जीव का अधिक से अधिक काल प्रमत्त नामक छठे और उससे भी नीचे के गुणस्थानों में ही बीतता है – ऐसी स्थिति में इसका रक्षक यदि कोई भी हो तो वह मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद इन तीनों की प्रतिपक्षी क्रियाएँ ही हैं।

मिथ्यात्व से प्रतिपक्षभूत सम्यक्त्व है। वह चतुर्थ गुणस्थान में प्राप्त होता है। उसका रक्षण करनेवाली क्रिया देव-गुरु-संघ की भक्ति और शासनोन्नति की क्रिया है। अविरति की प्रतिपक्षी विरति है जिसके दो प्रकार हैं :- आंशिक और सर्वथा। आंशिक विरति को देशविरति कहते हैं, सर्वथा विरति को सर्वविरति कहते हैं। देशविरति का रक्षण करनेवाला गृहस्थ के षट्कर्म[१] और बारह व्रतादि का पालन है। सर्वविरति का रक्षण करने वाली साधु की दैनिक सामाचारी और प्रतिक्रमणादि क्रिया है। इन क्रियाओं के अवलंबन बिना सम्बन्धित गुणस्थान टिक नहीं सकते। प्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त बिना क्रिया मात्र भाव से, मात्र ध्यान से ही जो मोक्ष के इच्छुक हैं, वे मिथ्यात्व मोह से मुग्ध होते हैं – ऐसा जैनशास्त्रकार दृढतापूर्वक मानते हैं। ध्यान या ज्ञान में वे कितने ही आगे बढे हुए (स्वयं को मानते) हों, तब भी भूमिका के योग्य क्रिया से वंचित हों तो वे प्रथम गुणस्थान से एक कदम भी आगे बढे नहीं – ऐसा मानना चाहिये, क्यों कि दोष की प्रतिपक्षी क्रियाएँ ही उन दोषोंका निग्रह कर सकती हैं।

---

[१] देवपूजा गुरुपास्तिः, स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां, षट् कर्माणि दिने दिने ॥ १ ॥
(गुणस्थान क्रमारोह टीका)

जैन दर्शन इस काल और इस क्षेत्र में केवलज्ञान और मुक्ति की प्राप्ति का निषेध करता है, ऐसा निषेध अन्य दर्शनों में नहीं है, इसका कारण गुणस्थान के इस क्रम की अनभिज्ञता है। वासनाक्षय या मनोनाश जीवन्मुक्ति या विदेहमुक्ति किस क्रम से प्राप्त हो सकती है इसका संगीन ज्ञान, युक्ति-युक्त ज्ञान, प्रमाणभूत ज्ञान आज भी यदि किसी धर्मशास्त्र में प्राप्त हो सकता हो तो वह जैनशास्त्रों में ही प्राप्त हो सकता है। वासना (मोह) का समूल नाश बारहवें गुणस्थानक के सिवाय हो नहीं सकता। दसवें गुणस्थानक तक लोभ का अंश रह जाता है। ग्यारहवें गुणस्थान में भी उसकी सत्ता है। मनोनाश केवल तेरहवें गुणस्थान में हो सकता है और वही जीवन्मुक्ति दशा है। विदेहमुक्ति तो उससे भी आगे बढ़ने के बाद चौदहवें गुण स्थान के अंत में होती है। उससे पूर्व उसकी कल्पना करना और केवल मानसिक आवेगो (मेन्टल कन्सेप्शन्स्) को ही मुक्ति या कैवल्य कल्पित कर लेना यह गंभीर विपरीत समझ है। ऐसी आत्माओं के प्रशम या धारणा, ध्यान या समाधि इन शास्त्रकारों की दृष्टि में एक प्रकार की मोह की मूर्च्छा है। गुणस्थानों की अपेक्षा से वे प्रथम गुणस्थान से जरा भी आगे नहीं बढे।

भावना और वस्तुस्थिति दोनों ही अलग २ हैं। वस्तुस्थिति की दृष्टि से सांसारिक आत्मा मात्र चैतन्य अर्थात् भावना का पुतला नहीं है, न मात्र जड़कर्म अर्थात् पुद्गल की रचना ही है; किन्तु जड़कर्म और चैतन्य भाव का संमिश्रण भी मात्र संयोग संबंधरूप नहीं, परन्तु कथंचित् तादात्म्य (अभेद) संबंधरूप है। इस संबंध को जानने के लिये शास्त्रों ने क्षीर नीर और लोहाग्नि न्याय के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। क्षीर और नीर तथा लोहा और अग्नि परस्पर अलग २ होते हुए भी जिस प्रकार एक दूसरे के साथ परस्पर अनुविद्ध होकर मिल जाते हैं, उसी प्रकार जीव और कर्म भी परस्पर अनुविद्ध होकर मिले हुए हैं। यह मिलन जब तक अलग न हो तब तक दोनों पारस्परिक प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकते। जीव के ऊपर कर्म का प्रभाव है और कर्म पर जीव का प्रभाव है। जीव

के प्रभाव से प्रभावित होकर कर्म के पुद्गल में जीवको सुख-दुःख, देने की शक्ति उत्पन्न होती है और कर्म के प्रभाव से जीव विविध प्रकार के सुखदुःख, अज्ञान और मोह के विपाको का अनुभव करता है। यह वस्तुस्थिति जो जानते नहीं अथवा विपरीत रीति से जानते हैं, वे अकेली भावना के बल से अथवा केवल क्रिया के बल से मुक्ति प्राप्त करने का अर्थशून्य प्रयास करते हैं।

अध्यात्म या मोक्ष के नाम पर विविध प्रकार के मतों की उत्पत्ति भी इस वस्तुस्थिति की अनभिज्ञता का ही फल है। कई कर्म को वासना-रूप मानते हैं, कई अविद्यारूप मानते हैं, और कई उसे केवल भ्रमरूप मानते हैं। इसलिये उसका निवारण करने के उपाय भी उसी प्रकार से सोचते हैं और केवल मानसिक उपायो से उसका क्षय मानते हैं, परन्तु कर्म केवल वासना या मानसिक भ्रमरूप नहीं हैं, परन्तु यह भ्रम भी जिनमें से उत्पन्न होता है, ऐसे पौद्गलिक पदार्थ और उसके प्रभावरूप है। अतः उसका क्षय केवल मानसिक विचारणा या केवल मानसिक क्रियाओं से नहीं होता, परन्तु जिन २ द्वारों से वे पौद्गलिक कर्म आते हैं, उन सभी द्वारों को बंद कर आने वाले नवीन कर्मों को रोकने और प्रथम के कर्मों का क्षय करने हेतु उद्यम भी आवश्यक है। यह उद्यम ज्ञान और क्रिया दोनों के स्वीकार द्वारा होता है। सम्यग्ज्ञान से मिथ्या भ्रम दूर होता है और सम्यक् क्रिया से पौद्गलिक कर्म के बंध शिथिल होते हैं। पाप क्रिया से जैसे कर्म का बंध होता है उसी प्रकार संवर और निर्जरा साधक क्रिया से कर्मों का बंध रुकता है और जीर्ण कर्म नष्ट होते हैं तथा अंतिम कर्म क्षय भी योगनिरोध रूपी क्रिया से होता है।

ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि ज्ञानाभ्यास द्वारा जीव और कर्म का यथास्थित संबंध समझा जाता है और तप तथा संयमरूप क्रियाभ्यास द्वारा पूर्व कर्म कटते हैं तथा आनेवाले नवीन कर्म रुकते हैं। कर्म को पौद्गलिक मानते हुए जो उसका संबंध सर्पकंचुकवत् (सर्प की कंचुकी जैसा) या चन्द्राभ्रवत् (चन्द्र के ऊपर बादल की तरह)

मानते हैं अथवा कर्म परद्रव्य है इसलिये जीव का कुछ भी कर ही नहीं सकता ऐसा एकान्तवाद स्वीकार करते हैं वे जैन मत का एक अंश मानते हुए अन्य अंश का निषेध करते हैं इससे जैन नहीं परन्तु जैनाभास हो जाते है। कर्मों का क्षय करने हेतु जिस प्रकार उद्यम होना चाहिये, वैसा उद्यम उनसे हो नहीं सकता। वस्तुतः कर्म जीव को मात्र स्पर्श करके ही रहे हुए नहीं हैं, परन्तु परस्पर अनुवेध प्राप्त किए हुए होते हैं। इसलिये कर्म पुद्गल से प्रभावित जीव कथंचित् जड़स्वरूप बना हुआ है। उसकी यह जड़ता मात्र अज्ञान स्वरुप है – ऐसा नहीं परन्तु प्रमादस्वरुप भी है। प्रमाद और अज्ञान ये दोनों ही दोष जीव पर इस प्रकार चढ़कर बैठे हैं कि मानो आत्मा तत्स्वरुप बन गई है। इसमें अज्ञान दोष से भी प्रमाददोष का बल अधिक है इसीलिये अज्ञान से मुक्त बने हुए ज्ञानीजन भी प्रमाद के अधीन होकर क्षण-भर में निगोद में चले जाते हैं, गुणस्थानक के क्रमानुसार अज्ञानदोष चौथे गुणस्थान पर चला जाता है, जब कि प्रमाददोष की सत्ता छठे गुणस्थान पर्यन्त रहती है। जहाँ तक यह प्रमाद दोष विद्यमान है, वहाँ तक विरति-धर मुनिजन भी इस प्रमाददोष को दूर करने वाली क्रियाओं का आश्रय न लें और मात्र ज्ञान से या मात्र ध्यान से मुक्ति प्राप्त हो जाएगी – ऐसा मान लें तो वे भी संसार में रुल जाते हैं – ऐसा जैन शास्त्र फरमाते हैं।

गुणस्थानक क्रमारोह में छठे गुणस्थानक की स्थिति का वर्णन करते हुए फरमाया है कि—

जहाँ तक जीव प्रमादयुक्त है वहाँ तक उसमें निरालंबन ध्यान टिक नहीं सकता – ऐसा जिनेश्वर भगवंत कहते हैं। [१] [निरालंबन ध्यान अर्थात् क्रियादि के आलंबन से रहित ध्यान]

प्रमाद दोष दूर किये बिना मुनि आवश्यक क्रिया का त्याग कर केवल निश्चल ध्यान का आश्रय ले, तो वह जैन – आगम जानता ही नहीं, और

---

१ यावत्प्रमादसंयुक्तस्तावत्तस्य न तिष्ठति।
धर्मध्यानं निरालम्बमित्यूचुर्जिन भास्कराः ॥

मिथ्यात्व से मोहित है।[1] [निश्चल ध्यान अर्थात् ध्यान के सिवाय अन्य सभी क्रियाओं का त्याग]

इस कारण से जहाँ तक अप्रमत्त गुणस्थानों के योग्य उत्कृष्ट धर्मध्यान और शुक्लध्यान की प्राप्ति न हो वहाँ तक आवश्यक क्रियाओं के द्वारा प्राप्त दोषों का निकृन्तन – दूरीकरण करना चाहिये।[2]

प्रमत्त के लिये क्रिया ही ध्यान –

श्री जिनमत में ध्यान शब्द के भिन्न २ तीन अर्थ किए गए हैं। ध्यै चिन्तायाम्। इस व्युत्पत्ति से एकाग्रतापूर्वक चित्तवृत्तिका निरोध भी ध्यान है तथा यह स्थिति प्राप्त न हो वहाँ तक योगों का उत्कृष्ट प्रयत्न और उसका प्रशस्त व्यापार भी ध्यान है। इसके लिये श्रीविशेषावश्यक महाभाष्य में फरमाया है कि –

केवल चित्तनिरोध मात्र ही ध्यान नहीं परन्तु योगों का सुदृढ प्रयत्नपूर्वक व्यापार अथवा विद्यमान मन–वचन–काया के योगों का निरोध भी ध्यान ही है।[3]

धातु के अनेक अर्थ होते हैं इस कारण ध्यान शब्द चित्त निरोध के अर्थ में जैसे प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार योगनिरोध अर्थात् मन–वचन–काया इन तीनों की दोषरहित निर्मल प्रवृत्ति और सर्वथा अप्रवृत्ति के अर्थ में

---

१ प्रमाद्यावश्यकत्यागान्निश्चलं ध्यानमाश्रयेत् ।
योऽसौ नैवागमं जैनं, वेत्ति मिथ्यात्वमोहितः ।।
गु. क्र. गाथा – २९ – ३०

२ तस्मादावश्यकैः कुर्यात्, प्राप्तदोषनिकृन्तनम् ।
यावन्नाप्नोति सद्ध्यानमप्रमत्तगुणाश्रितम् ।।
(गु. क्र. गाथा – ३९)

३ सुदढप्पयत्तवावारणं, णिरोहो व विज्जमाणाणं ।
झाणं करणाण मयं, ण उ चित्तणिरोहमित्तागं ।। ३०७१ ।।

भी प्रयुक्त होता है। उसमें सर्वथा योगनिरोध चौदहवें गुणस्थान में होता है। चित्तनिरोध प्रथम गुणस्थानक से प्रारम्भ हो सकता है। मन-वचन-काया के योगों का प्रयत्नपूर्वक प्रशस्त प्रवर्तन छठे गुणस्थानक तक आवश्यक है। तत्पश्चात् बारहवें गुणस्थानकों तकका काल अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं होता। तेरहवें गुणस्थान का काल देशोनपूर्वकोटि है, परन्तु वहाँ तीन प्रकारको के ध्यान में से एक भी प्रकार का ध्यान नही है। उस काल ध्यानांतरिका कहते हैं। चौदहवे गुणस्थानक में भी चित्तनिरोधरुप ध्यान नहीं परन्तु योगनिरोधरूप ध्यान है। इस दृष्टि से विचारें तो जिन शासन में योगनिरोधरूप ही सबसे महत्त्व का और सबसे बढ़कर ध्यान माना हुआ है। उसके साधनरूप कोई भी क्रिया चाहे वह निरोध रूप हो या निरवद्य व्यापाररूप हो, वह भी ध्यान है, क्योंकि ध्यान का फल जो कर्मक्षय है वह उभय से सधता है।

जो चित्तवृत्ति के निरोध को ही केवल ध्यान कहते हैं, वे ध्यान शब्द के मर्म को समझे नहीं, क्योंकि चित्तवृत्ति को निरोध वाला ध्यान तो स्नान, पान, अर्थ, कामादि संसारवर्धक और कर्म बंधकक्रियाओं में भी संभव है; परन्तु वह ध्यान आर्त रौद्रस्वरुप है, धर्मसाधक नहीं। उसे भी यदि साधक मानें तो मछली पकड़ने के लिये बगुले का या चूहे को पकड़ने के लिये बिल्ली का ध्यान भी इष्ट साधक मानना चाहिये, परन्तु वैसा कोई नहीं मानता। इसलिये केवल चित्तवृत्ति का निरोध ध्यानस्वरुप नहीं बनता, किन्तु संक्लिष्ट चित्तवृत्तिओं का निरोध वास्तविक धर्म साधक ध्यान है और वह भी एक प्रकार का प्रशस्त मनोव्यापाररुप है। इसलिये जहाँ तक आत्मा का प्रमाद-दोष दूर नहीं हुआ, वहाँ तक प्रमाद की ओर बढ़ रहे मन-वचन-काया के व्यापार को रोकने के लिये जो कोई प्रशस्त व्यापार है वह वास्तविक ध्यान है, क्योंकि ध्यान का फल कर्मक्षय और संपूर्ण कर्मक्षय के लिये साधक जो शैलेशी अवस्था – चतुर्दश गुणस्थानक है वह उसी से क्रमशः सिद्ध होती है।

पू. उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज फरमाते हैं कि –

निश्चय धर्म न तेणे जाण्यो, जे शैलेशीअंत वखाण्यो।
धर्म अधर्म तणो क्षयकारी, शिवसुख दे जे भवजलतारी।

तस साधन तूं जे जे देखे, निज निज गुणठाणा ने लेखे,
तेह धरम व्यवहारे जाणो, कारज-कारण एक प्रमाणो।

– सवा सौ गाथाओं का स्तवन – ढाल १० वी गाथा २–३

चित्तनिरोधरुप या निर्विकल्प चिन्मात्र समाधिरुप ध्यान ही निश्चयधर्म है और वही एक कर्मक्षय और मोक्ष का साधन है ऐसे एकांतवादी को पू. उपाध्यायजी महाराज उत्तर देते हैं कि मोक्ष का अनंतर साधन जो निश्चय-धर्म है वह तो शैलेशी के अंत में कहा है और वह धर्म भी पुण्य–पाप–दोनों का क्षय करके मोक्ष देता है। उसके साधनरूप जो २ धर्म अपने २ गुण-स्थानक के उपयुक्त हैं वे भी निश्चयधर्म के कारणरूप होने से धर्म हैं। कार्य और कारण के बीच कथंचित् एकता होने से दोनों ही प्रमाणरुप हैं। कार्य की उत्पत्ति उसके कारण से होती है, इसलिये निश्चयधर्म कार्य की उत्पत्ति में कारणरुप व्यवहारधर्म है जो कि प्रशस्त प्रवृत्तिस्वरुप है, उसे भी धर्म के रूप में मानो। शुभ व्यापार से द्रव्याश्रव होता है, तब भी उससे निज परिणतिरूप धर्म को बाधा नहीं पहुँचती। जहाँ तक योगक्रिया का संपूर्ण निरोध नहीं हुआ, वहाँ तक जीव योगारंभी है। इस स्थिति में मलीन आरंभ का त्याग करवाने वाला और शुभ आरंभ में प्रवृत्त करवाने वाला तथा आलस्यदोष और तज्जनित सद्व्यवहार के विरोध को उत्पन्न करने वाला मिथ्या भ्रम को दूर करने वाला प्रशस्त व्यापार भी ध्यान ही है और वह परम धर्मरुप है, अनन्य आधाररूप है।

श्री जिनमत में क्रिया को छोड़कर दूसरा ध्यान नहीं – ऐसा जो कहा जाता है, उसका रहस्य यह है कि ध्यान के बिना कर्म का क्षय नहीं यह बात जितनी सच्ची है उतनी ही सच्ची बात यह है कि प्रमत्त अवस्था दूर न हो तब तक उपयोगयुक्त क्रिया को छोड़कर दूसरा ध्यान भी नहीं। श्रीजिनमत में विहित आवश्यकादि क्रियाओं को छोड़कर जो चित्तनिरोधमात्रस्वरुप ध्यान का अवलम्बन लेते हैं, उनका ध्यान और उनका प्रशम अंतर्निलीन (गुप्त) विषमज्वर की भाँति ध्यान के सिवाय के काल में मिथ्यात्वरुपी प्रकोप को

प्राप्त हुए बिना नहीं रहता। जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति की बातें और उसके लिये चित्तनिरोधरुप ध्यान का दीर्घकाल पर्यन्त अभ्यास करते हुए भी आज किसी की भी सच्ची मुक्ति हुई दिखाई नहीं देती। इसी प्रकार ज्ञायक-भाव और द्रव्य दृष्टि की बातों और उसका अवलम्बन लेने पर भी और यह केवलज्ञान और मोक्ष का साधन है – ऐसा कहने पर भी मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद में से एक भी दोष वास्तविक रुप में हटा हो – ऐसा देखने को नहीं मिलता। इससे सिद्ध होता है कि केवल चित्त निरोधरूप ध्यान मुक्ति का साधन नहीं बन सकता, परन्तु मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद हटाने वाले मन–वचन–काया के प्रशस्त व्यापार ही क्रमशः प्राप्त दोषों को दूरकर अंत में एक अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान और मोक्ष दिलवाएँ ऐसे अप्रमत्तादि गुणस्थानों की प्राप्ति करवाते हैं। इस काल में और इस क्षेत्र में धृति संहनन आदि के अभाव में यदि केवलज्ञान और मुक्ति है ही नहीं और उसके कारणरुप अप्रमत्त उपरोक्त गुणस्थानकों की विद्यमानता भी नहीं ही है, तो अपनी भूमिका के योग्य आराधना में ही मग्न रहना – दृढ़ रहना और उससे चलित न होना ही वास्तविक मुक्ति का मार्ग है।

भगवान महावीर के शासन मे सप्रतिक्रमण धर्म –

छद्मस्थ के लिये प्रमत्त अवस्था से ऊपर की अवस्था ज्ञानिओं ने अंतमुहूर्त मे अधिक काल तक टिक सके ऐसी नही देखी और इसलिये प्रमत्त अवस्था के योग्य धर्म ध्यानपोषक क्रियाएँ धर्म की प्राण हैं – ऐसा उपदेश दिया है। भगवान महावीर के शासन में उत्पन्न जीवों का स्वभाव भी ज्ञानीजनों ने वक्र और जड़ देखा है और वैसा ही कहा है। श्री कल्पसूत्र की वृत्ति में कहा है कि प्रथम तीर्थपति के शासन के साधु ऋजु – जड, बाईस जिनेश्वर के शासन के साधु ऋजु–प्राज्ञ और चरम तीर्थपति के शासन के साधु वक्र और जड़ हैं। साधुओं के इन भिन्न २ स्वभावों का पृथक्करण भी प्रतिक्रमण धर्म की उपयोगिता समझाता है। जहाँ जड़ता है वहाँ भूलों का होना अवश्यभावी है। जहाँ भूलें होना संभव है, वहाँ भूल

के प्रायश्चित्तरूप प्रतिक्रमण की आवश्यकता है। प्रथम और अन्तिम तीर्थकरों के साधु जड़ता में समान होने से उनके लिये सप्रतिक्रमण धर्म का उपदेश दिया गया है। बीच के जिनपतियों के शासन के साधु ऋजु और प्राज्ञ होने से उनके द्वारा भूल होने की संभावनाएँ बहुत कम हैं, इसलिये उनके लिये प्रतिक्रमण निश्चित न कहकर अनिश्चित कहा है। वे प्राज्ञ होने से जब २ दोष लगता तब २ समझ जाते और ऋजु होने से उसे स्वीकार कर प्रतिक्रमण द्वारा उस दोष की शुद्धि कर लेते थे। भगवान महावीर के साधु जड़ और वक्र दोनों होने से उनके लिये दोष का संभव भी अधिक हैं और दोष का स्वीकार भी दुष्कर है। अतः उनके लिये प्रतिक्रमण धर्म निश्चित हैं। तीन वैद्यो का दृष्टान्त देकर यह बात श्री कल्पसूत्र की वृत्ति में आग्रहपूर्वक समझाई गई है, वह इस प्रकार है —

एक राजा ने भविष्य में भी अपने पुत्र के शरीर में व्याधि न हो — इसके लिये तीन वैद्यों को बुलाया। पहिले वैद्य ने कहा – मेरी औषधि विद्यमान व्याधि को दूर करेगी और व्याधि न होगी तो उसे उत्पन्न करेगी। राजा ने कहा – सोए हुए सर्प को जगाने जैसी तुम्हारी औषधि दूर रखो। दूसरे वैद्य ने कहा – मेरी औषधि व्याधि होगी तो उसे दूर करेगी और व्याधि न होगी तो गुण भी नहीं करेगी और दोष भी नहीं करेगी। राजा ने कहा – राख में घी डालने जैसी तुम्हारी औषधि व्यर्थ है। तीसरे वैद्य ने कहा – मेरी औषधि विद्यमान दोष का शमन करेगी और दोष न होगा तो रसायनरूप बनेगी और कांति, चमक, बल और रूप आदि को बढ़ाएगी। राजा ने उसका सम्मान किया और उसकी औषधि द्वारा अपने पुत्र को सदा के लिये निरोगी तथा तुष्टि-पुष्टि वाला बनाया।

वीर भगवान के वक्र और जड़ साधुओं के लिये प्रतिक्रमण धर्म तीसरे वैद्य की औषधि तुल्य है। वह दोष हों तो उन्हें दूर करता है, न हो तो कांति तुष्टि और पुष्टि की भाँति ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि जीव के गुणों की वृद्धि करता है।

दोष को रोकने के लिये प्रतिक्रमण के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं।

जनश्रुति है कि मनुष्यमात्र भूल का पात्र है। (टू एरर् इज ह्यूमन्) यही बात शास्त्रकार दूसरे शब्दों में कहते हैं – छद्मस्थमात्र भूल का पात्र है। छद्म अर्थात् आवरण। कर्म के आवरण के नीचे रही हुई आत्मा से भूल न होना आश्चर्य है। भूल होने में आश्चर्य नहीं। चार ज्ञान के धारक, अनंत-लब्धिनिधान, अन्तर्मुहूर्त में द्वादशांगी के रचयिता भगवान महावीर के आद्य शिष्य गुरु गौतमस्वामी को भी आनंद श्रावक के प्रश्नों के उत्तर देने में स्खलना हुई थी – शास्त्र इस बात की पुष्टि करते हैं। भूल मनुष्यमात्र का या छद्मस्थ मात्र का स्वभाव है तो उस भूल का प्रतिकार भी छद्मस्थ मात्र का स्वभाव है तों उस भूल का प्रतिकार भी छद्मस्थमात्र के लिये अनिवार्य है।

भूलरूपी विष का प्रतिकार अमृत से ही हो सकता है। विष को भी विधिपूर्वक मारकर अमृत बनाया जा सकता है। भूलरुपी विष को मारने की विधि क्या है। और इसे मारने से उत्पन्न होने वाला अमृत कौन सा है ? इन दोनों ही बातों का उत्तर हमें प्रतिक्रमण शब्द में मिल जाता है। प्रति-क्रमणक्रिया भूल रुपी विष को बढ़ने से रोकती है तथा उसे मारकर शुभभाव रुपी विष को बढ़ने से रोकती है तथा उसे मारकर शुभभावरुपी अमृत पैदा करती है और उसके द्वारा कर्म रोग का समूल उच्छेद करके जीव को अजरामर बनाती है। यदि इस क्रिया का पालन न किया जाए तो यह विष मरने के बजाय बढ़ता जाता है और यह बढ़ा हुआ विष भूल करते समय के दोष और उसके विपाक की अपेक्षा शत-सहस्र–कोटिगुना अधिक दोष और विपाक देनेवाला बनता है। शास्त्रकार महर्षि फरमाते हैं कि –

भूल होने के समय जो दोष लगता है वह दोष भूल स्वीकार न की जाए (उसे भूल से प्रत्यावर्तन न हो), तो परिणामस्वरूप अनंतगुने दारुण विपाक को देनेवाला बनता है।[1]

---

१ तथा स्खलितप्रतिपत्तिरिति।

स्खलितकाले दोषात् अनन्तगुणत्वेन दारुणपरिणामत्वात्तदप्रतिपत्तेः।

धर्मबिन्दु अ. ५ सूत्र २१

इसलिये भूल होने के साथ ही उसे स्वीकार कर लेना और उससे प्रत्यावर्तन कर लेना धर्मीमात्र का कर्तव्य है।

अनार्य संस्कृति भी सुनागरिक या उत्तम सद्‌गृहस्थ (सिविलाइझड मेन) कहलाने का अधिकार उन्हें ही देती है जो अपनी भूल होने के साथ ही 'वेरी सोरी', 'इक्स्क्यूझ मी', 'पार्डन प्लीझ', दुःख है, क्षमा करो, कृपया क्षमा प्रदान करो – आदि शब्द कहकर भूल से पीछे मुड़ते हैं। आर्य संस्कृति को प्राप्त और जीवन में धर्म को सर्वस्व मानने वाले भूल से प्रत्यागमन करने रुपी अपने इस धर्म का पालन न करें यह कैसे हो सकता है? इसमें भी जैन दर्शन तो अपने अनुयायियों को मुक्तिपथ पर चढ़ाकर शाश्वत सुख के भोक्ता बनाना चाहता है, इसलिये जहां तक भूल का संभव है, वहाँ उसके लिये प्रतिक्रमण बताना सहज ही है। प्रतिदिन दोनों संध्या के समय प्रतिक्रमण की क्रिया चतुर्विध संघ के जीवन के साथ बुन डालने वाले और छव्विह आवस्सयंमि, उज्जुत्तो होइ पइदिवसं – छः प्रकार के आवश्यक के प्रति प्रतिदिन उद्यत रहे – ऐसी आज्ञा फरमाने वाला श्री जैनशासन अपने अनुयायिओं का मुक्तिमार्ग के साथ सीधा संबंध जोड़ देता है और दुर्गतिगमन के हेतुओं का समूल उच्छेद कर डालता है।

जो अपने अनुयायिओ को शुष्क अध्यात्म के नाम से दोषों और भूलों से निरन्तर प्रत्यावर्तन का मार्ग नहीं बताते या उसके लिये कोई भी व्यवस्थित योजना अथवा विधान की रचना नहीं करते वे तत्त्वज्ञान अथवा अध्यात्मज्ञान के नाम पर अन्य चाहे जितनी साधनाएँ, क्रियाएँ या प्रक्रियाएँ बताते हो तब भी उन्हें जड़विहीन वृक्ष जैसी या नींव रहित महल जैसी समझें।

जैन शासन में प्रतिक्रमण के लिये मुख्य और प्रसिद्ध शब्द मिच्छामि दुक्कडं है। इसलिये कोई भी भूल होने के साथ ही उसका प्रयोग किया जाता है। उसमें मुझे क्षमा करो या (वेरी सौरी) – मुझे खेद है – आदि शब्द प्रयोग की अपेक्षा बहुत बड़ा अर्थ-भाव निहित है। निर्युक्तिकार भगवान उसका पदभंजन करते हुए कहते हैं : मन से और काया से नम्र

कनकर दोषों को दूर करने के लिये मुझ से हुए दुष्कृत को मैं पश्चात्ताप सहित कल्प डालता हूँ, अर्थात् मेरी भूल से मैं पुनः वैसी भूल न करने के अध्यवसायपूर्वक लौटता हूँ। प्रतिक्रमण का यह सूत्र और उसका उच्चारण तथा उसकी अर्थ गंभीरता जैन शासन के प्रणेता पुरुषों की परम ज्ञान सम्पन्नता, परम शील सम्पन्नता, परम कारुण्यशीलता और सर्वोत्कृष्ट शासनस्थापकर्ता का सूचक है।

चारित्रका प्राण प्रतिक्रमण —

श्री जिनशासन में सर्वनयसिद्ध आत्मविकास का सार चारित्र है, ज्ञानाभ्यास भी चारित्र के विकासार्थ है और श्रद्धा स्थिर करना भी चारित्र को दृढ करने हेतु है। ज्ञान से श्रद्धा बढ़ती है, श्रद्धा से चारित्र निर्माण होता है और चारित्र से मोक्ष प्राप्ति होती है। जो ज्ञान श्रद्धा को बढ़ाने वाला नहीं परन्तु बिगाड़ने वाला है वह ज्ञान उपोदय नहीं पर हेय होता है। जो श्रद्धा चारित्र को बढ़ाने वाली नहीं अपितु भ्रष्ट करने वाली है, वह श्रद्धा आदरणीय नहीं परन्तु त्याज्य है। श्रद्धा, ज्ञान या चारित्र आत्मा के मूल गुण हैं। प्रत्येक जीवात्मा में ये तीनों होते हैं, परन्तु हर समय मोक्ष के साधक हों– ऐसा नहीं होता। सम्यक् श्रुतज्ञान की भावपूर्वक प्राप्ति नहीं होती वहाँ तक वे प्रायः मोक्ष के साधक नहीं परन्तु बाधक ही होते हैं। मोक्ष साधक चारित्र पर जिसे श्रद्धा नहीं, उसे उससे विरुद्ध प्रकार के वर्तन पर श्रद्धा होती है, क्योंकि प्रत्येक वर्तन के पीछे श्रद्धा और प्रत्येक श्रद्धा के पीछे ज्ञान आवश्यक होता है। मोक्षसाधक वर्तन चारित्र है, इसलिये वह भी श्रद्धा और ज्ञान की अपेक्षा रखता है। मोक्षसाधक चारित्र को पुष्ट करने वाली श्रद्धा और उस श्रद्धा को पुष्ट करने वाला ज्ञान अनुक्रम से सम्यक्श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं। एक भी पद या एक भी वाक्य मोक्ष साधक चारित्र गुण की पुष्टि करनेवाला हो तो वह श्री जिनागम का अंश है, क्योंकि श्री जिनागम चारित्रगुण की पुष्टि और चारित्रगुण की वृद्धि द्वारा मोक्ष के लिये निर्मित है।

किसी भी तीर्थंकर के तीर्थ में कोई भी मुनि दीक्षा अंगीकार करके श्रुतज्ञान के पारगामी हुए ऐसा बताना हो तब शास्त्रकार निम्न लिखित शब्दों में उल्लेख करते हैं –

सामाइयमाइयाई एक्कारस अंगाई अहिज्जइ। सामाइयाई चोद्दस-पुव्वाई अहिज्जइ।

सामायिकादि ग्यारह अंगों को पढ़ते हैं अथवा सामायिकादि चौदह पूर्वों – बारह अंगों को पढ़ते हैं।

यहाँ शास्त्रकार सामायिक से लगाकर ग्यारह अंग या बारह अंगों का अध्ययन बताते हैं। इनमें प्रथम सामायिक ही क्यों? श्री जिनमत में सामायिक सावद्ययोग की निवृत्तिरूप और निरवद्य योग की प्रवृत्तिरूप है। सावद्ययोग से विरमण करना और निरवद्ययोगों में प्रवृत्त होना तथा परिणाम में स्वरुप में स्थिर होना चारित्रगुण का लक्षण है। चारित्रगुण के इस मर्म को नहीं समझने वाले कई लोग चारित्र के नाम से सत्प्रवृत्तिओंका विरोध करते हैं, तो कई मनःकल्पित असत्प्रवृत्तिओं को चारित्रगुण का उपनाम देते हैं। प्रथमवर्ग शुष्क अध्यात्मवादीयों का है, जब कि दूसरा वर्ग परलोक की श्रद्धा से शून्य और शास्त्रअध्ययन से निरपेक्ष वर्ग का है।

शुष्क अध्यात्मवादी स्वरूपरमणता या आत्मगुण में स्थिरता को ही एक चारित्र मानते हैं परन्तु वह किसे और किस गुणस्थानक में होता है? इसका विवेक न होने के कारण न स्वरूपरमणता प्राप्त कर सकते हैं न सावद्ययोग की विरति कर सकते हैं। वे उभय से भ्रष्ट होते हैं। संपूर्ण स्वरूपरमणता या आत्मगुण स्थिरता सिद्ध के जीवों के सिवाय अन्य को नहीं हो सकती। केवलज्ञानियों के संबंध में भी असिद्धत्वरूप औदयिकभाव शास्त्रकारों ने माना है और उतना स्वरूपरमण उनके लिये भी कम है। ऐसी स्थिति में स्वरूपरमणता को ही चारित्रका एक लक्षण मानना – अज्ञान और मोह का विलास है।

इसी प्रकार कई चारित्रका अर्थ सभ्यता बताते हैं और सभ्यता अर्थात् मनुष्य का मनुष्य के साथ योग्य व्यवहार रखना, नीति का पालन करना, सत्य बोलना किसी के साथ छल न करना, पड़ोसी को चाहना, आदि २ मानते हैं, परन्तु यह चारित्र नहीं, पर नीति है, क्योंकि उसके पीछे प्रायः इह-लौकिक स्वार्थभावना रही हुई होती है। नीति यदि मोक्ष के आदर्श का अनुसरण करने वाली हो तो वह आवश्यक है, परन्तु उससे निरपेक्ष मात्र सांसारिक हेतु तक ही सीमित हो तो उसका विशेष महत्त्व नहीं। चारित्रगुण इससे बहुत ऊँचा है। उसके पीछे इहलोक साधने का जरा भी भाव नहीं। वह केवल मनुष्यजाति की चिन्ता करके अन्य सकल सृष्टि के जीवों के प्रति उपेक्षा या निर्दयता बताने वाली संकुचित मनोदशा नहीं है। उसके पीछे अपने या दूसरे के ऐहिक या देहिक उपद्रवों का ही स्वल्प काल के लिये अन्त लाने की मनोवृत्ति नहीं, किन्तु स्वपर उभय के सार्वत्रिक और सार्वदिक शारीरिक-मानसिक-सर्व प्रकार के दुःखों का अंत लाने की सर्वोत्कृष्ट भावना है और उस भावना की सिद्धि सावद्ययोग के विराम से और निरवद्ययोग के आसेवन से ही संभव है।

सावद्ययोग अर्थात् पापमय व्यापार। पाप अठारह प्रकारका से हैं। उनमें से एकभी पाप का मन-वचन-काया से न सेवन करना, न सेवन करवाना और न सेवन करने वाले का अनुमोदन करना-इस प्रकार की जीवन पर्यन्त अथवा निश्चित काल की प्रतिज्ञा-सामायिक है और यही वास्तविक चारित्र है। यह चारित्र-पालन इस द्वादशांगी का सार है, और उससे मुक्ति निकट आती है। ऐसे चारित्रगुण का अभ्यास जीव की सद्‌गति का मूल है और वह मात्र मनुष्यसृष्टि ही नहीं परन्तु सचराचर विश्व के सभी जीवों की पीड़ा हरण करने का अनुपम साधन है। स्वरूपरमणता या आत्मगुणों में स्थिरता तक पहुँचाने के लिये यह चारित्र परमद्वार है और यही परम कसौटी है। जो इस कसौटी में से पार उतरने के लिये आनाकानी करते हैं अथवा इसके प्रति अरुचि रखते हैं, वे चारित्रगुण से हजारों कोस दूर हैं। इतना ही नहीं परन्तु चारित्रगुण के पालन के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली सद्‌गति के अधिकारी बनने के लिये सर्वथा भाग्यहीन है।

सावद्य व्यापारों का प्रत्याख्यान और निरवद्य व्यापारों का आसेवन ही चारित्र का एक लक्षण हो तो वह चारित्र को टिकानेवाला या बढ़ानेवाला, उत्पादक या सुधारक सत्क्रिया के सिवाय और कोई नहीं यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है। इसीलिये शास्त्रकारों ने चारित्र का दूसरा लक्षण समितिगुप्ति से पवित्रित चरित्र भी कहा है। काया की सम्यक् प्रवृत्ति, समितियाँ हैं और काया, वचन तथा मन इन तीनों का सम्यग् (प्रवर्तन – निवर्तनरूप) निग्रह–गुप्तियाँ हैं। इनकी संख्या क्रमशः पाँच और तीन मिलकर कुल आठ है। इन आठ प्रकार की क्रियाओं को प्रवचन की माता और द्वादशांगरूप जैन शासन की जनेता शास्त्रकारों ने बताया है।

किल्ला मरम्मत से ही टिकता है उसी प्रकार क्रियारूपी किल्ला प्रतिक्रमण रूपी मरम्मत से ही टिकता है। क्रियारूपी किल्ले में पड़े हुए छिद्रों या खड्डों के लिये मरम्मत का काम प्रतिक्रमण है। इस प्रकार चारित्र का प्राण क्रिया है और क्रिया का प्राण प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण की क्रिया के विषय में कुछ शंकाएँ और उनका समाधान :

शंका १ : प्रतिक्रमण छह आवश्यकमय है और उनमें प्रथम सामायिक लेते समय मन–वचन–काया से सावद्य व्यापार न करने, न करवाने और न अनुमोदन करने की प्रतिज्ञा ली जाती है, फिर भी मन तो वश में नहीं रहता – तो प्रतिज्ञा का पालन कहाँ रहा ?

समाधान : जैन शासन में सामायिक आदि प्रत्येक व्रत की प्रतिज्ञा के १४७ विकल्प माने गए हैं जो निम्न प्रकार से हैं :—

(१) मन से, वचन से और काया से (एक त्रिकसंयोगी)
(२) मन से, वचन से।)
(३) मन से, काया से।) (तीन द्विकसंयोगी)
(४) वचन से, काया से।)

(५) मन से।)
(६) वचन से।) (तीन असंयोगी)
(७) काया से।)

इस प्रकार (एक) त्रिकसंयोगी, (तीन) द्विकसंयोगी और (तीन) असंयोगी–ये कुल सात विकल्प, तीन करण के और इसी प्रकार कुल सात विकल्प (करना, करवाना और अनुमोदन करना) इन तीन योग के–इन दो का गुणन करने से ७×७ = ४९ और उसे तीन काल से गुणन करने पर ४९×३ = १४७ विकल्प होते हैं। इन में लिये हुए कुछ विकल्पों का पालन हो और अन्य विकल्पों का पालन न हो तब भी प्रतिज्ञा का सर्वांश में भंग होना नहीं गिना जाता। इसमें जो मानसिक भंग होता है उसे अतिक्रम, व्यतिक्रम अथवा अतिचार माना है, पर अनाचार नहीं कहा। अतिक्रमादि दोषों का निंदा, गर्हा, आलोचना और प्रतिक्रमण द्वारा शुद्धिकरण हो सकता है और इस प्रकार प्रतिज्ञा का निर्वहन हो सकता है। दोषपूर्ण करने की अपेक्षा न करना अच्छा है यह वचन जैन शासन में उत्सूत्र वचन कहा गया है। करना तो शुद्ध ही करना अन्यथा करना ही नहीं – यह वचन शास्त्रकारों को मान्य नहीं है, क्यों कि कोई भी क्रिया विधि के राग और अविधि के पश्चात्तापपूर्वक के अभ्यास से ही शुद्ध होती है। अभ्यास के प्रारंभ काल में भूल नही हो – ऐसा अज्ञानी ही मानते हैं। भूलमय अनुष्ठान करते करते ही भूलरहित अनुष्ठान होते हैं। सातिचार धर्म ही निरतिचार धर्म का कारण बनता है। जितने भी जीव आज तक मोक्ष में गए हैं वे इस प्रकार सातिचार धर्म की आराधना करके निरतिचार धर्म के पालक बने हैं। सांसारिक कलाओं के अभ्यास में भी यही नियम है। धर्म कला का अभ्यास इसमें अपवाद नहीं हो सकता।

शंका २: पाप का प्रतिक्रमण करके पुनः उस पाप का सेवन करना क्या यह मायाचार नहीं है?

समाधान: पाप का प्रतिक्रमण करके पुनः उस पाप का सेवन करना इतने मात्रसे मायाचार नहीं है, परन्तु पुनः उस पाप का उस भाव से

सेवन करना मायाचार[1] है। प्रतिक्रमण करनेवाला वर्ग पाप से मुक्त होने के लिये प्रतिक्रमण करता है। इसलिये उसका भाव पुनः पाप नहीं करने का है। पुनः पाप न करने का भाव होते हुए भी पुनः पाप होता है, उसका पुनः प्रतिक्रमण करता है। इस प्रकार बार २ प्रतिक्रमण करने से उसे अनुबंध पाप करने का नहीं परन्तु पाप न करने का होता है। पाप न करने का अनुबंध ही उसे एक समय सर्वथा पाप न करने की श्रेणी तक पहुँचाता है। इसलिये श्री जिन शासन में जहाँ तक जीव पाप से रहित नहीं बनता, वहाँ तक उसके लिये पाप का प्रतिक्रमण अवश्य कर्तव्य बताया गया है। इसके लिये कहा है कि :

मूलपदे पडिक्कमण भाख्यूं, पापतणुं अणकरवुं रे,
शक्तिभाव तणे अभ्यासे, ते जस अर्थे वरवुं रे।

३५० गाथाओं का स्तवन – ढाल २ – गाथा १८

पाप को नहीं करनेरूपी मुख्य प्रतिक्रमण शक्ति अनुसार और भाव के अनुसार अभ्यास करते २ सिद्ध होता है।

अथवा कहा है कि :–

पडिक्कमणुं मूलपदे कह्युं, अणकरवुं पाप नुं जेह मेरे लाल;
अपवादे तेहनुं हेतु अे, अनुबंध ते शम–रस–मेह मेरे लाल।

प्रतिक्रमण गर्भ हेतु स्वाध्याय – ढाल ६ – गाथा ३

मुख्यरूप से पाप न करना ही प्रतिक्रमण है। अपवाद रूप से पाप न करने का अनुबंध डालनेवाला प्रतिक्रमण भी मुख्य प्रतिक्रमण का हेतु है

---

१ उस भाव से अर्थात् पुनः करने के भाव से अथवा पुनः पाप करूँगा और पुनः मिथ्या दुष्कृत दूँगा – ऐसे भाव से, इसलिये कहा है कि :–

मिथ्या दुक्कड देइ पातिक, ते भावे जे सेवे रे;
आवश्यक साखे ते परगट, मायामोसने सेवे रे।

उ. श्री यशोविजयजी कृत – साढ़े तीन सौ गाथाओं का
स्तवन ढाल दूसरी गाथा १७.

क्यों कि (पाप न करने का) अनुबंध ही यहाँ समतारुपी रस बरसाने वाला मेघ है।

शंका ३: प्रतिक्रमण भूतकाल के पाप का ही हो सकता है, परन्तु वर्तमान काल और अनागत काल के पाप का कैसे हो सकता है।

समाधान: प्रतिक्रमण का हेतु अशुभ योग से निवृत्ति का है। इसलिये जैसे अतीतकाल के दोष का प्रतिक्रमण निंदा द्वारा होता है उसी प्रकार वर्तमान काल के दोष का प्रतिक्रमण संवरद्वारा और अनागत कालके दोषका प्रतिक्रमण पच्चक्खाण द्वारा हो सकता है, क्यों कि संवर और पच्चक्खाण उभय में अशुभयोग की निवृत्ति प्रधान है।

शंका ४: प्रतिक्रमण के समय सामायिक लेने की क्या आवश्यकता है।

समाधान: शास्त्र में सामायिक के चार प्रकार बताए गए हैं:— सम्यक्त्व-सामायिक, श्रुत-सामायिक देशविरति-सामायिक और सर्वविरति-सामायिक। प्रतिक्रमण करने वाले में सम्यक्त्व-सामायिक और श्रुत-सामायिक संभव होती है। सम्यक्त्व-सामायिक अर्थात् मिथ्यात्व-मल का अपगम और उससे उत्पन्न होती जिनवचन में श्रद्धा। श्रुत-सामायिक अर्थात् जिनोक्त-तत्वो का संक्षिप्त या विस्तृत ज्ञान और उससे उत्पन्न अविपरीत बोध। देशविरति सामायिक अर्थात् पाप की आंशिक निवृत्तिरूप प्रयत्न। सर्वविरति सामायिक अर्थात् पाप से सर्वथा निवृत्ति करने का प्रयत्न। इन चारों प्रकार के सामायिक से च्युत होना औदयिक भाव है। इस औदयिक भाव में से अर्थात् परभाव में से हटकर पुनः सामायिकरूपी क्षायोपशमिक भाव अर्थात् आत्मभाव में जाना--प्रतिक्रमण है। इस पर प्रतिक्रमण के समय सामायिक लेने की आवश्यकता क्यों है – यह स्पष्ट हो जाता है। सामायिक साध्य है और प्रतिक्रमण साधन है। इसलिये सामायिक रूपी साध्य को लक्ष्य में रखते हुए ही प्रतिक्रमण की क्रिया करनी चाहिये – ऐसा शास्त्रकारों का विधान है।

शंका ५: जिसे अतिचार लगें वही प्रतिक्रमण करे, दूसरे के लिये प्रतिक्रमण करने की क्या आवश्यकता है?

समाधान: प्रतिक्रमण सम्यग्दर्शन में लगे हुए अतिचार, देशविरति धर्म में लगे हुए अतिचार और सर्वविरति धर्म में लगे हुए अतिचार की शुद्धि हेतु योजित है तथा सम्यग्दर्शनादि गुणों की प्राप्ति के अधिकारी अन्य जीवों के भी अपने गुणस्थान के योग्य वर्तन न करने के कारण लगे हुए अतिचार की शुद्धि करने हेतु है। इसलिये दोष की शुद्धि के इच्छुक सभी आत्माओं के लिये प्रतिक्रमण करने की आवश्यकता है।

आवश्यक निर्युक्ति में प्रतिक्रमण करने के विशेष प्रयोजन बताते हुए कहा है कि:-

(प्रसंगवशात्) निषिद्ध का आचरण करने से, विहित का आचरण न करने से, जो वस्तु जिस रीति से श्रद्धेय होती है, उस के संबंध में अश्रद्धा करने से तथा मार्ग से विरुद्ध प्ररुपणा करने से जो दोष लगे हो उनका प्रतिक्रमण करना होता है।[१]

ये चारों वस्तुएँ उन्नति के अर्थी जनमात्र के लिये लागू होती हैं इसलिये इन चारों दोषों का जिसमें प्रतिक्रमण किया जाता है, वह प्रतिक्रमण सभी आत्मार्थी जीव के लिये उपकारी है।

सुविहित शिरोमणि आचार्यपुरंदर श्री हरिभद्रसूरि फरमाते हैं कि:-

निषिद्ध का आसेवन आदि जिस कारण से प्रतिक्रमण के विषयरूप कहे गए हैं, उस कारण के लिये यह प्रतिक्रमण भावशुद्धि का अन्तःकरण की निर्मलता का परम प्रकृष्टकारण है।[२] कारण यह है कि इनमें से

---

१ पडिसिद्धाणं करणे किच्चाणमकरणे पडिक्कमणं
असद्दहणे य तहा विवरीयपरुवणाए॥

२ निषिद्धासेवनादि यद्विषयोऽस्य प्रकीर्तितः
तदेतद्भावसंशुद्धेः कारणं परमं मतम्॥
—योगबिन्दु गाथा—४००

एक २ दोष भी यदि उसमें से प्रत्यावर्तन न हो तो अनंतगुण पर्यन्त दारुण विपाक देने वाला बनता है।

शंका ६: प्रतिक्रमण की क्रिया बहुत लम्बी और उकताने वाली होती है। उसके सूत्रों का अर्थ जो जानते नहीं उनके आगे वे सूत्र बोल लेने से किसी भी प्रकार का भाव जागृत नहीं होता न किसी भी प्रकार का विशिष्ट प्रयोजन सधता है, तो उसके स्थान पर सामायिक या स्वाध्याय करे तो क्या बुरा है?

समाधान: प्रतिक्रमण की क्रिया बहुत लम्बी और उकताने वाली है - ऐसा कहने वाला या तो धर्म के लिये क्रिया की आवश्यकता बिल्कुल ही नहीं मानता हो अथवा मात्र बातें करने से ही धर्म सिद्ध हो सकता है - ऐसी गलत श्रद्धा रखता हो परन्तु दोनों प्रकार की ये मान्यताएँ ठीक नहीं हैं। धर्म का प्राण क्रिया है, और क्रिया के बिना कभी भी मन, वचन या काया स्थिर रह नहीं सकते - जैसा जिसे ज्ञान है, उसके मन प्रतिक्रमण की क्रिया सर्वथा संक्षिप्त और अतिरसपूर्ण है। साथ ही दोनों संध्याओं में यह कर्तव्य होने से तथा उस समय लौकिक कार्य (लोकस्वभाव से ही) न किये जाने से निरर्थक जाता हुआ काल सार्थक कर लेने का भी वह अपूर्व उपाय है। इसी प्रकार ज्ञानाभ्यास के लिये भी वह काल अस्वाध्याय का है तथा अकाल में ज्ञानाभ्यास करने से उल्टा अनर्थ होता है। इसलिये प्रमाद में जाते हुए उस काल को ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि हो इस प्रकार व्यतीत करने की अपूर्व चाबी भी उसमें मौजूद है। प्रतिक्रमण जैसी संक्षिप्त और संध्यासमय की दो घटिकाओं में पूर्ण होनेवाली क्रिया को लंबी और उकताने वाली कहना जीवन के प्रमादरुपी कट्टर शत्रु को पुष्टि देने वाला अज्ञानता पूर्ण कथन है।

प्रतिक्रमण के सूत्र बहुत संक्षिप्त हैं, उनके शब्दार्थ या भावार्थ न जानने वाले भी उनका ऐदंपर्यार्थ न समझ सकें-ऐसी बात नहीं है। पाप से प्रत्यावर्तन करना प्रतिक्रमण का ऐदंपर्यार्थ है। पाप में प्रवृत्ति क्यों?

'अनादि अभ्यास से' – अनुभव सिद्ध है। उस पाप और उससे पीछे मुड़ने की क्रिया प्रतिक्रमण है ऐसा रहस्यार्थ सभी की समझ में आ सकने योग्य है। इस अर्थ को ध्यान में रखकर जो प्रतिक्रमण की क्रिया करते हैं वे सूत्र के शब्दों और उसके अर्थ न जानते हों तब भी उसे जानने वाले के मुख से सुनने से अथवा उसे जानने वाले के ज्ञान पर श्रद्धा रख कर स्वमुख से बोलने से भी अवश्य शुभभाव पा सकते हैं। इस बात की पुष्टि अध्यात्मकल्पद्रुम के रचयिता सहस्रावधानी श्री मुनिसुन्दर सूरिजी ने निम्न लिखित शब्दों में की है :—

'उन व्यक्तियों को धन्य है जो स्वयं ज्ञानी नहीं। श्रद्धा से शुद्ध अंतः-करणवाले पर व्यक्ति के उपदेश का लेश (अंश) प्राप्त कर, कष्ट साध्य अनुष्ठानों के प्रति आदरबद्ध रहते हैं। कई आगम के पाठी होते हुए और आगमों की पुस्तकों को–उनके अर्थ को अपने पास धारण करते हुए भी इह-लोक और परलोक में हितकर कर्मों के विषय में केवल आलसी होते हैं। परलोक का हनन करने वाले ऐसे उन लोगों का भविष्य कैसा होगा?'

यहाँ दूसरे के उपदेश से भी सत्कार्य करने वाले और स्वयं अनपढ़ होने से उसके विशेष अर्थ न जानने वाले व्यक्तियों को भी श्री मुनिसुन्दर सूरिजी महाराज धन्य कहते हैं और पढ़े हुओं आलसी को भी परलोक–हित का हनन करने वाले कहते हैं क्योंकि क्रिया सुगति का हेतु है – मात्र ज्ञान नहीं – ऐसा वे गीतार्थ दृष्टि से जानते हैं। क्रिया में जितना ज्ञान मिश्रित हो उतना दूध में शक्कर मिश्रण होने जैसा है, परन्तु शक्कर के अभाव में दूध को भी दूध मानकर न पीना ऐसी बात लोक में कोई नहीं कहता तो लोकोत्तर

धन्याः केऽप्यनधीतिनोऽपि सदनुष्ठानेषु बद्धादरा,
दुःसाध्येषु परोपदेशलवतः श्रद्धानशुद्धाशयाः।
केचित्त्वागमपाठिनोऽपि दधतस्तत्पुस्तकान् येऽलसा,
अत्राऽमुत्र हितेषु कर्मसु कथं ते भाविनः प्रेत्यहाः॥

अध्यात्मकल्पद्रुम अधिकार ८ श्लोक ७

शासन में सूत्र का अर्थ न जानने मात्र से सूत्रानुसारी क्रिया के सम्बन्ध में अप्रमत्त रहने वाले का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता – ऐसा कौन कहेगा ? वे ही कहेंगे जो सूत्र की मंत्रमयता और उनके रचयिताओं की परम आप्तता को समझते न हों। आप्त पुरुषों द्वारा रचित सूत्र मंत्रमय होते हैं और उनसे मिथ्यात्वमोहनीय आदि पापकर्म की दुष्ट प्रकृतिओं का विष समूल नष्ट होता है। ऐसा जानने और मानने वाले प्रतिक्रमण की क्रिया के सूत्रों का विधिपूर्वक उच्चारण और श्रवण (तथाविधअर्थ न जानते हुए भी) एकांत कल्याण करनेवाला है ऐसी श्रद्धा में से कभी भी चलित नहीं होते।

शंका ७ : प्रतिक्रमण की क्रिया में चतुर्विंशति-स्तव, गुरुवंदन, कायो. त्सर्ग और पच्चक्खाण की क्या आवश्यकता है ?

समाधान : प्रतिक्रमण जैसे सामायिक का अंग है, उसी प्रकार चतुर्विंशति-स्तवादि भी सामायिक के अंग हैं। सामायिकरुपी साध्य की सिद्धि हेतु जितनी आवश्यकता प्रतिक्रमण रुपी साधन की है उतनी ही आवश्यकता चतुर्विंशति स्तव आदि की है। दूसरी तरह से कहें तो चतुर्विंशति स्तव आदि सामायिक के ही भेद हैं इसलिये सामायिक से भिन्न नहीं हैं। अर्थात् परस्पर साध्य-साधनभावरूप में रहे हुए हैं। जिस प्रकार सामायिक का साधन चतु-र्विंशति-स्तवादि है, उसी प्रकार चतुर्विंशति-स्तवादि का साधन सामायिक है, अथवा गुरुवंदन है, अथवा प्रतिक्रमण है, अथवा कायोत्सर्ग है अथवा पच्च-क्खाण है। पच्चक्खाण से जिस प्रकार समभाव लक्षण सामायिक की वृद्धि होती है, उसी प्रकार सामायिक से भी आश्रवनिरोधरुप अथवा तृष्णाछेदरुप पच्च. क्खाण-गुण वृद्धि होती है अथवा सामायिक से जिस प्रकार कायोत्सर्ग अर्थात् काया पर से ममता छूटकर समता प्राप्त होती है उसी प्रकार कायोत्सर्ग-काया के प्रति ममत्व का – त्याग – भी समभावरूप सामायिक की ही पुष्टि करता है। इसी तरह त्रिकालविषयक सावद्य योग की निवृत्तिरूप प्रतिक्रमण जैसे सामायिक से सिद्ध होता है वैसे ही साक्षात् सावद्ययोग की निवृत्ति के पच्चक्खाणरुपी सामायिक से प्रतिक्रमण की पुष्टि होती है। समभाव लक्षण सामायिक जैसे समभाव प्राप्त सुगुरु की आज्ञा के पालनरूप भक्ति का प्रयोजक है उसी प्रकार

समभाव प्राप्त सुगुरु का वंदन रूप विनय भी समभाव रूप सामायिक गुण को विकसित करने वाला है। इस प्रकार छहों आवश्यक परस्पर एक दूसरे के साधक हैं अतः वे छहों एकत्रित रूप से चारित्र गुण की पुष्टि करते हैं अथवा चारित्र जिसका एक विभाग है ऐसे (पंचाचारमय) पंचविध मुक्तिमार्ग की उसके द्वारा आराधना होती है, श्री जिनेश्वर देव द्वारा उपदिष्ट मुक्तिमार्ग पंचाचार का पालनस्वरूप है, क्योंकि आत्मा के मुख्य गुण पांच हैं। इन पांचों का विकास करने वाले आचार के परिपूर्ण पालन बिना आत्मगुणों के संपूर्ण लाभरूप मुक्तिरूपी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

सामायिक, चतुर्विंशति-स्तव आदि छहों आवश्यकों से आत्मगुणों के विकास करनेवाले पाँचों आचारों की शुद्धि कैसे होती है? इसका वर्णन करते हुए शास्त्रकार महर्षि फरमाते हैं कि :—

सावद्य योग के वर्जन और निरवद्य योगों के सेवन स्वरूप सामायिक द्वारा यहाँ चारित्राचार की शुद्धि होती है। *

जिनेश्वरों के अद्भुत् गुणों के उत्कीर्तन स्वरूप चतुर्विंशति स्तव द्वारा दर्शनाचार की विशुद्धि होती है।

ज्ञानादि गुणों से युक्त गुरूओं को विधिपूर्वक वंदन करने से ज्ञानाचारादि आचारों की शुद्धि होती है।

ज्ञानादि गुणों में हुई स्खलनाओं की विधिपूर्वक निंदादि करनेरूप प्रतिक्रमण द्वारा ज्ञानादि आचारों की शुद्धि होती है।

प्रतिक्रमण से शुद्ध नहीं बने हुए चारित्रादि के अतिचारों की व्रणचिकित्सास्वरूप कायोत्सर्ग द्वारा शुद्धि होती है और उससे चारित्रादि आचारों की शुद्धि होती है।

---

* चारित्तस्स विसोही कीरइ सामाइएण किल इहयं।
सावज्जेयरजोगाण वज्जणा सेवणत्तणओ ॥

इत्यादि चतुःशरण – प्रकीर्णक गाथा २ थी ७

मूल उत्तरगुणों को धारण करनेरुप पच्चक्खाण द्वारा तपाचार की शुद्धि होती है।

तथा सामायिकादि सर्व आवश्यकों द्वारा वीर्याचार की विशुद्धि होती है।

इस प्रकार छहों आवश्यक पाँचों प्रकार के आचार की विशुद्धि करते हैं। पंचाचार का पालन ही सच्चा मुक्तिमार्ग का आराधन है। प्रतिक्रमण की क्रिया को तृतीय वैद्य के औषधरुप (अर्थात् दोष हो तो उसे दूर करे और न हो तो ऊपरसे गुण करे) उपमा शास्त्रकारों ने दी है वह इससे सार्थक होती है।

प्रतिक्रमण द्वारा चारित्रादि आचारों में लगे हुए दोष दूर होते हैं और आत्मा के ज्ञान, दर्शन, वीर्यादि गुणों की पुष्टि होती है। प्रतिक्रमण रुपी व्यायाम आत्मगुणों की पुष्टि करने के कार्य की सिद्धि का अनन्य और अनुपम उपाय होने से प्रत्येक तीर्थपति के शासन में विहित हुआ है – यह बात प्रत्येक तीर्थपतिओं के मुनिओं के वर्णनों में शास्त्रकारों द्वारा वर्णित है। ऐसे दो–चार वर्णन यहाँ देने से उस विषय की प्रतीति दृढ होगी।

(१) श्रीमहावीर भगवान का जीव नयसार के भव में सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् तीसरे भव में श्री ऋषभदेव स्वामी के पौत्र और भरत चक्रवर्ती के पुत्र मरीची के रुप में उत्पन्न हुआ। उसने श्री ऋषभदेव स्वामी के पास दीक्षा ली और सामायिक आदि ११ अंगों का अभ्यास किया – यह बात बताते समय निर्युक्तिकार भगवान श्री भद्रबाहुस्वामीजी आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति में फरमाते हैं कि :–

मरिई वि सामिपासे विहरइ तवसंजमसमग्गो।
सामाइयमाईयं इक्कारसमाउ जाव अंगाउ।
उज्जुत्तो भत्तिगओ अहिज्जिओ सो गुरुसगासे॥

आ. नि. गाथा ३६ – ३७

तप और संयम से सहित मरीचि, स्वामी के साथ विचरण करते हैं। उद्यमी और भक्तिमान् ऐसे वे गुरु के पास सामायिक से लगाकर ग्यारह अंग पर्यन्त पढे।

(२) ज्ञाताधर्मकथा नामक छठे अंग में निम्न लिखित उल्लेख है: शैलकज्ञात नामक पाँचवे अध्ययन में कहा है कि :–

(क) तत्पश्चात् वे थावच्चापुत्र श्री नेमिनाथ स्वामी के तथाप्रकार के गुण विशिष्ट स्थविरों के पास सामायिकादि चौदह पूर्वों का अभ्यास करते हैं।

(ख) – – – उसके बाद मुंड होकर दीक्षा अंगीकार करके शुक नामक महर्षि सामायिक से लगाकर चौदह पूर्वों का अध्ययन करते हैं।

(ग) शैलक नामक राजा भी शुक नामक महर्षि के पास धर्म श्रवण कर दीक्षा अंगीकार करते हैं तथा सामायिक आदि ग्यारह अंगो का अभ्यास करते हैं।

(घ) तेतली ज्ञात नामक चौदहवें अध्ययन में निम्न लिखित उल्लेख है :—

उस समय तेतली नामक मंत्रीश्वर को शुभ परिणाम के योग से जाति-स्मरण ज्ञान हुआ। जातिस्मरण ज्ञान द्वारा अपना पूर्व भव जानकर स्वयमेव दीक्षा अंगीकार की। (फिर) प्रमदवन नामक उद्यान में सुखपूर्वक बैठकर चिंतन करते २ पूर्व पठित सामायिकादि चौदह पूर्व स्वयमेव स्मृति पथ में आए।

(ङ) नंदीफल ज्ञात नामक पंद्रहवे अध्ययन में अधोलिखित उल्लेख है :—

धन सार्थवाह ने धर्म का श्रवण कर अपने ज्येष्ठ पुत्र को परिवार का बोझ सुपुर्द कर प्रव्रज्या अंगीकार की और सामायिकादि ग्यारह अंगों का अभ्यास किया।

(च) अमरकंका ज्ञात नामक सोलहवे अध्ययन में निम्न लिखित उल्लेख है :—

उस समय युधिष्ठिर आदि पाँचों अणगारों ने सामायिकादि चौदह पूर्वों का अभ्यास किया – – – तत्पश्चात् द्रौपदी नामक आर्या, सुव्रता नामक आर्या के पास सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन करती है।

(छ) ज्ञाताधर्म के दूसरे श्रुतस्कंध में श्री पार्श्वनाथ स्वामी के समय का उल्लेख निम्न प्रकार से है :—

उसके पश्चात् श्री काली नामक आर्या श्रीमती पुष्पचूला नामक आर्या के पास सामायिकादि ११ अंगों का अध्ययन करती है।

(३) भगवती सूत्र में श्री महाबल नामक राजकुमार का निम्न प्रकार से अधिकार है :- (तेरहवें जिनपति श्री विमलनाथ स्वामी के शासन में वे हुए हैं)

उसके बाद श्री महाबल श्री धर्मघोष नामक अणगार के पास सामायिकादि चौदह पूर्व पढते हैं।

(४) भगवती सूत्र के द्वितीय शतक के प्रथम उद्देश में श्री स्कंदचरित का वर्णन निम्न प्रकार से है :—

वे स्कंदक नामक अणगार श्रमण भगवान महावीर के तथारूप स्थविरों के पास सामायिकादि ग्यारह अंगों का अध्ययन करते हैं।

इस प्रकार श्री ऋषभदेव स्वामी से लगाकर श्री वर्धमान स्वामी पर्यन्त सभी तीर्थपतिओं के साधु – सामायिक जिसकी आदि में है - ऐसे ग्यारह अंगों और चौदह पूर्वों का नियमित अभ्यास करते हैं। यह इस बात का सूचक है कि प्रत्येक मुनि के लिये सामायिकादि आवश्यकों का अध्ययन अनिवार्य है, कारण यह है कि पंचाचार की शुद्धि का वह अनन्य साधन है। ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि आत्मा के शाश्वत गुण हैं और उसे मलीन करने वाले कर्म का आवरण अनादिकालीन है। उस आवरण को हटाने तथा मलीनता दूर करने का उपाय भी शाश्वत चाहिये इसलिये प्रत्येक तीर्थंकर के शासन में वह होता ही है। इस प्रकार आवश्यक और प्रतिक्रमण क्रिया की उपयोगिता तीर्थंकर देवों द्वारा स्थापित की हुई है और चतुर्विध संघ द्वारा प्रतिदिन की सामाचारी में वह मान्यता प्राप्त है। प्रकृति का भी वही क्रम है। मुमुक्षु आत्माओं के लिये शीघ्र मोक्ष प्राप्त करने हेतु वह प्रतिदिन का व्यायाम है। शारीरिक व्यायाम जैसे शरीर को तन्दुरुस्ती प्रदान करता है, वैसे ही यह आत्मिक व्यायाम आत्मा को भाव तन्दुरुस्ती प्रदान करता है। कहा है कि –

सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करने में समर्थ जो शुभ क्रिया गुर्वादि[1] के समक्ष की जाती है वह सम्यग् व्यायाम है।

शंका ८ : एक प्रतिक्रमण के बजाय पांच प्रतिक्रमण क्यों?

समाधान : प्रतिक्रमण दोष शुद्धि और गुण पुष्टि की क्रिया है। दोष अर्थात् कचरा। आत्मारूपी घर के अन्दर कर्म के संबंध से दोषरूपी कचरा निरन्तर एकत्रित होता है। उसे प्रतिपक्ष, प्रतिचातुर्मास और प्रत्येक संवत्सरी पर अधिक प्रयत्नपूर्वक साफ करने से ही वह दूर हो सकता है। इसलिये शास्त्रकारों ने दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक इस प्रकार पाँच प्रतिक्रमणों का विधान किया है, इनमें प्रथम दैवसिक प्रतिक्रमण फरमाने का कारण यह है कि तीर्थ की स्थापना दिन में होती है और तीर्थ की स्थापना के प्रारम्भ से ही प्रतिक्रमण करना होता है। कहा है कि :—

यहाँ तीर्थ दिन प्रधान है, अर्थात् तीर्थ की उत्पत्ति होती है अतः प्रथम प्रतिक्रमण भी दैवसिक ही होता है।[2]

तीर्थ-स्थापना होने के दिन से ही श्री गणधर भगवंत भी नियमित प्रतिक्रमण करते हैं। इस प्रकार जिस दिन शासन की स्थापना होती है, उसी दिन से प्रतिक्रमण की आवश्यकता होती है। इससे यह बात भी सिद्ध होती है कि आवश्यक सूत्र स्वयं गणधररचित है – अन्य रचित नहीं।

शंका ९ : प्रतिक्रमण तो क्रिया रूप है, इसलिये उससे अध्यात्म की सिद्धि कैसे होती है?

समाधान : अध्यात्म का बाह्य स्वरूप समझने वाले को ही यह शंका होती है। अध्यात्म का वास्तविक स्वरूप समझने वाले को तो प्रतिक्रमण

---

१ गुर्वादिसमीपाध्यासिनः शुभा या क्रिया सम्यग्दर्शनोत्पादनशक्ता सा सम्यग् व्यायामः।

— तत्त्वार्थ सिद्धसेनीय टीका – पृष्ठ ५७

२ इह यस्माद्दिवसादि तीर्थं दिवसप्रधानं च तस्माद्दैवसिकमादावितिं।

आ. नि.

की सम्पूर्ण क्रिया अध्यात्मस्वरुप ही लगती है। अध्यात्म शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ और रूढ्यर्थ समझाते हुए उपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज फरमाते हैं कि:—

आत्मा को उद्दिष्ट कर पंचाचार का जो पालन होता है वह अध्यात्म है। दूसरी व्याख्या के अनुसार बाह्य व्यवहार से उपबृंहित मैत्र्यादियुक्त चित्त अध्यात्म है।*

इन दोनों व्याख्याओं में ज्ञान और क्रिया दोनों को अध्यात्म माना है। अकेली क्रिया जैसे अध्यात्म नहीं, वैसे ही अकेला ज्ञान भी अध्यात्म नहीं है। यही बात स्पष्ट करके वे कहते हैं कि:—

मोह के अधिकार रहित आत्माओं की आत्मा को उद्दिष्ट कर शुद्धक्रिया को जिनेश्वर अध्यात्म कहते हैं। +

आगे बढ़कर वे फरमाते हैं कि जैसे पाँचों प्रकार के चारित्रों में सामायिक चारित्र रहा हुआ है, उसी प्रकार सर्व प्रकार के मोक्षसाधक व्यापारों में अध्यात्म अनुगत है।

अन्त में वे स्पष्ट करते हैं कि –

इस कारण से ज्ञान–क्रिया उभयरुप अध्यात्म है और वह निर्दम्भ आचार वाले व्यक्तियों में ही वृद्धि पाता है। ×

---

* आत्मानमधिकृत्य स्याद्, यः पञ्चाचारचारिमा।
शब्दयोगार्थ निपुणास्तदध्यात्मं प्रचक्षते ॥
रुढ्यर्थनिपुणास्त्वाहुश्चित्तं मैत्र्यादिवासितम्।
अध्यात्मं निर्मलं बाह्य – व्यवहारोपबृंहितम् ॥
अध्यात्मोपनिषत् प्रकरणम् – श्लोक – २ – ३

\+ गतमोहाधिकाराणामात्मानमधिकृत्य या।
प्रवर्तते क्रिया शुद्धा, तदध्यात्मं जगुर्जिनाः ॥
अध्यात्मसार अधिकार २, श्लोक – २

× अतो ज्ञानक्रियारूपमध्यात्मं व्यवतिष्ठते।
एतत्प्रवर्धमानं स्यान्निर्दम्भाचारशालिनाम् ॥ १ ॥
अध्यात्मसार अधि. श्लोक – २९

क्रिया को केवल काया की चेष्टा कहकर जो ज्ञान को ही अध्यात्म मानते हैं उनका जीवन निर्दम्भ होना संभव नहीं, क्योंकि छद्मस्थ अवस्था में मन जुड़े बिना केवल काया से जानते हुए क्रिया नहीं हो सकती। सशरीरी अवस्था में जैसे मानसिक क्रिया केवल आत्मा से नहीं हो सकती उसी प्रकार काया या वाणी की क्रिया मात्र काया अथवा मात्र वाणी से नहीं हो सकती। वाणी का व्यापार काया की अपेक्षा रखता है और मन का व्यापार भी काया की अपेक्षा रखता है। इसी प्रकार मन का व्यापार जैसे आत्मा की अपेक्षा रखता है वैसे ही वाणी और काया का व्यापार भी आत्मा की अपेक्षा रखता है, आत्म प्रदेशों का कम्पन हुए बिना मन, वचन या काया तीनों में से एक भी योग अपनी प्रवृत्ति नहीं कर सकता। तीनों ही योगों द्वारा होनेवाली शुभ या अशुभ क्रिया आत्मा ही करती है, परन्तु आत्मा को छोड़कर केवल पुद्गल नहीं करता – ऐसा मानने वाले ही निर्दम्भ रह सकते हैं जैनमत में अध्यात्म के नाम थोड़ा भी दम्भ टिक नहीं सकता हो तो इसका कारण यही है। फिर भी जो वेदान्त या सांख्यमत की भांति आत्मा या जीव को सशरीरी अवस्था में भी सर्वथा नित्य या पुष्करपत्रवत् निर्लिप्त मानते हैं उनके जीवन में देर-सबेर दम्भ का प्रवेश होने की बड़ी संभावना है। शुद्ध अध्यात्म ज्ञान और क्रिया ओतप्रोत हो जाते हैं अतः वह निर्दोष अध्यात्म है।

शंका १०: प्रतिक्रमण की क्रिया में योग कहाँ है?

समाधान: सच्चा योग मोक्षसाधक ज्ञान और क्रिया उभयस्वरुप है। भगवान् श्री हरिभद्रसूरिजी योगविंशिका नामक ग्रन्थरत्न में फरमाते हैं कि :—

मुक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो धम्मवावारो।

अथवा – उपाध्याय भगवंत श्री यशोविजयजी महाराज फरमाते हैं उस तरह :—

मोक्षेण योजनाद्योगः सर्वोऽप्याचार इष्यते।

जीव को परम सुखस्वरूप मोक्ष के साथ जोड़ने वाला – संबंध करवाने वाला – सर्व प्रकार का धर्म व्यापार – सर्व प्रकारका धर्माचरण – योग है। दूसरे शब्दों में मोक्षकारणीभूत आत्मव्यापार ही वास्तविक योग है। अथवा धर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम्। धर्म व्यापारपन ही योग का वास्तविक लक्षण है। यह लक्षण प्रतिक्रमण की क्रिया में सर्वांश से लागू होता है इसलिये प्रतिक्रमण की क्रिया सच्ची योगसाधना है। उसके बिना केवल आसन, केवल प्राणायाम या केवल ध्यान, धारणा या समाधि की क्रिया मोक्षसाधक योगस्वरूप बने – ऐसा नियम नहीं है। मोक्ष के ध्येय से होनेवाली अष्टांगयोग की प्रवृत्ति को जैनाचार्यों ने मान्यता दी है तब भी उसमें जो दोष और भयस्थान रहे हैं उनका भी साथ ही उल्लेख किया है।* जैन सिद्धान्त का कथन है कि किसी भी आसन, किसी भी स्थान या किसी भी मुद्रा से, किसी भी काल में और किसी भी क्षेत्र में तथा किसी भी (बैठी, खड़ी या सोई) अवस्था में मुनिजन केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इसके संबंध में कोई भी एक निश्चित नियम नहीं है। नियम एक मात्र परिणाम की शुद्धि और योग की सुस्थता का है। परिणाम की शुद्धि या योग की सुस्थता जिस प्रकार हो तदनुसार आचरण करना कर्मक्षय या मोक्षलाभ का असाधारण उपाय है और वही वास्तविक योग है। प्रतिक्रमण की क्रिया परिणाम की शुद्धि और योग की सुस्थता का अनुपम उपाय है इसलिये वह भी एक प्रकार का योग है और मोक्ष का हेतु है।

शंका ११ : प्रतिक्रमण की क्रिया का जो लाभ बताया जाता है वह सत्य ही हो तो क्रिया करने वाले वर्ग में क्यों नहीं दिखाई देता?

---

* न च प्राणायामादि हठयोगाभ्यासश्चित्तनिरोधे परमेन्द्रियजये निश्चित उपायोऽपि ऊसासं न निरुंभइ (आ. नि. गा. १५१०) इत्याद्यागमेन योगसमाधानविघ्नत्वेन बहुलं तस्य निषिद्धत्वात्*

पातञ्जलयोगदर्शन पाद – २, सू – ५५

श्रीमद्यशोविजयवाचकवरविहिता टीका

समाधान : प्रेक्षक जिस दृष्टि से देखता है, उस दृष्टि के अनुसार उसे गुण या दोष दिखाई पड़ता है। प्रतिक्रमण की क्रिया की जाँच करने वाले को किस दृष्टि से उसे देखना चाहिये – इसका निर्णय प्रथम करना चाहिये। हम देख चुके हैं कि प्रतिक्रमण की क्रिया जिनेश्वर भगवंतो ने मुमुक्षु आत्माओं के लिये अवश्य कर्तव्य के रूप में नियुक्त की है और वह क्रिया करने के लिये सूत्र स्वयं गणधर भगवंतों ने तीर्थ की स्थापना के प्रथम दिन ही रचे हैं तथा उसकी विधियुक्त आराधना भी उसी दिन से चतुर्विध संघ अपने २ अधिकार के अनुसार निरपवाद रूप से करता है। शास्त्रीय दृष्टि से सबसे बड़ा लाभ सर्व प्रथम तो प्रभु–आज्ञा के पालन का है। 'मन्नह जिणाणमाणं' – जिनेश्वरों की आज्ञा मानो। 'धम्मो आणाए पडिबद्धो' – धर्म आज्ञा से बँधा हुआ है। 'आणाए धम्मो' – आज्ञा से ही धर्म है। प्रतिक्रमण की क्रिया में से जिनेश्वरों की आज्ञा पालन करने का अध्यवसाय ही सबसे बड़ा लाभ है। यही सबसे बड़ी भाव शुद्धि है। आज्ञापालन के अध्यवसाय पूर्वक जो प्रतिक्रमण की क्रिया तो क्या परन्तु जिन मत के एक छोटे से छोटे धर्मानुष्ठान का आचरण करते है उन्हें भी असीम लाभ प्राप्त होता है।

भगवान श्री हरिभद्रसूरिजी फरमाते हैं कि:—

यह जिनोक्त है, आप्त प्रणीत है, ऐसे प्रकार की भक्ति और सम्मान-पूर्वक द्रव्य से (अर्थात् अन्दर के भाव बिना) भी ग्रहण किया जाने वाला प्रत्याख्यान भाव प्रत्याख्यान (अर्थात् शुद्ध प्रत्याख्यान) का कारण बनता है। *

कारण यह है कि यह जिनेश्वरों द्वारा कथित है इस प्रकार का सम्मान का आशय द्रव्य प्रत्याख्यान के हेतुभूत अविधि, अपरिणाम, ऐहिक लोभ, मन्दोत्साह आदि दोषों को दूर कर देता है।

---

* जिनोक्तमिति सद्भक्त्या, ग्रहणे द्रव्यतोऽप्यदः।
बाध्यमानं भवेद्भावप्रत्याख्यानस्य कारणम् ॥

श्री हरिभद्रसुरि कृत अष्टक ८, श्लोक – ८

प्रतिक्रमण की क्रिया जिनप्रणित है, आत्मागम में कथित है तथा कर्म-क्षय का हेतु है। इसप्रकार की श्रद्धापूर्वक जो लोग उस क्रिया को करते है उनकी क्रिया में अविधि आदि दोष रहे हुए हों फिर भी वे कालक्रम के साथ नष्ट हो जाते हैं। जिनाज्ञा – आराधनरूपी यह महान् लाभ प्रतिक्रमण की क्रिया करने वालों को मिलता है। मात्र उसे देखने की दृष्टि न होने से वह दिखायी नहीं देता।

अब उस क्रिया का लाभ देखने की एक दूसरी दृष्टि भी है! वह यह है कि प्रतिक्रमण की क्रिया दोष की शुद्धि और गुण की वृद्धि के लिए है तो उस क्रिया को करने वाले के कितने दोष दूर हुए और कितने गुण बढ़े? परन्तु क्रिया का यह लाभ देखने की दृष्टि भारी खतरे से भरी हुई है क्योंकि गुण और दोष आंतरिक वस्तु है। दूसरे के आंतरिक भावों को देखने का सामर्थ्य छद्मस्थ में है ही नहीं। वैसा करने जाए तो व्यवहार का विलोप होता है। व्यवहार के विलोप से तीर्थ का विलोप होता है। शास्त्रकार महर्षियों ने फरमाया है कि :-

यदि जिनमत का अंगीकार करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों में से एक को भी मत छोडो क्योंकि व्यवहार के विलोप से तीर्थ का विच्छेद होता है और निश्चय के विलोप से सत्य का विलोप होता है। +

व्यवहार क्रिया प्रधान है, निश्चय भाव प्रधान है। साधु की क्रिया में रहा हुआ साधु – साधु मानने योग्य है। फिर भाव से वह साधु के योग्य भाव में हो अथवा न हो, क्योंकि भाव तो अस्थिर और अतीन्द्रिय है, पल पल में बदलता रहता है। भाव के बदलने मात्र से साधु की साधुता सर्वथा नहीं मिट जाती क्योंकि वह क्रिया में सुस्थित है। जैसे प्रसन्नचंद्र राजर्षि भाव से सातवीं नरक के दल एकत्रित कर रहे थे परन्तु क्रिया से साधु लिंग में और साधु के आचार में थे, इसलिए वे श्रेणिक आदि के लिए वंदनीय थे। भाव बदलने के साथ पल भर में वे सर्वार्थसिद्ध विमान के और पलभर में केवलज्ञान

+ जइ जिणमयं पवज्जह, ता मा ववहारनिच्छए मुयह।
इक्केण विणा तित्थं, छिज्जइ अन्नेण उ तच्चं ॥
भगवती टीका

के योग्य बने। इसलिए आंतरिक भावों पर ही दूसरे की क्रिया के लाभालाभ का निष्कर्ष निकालना अथवा उसे ही एक मापक यंत्र बनाना दोष दृष्टि है, द्वेष दृष्टि है अथवा अज्ञान दृष्टि है। उस दृष्टि का त्याग करके प्रतिक्रमण की क्रिया देखी जाए तो उसे करने वाले प्रभु आज्ञा के आराधक बनते हुए दिखायी देंगे और प्रभु आज्ञा की आराधना के परिणामस्वरूप मुक्ति मार्ग के साधक लगेंगे।

अब तीसरी दृष्टि क्रिया के द्वारा अपनी आत्मा को लाभ हुआ अथवा हानि हुई इसे देखने की है। यह दृष्टि शास्त्रविहित है। दूसरे के आंतरिक भावों का निर्णय करना दुष्कर है परन्तु अपने भावों का निर्णय करना सर्वथा दुष्कर नहीं। उसे भी देखने के लिए सावधानी न रखी जाए तो तीर्थ की रक्षा करने के प्रयास में सत्य का ही नाश हो जाता है। यहां सत्य का तात्पर्य अशठभाव से, तीर्थ के आराधन से होने वाले आत्मिक लाभ से है। इसके लिए अपने भावों का निरीक्षण अवश्य करना चाहिए। क्रिया करते हुए भी अपने भाव सुधारते न हों तो उस क्रिया को द्रव्य क्रिया, स्वकार्य करने में असमर्थ ऐसी तुच्छ क्रिया माननी चाहिए। वह क्रिया या तो विष क्रिया होनी चाहिए, गरल क्रिया होनी चाहिए अथवा सम्मूर्छिम क्रिया होनी चाहिए।

इस लोक के पौद्गलिक फल की आकांक्षा से की जानेवाली क्रिया विष-क्रिया है। परलोक के पौद्गलिक फल की आकांक्षा से की जाने वाली वही क्रिया गरल क्रिया है और इस लोक या परलोक के फल की आकांक्षा न हो तब भी शून्यचित्त से अमनस्क रुप से या अनाभोग से की जानेवाली क्रिया सम्मूर्छिम क्रिया है। क्रिया के इन दोषों को दूर कर, उपयोगयुक्त बनकर, निराशंस भाव से केवल मुक्ति और कर्मक्षय की आकांक्षा से क्रिया करनी चाहिए अथवा श्री जिनेश्वर भगवंत की भवोच्छेदक, त्रिभुवनजनमान्य, परम प्रकृष्ट आज्ञा के पालनार्थ क्रिया करनी चाहिए जिससे भाव सुधरते हैं, गुणों का विकास होता है और दोष दूर होते हैं। इसीलिये श्री हरिभद्रसूरि आदि सूरिपुंगवोंने सर्वधर्म व्यापार की मोक्ष का कारण कहने के साथ उसके साथ परिशुद्ध विशेषण लगाया है।

परिशुद्ध धर्मव्यापार मोक्ष का कारण है। परिशुद्ध अर्थात् आशय की विशुद्धि वाला। क्रिया के पाँच प्रकार के आशय षोडशक आदि ग्रंथों में बताये हैं। उनमें प्रथम प्रणिधान है। प्रणिधान अर्थात् कर्तव्य का ध्यान – यह मेरा कर्तव्य है ऐसी बुद्धि। यह बुद्धि शास्त्र के प्रति सम्मान भाव से उत्पन्न होती है क्योंकि शास्त्र के आदिकर्ता अरिहंत देव है अतः प्रत्येक क्रिया करते समय यह क्रिया बताने वाले शास्त्र हैं और इन शास्त्रों के आदि प्रकाशक आद्य पुरस्कर्ता भी अरिहंत परमात्मा हैं इस प्रकार का प्रणिधान रहने से कर्तव्य भावना सतेज रहती है। दूसरी ओर अरिहंत परमात्मा का ध्यान भी चलता रहता है। इसके लिए कहा है कि :—

शास्त्र को आगे करने से वीतराग को आगे किया जाता है और वीतराग को आगे करने से सब प्रकार की सिद्धियाँ निश्चित रूप से प्राप्त होती है।×

जैन दर्शन के मतानुसार यहीं सच्चा ईश्वर प्रणिधान है। मात्र ईश्वर का नाम लेने से अथवा स्तवन करने से ही कल्याण हो जाएगा अथवा केवल विविध प्रकार के अनुष्ठान करने मात्र से ही कल्याण हो जाएगा ऐसी बात जैन शासन एकान्त से नहीं कहता। जैन शासन तो कहता है कि शास्त्र को आगे रखकर चलो। शास्त्र को आगे करने से शास्त्र के पुरस्कर्ता के रूप में एक ओर वीतराग का स्मरण ध्यान तथा सम्मान होता है तो दूसरी ओर अपनी भूमिका के योग्य शास्त्रनिर्दिष्ट कर्तव्य-कर्म में रत रहने के लिये आवश्यक श्रद्धा का बल प्राप्त होता है। वीतराग का नाम स्मरण, स्तवन – कीर्तन अथवा अर्चन पूजन भी श्री जिनमत में वीतराग की आज्ञा के पालन के रूप में करने का निर्देश दिया गया है क्यों कि उस आज्ञा पालन का परिणाम ही जीव के लिए सिद्धि का सच्चा कारण बनता है।

क्रिया का दूसरा आशय प्रवृत्ति है। यहां प्रवृत्ति से तात्पर्य है – अतिशय प्रयत्न। अपने अपने योग्य धर्मस्थान के विषय में (उपाय विषयक ने

× शास्त्रे पुरस्कृते वीतरागः पुरस्कृतः।
पुरस्कृते पुनस्तस्मिन्नियमात् सर्वसिद्धयः ॥ १ ॥
ज्ञानसार शास्त्राष्टक श्लोक – ४

नैपुण्ययुक्त और क्रिया की शीघ्र समाप्ति की इच्छा रूप औत्सुक्य दोष से रहित) प्रयत्न का अतिशय प्रवृत्ति कहलाता है।

तीसरा आशय विघ्नजय है। धर्म में आनेवाले विघ्नों – अन्तरायों को दूर करने का परिणाम विघ्नजय कहलाता है। धर्म के अन्तराय तीन प्रकार के हैं। जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। इन्हें कण्टक कल्प, ज्वरकल्प और दिग्मोहकल्प कहा है। शीतोष्णादि परिषह कण्टककल्प विघ्न है और ये तितिक्षा भावना द्वारा दूर किये जा सकते हैं। तितिक्षा अर्थात् शीतोष्णादि द्वन्द्व समभाव से सहन करने की वृत्ति। शारीरिक रोग ज्वरकल्प है। इन्हें हिताहार – मिताहार द्वारा दूर किया जा सकता है अथवा ये रोग मेरे शरीर की स्थिति के लिए बाधक है परन्तु आत्मा के स्वरूप के लिये नहीं। इस प्रकार का विचार करने से जीते जा सकते हैं। मिथ्यात्वादि जनित मनो-विभ्रम दिग्मोहकल्प नामक तृतीय विघ्न है। उसे मिथ्यात्वादि की प्रतिपक्ष भावनाओं द्वारा और गुरू आज्ञा की परतंत्रता द्वारा जीता जा सकता है। इस प्रकार तीनों प्रकार के विघ्न दूर करने से धर्मस्थान का निरन्तर निर्विघ्न आराधन हो सकता है।

सिद्धि यह चौथा और विनियोग यह पाँचवा आशय है। प्रथम तीन आशय के एकत्रित सेवन से धर्म की सिद्धि होती है और सिद्धि होने के पश्चात् यथोचित उपाय द्वारा दूसरे को उसकी प्राप्ति करवाई जा सकती है। यह विनियोग नामक पाँचवा आशय है। इन पाँचों ही प्रकार के आशय मे शुद्ध धर्म व्यापार मोक्ष का कारण बन सकता है परन्तु केवल धर्म व्यापार नहीं क्योंकि वास्तविक धर्म पुष्टि और शुद्धि वाला चित्त है।

पुण्योपचय चित्त की पुष्टि है और घातीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाली आंशिक निर्मलता चित्त की शुद्धि है। प्रणिधान आदि आशयों से चित्त के दोनों ही प्रकार के धर्म अनुक्रम से बदले जाते है और उसकी पुष्टि तथा शुद्धि का प्रकर्ष मोक्ष में परिणमन करता है। इन आशयों से शून्य अनुष्ठान अनुबंध वाला नहीं बनता, इसीलिये इसे करते हुए भी शुद्धि का प्रकर्ष होने के बजाय विद्यमान अशुद्धि बनी ही रहती है।

इस प्रकार क्रिया में जब आशय का सम्मिश्रण होता है तब वे दोनों ही मिलकर मोक्ष के हेतु बनते हैं। आशय शुद्धि पूर्वक की हुई प्रतिक्रमण की क्रिया विशेषकर मोक्ष का हेतु बनती है। क्योंकि उसमें स्थान, वर्ण, अर्थ, आलम्बन और अनालम्बन इन पांचों प्रकार के योगों की विशिष्ट आराधना विद्यमान है।

१. स्थान :- कायोत्सर्गादि आसन विशेष।
२. वर्ण :- क्रिया में उच्चारित सूत्र के अक्षर।
३. अर्थ :- अक्षरों में प्रच्छन्न अर्थ विशेष का निर्णय।
४. आलम्बन :- बाह्य प्रतिमा, अक्ष स्थापना आदि विषयक ध्यान।
५. अनालम्बन :- बाह्य रूपी द्रव्य के आलम्बन रहित केवल निर्विकल्प चिन्मात्र समाधि।

योग शास्त्र में प्रतिपादित यह पांचों प्रकार का विशिष्ट योग प्रतिक्रमण की क्रिया में सधता है। उसमें स्थान और वर्ण ये दोनों क्रिया योग हैं क्योंकि स्थान शारीरिक और वर्ण वाचिक क्रिया रूप है। जबकि अर्थ आलम्बन तथा अनालम्बन ये तीनो ज्ञानयोग हैं क्योंकि ये मानसिक व्यापार रूप हैं।

इस प्रकार आशय शुद्धिपूर्वक की जाती हुई यह क्रिया तीर्थ के रक्षण के साथ मोक्ष की प्राप्ति के लिए हेतुभूत भी होती है। 'हाथ कंगन को आरसी क्या' क्रिया करके उसका लाभ प्रत्यक्ष अनुभव करना यही उसे समझने का राज मार्ग है।

शंका १२ : प्रतिक्रमण सूत्र पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई है तो नवीन पुस्तक प्रकट करने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान : वैसे तो प्रतिक्रमण सूत्र पर कोई भी पुस्तक प्रकट करने की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि सूत्र अल्प हैं और प्रकट वे पुस्तक के बिना भी कंठस्थ करवाये जा सकते हैं। २५-५० वर्ष पहिले के समय में ऐसा ही होता था तथा उसका अर्थ-भावार्थ-ऐदंपर्यार्थ आदि विस्तृत रूप में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका आदि में आलेखित विद्यमान है। साथ ही उसे पढ़ाने वाले और समझने वाले साधु-साध्वियाँ आदि भी मिल जाते हैं परन्तु प्रजा के दुर्भाग्य की बात है कि विगत डेढ सौ-दो सौ वर्षों से विदेशी

शासन और उसके संसर्ग और शिक्षण से उसकी जड़वादी संस्कृति का प्रभाव देशभर में व्याप्त हो गया है। जिस भाषा में सूत्र और उनकी टीका आदि रचित हैं, वह भाषा भुला दी गई है। उसके स्थान पर नवीन भाषा लोगों की जिह्वा पर और नवीन विचार उनके मस्तिष्क में चढ़ गए हैं। इससे आर्य संस्कृति, आर्य धर्म, आर्य क्रियाएँ और आर्य आचार लुप्त प्रायः बनते जाते हैं और उनके स्थान पर बाह्य प्रभाव से अनेक प्रकार के विपरीत विचार लोगों में प्रविष्ट होते जा रहे हैं। उसी कारण से प्रतिक्रमण जैसी महत्त्वपूर्ण क्रिया के प्रति और उसके मंत्रमय अर्थगर्भित महान् सूत्रों और उनके अभ्यास के प्रति भी एक प्रकार की उपेक्षा वृत्ति बढ़ती जा रही है। उससे होने वाले अनिष्ट को रोकने के लिये आज तक प्रतिक्रमण के सूत्र और उनके अर्थ समझाने के लिये अनेक प्रकार की भिन्न २ पुस्तकों द्वारा प्रयत्न होते रहे हैं और इससे उस पर थोड़ी बहुत श्रद्धा और थोड़ा बहुत ज्ञान टिक रहा है।

यह पुस्तक भी एक ऐसे ही प्रकार का प्रयत्न है। इसमें सूत्रों और अर्थों की शुद्धि के संबंध में यथाशक्य प्रयत्न किया गया है। प्रतिक्रमण सूत्रों की गंभीरता तथा अर्थ विशालता बताने के लिये निर्युक्ति भाष्य, चूर्णि तथा टीकाओं का साक्षात् आधार लिया गया है तथा उसमें अशास्त्रीय कोई भी विचार प्रवेश न पाये इस दृष्टि से यथाशक्य मुनिओं का सहयोग प्राप्त किया गया है। ऐसा होते हुए भी अनेक त्रुटियाँ और स्खलनाएँ रहने का भय है, क्यों कि सूत्रकार और अर्थकार की अगाध बुद्धि के आगे संपादक, लेखक या संशोधकों आदि की बुद्धि अतिशय अल्प है। ये सभी त्रुटियाँ ध्यान मे होते हुए भी नवीन संस्कार में पोषित वर्तमान और भावी प्रजा का हित लक्ष्य में रखकर यथाशक्य विस्तार कर यह पुस्तक तैयार की गई है।

चतुर्विध संघ के लिये यह क्रिया नित्य उपयोगी होने से और शास्त्रीय विचारों के गूढार्थ – रहस्य सरल भाषा में श्रद्धा के साथ समझने आवश्यक होने से यह पुस्तक इस प्रकार प्रकट करना आवश्यक था। शास्त्र में कहा है कि अज्ञात वस्तु की अपेक्षा ज्ञात वस्तु पर अनंतगुनी श्रद्धा उत्पन्न होती है।*

---

* ज्ञाते वस्तुनि अज्ञातावस्तुनः सकाशादनंतगुणिता श्रद्धा प्रवर्धते।

उपदेशरहस्य टीका गा. ११०

रत्न स्वभाव से ही सुंदर है फिर भी उसके मूल्य का वास्तविक ज्ञान होने के पश्चात् उस पर जो श्रद्धा होती है, वह दृढ और अनेक गुणी अधिक होती है। प्रतिक्रमण के सूत्र सच्चे रत्नों की तरह स्वभाव से ही सुन्दर हैं तब भी उन पर अंतरंग श्रद्धा होने के लिये उनके अर्थ और रहस्यों का प्रभाव और माहात्म्य का यथास्थित ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है। इस पुस्तक में वैसा ही प्रयास किया गया है। प्रतिक्रमण सूत्र के शास्त्रीय शब्द और सत्य-यथासंभव सरल और स्पष्ट भाषा में समझाए गए हैं। इसे पढ़ने से, इसका अध्ययन करने से प्रतिक्रमण सूत्रों के संबंध में प्रचलित अज्ञानता और प्रति-क्रमण की क्रिया के प्रति आई हुई या आती हुई उपेक्षावृत्ति दूर होगी और इसके बाद प्रकट करने के विभागों तथा आज से पूर्व प्रकटित पुस्तकें पढ़ने और उनका अध्ययन करने के लिये आंतरिक उल्लास बढेगा तथा ये सूत्र और इनके अर्थों के रचयिता तथा प्रकाशक और आज तक उन्हें सुरक्षित रखकर हम तक सक्रिय रूप से लाने वाले परम उपकारी पूर्व के महर्षिओं पर आन्तरिक सम्मान का भाव प्रकट होगा।

इस पुस्तक के लेखक और योजक महानुभाव इस कार्य के लिये यदि इस विषय के ज्ञाता गीतार्थ महापुरुषों के प्रति समर्पित भाव धारण करने की मनोवृत्ति वाले न बने होते तो यह पुस्तक जिस प्रकार प्रसिद्ध हो सकी है वैसे संभवतः प्रसिद्द न हो पाती। जैन शास्त्र के किसी भी विषय पर लेखनी उठाने से पूर्व सर्व प्रथम गीतार्थ पारतन्त्र्य प्राप्त करना ही होगा अन्यथा लाभ होने के बजाय उससे भारी अनर्थ होने का भय है।

भूतकाल में ऐसा हुआ है। तत्त्वार्थ भाष्य पर से आवश्यक को अंगबाह्य के रुप में स्थविरकृत मानकर गणधरकृत नहीं – ऐसा प्रतिपादन किया गया है, परन्तु वह गलत है, क्योंकि ठाणांगसूत्र में अंगबाह्य – श्रुत के आवश्यक और आवश्यक – व्यतिरिक्त ऐसे दो भेद करके आवश्यक को गणधरकृत और आव-श्यक – व्यतिरिक्त को (उत्तराध्ययनादि को) स्थविरकृत बताया है।* यही बात द्रव्य लोक प्रकाश सर्ग तीसरा गा. ८७ से ९८ में है। विशेषावश्यक भाष्य में अंगबाह्य श्रुत के तीन अर्थ किये गए हैं जो इस प्रकार हैं:— (१) अंगबाह्य अर्थात् स्थविरकृत जैसे भद्रबाहुस्वामीकृत आवश्यक निर्युक्ति आदि। (२) अंगबाह्य अर्थात् त्रिपदी–प्रश्नोत्तर के सिवाय रचित आवश्य-

कादि साहित्य। (यहाँ आवश्यक को गणधरकृत और आदिपर से उत्तराध्ययन आदि श्रुत को स्थविरकृत समझें, क्योंकि आवश्यकादि के कर्ता स्थविर हैं– ऐसा सूचन नहीं किया गया है। (३) अंगबाह्य अर्थात् अध्रुवश्रुत अर्थात् सर्व तीर्थंकरदेवों के तीर्थ में निश्चित् नहीं ऐसा। उसे तंदुलवेयालियपयन्ना आदि जानें। इससे यह स्पष्ट है कि मध्य के बाईस तीर्थपतिओं के शासन में आवश्यक रचना निश्चित है भले ही इसका उपयोग अतिचार लगनेरूप कारण उपस्थित होने पर होता हो। वहाँ गणधरभगवंत और उनके शिष्यों को अतिचार के कारण प्रतिक्रमण करना ही पड़ता है। उसके लिये आवश्यक सूत्र की रचना आवश्यक है, उससे भी आवश्यक गणधर कृत सिद्ध होता है। इस प्रकार आगम – पाठों से आवश्यकसूत्र गणधरकृत ही हैं – यह बात निश्चित होने से तत्त्वार्थ भाष्य के स्थविरकृत आवश्यक का अर्थ आवश्यक निर्युक्ति ही करना चाहिये। इससे समझ में आएगा कि शास्त्रीय निर्णय शास्त्रज्ञ गीतार्थ पुरुषों के अवलम्बन बिना करने में उत्सूत्रभाषणादि का भय उत्पन्न होता है।

इस पुस्तक में किये गए अर्थ के वाचन, मनन और अध्ययन से मूल आवश्यक और उस पर निर्युक्ति आदि के रचयिता महर्षिओं पर हार्दिक सम्मान जाग्रत हो और उन मूल ग्रन्थों के वाचन तथा अध्ययन की जिज्ञासा उत्पन्न हो; साथ ही प्रतिक्रमण की आत्मविशोधक अमूल्य क्रिया का नित्य आचरण करने की सभी में सुंदर बुद्धि जागे तो लेखक योजक तथा अन्य सभी सहायकों का प्रयास सफल माना जाएगा।

पं. भद्रंकरविजय गणी
पं. धुरन्धरविजय गणी.

---

* अंगबाहिरे दुविहे पन्नत्ते तं जहा,
आवस्सए चेव आवस्सय वइरित्ते चेव।

ठाणांग :– स्था. २ उ. १ सू. १२

\+ गणहरथेरकयं वा आएसा मुक्कवागरणओ वा।
धुवचलविसेसओ वा, अंगाणंगेसु नाणत्तं॥

वि. भा. गा. ५५०

विशेष हेतु देखें – इस गाथा पर मलधारी श्री हेमचन्द्रसूरिजी की टीका।

श्री राणकपुर तीर्थ (राजस्थान)

॥ ॐ अर्हं नमः ॥

१ नमुक्कारो

[नमस्कार–मन्त्र]

मूल—

नमो अरिहंताणं ।
नमो सिद्धाणं ।
नमो आयरियाणं ।
नमो उवज्झायाणं ।
नमो लोए सव्व–साहूणं ।

(सिलोगो)

एसो पंच–नमुक्कारो, सव्व–पाव–प्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥ १ ॥

शब्दार्थ—

नमो–नमस्कार हो ।
अरिहंताणं–अरिहन्त भगवन्तको ।
सिद्धाणं–सिद्ध भगवन्तको ।

सव्व–पाव–प्पणासणो–सर्व पापका विनाश करनेवाला ।
सव्व–सर्व । पाव–अशुभ–कर्म ।

आयरियाणं-आचार्य महाराजको।
उवज्झायाणं-उपाध्याय महाराजको।
लोए-लोकमें, ढाई द्वीपमें रहे हुए।
सव्व साहूणं-सर्व साधुओंको।
एसो-यह।
पंच-नमुक्कारो-पञ्च-नमस्कार, पाँचोको किया हुआ नमस्कार।
सव्व-पाव-
प्पणासणो-विनाश करनेवाला।
मंगलाणं-मङ्गलोंका, मङ्गलोंमें।
च-और, तथा।
सव्वेसिं-सर्व।
पढमं-प्रथम, उत्कृष्ट।
हवइ-होता है, है।
मंगलं-मङ्गल।

अर्थ-सङ्कलना—

अरिहन्त भगवन्तको नमस्कार हो।
सिद्ध भगवन्तको नमस्कार हो।
आचार्य महाराजको नमस्कार हो।
उपाध्याय महाराजको नमस्कार हो।
ढाई द्वीपमें रहे हुए सर्व साधुओंको नमस्कार हो।

यह पञ्च-नमस्कार सर्व अशुभ-कर्मोंका विनाश करनेवाला तथा सर्व मङ्गलोंमें उत्कृष्ट मङ्गल है॥ १॥

सूत्र-परिचय—

इन सूत्रके द्वारा अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन पञ्च-परमेष्ठीको नमस्कार किया जाता है, अतएव यह 'पञ्च-परमेष्ठि-नमस्कार' अथवा 'नमस्कार-मन्त्र' के नामसे पहचाना जाता है। शास्त्रोंमें इस सूत्रका 'पञ्च-मङ्गल' एवं 'पञ्च-मङ्गल-महा-श्रुतस्कन्ध' नामसे भी परिचय कराया है।

नमनकी क्रियाको नमस्कार कहते हैं। यह क्रिया द्रव्यसे भी होती है और भावसे भी होती है, अतः नमस्कारके द्रव्य-नमस्कार और भाव-नमस्कार ऐसे दो प्रकार होते हैं। मस्तक नमाना, हाथ जोड़ना, घुटने

झुकाना आदि द्रव्य-नमस्कार कहलाता है और मनको विषय तथा कषायसे मुक्तकर उसमें नम्रताके भाव लाना, यह भाव-नमस्कार कहलाता है। द्रव्य-नमस्कार तथा भाव-नमस्कारसे नमस्कारी क्रिया पूर्ण हुई मानी जाती है।

नमस्कार-मन्त्रका स्मरण करनेसे सर्व अशुभ-कर्मोंका नाश होता है तथा सर्वश्रेष्ठ मङ्गल हुआ ऐसा माना जाता है, इसलिये शास्त्रका अभ्यास करना हो, शास्त्रका उपदेश देना हो, धार्मिक-क्रिया करनी हो, धार्मिक उत्सव करना हो अथवा कोई भी शुभ कार्य करना हो, तो प्रारम्भमें इसका स्मरण करना चाहिए। इतना ही नहीं सोते, जागते, भोजन करते, प्रवासके लिये प्रस्थान करते एवं मरण निकट आनेपर भी इसका शरण लेना चाहिये।

इस सूत्रमें ६८ अक्षर हैं, ८ सम्पदाएँ हैं तथा ९ पद हैं, जिनकी गणना इस प्रकार है :—

सूत्र	अक्षर	सम्पदा	पद
नमो अरिहंताणं	७	पहली	पहला
नमो सिद्धाणं	५	दूसरी	दूसरा
नमो आयरियाणं	७	तीसरी	तीसरा
नमो उवज्झायाणं	७	चौथी	चौथा
नमो लोए सव्व-साहूणं	९	पाँचवीं	पाँचवाँ
एसो पंच-नमुक्कारो	८	छठी	छठा
सव्व-पाव-प्पणासणो ...	८	सातवीं	सातवाँ
मंगलाणं च सव्वेसिं	८	आठवीं	आठवाँ
पढमं हवइ मंगलं	९	,,	नौवाँ
	६८		

पञ्च-परमेष्ठी

प्रश्न—परमेष्ठी किसे कहते हैं?

उत्तर—जो '**परमे**' अर्थात् परमपदमें—ऊँचे स्थानमें '**ष्ठिन्**' अर्थात् रहे हुए हों, उन्हें परमेष्ठी कहते हैं। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु गृहस्थोंकी अपेक्षा उच्च स्थानमें रहे हुए हैं, अतएव उन्हें परमेष्ठी कहते हैं।

प्रश्न—पञ्च-परमेष्ठीमें देव कितने और गुरु कितने?

उत्तर—पञ्च-परमेष्ठीमें अरिहन्त और सिद्ध ये दोनों देव हैं तथा आचार्य, उपाध्याय एवं साधु ये तीन गुरु हैं।

प्रश्न—अरिहन्तका अर्थ क्या है?

उत्तर—राजा-महाराजा तथा देवादिकसे पूजानेके योग्य वीतराग महापुरुष।

प्रश्न—अरिहन्तका दूसरा अर्थ क्या है?

उत्तर—**अरि** अर्थात् शत्रु और **हन्त** अर्थात् हनन करनेवाला। जिस परम-पुरुषने कर्मरूपी शत्रुका हनन किया है, वह अरिहन्त।

प्रश्न—अरिहन्त भगवन्त कैसे पहचाने जाते हैं?

उत्तर—अरिहन्त भगवन्त बारह गुणोंसे पहचाने जाते हैं।

प्रश्न—वे किस प्रकार?

उत्तर—(१) जहाँ अरिहन्त भगवन्तका समवसरण होता है, वहाँ देवगण उनके शरीरसे बारह गुना ऊँचा **अशोकवृक्ष** रचते हैं, (२) **पुष्पोंकी वृष्टि** करते हैं, (३) **दिव्य-ध्वनिसे** उनकी देशनामें स्वर भरते हैं, (४) **चंवर** डुलाते है, (५) बैठनेके लिये रत्न-जटित सुवर्णका **सिंहासन** बनाते हैं, (६) मस्तकके पीछे तेजका संवरण करनेवाला **भामण्डल** रचते हैं (नहीं तो अतितेजके कारण भगवान्का मुख-दर्शन नहीं हो सके) (७) **दुन्दुभि** बजाते हैं और (८) मस्तकके ऊपर तीन मनोहर **छत्र** रचते हैं। इन आठ गुणोंको अष्ट-प्रातिहार्य कहते हैं, क्योंकि ये प्रतिहारी (राजसेवक) के समान

साथ रहते हैं, (९) वे अपायापगम नामक अतिशयसे युक्त होते हैं, अर्थात् वे जहाँ जहाँ विचरण करते हैं, वहाँसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि (दुष्काल), रोग, महामारी आदि अपायों (अनिष्टों) का नाश हो जाता है, (१०) वे ज्ञानातिशयवाले होते हैं, अतः समस्त विश्वका सम्पूर्ण-स्वरुप जानते हैं, (११) वे पूजातिशयवाले होते हैं, अतः बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती आदि बड़े-बड़े राजा तथा इन्द्रादिक भी उनकी पूजा करते हैं और (१२) वे वचनातिशयवाले होते हैं, अतः उनके कथनका अभिप्राय देव, मनुष्य और पशु (तिर्यञ्च) भी समझ जाते हैं।

प्रश्न—सिद्धका अर्थ क्या है ?

उत्तर—जिसने सर्वथा कर्मनाश द्वारा अपना शुद्ध-स्वरूप प्रकट किया है, ऐसी आत्मा।

प्रश्न—सिद्ध भगवन्त कैसे पहचाने जाते हैं ?

उत्तर—सिद्ध भगवन्त आठ गुणोंसे पहचाने जाते हैं:-(१) अनन्तज्ञान, (२) अनन्तदर्शन, (३) अनन्त-अव्याबाध सुख, (४) अनन्तचारित्र, (५) अक्षय-स्थिति, (६) अरूपित्व, (७) अगुरुलघु (जिसमें उच्चता अथवा निम्नताका व्यवहार नहीं हो सके) तथा (८) अनन्तवीर्य।

प्रश्न—आचार्य किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो साधु गच्छके अधिपति हों, आचारका भले प्रकारसे पालन करते हों तथा दूसरोंको आचारपालनका उपदेश करते हों, उनको आचार्य कहते हैं। वे पाँच इन्द्रियके विषयोंको जीतनेवाले होते हैं, ब्रह्मचर्यकी नव गुप्तियोंका पालन-करनेवाले होते हैं, चार प्रकारके कषायोंसे रहित होते हैं, पञ्चमहाव्रतका पालन करनेवाले होते हैं तथा पाँच समिति एवं तीन गुप्तियोंके पालन करनेवाले होते हैं। इस प्रकार छत्तीस गुणोंसे आचार्य पहचाने जाते हैं।×

प्रश्न—उपाध्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो साधु ज्ञान और क्रियाका अभ्यास कराएँ उन्हें उपाध्याय कहते हैं। उनकी पहचान नीचेके पचीस गुणोंसे होती है:—ग्यारह अङ्गशास्त्र[११] तथा बारह उपाङ्गशास्त्र[१२] पढ़ाना, एवं चरित्र[१] तथा क्रियामें[१] कुशल होकर अन्य साधुओंको उसमें कुशल बनाना।

प्रश्न—साधु किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो निर्वाण अथवा मोक्षमार्गकी साधना करते हों उन्हें साधु कहते हैं। उनकी पहचान सत्ताइस गुणोंसे होती है:—वे पाँच महाव्रतोंका पालन करते हैं[५]; रात्रि-भोजनका त्याग करते है[१], छः-कायके जीवोंकी रक्षा करते हैं[६], पाँच इन्द्रियोंपर संयम रखते हैं[५], तीन गुप्तियोंका पालन करते हैं[३], लोभ रखते नहीं[१], क्षमा धारण करते हैं[१], मनको निर्मल रखते हैं[१], वस्त्रादिकी शुद्ध प्रतिलेखना (पडिलेहणा) करते हैं[१], प्रेक्षा-उपेक्षादि संयमका पालन करते हैं[१], तथा परिग्रहों[१] एवं उपसर्गोंको सहन करते हैं[१]।

प्रश्न—इस प्रकार पञ्च-परमेष्ठीमें कितने गुण हुए ?

उत्तर—एक सो आठ-१२+८+३६+२५+२७=१०८।

× इन गुणोंकी गणना अन्य रीतिसे भी होती है।

२ पंचिंदिय सुत्तं

[गुरु-स्थापना-सूत्र]

मूल—

[गाहा]

पंचिंदिय-संवरणो, तह नवविह-बंभचेर-गुत्ति-धरो ।
चउविह-कसाय-मुक्को, इअ अट्ठारसगुणेहिं संजुत्तो ॥ १ ॥
पंच-महव्वय-जुत्तो, पंचविहायार-पालण-समत्थो ।
पंच-समिओ ति-गुत्तो, छत्तीसगुणो गुरु मज्झ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—

पंचिंदिय-संवरणो-पाँच इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला ।
पंचिंदिय-पाँच इन्द्रियाँ । संवरणो-वशमें रखनेवाला ।

तह-तथा ।

नवविह-बंभचेर-गुत्ति-धरो-नवविध ब्रह्मचर्यकी गुप्तिको धारण करनेवाला ।
नवविह-नवविध, नव प्रकारकी । बंभचेर - गुत्ति - ब्रह्मचर्यकी गुप्ति, ब्रह्मचर्य-पालन सम्बन्धी नियम । धरो-धारण करनेवाला ।

चउविह-कसाय-मुक्को-क्रोधादि चार प्रकारके कषायोंसे मुक्त ।
चउविह-चार प्रकारके । **कसाय**-आत्माको संसारमें परिभ्रमण करानेवाला मलीन मनोभाव । उनसे-

मुक्को-मुक्त ।

इअ-इस प्रकार ।

अट्ठारसगुणेहिं-अठारह गुणोंसे ।

संजुत्तो-युक्त, सहित ।

पंच-महव्वय-जुत्तो-पाँच महाव्रतोंसे युक्त ।
पंच-पाँच । महव्वय-महाव्रत, साधुओंके व्रत । जुत्तो-युक्त ।

पंचविहायार-पालण-समत्थो-पाँच तरहके आचारोंको पालन करनेमें समर्थ।
पंचविह-पाँच तरहके। आयार-आचार, मर्यादा-पूर्वक वर्तन करनेकी क्रिया। पालण-समत्थ-पालन करनेमें समर्थ।

पंच-समिओ-पाँच समितियोंसे युक्त।

ति-गुत्तो-तीन गुप्तियोंसे युक्त।

छत्तीसगुणो-छत्तीसगुणोंवाले।

गुरु-गुरु।

मज्झ-मेरे।

अर्थ-सङ्कलना--

पाँच इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले,

नवविध-ब्रह्मचर्यकी गुप्तिको धारण करनेवाले,

क्रोधादि चार प्रकारके कषायोंसे मुक्त,

इस प्रकार अठारह गुणोंसे युक्त,

पाँच महाव्रतोंसे युक्त,

पाँच प्रकारके आचारोंके पालन करनेमें समर्थ,

पाँच समिति और तीन गुप्तियोंसे युक्त,

इस प्रकार छत्तीस गुणोंसे युक्त मेरे गुरु हैं।

सूत्र-परिचय—

समस्त धार्मिक क्रियाएं गुरुकी आज्ञा ग्रहणकर उनके समक्ष करनी चाहिये, परन्तु जब ऐसा सम्भव (योग) न हो और धार्मिक क्रिया करनी हो, तब ज्ञान, दर्शन और चारित्रके उपकरणोंमें गुरुकी स्थापना करके काम चलाया जाता है। ऐसी स्थापना करते समय इस सूत्रका उपयोग होता है।

१

गुरु

प्रश्न—गुरु किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो अज्ञानको दूर करे उसे गुरु कहते हैं।

प्रश्न—गुरुके कितने प्रकार हैं ?

उत्तर—गुरुके दो प्रकार हैं; सद्‌गुरु और कुगुरु।

प्रश्न—सद्‌गुरु किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो स्वयं तिरे और अन्योंको तिराए उसे सद्‌गुरु कहते हैं।

प्रश्न—कुगुरु किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो स्वयं डूबे और दूसरोंको भी डुबोए उसे कुगुरु कहते हैं।

प्रश्न—सद्‌गुरुके लक्षण क्या हैं ?

उत्तर—सद्‌गुरु स्पर्शनेन्द्रिय (चर्म), रसनेन्द्रय (जिह्वा), घ्राणेन्द्रिय (नासिका), चक्षुरिन्द्रिय (नेत्र) और श्रोत्रेन्द्रिय (कर्ण) इन पाँच इन्द्रियोंके विषयोंको वशमें रखनेवाले होते हैं।

प्रश्न—और अन्य लक्षण क्या हैं ?

उत्तर—सद्‌गुरु नौ नियम-पूर्वक ब्रह्मचर्यका शुद्ध पालन करे। जैसे कि:—

(१) स्त्री, पशु और नपुंसकसे रहित स्थानमें रहे।

(२) स्त्रीसम्बन्धी बातें न करे।

(३) स्त्री जिस आसनपर बैठी हो उस आसनपर दो घटिका (घड़ी) तक न बैठे।

(४) स्त्रियोंके अङ्गोपाङ्गोंको आसक्ति-पूर्वक न देखे।

(५) दीवारकी आड़में स्त्री-पुरुषका जोड़ा रहता हो ऐसे स्थानपर न रहे।

(६) पूर्वकालमें स्त्रीके साथ जो क्रीडा की हो, उसका स्मरण न करे।

(७) मादक आहार-पानी उपयोगमें न ले।

(८) प्रमाणसे अधिक आहार न करे। पुरुषके आहारका प्रमाण ३२ कवल (ग्रास) है।

(९) शरीरका शृङ्गार न करे।

प्रश्न—और अन्य लक्षण क्या हैं?

उत्तर—सद्‌गुरु चार प्रकारके कषायोंका सेवन न करे। जैसे कि:—

(१) क्रोध न करे।

(२) मान न रखे।

(३) माया(कपट)का सेवन न करे।

(४) लोभ-लोलुप न बने।

प्रश्न—और अन्य लक्षण क्या हैं?

उत्तर—सद्‌गुरु पाँच महाव्रतों का यथार्थ रीतिसे पालन करे। जैसे कि:—

(१) मन, वचन, कायासे किसी प्राणी की हिंसा न करे।

(२) मन, वचन, कायासे असत्य न बोले।

(३) मन, वचन, कायासे अदत्त न लेवे।

(४) मन, वचन, कायासे मैथुन-सेवन न करे।

(५) मन, वचन, कायासे परिग्रह न रखे।

प्रश्न—और अन्य लक्षण क्या हैं?

उत्तर—सद्‌गुरु पाँच प्रकारके आचारोंका पालन करे। जैसे कि:—

(१) ज्ञानाचारका पालन करे।

(२) दर्शनाचारका पालन करे।

(३) चारित्राचारका पालन करे।
(४) तपाचारका पालन करे।
(५) वीर्याचारका पालन करे।

प्रश्न—और अन्य लक्षण क्या हैं ?

उत्तर—सद्गुरु पाँच समिति और तीन गुप्तिका पालन करे। जैसे कि:—

(१) चलनेमें सावधानी रखे।
(२) बोलनेमें सावधानी रखे।
(३) आहार-पानी लेनेमें सावधानी रखे।
(४) वस्त्र, पात्र लेने-रखनेमें सावधानी रखे।
(५) मल, मूत्र आदि परठवने(परिष्ठापन)में सावधानी रखे।
(१) मनको पूर्णतया वशमें रखे।
(२) वचनको पूर्णतया वशमें रखे।
(३) कायाको पूर्णतया वशमें रखे।

इस प्रकारके ३६ गुणोंसे गुरु परखे जाते हैं तथा उनके चरणोंकी सेवा करनेसे जन्म सफल होता है।

---

३ थोभवंदण-सुत्तं

[खमासमण-सूत्र]

मूल—

इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं,
जावणिज्जाए निसीहिआए,
मत्थएण वंदामि ॥

शब्दार्थ—

इच्छामि-मैं चाहता हूँ।

खमासमणो !-हे क्षमा आदि गुणवाले साधु महाराज !

वंदिउं-वन्दन करनेको।

जावणिज्जाए-शक्ति सहित अथवा सुखशाता पूछकर।

निसिहिआए-पाप-प्रवृत्तिका परित्याग करके अथवा अविनय -आशातना की क्षमा माँगकर।

मत्थएण - मस्तकसे, मस्तक झुकाकर।

वंदामि-मैं वन्दन करता हूँ।

अर्थ-सङ्कलना—

हे क्षमावाले साधु महाराज ! आपको मैं सुखशाता पूछकर तथा अविनय-आशातनाकी क्षमा माँगकर वन्दन करना चाहता हूँ।

मस्तक आदि पाँचों अङ्ग झुकाकर मैं वन्दन करता हूँ।

सूत्र-परिचय—

गुरुवन्दनके तीन प्रकार हैं:—(१) फिट्टावन्दन, (२) थोभवन्दन और (३) द्वादशावर्त्तवन्दन। मार्गमें चलते हुए केवल मस्तक झुकाकर जो वन्दन करनेमें आता है, वह फिट्टावन्दन कहलाता है; रुककर शरीरके पाँच अङ्ग नमाकर जो वन्दन करनेमें आता है, वह थोभ(स्तोभ)वन्दन कहलाता है; और प्रातः तथा सायं बारह आवर्त्त-पूर्वक जो वन्दन करनेमें आता है, वह द्वादशावर्त्तवन्दन कहलाता है।

यह सूत्र थोभ(स्तोभ)वन्दन करते समय बोला जाता है और 'खमासमणो' शब्द पहले 'खमासमण-सूत्र'के नामसे प्रसिद्ध है।

क्षमाश्रमण

प्रश्न—खमासमणो शब्दका अर्थ क्या है ?

उत्तर—हे क्षमासमण! अथवा हे क्षमाश्रमण!

प्रश्न—क्षमासमण किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो समण क्षमा आदि दस प्रकारके यतिधर्मोंका पालन करता हो वह क्षमासमण कहलाता है।

प्रश्न—समण किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो साधु सभी जीवोंके साथ समभावसे वर्तन करे, वह समण कहलाता है।

प्रश्न—श्रमण किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो साधु पाँच इन्द्रियोंको वशमें रखनेके लिये श्रम करे, वह श्रमण कहलाता है। अथवा जो साधु आत्मशुद्धिके लिये श्रम अर्थात् तपश्चर्या करे, वह श्रमण कहलाता है।

प्रश्न—यतिधर्मके दस प्रकार कौनसे हैं ?

उत्तर—(१) क्षमा रखना, (२) मृदुता रखना, (३) सरलता रखना, (४) पवित्रता रखना, (५) सत्य बोलना, (६) संयमका पालन करना, (७) तप करना, (८) त्यागवृत्ति रखना, (९) अपने पास रुपये-पैसे आदि नहीं रखनाऔर (१०) ब्रह्मचर्यका पालन करना।

प्रश्न—पञ्चाङ्ग-प्रणिपात किसे कहते हैं ?

उत्तर—दो हाथ, दोनों घुटने और मस्तक इन पाँचों अङ्गोंको सङ्कुचित करके जो प्रणाम किया जाय उसे पञ्चाङ्ग-प्रणिपात कहते हैं। थोभवन्दन करते समय ऐसा ही प्रणिपात करनेमें आता है।

४ सुगुरु-सुखशाता-पृच्छा

[गुरु-निमंत्रण-सूत्र]

मूल—

इच्छकार ! सुह-राइ ? (सुह-देवसि ?) सुख-तप ? शरीर-निराबाध ? सुख-संजम-यात्रा निर्वहते हो जी ? स्वामिन् ! शाता है जी

[यहां गुरु उत्तर देवें कि–' देव-गुरु-पसाय ' यह सुनकर शिष्य कहेः—]

भात पानी का लाभ देना जी ॥

शब्दार्थ—

इच्छाकार !–हे गुरो ! आपकी इच्छा हो तो मैं पूछूँ ।

सुह-राइ ?–गतरात्री सुख-पूर्वक व्यतीत हुई ?

(**सुह-देवसि ?**–गतदिवस सुख-पूर्वक व्यतीत हुआ ?)

सुख-तप ?–तपश्चर्या सुख-पूर्वक होती है ?

शरीर-निराबाध ?–शरीर पीडा रहित है ?

सुख-संजम-यात्रानिर्वहते हो जी ?–आप चारित्रका पालन सुख-पूर्वक कर सकते हो ?, आपकी सयम-यात्राका निर्वाह सुख-पूर्वक होता है ?

स्वामिन् !०–शेष अर्थ स्पष्ट है ।

अर्थ-सङ्कलना—

[शिष्य गुरुको सुख-शाता पूछता है, वह इस प्रकारः—] हे गुरो ! आपकी इच्छा हो तो पुछूं ? गत रात्री आपकी इच्छा-

के अनुकूल सुख–पूर्वक व्यतीत हुई ? (अथवा गत दिवस आपकी इच्छाके अनुकूल व्यतीत हुआ ?) आपकी तपश्चर्या सुख–पूर्वक होती है ? आपका शरीर पीड़ारहित है ? तथा हे गुरो ! आपकी संयम–यात्राका निर्वाह सुख–पूर्वक होता है ? हे स्वामिन् ! आपको सर्व प्रकारकी शाता है ?

[गुरु कहते हैं–' देव और गुरु की कृपासे सब वैसा ही है; ' अर्थात् सुख-शाता है। शिष्य इस समय अपनी हार्दिक अभिलाषा व्यक्त करता है:—]

' मेरे यहाँसे आहार–पानी ग्रहणकर मुझको धर्मलाभ देनेकी कृपा करें। '

[गुरु इस आमन्त्रणको स्वीकार अथवा अस्वीकार न करके कहते हैं कि–]

' वर्तमान योग '–जैसी उस समयकी अनुकूलता।

सूत्र-परिचय—

गुरुको सुख–शाता पूछनेके लिये इस सूत्रका उपयोग होता है। उसमे प्रथम यह पूछा जाता है कि हे गुरो ! रात्री सुखपूर्वक व्यतीत हुई ? अर्थात् आपने जो रात्री बिताई, उसमें किसी प्रकारकी अशान्ति तो नहीं हुई ? यदि वन्दन दिनके बारह बजेके पश्चात् किया हो तो रात्रीके स्थानपर दिवस बोला जाता है, जिसका अर्थ यह है कि आपने जो दिवस बिताया उसमें किसी प्रकारकी अशान्ति तो नहीं हुई ? दूसरा प्रश्न यह पूछा जाता है कि आप जो तपश्चर्या कर रहे हैं, उसमें किसी प्रकारका विघ्न तो नहीं आता ? तीसरा प्रश्न यह पूछा जाता है कि आपका शरीर पीडा–रहित तो है ? अर्थात् छोटी–बड़ी कोई व्याधि पीडा तो उत्पन्न नहीं करती ? और चौथा प्रश्न यह पूछा जाता

है कि चारित्रका पालन सुख-पूर्वक कर सकते हैं? इन प्रश्नोंको पूछनेका कारण यह है कि गुरुको-तप-सयम आदिकी आराधना करनेमें किसी भी प्रकारकी कठीनाई होती हो तो उपयोगी होना। तदनन्तर गुरुको आहार-पानीके लिये निमन्त्रण देनेमें आता है, किन्तु गुरु अपना साधु-धर्म विचारकर 'वर्तमान योग' अर्थात् 'जैसा उस समयका संयोग' ऐसा उत्तर देते हैं।

---

५ इरियावहिया-सुत्तं

[इरियावहियं-सूत्र]

पीठिका—

इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! इरियावहियं पडिक्कमामि? इच्छं।

मूल—

इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए।

गमणागमणे।

पाण-क्कमणे, बीय-क्कमणे, हरिय-क्कमणे, ओसा-उत्तिंग-पणग-दगमट्टी-मक्कडा-संताणा-संकमणे।

जे मे जीवा विराहिया।

एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया।

अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओ ठाणं संकामिया, जीवियाओ ववरोविया, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥

शब्दार्थ—

इच्छाकारेण–स्वेच्छासे।

संदिसह–आज्ञा दीजिये।

भगवन्!–हे भगवन्!

इरियावहियं पडिक्कमामि–
मैं ऐर्यापथिकी-क्रियाका प्रतिक्रमण करता हूँ।
ईर्यापथ सम्बन्धी जो क्रिया वह ऐर्यापथिकी। ईर्यापथ–जाने-आनेका मार्ग। प्रतिक्रमण–वापस लौटनेकी (परावर्तनकी) क्रिया।

इच्छं–चाहता हूँ, आपकी यह आज्ञा स्वीकृत करता हूँ।

इच्छामि–चाहता हूँ, अन्तःकरणकी भावनापूर्वक प्रारम्भ करता हूँ।

पडिक्कमिउं–प्रतिक्रमण करनेको।

इरियावहियाए विराहणाए–
ऐर्यापथिकी–क्रियाके प्रसङ्गमें लगे हुए अतिचारसे, मार्गमें चलते समय हुई जीवविराधनाका।
विराहणा–विकृत हुई आराधना, दोष।

गमणागमणे–कार्य-प्रयोजनमें जाते और वहाँसे वापस लौटते, जाते-आते।

पाण-क्कमणे–प्राणियोंको दबानेसे।

बीय-क्कमणे–बीजको दबानेसे।

हरिय-क्कमणे–हरी वनस्पतिको दबानेसे।

ओसा-उत्तिंग-पणग-दग-मट्टी-मक्कडा-संताणा-संकमणे–ओस, चींटियोंके बिल, पाँच वर्णकी काई (नील-फूल), कीचड़ और मकड़ीका जाला आदिको दबानेसे।
ओसा–ओसकी बूँदें। उत्तिंग–चींटियोंका बिल। पणग–पाँच वर्णकी काई (फूलन)। दगमट्टी–कीचड़। मक्कडा-संताणा–मकड़ीका जाला।

जे जीवा–जो प्राणी, जो जीव।

मे विराहिया–मुझसे दुःखित हुए हों।

एगिंदिया–एक इन्द्रियवाले जीव।

बेइंदिया–दो इन्द्रियवाले जीव।

तेइंदिया–तीन इन्द्रियवाले जीव।

चउरिंदिया–चार इन्द्रियवाले जीव।

पंचिंदिया–पाँच इन्द्रियवाले जीव।

अभिहया–पाँवसे मरे हों, ठोकरसे मरे हों।

बत्तिया–धूलसे ढके हों।
लेसिया–भूमिके साथ कुचले गये हों।
संघाइया–परस्पर शरीर द्वारा ठकराये हों।
संघट्टिया–थोड़ा स्पर्श हुआ हो।
परियाविया–कष्ट पहुँचाया हो।
किलामिया–खेद पहुँचाया हो।
उद्दविया–डराये (भयभीत किये) गये हों।
ठाणाओ ठाणं–एक स्थानसे दूसरे स्थानपर।
संकामिया–फिराये हों।
जीवियाओ ववरोविया–प्राणसे रहित किये हों।
तस्स–उन सर्व–अतिचारोंका।
मिच्छा–मिथ्या।
मि–मेरा।
दुक्कडं–दुष्कृतं।

अर्थ–सङ्कलना—

हे भगवन्! स्वेच्छासे ऐर्यापथिकी–प्रतिक्रमण करनेकी मुझे आज्ञा दीजिये। [गुरु इसके प्रत्युत्तरमें–' पडिक्कमेह '–' प्रतिक्रमण करो ' ऐसा कहे तब] शिष्य कहे कि–मैं चाहता हूँ–आपकी यह आज्ञा स्वीकृत करता हूँ। अब मैं मार्गमें चलते समय हुई जीव–विराधनाका प्रतिक्रमण अन्तःकरणकी भावनापूर्वक प्रारम्भ करता हूँ

जाते–आते मुझसे प्राणी, बीज, हरी वनस्पति, ओसकी बूँदे, चींटियोंके बिल, पाँच वर्णकी काई, कच्चा पानी, कीचड़ तथा मकड़ीका जाला–आदि दबानेसे;

जाते–आते मुझसे जो कोई एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय अथवा पाँच इन्द्रियवाले जीव (विराधित) दुःखित हुए हों;

जाते–आते मुझसे कोई जीव ठोकरसे मरे हो, धूलसे ढके हो, भूमिके साथ कुचले गये हों, परस्पर शरीरद्वारा टकरा गये हों,

अल्प-स्पर्श हुआ, कष्ट पहुँचाया हो, खेद पहुँचाया हो, भयभीत किये गये हों, एक स्थानसे दूसरे स्थानपर फिराये हो अथवा प्राणसे रहित किये हों, और उससे जो विराधना हुई तो तत्सम्बन्धी मेरे सब दुष्कृत मिथ्या हों।

सूत्र-परिचय—

इस सूत्रका उपयोग सामायिक, प्रतिक्रमण, चैत्यवन्दन तथा देववन्दन आदिमें होता है।

चलनेकी क्रिया नीचे देखकर पूर्ण सावधानीसे करनी चाहिये और उसमें कोई जीव कुचल न जाय इसका पूरा ध्यान रखना चाहिये। ऐसा करनेपर भी यदि भूल-चूकसे अथवा उपयोगकी न्यूनतासे जाते-आते कोई भी जीव दब गया हो और उसे किसी भी प्रकारका दुःख पहुँचाया हो, तो इस सूत्रसे उसका प्रतिक्रमण किया जाता है। छोटी-से-छोटी जीव-विराधनाको भी दुष्कृत समझना और तदर्थ अप्रसन्न होना, यह इस सूत्रका प्रधान-स्वर है। 'मिच्छा मि दुक्कडं' ये तीनों पद प्रतिक्रमणके बीज माने जाते हैं।

इरियावही पडिक्कमणके १८२४१२० भेद हैं। वे इस प्रकारः—जीवके ५६३ भेद हैं उनकी विराधना दस प्रकारसे होती है। उसको राग-द्वेष, तीन करण, × तीन योग, + तीन काल, ÷ और अरिहन्त आदि छकी* साक्षीसे गुणन करनेपर क्रमशः ५६३×१०×२×३×३×३×६=१८२४१२० भेद होते हैं।

× करना, कराना और अनुमोदन करना।

+ मन, वचन और काया।

÷ भूत, वर्तमान और भविष्य।

* अरिहन्त, सिद्ध, साधु, देव, गुरु और आत्मा।

६ उत्तरीकरण-सुत्तं

['तस्स उत्तरी'-सूत्र]

मूल—

तस्स—

उत्तरी-करणेणं, पायच्छित्त-करणेणं, विसोही-करणेणं, विसल्ली-करणेणं,

पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए

ठामि काउस्सग्गं ॥

शब्दार्थ—

तस्स-उसका।

जिस जीव-विराधनाका प्रतिक्रमण किया उसका अनुसन्धान करके यह सूत्र कहते हैं।

उत्तरी-करणेणं-विशेष-आलोचना और निन्दा करनेके लिये।

पायच्छित्त - करणेणं - प्रायश्चित्त करनेके लिये।

विसोही - करणेणं - विशेष चित्त-शुद्धि करनेके लिये।

विसल्ली-करणेणं-चित्तको शल्य (कण्टक) रहित करनेके लिये।

पावाणं-कम्माणं-पापकर्मोंका।

निग्घायणट्ठाए-सर्वथा नाश करनेके लिये।

ठामि काउस्सग्गं- मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

अर्थ-सङ्कलना—

जीव-विराधनाका मैंने जो प्रतिक्रमण किया उसका अनुसन्धान करके यह सूत्र कहता हूँ। विशेष-आलोचना और निन्दा करनेके लिये, प्रायश्चित करनेके लिये, विशेष चित्तशुद्धि करनेके लिये,

चित्तको शल्य रहित करनेके लिये, पापकर्मोंका सर्वथा–नाश करनेके लिये मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

सूत्र-परिचय—

प्रतिक्रमणसे सामान्य–शुद्धि होती है कायोत्सर्गसे विशेष–शुद्धि होती है, अतएव 'मिच्छा मि दुक्कडं' रूप प्रतिक्रमण करनेके पश्चात् कायोत्सर्ग किया जाता है। इस कायोत्सर्गमें चार क्रियाएँ की जाती हैं। पहली क्रिया किये हुए अतिचारकी विशेष–आलोचना और निन्दा करनेके लिये होती है। दूसरी क्रिया तदर्थ शास्त्रोंद्वारा कथित प्रायश्चित्त ग्रहण करनेके लिये होती है। इरियावहिय अतिचारके लिये २५ उच्छ्वासका कायोत्सर्ग करनेसे प्रायश्चित्त होता है। तीसरी क्रिया चित्तकी विशेष–शुद्धि करनेके लिये होती है और चौथी क्रिया मानसके अन्तर्गत गहरे छिपे हुए शल्योंको दूर करनेके लिये होती है।

शल्यके तीन भेद हैं:—मिथ्यात्वशल्य, मायाशल्य और निदानशल्य इनमें सत्य वस्तुको मिथ्या समझना और मिथ्या वस्तुको सत्य समझना ये मिथ्यात्व कहलाता है। कपट करना, दम्भ करना ये माया कहलाती है और धर्म करनेमें फल–प्राप्ति स्वरूप सांसारिक सुख–भोगकी इच्छा करना ये निदान कहलाता है।

७ काउस्सग्ग-सुत्तं

['अन्नत्थ '-सूत्र]

मूल—

अन्नत्थ—

ऊससिएणं नीससिएणं खासिएणं छीएणं जंभाइएणं उड्डुएणं वाय-निसग्गेणं,

भमलीए पित्त-मुच्छाए,

सुहुमेहिं अंग-संचालेहिं सुहुमेहिं खेल-संचालेहिं सुहुमेहिं दिट्ठी-संचालेहिं,

एवमाइएहिं आगारेहिं,

अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो ।

जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि, ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि ॥

शब्दार्थ—

अन्नत्थ-अधो लिखित अपवाद-पूर्वक ।

ऊससिएणं-श्वास लेनेसे ।

नीससिएणं-श्वास छोडनेसे ।

खासिएणं-खाँसी आनेसे ।

छीएणं-छींक आनेसे ।

जंभाइएणं-जम्हाई आनेसे ।

उड्डुएणं-डकार आनेसे ।

वाय-निसग्गेणं-अधोवायु छूटनेसे, अपान-वायु सरनेसे ।

भमलीए-चक्कर आनेसे ।

पित्त-मुच्छाए-पित्त-विकारके कारण मूर्च्छा आनेसे ।

सुहुमेहिं अंग-संचालेहिं-सूक्ष्म अङ्ग-सञ्चार होनेसे ।

सुहुमेहिं खेल-संचालेहिं–सूक्ष्म रीतिसे शरीरमें कफ तथा वायुका सञ्चार होनेसे ।

सुहुमेहिं दिट्ठि-संचालेहिं–सूक्ष्म दृष्टि-सञ्चार होनेसे ।

एवमाइएहिं आगारेहिं–इत्यादि (अपवादके) प्रकारोंसे ।

अभग्गो–भग्न न हो ऐसा ।

अविराहिओ–खण्डित न हो ऐसा ।

हुज्ज–हो ।

मे–मेरा ।

काउस्सग्गो–कायोत्सर्ग ।

जाव–जहाँतक, जबतक ।

अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं–अरिहंत भगवान्को नमस्कार करके, अर्थात् 'नमो अरिहंताणं' पदसे ।

न पारेमि–पूर्ण न करूँ ।

ताव–तबतक ।

कार्य–शरीरको, कायाको ।

ठाणेणं–स्थान द्वारा ।

मोणेणं–वाणी-व्यापार सर्वथा बन्द करके ।

झाणेणं–ध्यान द्वारा ।

अप्पाणं–अपनी ।

वोसिरामि–सर्वथा त्याग करता हूँ ।

अर्थ-सङ्कलना—

श्वास लेनेसे, श्वास छोडनेसे, खाँसी आनेसे, छींक आनेसे, जम्हाई आनेसे, डकार आनेसे, अपानवायु सरनेसे, चक्कर आनेसे, पित्त–विकारके कारण मूर्च्छा आनेसे, सूक्ष्म अङ्ग–सञ्चार होनेसे, सूक्ष्म रीतिसे शरीरमें कफ तथा वायुका सञ्चार होनेसे, सूक्ष्म दृष्टि–सञ्चार (नेत्र–स्फुरण आदि) होनेसे, अग्नि–स्पर्श, शरीर–छेदन अथवा सन्मुख होता हुआ पञ्चेन्द्रिय वध, चौर अथवा राजाके कारण और सर्प–दंश इन कारणोंके उपस्थित होनेपर जो काय–व्यापार हो, उससे मेरा कायोत्सर्ग भग्न न हो अथवा विराधित न हो, ऐसे ज्ञानके साथ खड़ा रहकर वाणी–व्यापार सर्वथा बन्द करता हूँ तथा चित्तको ध्यानमें जोड़ता हूँ और जबतक 'नमो अरिहंताणं' यह पद बोलकर

कायोत्सर्ग पूर्ण न करूँ, तबतक अपनी कायाका सर्वथा त्याग करता हूँ।

सूत्र-परिचय—

प्रस्तुत सूत्रमें कायोत्सर्गके आगारोंकी गणना की है तथा कायोत्सर्गका समय, स्वरूप और प्रतिज्ञा प्रदर्शित की है। उसमें 'अन्नत्थ ऊससिएणं'से 'हुज्ज मे काउस्सग्गो' तकके भागमें कायोत्सर्गके आगार हैं, 'जाव अरिहंताणं'से 'न पारेमि ताव' पर्यन्तके भागमें कायोत्सर्गका समय है, 'कायं'से 'झाणेणं' पर्यन्तके भागमें कायोत्सर्गका स्वरूप है और 'अप्पाणं वोसिरामि' इन शब्दोंमें कायोत्सर्गकी प्रतिज्ञा।

कायोत्सर्ग

प्रश्न—कायोत्सर्गका अर्थ क्या है?

उत्तर—कायाका उत्सर्ग।

प्रश्न—काय अर्थात्?

उत्तर—देह अथवा शरीर। परन्तु यहाँ इसका अर्थ प्रवृत्तिवाला शरीर ऐसा समझना चाहिये।

प्रश्न—उत्सर्ग अर्थात्?

उत्तर—त्याग।

प्रश्न—इस प्रकार कायोत्सर्गका अर्थ क्या हुआ?

उत्तर—प्रवृत्तिवाले शरीका त्याग करना, अर्थात् शरीरद्वारा प्रवृत्ति करना छोड़ देना।

प्रश्न—क्या कायोत्सर्गमें शरीरद्वारा किसी प्रकारकी प्रवृत्ति नही की जाती है?

उत्तर—कायोत्सर्गमें शरीरद्वारा उतनी ही प्रवृत्ति की जाती है जो ध्यानमें स्थिर रहनेके लिये उपयोगी हो।

प्रश्न—उदाहरण के लिये ?

उत्तर—एक आसनपर स्थिर रहना और वाणीके प्रवाहको रोक लेना, यह ऐसी प्रवृत्ति है।

प्रश्न—इसके अतिरिक्त अन्य कोई प्रवृत्ति हो सकती है ?

उत्तर—नहीं। इसके अतिरिक्त इच्छा-पूर्वक कोई प्रवृत्ति नहीं हो सकती, किन्तु शरीरकी कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं, जो इच्छाके बिना भी होती रहती हैं, अर्थात् ऐसी प्रवृत्तियोका कायोत्सर्गमें अपवाद रखा जाता है। ऐसे अपवादको शास्त्रीय-भाषामें आगार कहते हैं।

प्रश्न—कायोत्सर्गके कितने आगार रखे जाते हैं ?

उत्तर—सोलह। उनमें बारहके नाम तो स्पष्ट दिये हैं और चारके नाम 'एवमाइएहिं' पदसे समझने चाहिये।

प्रश्न—सोलह आगारोंकी नाम गिनाइये।

उत्तर—(१) श्वास लेना, (२) श्वास छोड़ना, (३) खाँसी आना, (४) छींक आना, (५) जम्हाई आना, (६) डकार आना, (७) अपानवायु सरना, (८) चक्कर आना, (९) पित्तका उभरना, (१०) सूक्ष्म रीतिसे अङ्ग हिलना, (११) सूक्ष्म रीतिसे कफ बलगमका आना (हिलना), (१२) सूक्ष्म रीतिसे दृष्टिका हिलना तथा, (१३) अग्नि फैल जाय, (१४) कोई हिंसक प्राणी समक्ष आजाय अथवा पञ्चेन्द्रिय प्राणीका छेदन-भेदन करने लगे, (१५) कोई चौर अथवा राजा वहाँ आकर कुकर्म करने लगे और (१६) सर्पदंश हो अथवा सर्पदंश होनेकी सम्भावना उत्पन्न हो, तो वह स्थान छोड़ देना। तात्पर्य यह कि इतनी वस्तुओंसे कायोत्सर्गकी प्रतिज्ञाका भङ्ग होना नहीं गिना जाता।

प्रश्न—कायोत्सर्गमें क्या किया जाता है ?

उत्तर—धर्मध्यान।

---

८ चउवीसत्थय-सुत्तं

['लोगस्स'-सूत्र]

मूल—

[सिलोगो]

लोगस्स उज्जोअगरे धम्मतित्थयरे जिणे ।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली ॥ १ ॥

[गाहा]

उसभमजिअं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमई च ।
पउमप्पपहं सुपासं, जिणं च चन्दप्पहं वंदे ॥ २ ॥
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल-सिज्जंस-वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥ ३ ॥
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥ ४ ॥
एवं मए अभिथुआ, विहुय-रय-मला पहीण-जर-मरणा ।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ५ ॥
कित्तिय-वंदिय-महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्ग बोहि लाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥ ६ ॥
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवरगम्भीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—

लोगस्स–लोकका, चौदह राजलोकोंमें।

उज्जोअगरे–प्रकाश करनेवालोंकी।

धम्मं-तित्थयरे–धर्मरूपी तीर्थका प्रवर्तन करनेवालोंकी।

जिणे–जिनोंकी, राग-द्वेष विजेताओंकी।

अरिहंते–अर्हन्तोंकी, त्रिलोकपूज्योंकी।

कित्तइस्सं–मैं स्तुति करता हूँ।

चउवीसं पि–चौवीसों।

केवली–केवलज्ञान प्राप्त करनेवालोंकी, केवली भगवन्तोंकी।

उसभं–श्रीऋषभदेव नामके प्रथम तीर्थङ्करको।

अजिअं–श्रीअजितनाथ नामके दूसरे तीर्थङ्करको।

च–और।

वंदे–वन्दन करता हूँ।

संभवं–श्रीसम्भवनाथ नामके तीसरे तीर्थङ्करको।

अभिणंदणं–श्रीअभिनन्दन नामके चौथे तीर्थङ्करको।

च–और।

सुमइं–श्रीसुमतिनाथ नामके पाँचवें तीर्थङ्करको।

च–और।

पउमप्पहं–श्रीपद्मप्रभ नामके छठे तीर्थङ्करको।

सुपासं–श्रीसुपार्श्वनाथ नामके सातवें तीर्थङ्करको।

जिणं–जिनको।

च–और।

चंदप्पहं–श्रीचन्द्रप्रभ नामके आठवें तीर्थङ्करको।

वंदे–वंदन करता हूँ।

सुविहिं–श्रीसुविधिनाथ नामके नौवें तीर्थङ्करको।

च–अथवा।

पुप्फदंतं–पुष्पदन्तको (श्रीसुविधिनाथका यह दूसरा नाम है)।

सीअल-सिज्जंस-वासुपुज्जं–श्रीशीतलनाथ नामके दसवें तीर्थङ्करको, श्रीश्रेयांसनाथ नामके ग्यारहवें तीर्थङ्करको तथा श्रीवासुपूज्य नामके बारहवें तीर्थङ्करको।

च–और।

विमलं–श्रीविमलनाथ नामके तेरहवें तीर्थङ्करको।

अणंतं–श्रीअनन्तनाथ नामके चौदहवें तीर्थङ्करको।

च–और।

जिणं–जिनको।

धम्मं-श्रीधर्मनाथ नामके पन्द्रहवें तीर्थङ्करको।

संतिं-श्रीशान्तिनाथ नामके सोलहवें तीर्थङ्करको।

च-और।

वंदामि-वन्दन करता हूँ।

कुंथुं-श्रीकुन्थुनाथ नामके सत्रहवें तीर्थङ्करको।

अरं-श्रीअरनाथ नामके अठारहवें तीर्थङ्करको।

च-और।

मल्लिं-श्रीमल्लिनाथ नामके उन्नीसवें तीर्थङ्करको।

वंदे-वन्दन करता हूँ।

मुणिसुव्वयं-श्रीमुनिसुव्रतस्वामी नामके बीसवें तीर्थङ्करको।

नमिजिणं-श्रीनमिनाथ नामके इक्कीसवें तीर्थङ्करको।

च-और।

रिट्ठनेमिं-श्रीअरिष्टनेमि अथवा नेमिनाथ नामके बाईसवें तीर्थङ्करको।

तह-तथा।

पासं-श्रीपार्श्वनाथ नामके तेईसवें तीर्थङ्करको।

वद्धमाणं-श्रीवर्द्धमानस्वामी अथवा महावीरस्वामी नामके चौबीसवें तीर्थङ्करको।

च-और।

एवं-इस प्रकार।

मए-मेरे द्वारा।

अभिथुआ-नामपूर्वक स्तुति किये गये।

विहुय-रय-मला-रज और मल-रूपी कर्मको दूर करनेवाले।
विहुय-दूर किये हुए। रय-बँधनेवाले कर्म। मल-पहले बँधे हुए कर्म।

पहीण-जर-मरणा-जरा और मरणसे मुक्त।
जरा-बुढ़ापा, वृद्धावस्था।
मरण-मृत्यु।

चउवीसं पि-चौबीसों।

जिणवरा-जिनवर।

तित्थयरा-तीर्थङ्कर।

मे-मुझ पर।

पसीयंतु-प्रसन्न हों।

कित्तिय-वंदिय-महिया-कीर्तन, वन्दन और पूजन किये हुए, मन, वचन और कायासे स्तुति किये हुए।
कित्तिय-वाचिक स्तुति किये हुए।
वंदिय-कायिक स्तुति किये हुए।
महिय-मानसिक स्तुति किये हुए।

जे ए–जो ये।
लोगस्स–लोकके सम्बन्धमें।
उत्तमा–उत्तम।
सिद्धा–सिद्ध।
आरुग्ग–**बोहि-लाभं**–कर्मक्षय-तथा जिन-धर्मकी प्राप्तिको।
आरुग्ग–रोग न हो ऐसी स्थिति अर्थात् कर्मक्षय। बोहि–लाभ–जिन–धर्मकी प्राप्ति।
समाहिवरं–भावसमाधि।
उत्तमं–श्रेष्ठ, उत्तम।
दिंतु–दें, प्रदान करे।
चंदेसु–चन्द्रोंसे।
निम्मलयरा–अधिक निर्मल, स्वच्छ।
आइच्चेसु–सूर्योंसे।
अहियं–अधिक।
पयासयरा–प्रकाश (उजाला) करनेवाले।
सागर-वर-गंभीरा–श्रेष्ठ सागर अर्थात् स्वयम्भूरमण समुद्रसे अधिक गम्भीर।
सिद्धा–सिद्धावस्था प्राप्त किये हुए, सिद्ध भगवन्त।
सिद्धिं–सिद्धि।
मम–मुझे।
दिसंतु–प्रदान करे।

अर्थ-सङ्कलना—

चौदह राजलोकमें स्थित सम्पूर्ण वस्तुओंके स्वरूपको यथार्थरूपमें प्रकाशित करनेवाले, धर्मरूपी तीर्थका प्रवर्त्तन करनेवाले, राग–द्वेषके विजेता तथा त्रिलोकपूज्य ऐसे चौबीसों केवली भगवन्तोंकी मैं स्तुति करता हूँ॥ १॥

श्रीऋषभदेव, श्रीअजितनाथ, श्रीसम्भवनाथ, श्रीअभिनन्दनस्वामी, श्रीसुमतिनाथ, श्रीपद्मप्रभ, श्रीसुपार्श्वनाथ और श्रीचन्द्रप्रभजिनको मैं वन्दन करता हूँ॥ २॥

श्रीसुविधिनाथ अथवा पुष्पदन्त, श्रीशीतलनाथ, श्रीश्रेयांसनाथ, श्रीवासुपूज्य, श्रीविमलनाथ, श्रीअनन्तनाथ, श्रीधर्मनाथ तथा श्रीशान्तिनाथजिनको मैं वन्दन करता हूँ॥ ३॥

श्रीकुन्थुनाथ, श्रीअरनाथ, श्रीमल्लिनाथ, श्रीमुनिसुव्रतस्वामी, श्रीनमिनाथ, श्रीअरिष्टनेमि, श्रीपार्श्वनाथ तथा श्रीवर्द्धमानजिन (श्रीमहावीरस्वामी)को मैं वन्दन करता हूँ ॥ ४ ॥

इस प्रकार मेरे द्वारा स्तुति किये गये, कर्मरूपी मलसे रहित और (जन्म), जरा एवं मरणसे मुक्त, चौबीसों जिनवर तीर्थङ्कर मुझपर प्रसन्न हों ॥ ५ ॥

जो लोकोत्तम हैं, सिद्ध हैं और मन-वचन-कायासे स्तुति किये हुए हैं, वे मेरे कर्मका क्षय करें, मुझे जिन-धर्मकी प्राप्ति कराएँ तथा उत्तम भाव-समाधि प्रदान करें ॥ ६ ॥

चन्द्रोंसे अधिक निर्मल, सूर्योसे अधिक प्रकाश करनेवाले, स्वयम्भूरमण समुद्रसे अधिक गम्भीर ऐसे सिद्ध भगवन्त मुझे सिद्धि प्रदान करें ॥ ७ ॥

सूत्र-परिचय—

उक्त सूत्रमें चौबीस तीर्थङ्करोकी स्तुति की गयी है, इसलिये यह सूत्र 'चउव्वीसत्थय-सुत्त' अथवा 'चतुर्विंशति-जिन-स्तव' के नामसे प्रसिद्ध है।

सूत्रकी पहली गाथा में बताया है कि मैं चौबीसों केवली भगवन्तोंकी स्तुति करता हूँ, वे लोकके प्रकाशक हैं अर्थात् विश्वके समस्त पदार्थोंका वास्तविक स्वरूप जाननेवाले हैं, धर्मरूपी तीर्थकी स्थापना करनेवाले हैं, जिन हैं और अर्हत् हैं।

सूत्रकी दूसरी, तीसरी और चौथी गाथामें चौबीस तीर्थङ्करोंके नाम लेकर वन्दना की गयी है और पाँचवीं, छठी तथा सातवीं गाथामें उनसे प्रार्थना की गयी है।

इस प्रार्थनामें प्रथम उनका प्रसाद (कृपा) मागा है, तदनन्तर आरोग्य अर्थात् कर्मक्षय, बोधिलाभ अर्थात् जैनधर्मकी प्राप्ति और उत्तम भाव-समाधि माँगी है तथा अन्तमें सिद्धिकी इच्छा प्रकट की है।

अरिहन्त भगवन्तका स्तबन करनेसे सम्यकत्वकी शुद्धि होती है एवं श्रद्धा, संवेग आदि गुणोंका सत्त्वर विकास होता है।

कायोत्सर्गमें इस .सूत्रके प्रत्येक शब्दका अथ विचारनेसे भावका उल्लास होता है, चित्तकी शुद्धि होती है तथा ध्यान-सम्बन्धी योग्यता प्राप्त होती है।

२४ तीर्थङ्करोंके

क्रमाङ्क	तीर्थङ्करका नाम	पिता	माता	जन्म-स्थान
१	श्रीऋषभदेव	नाभि	मरुदेवा	अयोध्या
२	श्रीअजितनाथ	जितशत्रु	विजया	,,
३	श्रीसम्भवनाथ	जितारि	सेना	श्रावस्ती
४	श्रीअभिनन्दन	संवर	सिद्धार्था	अयोध्या
५	श्रीसुमतिनाथ	मेघरथ	सुमङ्गला	,,
६	श्रीपद्मनाथ	श्रीधर	सुसीमा	कौशाम्बी
७	श्रीसुपार्श्वनाथ	सुप्रतिष्ठ	पृथ्वी	काशी
८	श्रीचन्द्रप्रभ	महासेन	लक्ष्मणा	चन्द्रपुरी
९	श्रीसुविधिनाथ	सुग्रीव	रामा	काकन्दी
१०	श्रीशीतलनाथ	दृढरथ	नन्दा	भद्दिलपुर
११	श्रीश्रेयांसनाथ	विष्णुराज	विष्णु	सिंहपुर
१२	श्रीवासुपूज्य	वसूपूज्य	जया	चम्पा
१३	श्रीविमलनाथ	कृतवर्मा	श्यामा	काम्पिल्यपुर
१४	श्रीअनन्तनाथ	सिंहसेन	सुयशा	अयोध्या
१५	श्रीधर्मनाथ	भानु	सुव्रता	रत्नपुर
१६	श्रीशान्तिनाथ	विश्वसेन	अचिरा	हस्तिनापुर
१७	श्रीकुन्थुनाथ	सूर	श्री	,,
१८	श्रीअरनाथ	सुदर्शन	देवी	,,
१९	श्रीमल्लिनाथ	कुम्भ	प्रभावती	मिथिला
२०	श्रीमुनिसुव्रत	सुमित्र	पद्मा	राजगृह
२१	श्रीनमिनाथ	विजय	वप्रा	मिथिला
२२	श्रीनेमिनाथ	समुद्रविजय	शिवा	शौरिपुर
२३	श्रीपार्श्वनाथ	अश्वसेन	वामा	काशी
२४	श्रीवर्धमानस्वामी	सिद्धार्थ	त्रिशला	क्षत्रियकुण्ड

मातापितादिका कोष्ठक।

लाञ्छन	शरीर–प्रमाण		वर्ण	आयुष्य		
वृषभ	५००	धनुष्य	सुवर्ण	८४	लाख	पूर्व
हस्ती	४५०	,,	,,	७२	,,	,,
अश्व	४००	,,	,,	६०	,,	,,
वानर	३५०	,,	,,	५०	,,	,,
क्रौञ्च	३००	,,	,,	४०	,,	,,
पद्म	२५०	,,	रक्त	३०	,,	,,
स्वस्तिक	२००	,,	सुवर्ण	२०	,,	,,
चन्द्र	१५०	,,	श्वेत	१०	,,	,,
मकर	१००	,,	,,	२	,,	,,
श्रीवत्स	९०	,,	सुवर्ण	१	,,	,,
गेंडा	८०	,,	,,	८४	लाख	वर्ष
महिष	७०	,,	रक्त	७२	,,	,,
वराह	६०	,,	सुवर्ण	६०	,,	,,
बाज	५०	,,	,,	३०	,,	,,
वज्र	४५	,,	,,	१०	,,	,,
मृग	४०	,,	,,	१	,,	,,
[अज] बकरा	३५	,,	,,	९५	हजार	वर्ष
नन्दावर्त्त	३०	,,	,,	८४	,,	,,
कुम्भ	२५	,,	नील	५५	,,	,,
कच्छप	२०	,,	श्याम	३०	,,	,,
नीलकमल	१५	,,	सुवर्ण	१०	,,	,,
शंख	१०	,,	श्याम	१	,,	,,
सर्प	९	हस्त	नील	१००	वर्ष	
सिंह	७	,,	सुवर्ण	७२	,,	

१ सामाइय-सुत्तं

['करेमि भंते'-सूत्र]

मूल—

करेमि भंते! सामाइयं, सावज्जं जोगं पच्चक्खामि। जाव नियमं पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि।

तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि॥

शब्दार्थ—

करेमि—करता हूँ।
भंते!—हे भगवन्! हे पूज्य!
सामाइयं—सामायिक।
सावज्जं जोगं—पापवाली प्रवृत्तिको।
पच्चक्खामि—प्रतिज्ञा-पूर्वक छोड़ देता हूँ।
जाव—जबतक।
नियमं—नियमका।
पज्जुवासामि—सेवन करूं।
दुविहं—करने और करानेरूपी दो प्रकारसे।
तिविहेणं—मन, वचन और काया, इन तीन प्रकारोंसे।
मणेणं—मनसे।
वायाए—वाणीसे।
कायेणं—शरीरसे।
न करेमि—न करूं।

न कारवेमि–न कराऊँ।
तस्स–उस पापवाली प्रवृत्तिका।
भंते–हे भगवन्!
पडिक्कमामि – प्रतिक्रमण करता हूँ,–से निवृत्त होता हूँ।
निंदामि–निन्दा करता हूँ, बुरी मानता हूँ।
गरिहामि–गुरुकी साक्षीमें निन्दा करता हूँ।
अप्पाणं – पापवाली मलिन आत्माको।
वोसिरामि—छोड़ देता हूँ।

अर्थ-सङ्कलना—

हे पूज्य! मैं सामायिक करता हूँ। अतः पापवाली प्रवृत्तिको प्रतिज्ञापूर्वक छोड़ देता हूँ। जबतक मैं इस नियमका सेवन करूँ तबतक, मन, वचन और कायासे पापवाली प्रवृत्ति न करूँगा और न कराऊँगा। और हे पूज्य! अभी तक उस प्रकारकी जो पापवाली प्रवृत्ति की हो, उससे मैं निवृत्त होता हूँ, उस पापवाली प्रवृत्तिको मैं बुरी मानता हूँ और उसके सम्बन्धमें आपके समक्ष एकरार करता हूँ। अब मैं पापमय–प्रवृत्ति करनेवाली मलिन आत्माको छोड़ देता हूँ।

सूत्र-परिचय—

इस सूत्रसे सामायिक करनेकी प्रतिज्ञा ली जाती है।

सामायिक (१)

प्रश्न—सामायिक क्या है?
उत्तर—एक धार्मिक क्रिया।
प्रश्न—सामायिक शब्दका अर्थ क्या है?
उत्तर—समायकी क्रिया।
प्रश्न—समाय किसे कहते हैं?

उत्तर—जिसमें सम अर्थात् राग-द्वेषरहित स्थितिका आय अर्थात् लाभ हो, उसको समाय कहते हैं।

प्रश्न—सामायिककी क्रिया कौन कर सकता है?

उत्तर—कोई भी स्त्री-पुरुष कर सकता है।

प्रश्न—तदर्थ क्या करना पड़ता है?

उत्तर—शुद्ध वस्त्र पहनकर कटासन, मुहपत्ती, चरवला, नवकारवाली एवं कोई भी धार्मिक पुस्तक लेकर गुरुके समक्ष जाना पड़ता है और वहाँ विधिपूर्वक सामायिककी प्रतिज्ञा ग्रहण करनी पड़ती है।

प्रश्न—सामायिककी प्रतिज्ञा किस प्रकार ली जाती है?

उत्तर—उसमे प्रथम गुरुको उद्देश करके कहना पड़ता है कि 'करेमि भंते! समाइयं' अर्थात् 'हे पूज्य! मैं सामायिक करता हूँ,' तदनन्तर कहना पड़ता है कि 'सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' अर्थात् 'मैं पापमयी-प्रवृत्तिका प्रतिज्ञापूर्वक परित्याग करता हूँ'।

प्रश्न—पापमयी-प्रवृत्ति कितने समयके लिये छोड़ी जाती है?

उत्तर—इसका स्पष्टीकरण करनेके लिये 'जाव नियमं पज्जुवासामि' ऐसा पाठ बोला जाता है। जिसका अर्थ यह है कि जहाँतक मैं इस नियमका सेवन करूं, वहाँतक पापवाली प्रवृत्ति नहीं करूंगा। एक सामायिकका नियम दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनिट तकका होता है, अतः पापवाली प्रवृत्ति ४८ मिनिटतक छोड़ दी जाती है।

प्रश्न—सामायिकमें पापवाली प्रवृत्ति कितने प्रकारसे छोड़ी जाती है?

उत्तर—सामायिकमें पापवाली प्रवृत्ति छः-कोटियोंसे अर्थात् छः प्रकारसे छोड़ी जाती है।

(१) पापवाली प्रवृत्ति मैं मनसे करूं नहीं।

(२) पापवाली प्रवृत्ति मैं मनसे कराऊँ नहीं।

(३) पापवाली प्रवृत्ति मैं वचनसे करूं नहीं।

(४) पापवाली प्रवृत्ति मैं वचनसे कराऊं नहीं।

(५) पापवाली प्रवृत्ति मैं कायासे करूं नहीं।

(६) पापवाली प्रवृत्ति मैं कायासे कराऊँ नहीं।

प्रश्न—पापवाली प्रवृत्ति कुल कितनी कोटियोंसे छोड़ी जा सकती है।

उत्तर—नौ कोटियोंसे।

प्रश्न—उनमें कौनसी तीन कोटियाँ उक्त प्रतिज्ञाओंमें नहीं आती?

उत्तर—(१) कोई पापवाली प्रवृत्ति करता हो तो उसका मनसे अनुमोदन न करूं।

(२) कोई पापवाली प्रवृत्ति करता हो तो उसका वचनसे अनुमोदन न करूं।

(३) कोई पापवाली प्रवृत्ति करता हो तो उसका कायासे अनुमोदन न करूं।

जो गृहस्थदशामें हैं, वे इन तीन कोटियोंसे-प्रतिज्ञा नहीं कर सकते।

प्रश्न—इसके पश्चात् क्या किया जाता है?

उत्तर—इसके पश्चात् 'तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि' यह पाठ बोलकर अभीतक जो पापवाली प्रवृत्तियाँ की हों, उनका प्रतिक्रमण किया जाता है। पुनः पापवाली प्रवृत्ति करनेका मन न हो इसके लिये ऐसा प्रतिक्रमण आवश्यक है।

प्रश्न—साधु किस तरह सामायिक करता है?

उत्तर—साधु दीक्षा लेते समय जीवनभर सामयिक करनेकी प्रतिज्ञा लेता है, अतः वह हर समय सामायिकमें ही होता है।

---

१० सामाइय-पारण-सुत्तं

[सामायिक पारनेका-सूत्र]

मूल—

[गाहा]

सामाइयवय-जुत्तो, जाव मणे होइ नियम-संजुत्तो ।
छिन्नइ असुहं कम्मं, सामाइय जत्तिया वारा ॥ १ ॥

सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥ २ ॥

मैंने सामायिक विधिसे लिया, विधिसे पूर्ण किया, बिधिमें कोई अविधि हुई हो तो मिच्छामि दुक्कडं ।

दस मनके, दस वचनके, बारह कायाके कुल बत्तीस दोषोमेंसे कोई दोष लगा हो तो मिच्छामि दुक्कडं ॥

शब्दार्थ—

सामाइयवय - जुत्तो - सामायिक व्रतसे युक्त ।
जाव—जहाँतक ।
मणे—मनमें ।
होइ—होता है, करता है ।
नियम-संजुत्तो—नियमसे युक्त, नियम रखकर ।
छिन्नइ—काटता है, नाश करता है ।

असुहं–अशुभ ।
कम्मं–कर्मका ।
सामाइय–सामायिक ।
जत्तिया वारा–जितनी बार ।
सामाइयम्मि–सामायिक ।
उ–तो ।
कए–करनेपर ।
समणो–साधु ।
इव–जैसा ।
सावओ–श्रावक ।
हवइ–होता है ।
जम्हा–जिस कारणसे ।
एएण कारणेणं–इस कारणसे, इसलिये ।
बहुसो–अनेक बार ।
सामाइयं–सामायिक ।
कुज्जा–करना चाहिये ।
विधि–निश्चित पद्धति ।
शेष स्पष्ट है ।

अर्थ-सङ्कलना—

सामायिक-व्रतधारी जहाँतक और जितनी बार मनमें नियम रखकर सामायिक करता है, वहाँतक और उतनी बार वह अशुभ-कर्मका नाश करता है ॥ १ ॥

सामायिक करनेपर तो श्रावक साधु जैसा होता है; इसलिये उसे सामायिक अनेक बार करना चाहिये ॥ २ ॥

शेषका अर्थ स्पष्ट है ।

सूत्र-परिचय—

इस सूत्रद्वारा सामायिक-पूर्ण करनेमें आता है और शेषका अर्थ स्पष्ट है । आगे भी सामायिक करनेकी भावना हो, इसलिये इसमें सामायिकके लाभ प्रदर्शित किये हैं । साथ ही सामायिक ३२ दोषोंसे रहित होकर करना चाहिये, यह बात भी इसमें बतलाई है ।

सामायिक (२)

प्रश्न—सामायिकसे क्या लाभ होता है ?

उत्तर—सामायिकसे अशुभ कर्मका नाश होता है ।

प्रश्न—दूसरा लाभ क्या होता है ?

उत्तर—सामायिकसे दूसरा लाभ यह होता है कि साधुके समान पवित्रजीवन बिताया जा सकता है, अर्थात् चारित्रमें सुधार होता है ।

प्रश्न—श्रावकको एक अहोरात्रमें कितनी बार सामायिक करना चाहिये ?

उत्तर—अनेकबार । यदि परिस्थिति अनुकूल न हो, तो कम-से-कम एक बार सामायिक करना चाहिए ।

प्रश्न—प्रतिदिन सामायिक करनेसे जीवनपर क्या प्रभाव पड़ता है ?

उत्तर—प्रतिदिन सामायिक करनेसे जीवन शान्त और पवित्र बनता है ।

प्रश्न—सामायिकमें कितने दोषोंका परित्याग करना चाहिये ?

उत्तर—बत्तीस ।

प्रश्न—उनमें मनके कितने ? वचनके कितने ? और कायाके कितने ?

उत्तर—मनके दस, वचनके दस, और कायाके बारह ।

प्रश्न—मनके दस दोषोंको दूर करने के लिये क्या करना चाहिये ?

उत्तर—(१) आत्महित के अतिरिक्त अन्य विचार न करे ।

(२) लोक प्रशंसा करे, साधुवाद दे, ऐसी अभिलाषा न रखे ।

(३) सामायिकद्वारा धनलाभकी इच्छा न रखे ।

(४) दूसरोंसे अच्छा सामायिक करता हूँ, इसलिये मैं उच्च हूँ ऐसा अभिमान न रखे ।

(५) भयका सेवन न करे ।

(६) सामायिकके फलका बन्धन न करे ।

(७) सामायिकके फलमें सशय न रखे ।

(८) रोष रखकर सामायिक न करे ।

(९) अविनयसे सामायिक न करे ।

(१०) अबहुमानसे सामायिक न करे ।

प्रश्न—वचनके दस दोषोंको दूर करनेके लिये क्या करना चाहिये ?

उत्तर—(१) कटु, अप्रिय अथवा असत्य वचन न बोले।

(२) बिना विचारे न बोले।

(३) शास्त्रके विरुद्ध न बोले।

(४) सूत्रसिद्धान्तके पाठ छोटे करके न बोले।

(५) किसीके साथ कलहकारी वचन न बोले।

(६) विकथा न करे। स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा एवं राजकथा ये चारों विकथा कहलातीं हैं।

(७) किसीकी हँसी करनेवाला वचन न कहे।

(८) सामायिकका सूत्रपाठ अशुद्ध न बोले।

(९) अपेक्षारहित न बोले।

(१०) गुनगुनाते हुए न बोले।

प्रश्न—कायाके बारह दोषोंको दूर करनेके लिये क्या करना चाहिये ?

उत्तर—(१) पाँवपर पाँव चढ़ाकर न बैठे।

(२) डगमगाते आसनपर न बैठे अथवा जहाँसे उठना पड़े ऐसे आसनपर न बैठे।

(३) चारों तरफ दृष्टि फिराकर देखता न रहे।

(४) घरके कार्य अथवा व्यापार–व्यवहारसे सम्बन्धित बातका संज्ञासे इशारा न करे।

(५) दीवार अथवा खम्भे का सहारा न ले।

(६) हाथ–पैरोंको समेटता–फैलाता न रहे।

(७) आलस्यसे शरीरको न मरोड़े।

(८) हाथ–पैरकी अँगुलियोंको न चटकाए।

(९) शरीरके ऊपरसे मैल न उतारे।

(१०) आलसीकी तरह बैठा न रहे।

(११) ऊँघे नहीं। सोवे नहीं, निंद न ले।

(१२) वस्त्रोंको न सिकोड़े।

११ जगचिंतामणि-सुत्तं

['जगचिन्तामणि' चैत्यवन्दन]

मूल—

[रोलाछन्द]

जगचिंतामणि ! जगहनाह ! जग-गुरु ! जग-रक्खण !
जग-बंधव ! जग-सत्थवाह ! जग-भाव-विअक्खण ! ।
अट्ठावय-संठविय-रूव ! कम्मट्ठ-विणासण !
चउवीसं वि जिणवर ! जयंतु अप्पडिहय-सासण ! ॥ १ ॥

[वस्तुछन्द]

कम्मभूमिहिं कम्मभूमिहिं पढमसंघयणि,
उक्कोसय सत्तरिसय, जिणवराण विहरंत लब्भइ;
नवकोडिहिं केवलीण, कोडिसहस्स नव साहु गम्मइ ।
संपइ जिणवर वीस मुणि, बिहुं (हिं) कोडिहिं वरनाणि,
समणह कोडि-सहस्स दुइ, थुणिज्जइ निच्च विहाणि ॥ २ ॥

जयउ सामिय ! जयउ सामिय ! रिसह ! सत्तुंजि,
उज्जिंति पहु-नेमिजिण ! जयउ वीर ! सच्चउर-मंडण !;

भरुअच्छहिं मुणिसुव्वय ! महुरि पास ! दुह–दुरिअ–खंडण ! !
अवर विदेहि तित्थयरा, चिहुं दिसि बिदिसि जिं के वि,
तीआणागय–संपइय, वंदउं जिण सव्वे वि ॥ ३ ॥

[गाहा]

सत्ताणवइ–सहस्सा, लक्खा छप्पन्न अट्ठकोडीओ ।
बत्तीस–सय–बासीयाइं, तिअलोए चेइए वंदे ॥ ४ ॥
पन्नरस–कोडि–सयाइं, कोडी बायाल लक्ख अडवन्ना ।
छत्तीस सहस असीइं, सासय–बिंबाइं पणमामि ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—

जगचिंतामणि !–जगत्‌में चिन्ता-मणि–रत्न समान !

जगह नाह !–जगत्‌के स्वामी !

जग–गुरु !–समस्त जगत्‌के गुरु !

जग–रक्खण !–जगत्‌का रक्षण करनेवाले !

जग–बंधव !–जगत्‌के बन्धु !

जग–सत्थवाह !–जगत्‌को इष्ट-स्थलपर (मोक्षमें) पहुँचानेवाले ! जगत्‌के उत्तम सार्थवाह !

जग–भाव–विअक्खण !–जगत्‌के सर्वभावोंको जाननेमें तथा प्रका-शित करनेमें निपुण ।

अट्ठावय–संठविय–रूव !–अष्टा-पद पर्वतपर जिनकी प्रतिमाएँ स्थापित की हुई हैं ऐसे !

कम्मट्ठ-विणासण !–आठों कर्मोंका नाश करनेवाले !

चउवीस–वि–चौबीसों ।

जिणवर !–हे जिनवरों ! ऋषभादि तीर्थङ्करों !

जयंतु–आपकी जय हो ।

अप्पडिहय–सासण !–अखण्डित शासनवाले !, अबाधित उपदेश देनेवाले !

कम्मभूमिहिं–कर्मभूमियोंमें ।

पढमसंघयणि–प्रथम संहननवाले, वज्र-ऋषभ-नाराच-संघयणवाले। संघयण-हड्डियोंकी विशिष्ट रचना।

उक्कोसय–अधिक-से-अधिक।

सत्तरिसय–एकसौ सत्तर।

जिणवराण–जिनेश्वरोंकी, जिनोंकी (संख्या)।

विहरंत–विचरण करते हुए।

लब्भइ–प्राप्त होती है।

नवकोडिहिं–नौ करोड़।

केवलीण–केवलियोंकी, सामान्य केवलियोंकी (संख्या)।

कोडिसहस्स–हजार करोड़ (दस अरब)।

नव–नौ।

साहु–साधु, साधुओंकी (संख्या)।

गम्मइ–जाने जाते हैं, होती है।

संपइ–वर्तमानकालमें।

जिणवर–जिनेश्वर, तीर्थङ्कर।

वीस–बीस।

मुणि–मुनि।

बिहुं (हिं)–दो।

कोडिहिं–करोड़।

वरनाणि–केवलज्ञानी।

समणह–श्रमणोंकी (संख्या)।

कोडि-सहस्स दुइ–दो हजार करोड़ (बीस अरब)।

थुणिज्जइ–स्तवन किया जाता है।

निच्च–नित्य।

विहाणि–प्रातःकालमें।

जयउ–जय हो।

सामिय !–हे स्वामिन्!

रिसह !–श्रीऋषभदेव!

सत्तुंजि–शत्रुञ्जय गिरिपर।

उज्जिंति–गिरनार पर्वतपर।

पहु नेमिजिण !–हे प्रभो नेमिजिन!

जयउ–आपकी जय हो।

वीर !–हे महावीर स्वामिन्! हे वीर!

सच्चउर-मंडण !–सत्यपुर (साँचोर) के भृङ्गाररूप।

भरुअच्छहिं मुणिसुव्वय !–मुनि-सुव्रतस्वामिन्!

महुरि पास !×–मथुरामें विराजित हे पार्श्वनाथ!

दुह-दुरिअ-खंडण !–दुःख और पापका नाश करनेवाले!

अवर–अन्य (तीर्थङ्कर)।

विदेहि–विदेहमें–महाविदेह क्षेत्रमें।

× प्राचीन प्रतियोंमें यही पाठ मिलता है। विशेषके लिये देखो–प्र. टी. भा. १. (द्वितीय आवृत्ति) पृ. ३००।

तित्थयरा-तीर्थङ्कर।
चिहुं-चारों।
दिसि विदिसि-दिशाओं और विदिशाओंमें।
जि-जो।
के वि-कोई भी।
तीआणागय-संपइय-अतीत, अनागत और साम्प्रतिक-भूत, भविष्य और वर्तमानकालमें प्रादुर्भूत।
वंदउं-मैं वन्दन करता हूँ।
जिण-जिनोंको।
सव्वे वि-सभीको।
सत्ताणवइ - सहस्सा - सत्ताणवे हजार (९७०००)।
लक्खा - छप्पन्न - छप्पन लाख (५६०००००)।
अट्ठकोडीओ-आठ करोड़ (८००००००)।
बत्तीस-सय-बत्तीस सौ (३२००)।
बासीयाइं-बयासी (८२)।
तिअलोए-तीनों लोक (स्वर्ग, मर्त्य, पाताल) में।
चेइए-जिन प्रासादोंको।
वंदे-मैं वन्दन करता हूँ।
पन्नरस-कोडि-सयाइं - पन्द्रहसौ करोड़ (१५००००००००००)।
कोडी बायाल-बयालीस करोड़। (४२००००००००)।
लक्ख अडवन्ना-अट्ठावन लाख (५८०००००)।
छत्तीस-सहस-छत्तीस हजार (३६०००)।
असीइं-अस्सी (८०)।
सासय-बिंबाइं-शाश्वत बिम्बोंको।
पणमामि-मैं प्रणाम करता हूँ।

अर्थ-सङ्कलना—

जगत्में चिन्तामणि-रत्न समान! जगत्के स्वामी! जगत्के गुरु! जगत्का रक्षण करनेवाले! जगत्के निष्कारण बन्धु! जगत्के उत्तम सार्थवाह! जगत्के सर्व भावोंको जाननेमें तथा प्रकाशित करनेमें निपुण! अष्टापद पर्वतपर (भरत चक्रवर्तीद्वारा) जिनकी प्रतिमाएँ स्थापित की गयी हैं ऐसे! आठों कर्मोंका नाश करनेवाले!

तथा अबाधित (धारा-प्रवाहसे) उपदेश देनेवाले ! हे ऋषभादि ! चौबीसों तीर्थङ्करों ! आपकी जय हो ॥ १ ॥

कर्मभूमियोंमें—पाँच भरत, पाँच ऐरवत और पाँच महाविदेहमें विचरण करते हुए वज्र-ऋषभनाराच संघयणवाले जिनोंकी संख्या अधिक-से-अधिक एकसौ सत्तरकी होती है, सामान्य केवलियोंकी संख्या अधिक-से-अधिक नौ करोड़की होती है और साधुओंकी संख्या अधिक-से-अधिक नौ हजार करोड़ अर्थात् नब्बे अरबकी होती है। वर्तमान कालमें तीर्थङ्कर बीस हैं, केवलज्ञानी मुनि दो करोड़ हैं और श्रमणोंकी संख्या दो हजार करोड़ अर्थात् बीस अरब हैं जिनका कि नित्य प्रातःकालमें स्तवन किया जाता है ॥ २ ॥

हे स्वामिन् ! आपकी जय हो ! जय हो ! शत्रुञ्जयपर स्थित हे ऋषभदेव ! उज्जयन्त (गिरनार) पर विराजमान हे प्रभो नेमिजिन ! साँचोरके शृङ्काररूप हे वीर ! भरुचमें विराजित हे मुनिसुव्रत ! मथुरामें विराजमान, दुःख और पापका नाश करनेवाले हे पार्श्वनाथ ! आपकी जय हो; तथा महाविदेह और ऐरवत आदि क्षेत्रोंमें एवं चार दिशाओ और विदिशाओंमें जो कोई तीर्थङ्कर भूतकालमें हो गये हों; वर्तमानकाल में विचरण करते हों और भविष्यमें इसके पश्चात् होनेवाले हों, उन सभी को मैं वन्दन करता हूँ ॥ ३ ॥

तीन लोकमें स्थित आठ करोड़ सत्तावन लाख, दोसौ बयासी (८,५७,००,२८२) शाश्वत चैत्योंका मैं वन्दन करता हूँ ॥ ४ ॥

तीन लोकमें विराजमान पन्द्रह अरब, बयालीस करोड़, अट्ठावन लाख, छत्तीस हजार अस्सी–(१५,४२,५८,३६०८०) शाश्वत-बिम्बोंको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ५ ॥

सूत्र-परिचय—

इस सूत्रका उपयोग भिन्न–भिन्न समयपर किये जानेवाले चैत्यवन्दनके प्रसङ्गपर होता है। इसकी पहली गाथामें चौबीस जिनवरोंकी स्तुति की गयी है, दूसरी गाथामें तीर्थङ्कर किस भूमिमें पैदा होते हैं, उनका संघयण (शरीररचना) कैसा होता, उनकी उत्कृष्ट और जघन्य संख्या कितनी होती है तथा उस समय केवलज्ञानी और साधु कितने होते हैं, इसका वर्णन किया है। तीसरी गाथामें पाँच सुप्रसिद्ध तीर्थोंके मूल-नायकोंको वन्दन किया है। उसमें पहला नाम श्रीशत्रुञ्जयगिरिका है जहाँ श्रीआदिनाथ भगवान् विराजते हैं। दूसरा नाम श्रीउज्जयन्तगिरि अर्थात् गिरनारका है जहाँ श्रीनेमिनाथप्रभू विराजमान हैं। तीसरा नाम सत्यपुर अर्थात् साँचोरका है, जहाँपर श्रीमहावीर जिनेश्वर विराजित हैं। चौथा नाम भृगुकच्छ अर्थात् भरुचका है जहाँ श्रीमुनिसुव्रतस्वामी विराजमान हैं और पाचवाँ नाम मथुराका है कि जहाँपर एक समय श्रीपार्श्वनाथप्रभुकी भव्य चमत्कारिक मूर्ति विराजमान थी। चौथी गाथामें शाश्वत चैत्योंकी संख्या गिनकर उनकी वन्दना की गयी है तथा पाँचवी गाथामें शाश्वत बिम्बोंकी संख्या गिनकर उनकी वन्दना की है।

यह चैत्यवन्दन छन्दोबद्ध होनेसे सुन्दर-पद्धतिसे गाया जाता है। इसकी भाषा अपभ्रंश है।

१२ तित्थवंदण-सुत्तं

['जं किंचि-सूत्र']

मूल—

जं किंचि नाम तित्थं, सग्गे पायालि माणुसे लोए।
जाइं जिणबिंबाइं, ताइं सव्वाइं वंदामि ॥ १ ॥

शब्दार्थ—

जं-जो ।
किंचि-कोई ।
नाम-यह पद वाक्यका अलङ्कार है।
तित्थं-तीर्थ ।
सग्गे-देवलोकमें, स्वर्गमें ।
पायालि-पातलमें ।
माणुसे लोए-तिर्यग्लोकमें, मनुष्यलोकमें ।
जाइं-जितने ।
जिणबिंबाइं-जिनबिम्ब ।
ताइं-उन ।
सव्वाइं-सबको
वंदामि-मैं वन्दन करता हूँ ।

अर्थ-सङ्कलना—

स्वर्ग, पाताल और मनुष्यलोकमें जो कोई तीर्थ हों और जितने जिनबिम्ब हो, उन सबको मैं वन्दन करता हूँ ।

सूत्र-परिचय—

यह सूत्र तीनों लोकमें स्थित सर्वतीर्थ और सर्व जिनबिम्बोंको वन्दन करनेके लिये उपयोगी है ।

—

१३ सक्कत्थय-सुत्तं

['नमो त्थु णं'-सूत्र]

मूल—

नमो त्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं ॥ १ ॥

आइगराणं तित्थयराणं सयं-संबुद्धाणं ॥ २ ॥

पुरिसुत्तमाणं पुरिस-सीहाणं पुरिस-वरपुंडरीआणं पुरिस-वरगंधहत्थीणं ॥ ३ ॥

लोगुत्तमाणं लोग-नाहाणं लोग-हिआणं लोग-पईवाणं लोग-पज्जोअगराणं ॥ ४ ॥

अभय-दयाणं चक्खु-दयाणं मग्ग-दयाणं सरण-दयाणं बोहि-दयाणं ॥ ५ ॥

धम्म-दयाणं धम्म-देसयाणं धम्म-नायगाणं धम्म-सार-हीणं धम्म-वर-चाउरंत-चक्कवट्टीणं ॥ ६ ॥

अप्पडिहय-वर-नाण-दंसण-धराणं वियट्ट-छउमाणं ॥७॥

जिणाणं जावयाणं तिन्नाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोअगाणं ॥ ८ ॥

सव्वन्नूणं सव्व-दरिसीणं सिवमयलमरुयमणंतमक्खयम-व्वाबाहमपुणरावित्ति सिद्धिगइ-नामधेयं ठाणं संपत्ताणं, नमो जिणाणं जिअ-भयाणं ॥ ९ ॥

[गाहा]

जे अ अईआ सिद्धा, जे अ भविस्संति णागए काले ।
संपइ अ वट्टमाणा, सव्वे तिविहेण वंदामि ॥ १० ॥

शब्दार्थ—

नमो त्थु—नमस्कार हो ।
णं—वाक्यालङ्कारके रूपमें प्रयुक्त शब्द ।
अरिहंताणं—अरिहन्तोंको ।
भगवंताणं—भगवन्तोंको ।
आइगराणं—आदिकरोंको, श्रुतधर्मकी आदि करनेवालोंको ।
तित्थयराणं—तीर्थङ्करोंको, चतुर्विध श्रमणसङ्घरूपी तीर्थकी स्थापना करनेवालोंको ।
सयं-संबुद्धाणं—स्वयं सम्बुद्धोंको स्वयं बोध प्राप्त किये हुओंको ।
पुरिसुत्तमाणं—पुरुषोत्तमोंको, पुरुषोंमें ज्ञानादि गुणोंसे उत्तमोंको ।
पुरिस-सीहाणं—पुरुषोंमें सिंह-समान निर्भयोंको ।
पुरिस-वरपुंडरीआणं—पुरुषोंमें उत्तम श्वेतकमलके समान लेप रहितोंको (निर्लेपोंको) ।
पुरिस-वरगंधहत्थीणं—पुरुषोंमें सात प्रकारकी ईतियाँ दूर करनेमें गन्धहस्ती-सदृशोंको ।
लोगुत्तमाणं—जो लोकमें उत्तम हैं उनको ।
लोग-नाहाणं—लोकनाथोंको ।
लोग-हिआणं—लोकका हित करनेवालोंको ।
लोग-पईवाणं—लोकके दीपोंको ।

लोग-पज्जोअगराणं-लोकमें प्रकाश करनेवालोंको।

अभय-दयाणं-अभय प्रदान करनेवालोंको।

चक्खु-दयाणं-नेत्र प्रदान करनेवालोंको, श्रद्धारूपी नेत्रोंका दान करनेवालोंको।

मग्ग-दयाणं-मार्ग दिखानेवालोंको।

सरण-दयाणं-शरण देनेवालोंको।

बोहि-दयाणं-बोधीबीजका लाभ देनेवालोंको।

जिन-प्रणीत धर्मकी प्राप्तिको 'बोधि' कहते हैं।

धम्म-दयाणं-धर्म समझानेवालोंको।

धम्म-देसयाणं-धर्मकी देशना देनेवालोंको।

धम्म-नायगाणं-धर्मके सच्चे स्वामियोंको।

धम्म-सारहीणं-धर्मके सारथियोंको, धर्मरूपी रथको चलानेमें निष्णात सारथियोंको।

धम्म-वर-चाउरंत-चक्कवट्टीणं-धर्मरूपी चतुरन्तचक्र धारण करनेवालोंको, चार गतिका नाश करनेवाले तथा धर्मचक्रके प्रवर्त्तक चक्रवर्तियोंको।

वर-श्रेष्ठ। चाउरंत-चक्कवट्टी-चार गतिका नाश करनेवाले, धर्मचक्रके प्रवर्तक चक्रवर्ती।

अप्पडिहय-वर-नाण-दंसण-धराणं-जो नष्ट नहीं हो ऐसे श्रेष्ठ केवलज्ञान तथा केवलदर्शनको धारण करनेवाले हैं उनको।

अप्पडिहय-नष्ट नहीं हो ऐसा। नाण-ज्ञान। दंसण-दर्शन।

वियट्ट-छउमाणं-जिनकी छद्मस्थता चली गयी हैं उनको, छद्मस्थतासे रहितोंको।

जिणाणं जावयाणं-जीतनेवालोंको तथा जितानेवालोंको, जो स्वयं जिन बने हुए हैं तथा दूसरोंको भी जिन बनानेवाले हैं उनको।

तिन्नाणं तारयाणं-जो संसार-समुद्रसे पार होगये हैं, तथा दूसरोंको भी पार पहुँचानेवाले हैं उनको।

बुद्धाणं बोहयाणं-जो स्वयं बुद्ध हैं तथा दूसरोंको भी बोध देनेवाले हैं उनको।

मुत्ताणं-मोअगाणं-जो मुक्त हैं और दूसरोको मुक्ति दिलानेवाले हैं, उनको।

सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं-सर्वज्ञोंको, सर्वदर्शियोंको।

सिवमयलमरुयमणंतमक्खय-मव्वाबाहमपुणराविति-

शिव, अचल, अरुज, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध और अपुनरावृत्ति।

शिव-उपद्रवोसे रहित। अयल-स्थिर। अरुय-व्याधि और वेदनासे रहित। अणंत-अन्त-रहित। अक्खय-क्षयरहित। अव्वाबाह-कर्म-जन्य पीडाओसे रहित। अप्पुणराविति-जहाँ जानेको बाद वापस आना नहीं रहता ऐसा।

सिद्धिगइ-नामधेयं-सिद्धिगति नामवाले।

ठाणं-स्थानको।

संपत्ताणं-प्राप्त किये हुओंको।

नमो-नमस्कार हो।

जिणाणं-जिनोंको।

जिअ-भयाणं-भय जीतनेवालोंको।

जे-जो।

अ-और।

अईआ सिद्धा-भूतकालमें सिद्ध हुए हैं।

भविस्संति-होंगे।

(अ)णागए काले-भविष्यकालमें।

संपइ-वर्तमानकालमें।

अ-तथा।

वट्टमाणा-वर्तमान।

सव्वे-सबको।

तिविहेण-मन, वचन और कायासे

वंदामि-मैं वन्दन करता हूँ।

अर्थ-सङ्कलना-

नमस्कार हो अरिहन्त भगवन्तोंको ॥ १ ॥

जो श्रुतधर्मकी आदि करनेवाले हैं, चतुर्विध श्रमणसङ्घरूपी तीर्थकी स्थापना करनेवाले हैं और स्वयं बोध प्राप्त किए हुए हैं ॥ २ ॥

जो पुरुषोंमें ज्ञानादि गुणोंसे उत्तम हैं, सिंह-समान निर्भय हैं, उत्तम-श्वेत कमलके समान निर्लेप हैं, तथा सात प्रकारकी ईतियाँ दूर करनेमें गन्धहस्ती-सदृश प्रभावशाली हैं ॥ ३ ॥

जो लोकमें उत्तम हैं, लोकके नाथ हैं, लोकके हितकारी हैं, लोकके प्रदीप हैं, और लोकमें प्रकाश करनेवाले हैं ॥ ४ ॥

जो अभय देनेवाले हैं, श्रद्धारूपी नेत्रोंका दान करनेवाले हैं, मार्ग दिखानेवाले हैं, शरण देनेवाले हैं और बोधिबीजका लाभ देनेवाले हैं ॥ ५ ॥

जो धर्मको समझानेवाले हैं, धर्मकी देशना देनेवाले हैं, धर्मके सच्चे स्वामी हैं, धर्मरूपी रथको चलानेमें निष्णात सारथि हैं तथा चार गतिका नाश करनेवाले धर्मचक्रके प्रवर्त्तक चक्रवर्ती हैं ॥ ६ ॥

जो नष्ट न हो ऐसे केवलज्ञान एवं केवलदर्शनको धारण करनेवाले हैं तथा छद्मस्थतासे-अपूर्णतासे रहित हैं ॥ ७ ॥

जो स्वयं जिन बने हुए हैं और दूसरोंको भी जिन बनानेवाले हैं; जो संसार-समुद्रसे पार होगये हैं और दूसरोंको भी पार पहुँचानेवाले हैं; जो स्वयं बुद्ध हैं तथा दूसरोंको भी बोध देनेवाले हैं; जो मुक्त हैं तथा दूसरोंको मुक्ति दिलानेवाले हैं ॥ ८ ॥

जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं तथा शिव, स्थिर, व्याधि और वेदनासे रहित, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध और अपुनरावृत्ति अर्थात् जहाँ जानेके बाद संसारमें वापस आना नहीं रहता, ऐसे सिद्धिगति नामक स्थानको प्राप्त किये हुए हैं उन जिनोंको-भय जीतनेवालोंको नमस्कार हो ॥ ९ ॥

जो भूतकालमें सिद्ध होगये हैं जो भविष्यकालमें सिद्ध होनेवाले हैं तथा जो वर्तमानकालमें अरिहन्तरूपमें विद्यमान हैं, उन सबको मन, वचन और कायासे मैं वन्दन करता हूँ ॥ १० ॥

सूत्र-परिचय—

जब जिनदेव अर्थात् तीर्थङ्कर भगवान् देवलोकसे च्यवित होकर माताके गर्भमें आते हैं, तब शक्र (इन्द्र) महाराज इस सूत्रके द्वारा उनका स्तवन करते हैं, इसीसे यह सूत्र 'शक्रस्तव' कहलाता है। इस सूत्रका दूसरा नाम 'प्रणिपात-दण्डक' है।

जिनदेव (अरिहन्त) का स्वरूप

प्रश्न—जिन कितने प्रकारके हैं?

उत्तर—चार प्रकारके:—नामजिन, स्थापनाजिन, द्रव्यजिन और भावजिन।

प्रश्न—नामजिन किसे कहते हैं?

उत्तर—ऋषभ, अजित आदि जिनके नाम हों, उनको नामजिन कहते हैं।

प्रश्न—स्थापनाजिन किसे कहते हैं?

उत्तर—सुवर्ण, रत्न, पाषाण आदिकी जिनप्रतिमाओंको स्थापनाजिन कहते हैं।

प्रश्न—द्रव्यजिन किसे कहते हैं?

उत्तर—भविष्यमें होनेवाले श्रेणिक आदिके जीवोंको द्रव्यजिन कहते हैं।

प्रश्न—भावजिन किसे कहते हैं?

उत्तर—जो केवलज्ञान प्राप्त-करके, अर्हत् बनकर समवसरणमें विराजित हों, उनको भावजिन कहते हैं।

प्रश्न—शक्रस्तवमें कौनसे जिनोंकी वन्दना की गयी है?

उत्तर—भावजिनोंकी। इसकी अन्तिम गाथामें द्रव्यजिनोंकी भी वन्दना-स्तुति की गयी है।

प्रश्न—ये भावजिन कैसे है ?

उत्तर—अरिहन्त (अर्हत्) हैं, भगवन्त हैं।

प्रश्न—अरिहन्त (अर्हत्) किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो महापुरुष मनुष्यों, राजाओं तथा देवोंसे पूजे जाने योग्य हों उनको अर्हत् कहते हैं।

प्रश्न—भगवन्त किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो भगवाले हों उनको भगवन्त कहते हैं। भग-अर्थात् ऐश्वर्य, रूप, यश, श्री, धर्म और प्रयत्न (पुरुषार्थ) की सम्पूर्णता।

प्रश्न—अरिहन्त भगवन्तोंकी वन्दना-स्तुति करनेका कारण क्या है ?

उत्तर—कारण यह है कि वे आदिकर हैं, तीर्थङ्कर हैं तथा स्वयंसम्बुद्ध हैं।

प्रश्न—आदिकर किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो आदि करे उन्हें आदिकर कहते हैं। अरिहन्त भगवन्त केवलज्ञानकी प्राप्तिके पश्चात्-'**उपपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा**-(उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और फिर भी स्थिर रहता है। जगत्के स्वभावका यह वर्णन है) इस त्रिपदीद्वारा नवीन द्वादशाङ्गी अथवा नवीन शास्त्रोंकी आदि करते हैं, इसलिये उन्हें आदिकर कहते हैं।

प्रश्न—तीर्थङ्कर किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो तीर्थकी स्थापना करे उन्हे तीर्थङ्कर कहते हैं। तीर्थ दो प्रकारके हैं:-द्रव्यतीर्थ और भावतीर्थ। इनमें द्रव्यतीर्थसे नदियाँ आदि पार की जा सकती हैं और भावतीर्थसे संसार-सागर पार हो सकता है। अरिहन्त ऐसे ही भावतीर्थकी स्थापना करते हैं, इसलिये उन्हे तीर्थङ्कर कहते हैं। भावतीर्थ अर्थात् साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाका बना हुआ चतुर्विधसङ्घ, प्रवचन अथवा प्रथम गणधर।

प्रश्न—स्वयंसम्बुद्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो गुरूपदेशके बिना अपने आप ही सम्पूर्ण बोध प्राप्त किये हुए हो, उन्हें स्वयंसम्बुद्ध कहते हैं।

प्रश्न—अरिहन्त भगवन्तोंकी वन्दना-स्तुति करनेका विशेष कारण क्या है ?

उत्तर—अरिहन्त भगवन्तोंकी वन्दना-स्तुति करनेका विशेष कारण यह है कि वे पुरुषोत्तम हैं, पुरुष-सिंह हैं, पुरुष-वरपुण्डरीक हैं तथा पुरुष-वरगन्धहस्ती हैं।

प्रश्न—पुरुषोत्तम किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो पुरुषोंमें उत्तम हों। अरिहन्त ज्ञानादि-गुणोसे सब पुरुषोंमें उत्तम होते हैं।

प्रश्न—पुरुष-सिंह किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो पुरुषोंमें सिंहके समान निर्भय हो। अरिहन्त भगवान सिंहके समान निर्भय होकर सत्य धर्मकी गर्जना करते हैं।

प्रश्न—पुरुष-वरपुण्डरीक किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो पुरुषोंमें श्रेष्ठ-कमलके समान निर्लेप हों। अरिहन्त भगवन्त संसारमें उत्पन्न होनेपर भी संसारके भोगोंमें आसक्त न हो कमलपत्रके समान निर्लिप्त रहकर पवित्र-जीवन व्यतीत करते हैं।

प्रश्न—पुरुष-वरगन्धहस्ती किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो पुरुषोंमें उत्तम गन्धहस्तीके सदृश प्रभावशाली हों। जैसे गन्ध-हस्तीका आगमन होते ही उस प्रदेशसे छोटे हाथी भाग जाते हैं, वैसे ही अरिहन्त भगवन्तोंका विहार होते ही उस प्रदेशसे अतिवृष्टि, दुष्काल महामारी आदि सात प्रकारकी ईतियाँ भाग जाती हैं।

प्रश्न—अरिहन्त भगवन्त लोकको किस तरह उपयोगी होते हैं ?

उत्तर—अरिहन्त भगवन्त लोकोत्तम होते हैं, अतः अनेक रीतिसे उपयोगी होते हैं।

प्रश्न—उनके कुछ उदाहरण देंगे ?

उत्तर—अवश्य। अरिहन्त भगवन्त लोकके नाथ बनते हैं अर्थात् रक्षण करने योग्य सर्व-प्राणियोंका योग-क्षेम करते हैं (योग अर्थात् अप्राप्यवस्तु प्राप्त करा देना और क्षेम अर्थात् प्राप्तवस्तुका संरक्षण

करना।) और वे लोकहितकारी बनते हैं, अर्थात् सम्यक्प्ररूपणा द्वारा व्यवहारराशिमें आगत सर्वजीवोंका हित करते हैं। तथा वे लोकप्रदीप होते हैं, अर्थात् सर्व संज्ञी प्राणियोंके हृदयसे मोहका गाढ़ अन्धकार दूर करके उन्हे सम्यक्त्व प्रदान करते हैं और वे लोक-प्रद्योतकर भी होते हैं, अर्थात् चौदह पूर्वधरोंके भी सूक्ष्म सन्देहोंको दूर करके, उन्हे विशेष बोध देकर ज्ञानका प्रकाश करते हैं। इस प्रकार अरिहन्त भगवन्त लोकके लिये अनेक प्रकारसे उपयोगी होते हैं।

प्रश्न—अरिहन्त भगवन्तोंकी उपयोगिता कितने हेतुओंसे सिद्ध होती है ?
उत्तर—पाँच हेतुओंसे।

प्रश्न—वह किस प्रकार ?

उत्तर—अरिहन्त भगवन्त अभयदाय देते हैं; अर्थात् प्राणियोंको सात प्रकारके भयोंसे मुक्त करते हैं। चक्षुदान देते हैं; अर्थात् आध्यात्मिक-जीवन के लिये आवश्यक श्रद्धा उत्पन्न करते हैं। मार्गका दर्शन कराते हैं; अर्थात् कर्मका विशिष्ट क्षयोपशम हो ऐसा मार्ग बताते हैं। शरण प्रदान करते हैं; अर्थात् तत्त्वचिन्तनरूप सच्चा शरण प्रदान करते हैं। और बोधि प्राप्त कराते हैं;। ऐसे पाँच हेतुओंसे अरिहन्त भगवन्तकी उपयोगिता सिद्ध होती है।

प्रश्न—अरिहन्त भगवन्तोंकी विशिष्ट उपयोगिता कितने हेतुओंसे सिद्ध होती हैं
उत्तर—पाँच हेतुओंसे।

प्रश्न—वह किस प्रकार ?

उत्तर—अरिहन्त भगवन्त धर्मका दान करते हैं; अर्थात् सर्वविरति और देशविरतिरूप चारित्र-धर्म प्रदान करते हैं। धर्मकी देशना देते हैं; अर्थात् प्रौढ प्रभाववाली चमत्कारिक वाणीद्वारा धर्मका रहस्य समझाते हैं। धर्मके नायक बनते हैं; अर्थात् चारित्र-धर्मको प्राप्त होते हैं, उसका निरतिचार पालन करते हैं और उसका अन्योंको दान देते हैं। धर्मके सारथि बनते हैं, अर्थात् धर्मसङ्घका कुश-

ल्तापूर्वक सञ्चालन करते हैं; और धर्मके चतुरन्त चक्रवर्ती बनते हैं। अर्थात् चार गतिको नष्ट करनेवाले धर्मचक्रका प्रवर्त्तन करते हैं। इस प्रकार इन पाँच हेतुओंसे अरिहन्त भगवन्तोंकी विशिष्ट उपयोगिता सिद्ध होती है।

प्रश्न—अरिहन्त भगवन्तोका स्वरूप कैसा है ?

उत्तर—अरिहन्त भगवन्त कभी नष्ट न हो, ऐसे केवलज्ञान और केवल-दर्शनवाले होते हैं तथा छद्मस्थतासे रहित होते हैं। जिनके ज्ञानादिगुणोंके आगे घातिकर्मका आवरण हो, वे छद्मस्थ कहलाते हैं।

प्रश्न—अरिहन्त भगवन्त मुमुक्षुओका विकास किस सीमातक करते हैं ?

उत्तर—अरिहन्त भगवन्त रागादि दोषोंको जीतकर जिन बने हुए हैं, अतः मुमुक्षुओंको भी रागादिदोषमे जिता देते हैं; वे संसार समुद्र तिरकर तीर्ण बने हुए हैं; अतः मुमुक्षुओंको भी संसार-सागरसे तिरा देते हैं; वे अज्ञानका नाशकर बुद्ध बने हुए हैं, अतः मुमुक्षुओंको भी बोध प्राप्त कराते हैं; तथा घातिकर्मका नाशकर मुक्त बने हुए हैं, अतः मुमुक्षुओंको भी घातिकर्मसे मुक्त बनाते हैं।

प्रश्न—अरिहन्त भगवन्त चरमदेह (अन्तिम शरीर) छोड़नेके बाद कौनसा स्थान प्राप्त करते हैं ?

उत्तर—अरिहन्त भगवन्त चरमदेह छोड़नेके बाद जहाँ किसी प्रकारका उपद्रव नहीं, जहाँ किसी प्रकारकी अस्थिरता नहीं, जहाँ किसी तरहका राग नहीं, जहाँ अन्त आनेकी कोई शक्यता नहीं, जहाँ थोड़ा-सा भी क्षय नहीं, जहाँ किसी भी प्रकारकी पीड़ा नहीं और जहाँ जानेके पश्चात् संसारमें पुनः वापस आना नहीं पड़ता ऐसा सिद्धिगति नामका स्थान प्राप्त करते हैं।

प्रश्न—द्रव्यजिनोंकी किस रीतिसे वन्दना-स्तुति की हुई है ?

उत्तर—अतीत कालमें जो जिन हो गये हों, भविष्यकालमें जो जिन होने वाले हो और वर्तमानकालमें जो विद्यमान हों, उन सबकी मन, वचन और कायासे वन्दना-स्तुति की हुई हैं।

प्रश्न—इस तरह भावजिन तथा द्रव्यजिनोंकी वन्दना-स्तुति करनेका फल क्या हैं ?

उत्तर-दर्शन-गुणकी शुद्धि और उससे उत्तरोत्तर आत्माका विकास।

---

१४ सव्व-चेइयवंदण-सुत्तं

['जावंति चेइयाइं'-सूत्र]

मूल—

[गाहा]

जावंति चेइयाइं, उड्ढे अ अहे अ तिरिअलोए अ।
सव्वाइँ ताइँ वंदे, इह संतो तत्थ संताइं ॥ १ ॥

शब्दार्थ—

जावंति-जितने।
चेइयाइं-चैत्य, जिनबिम्ब।
उड्ढे-ऊर्ध्वलोकमें।
अ-और।
अहे-अधोलोकमें।
अ-तथा।
तिरिअलोए-तिर्यग्लोकमें, मनुष्य-लोकमें।
अ-भी।
सव्वाइं ताइं-उन सबको।
वंदे-मैं वन्दन करता हूँ।
इह-यहाँ।
संतो-रहता हुआ।
तत्थ-वहाँ।
संताइं-रहे हुओंको।

अर्थ-सङ्कलना—

ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मनुष्यलोकमें जितने भी चैत्य-जिन-बिम्ब हों, उन सबको यहाँ रहता हुआ वहाँ रहे हुओंको मैं वन्दन करता हूँ।

सूत्र-परिचय—

यह सूत्र तीनों लोकोंमें स्थित जिनचैत्योंको वन्दन करनेके लिये उपयोगी है और आशयकी शुद्धि करनेवाला होनेसे इसने प्रणिधानत्रिकमें स्थान प्राप्त किया है।

---

१५ सव्वसाहु-वंदण-सुत्तं

['जावंत के वि' साहू-सूत्र]

मूल—

[गाहा]

जावंत के वि साहू, भरहेरवय-महाविदेहे अ।
सव्वेसिं तेसिं पणओ, तिविहेण तिदंड-विरयाणं ॥ १ ॥

शब्दार्थ—

जावंत के वि-जो कोई भी।
साहू-साधु।
भरहेरवय-महाविदेहे-भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्रमें।
अ-और।
सव्वेसिं तेसिं-उन सबको।
पणओ-नमन करता हूँ।
तिविहेण-करना, कराना और

अनुमोदन करना इन तीन प्रकारोंसे।

तिदंड-विरयाणं-जो तीन दण्डसे विराम पाये हुए हैं, उनको।

तिदंड-मनसे पाप करना वह मनोदण्ड, वचनसे पाप करना वह वचनदण्ड और कायासे पाप करना वह कायदण्ड।

अर्थ-सङ्कलना—

भरत-ऐरवत और महाविदेह क्षेत्रमें स्थित जो कोई भी साधु मन. वचन और कायासे पाप-प्रवृत्ति करते नहीं, कराते नहीं, साथ ही करते हुएका अनुमोदन नहीं करते, उनको मैं नमन करता हूँ।

सूत्र-परिचय—

यह सूत्रका उपयोग सर्व साधुओंको वन्दन करनेके लिये होता है और आशयकी शुद्धि करनेवाला होनेसे इसने प्रणिधानत्रिकमें स्थान प्राप्त किया है।

१६ पञ्चपरमेष्ठि-नमस्कार-सूत्रम्

[' नमोऽर्हत् '-सूत्र]

मूल—

नमोऽर्हत्-सिद्धाचार्योपाध्याय-सर्वसाधुभ्यः ॥ १ ॥

शब्दार्थ—

नमो-नमस्कार हो।

अर्हत्-सिद्धाचार्योपाध्याय-सर्व-साधुभ्य:- अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा सर्व-साधुओंको।

अर्थ-सङ्कलना—

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व-साधुओंको नमस्कार हो।

सूत्र-परिचय—

इस सूत्रसे पञ्चपरमेष्ठीको नमस्कार किया जाता है।

१७ उवसग्गहर-थोत्तं

[उपसर्गहर-स्तोत्र]

मूल—

[गाहा]

उवसग्गहरं पासं, पासं वंदामि कम्म-घण-मुक्कं ।
विसहर-विस-निन्नासं, मंगल-कल्लाण-आवासं ॥ १ ॥

विसहर-फुलिंग-मंतं, कंठे धारेइ जो सया मणुओ ।
तस्स गह-रोग-मारी-दुट्ठजरा जंति उवसामं ॥ २ ॥

चिट्ठउ दूरे मंतो, तुज्झ पणामो वि बहुफलो होइ ।
नर-तिरिएसु वि जीवा, पावंति न दुक्ख-दोगच्चं ॥ ३ ॥

तुह सम्मत्ते लद्धे चिंतामणि-कप्पपायव-ब्भहिए ।
पावंति अविग्घेणं, जीवा अयरामरं ठाणं ॥ ४ ॥

इअ संथुओ महायस ! भत्ति-भर-निब्भरेण हिअएण ।
ता देव ! दिज्ज बोहिं, भवे भवे पास-जिणचंद ! ॥५ ॥

उवसग्गहरं–उपद्रवोंको दूर करनेवाले।

पासं–समीप, भक्तजनोंके समीप।

पासं–तेईसवें तीर्थङ्कर, श्रीपार्श्वनाथ भगवानको।

वंदामि–मैं वन्दन करता हूँ।

कम्म-घण-मुक्कं–कर्म-समूहसे मुक्त बने हुए।

कम्म-आत्माकी शक्तियोंका आवरण करनेवाली एक प्रकारके पुद्गलकी वर्गणा। घण-समूह। मुक्क-छूटे हुए, रहित।

विसहर-विस-निन्नासं–सर्पके विषका नाश करनेवाले, मिथ्यात्व आदि दोषोंको दूर करनेवाले।

मंगल-कल्लाण-आवासं–मङ्गल और कल्याणके गृहरूप।

विसहर-फुलिंग-मंतं–'विसहर-फुलिंग' नामक मन्त्रको।

कंठे धारेइ–कण्ठमें धारण। करता है, स्मरण करता है।

जो–जो।

सया–नित्य।

मणुओ–मनुष्य।

तस्स–उसके।

गह-रोग-मारी-दुट्ठजरा–ग्रहचार, महारोग, मारण-प्रयोग अथवा महामारी आदि उत्पात तथा विषमज्वर।

गह-ग्रहचार, ग्रहोंका अनुचित प्रभाव। रोग-सोलह महारोग। मारी-अभिचार या मारण-प्रयोगसे सहसा फूट निकलनेवाले रोग अथवा महामारी। दुट्ठजरा–दुष्टज्वर, कफज्वर, विषमज्वर, सन्निपात आदि।

जंति–हो जाते हैं।

उवसामं–शान्त।

चिट्ठउ–रहे।

दूरे–दूर

मंतो–(यह) मन्त्र।

तुज्झ–आपको किया हुआ।

पणामो–प्रणाम।

वि–ही।

बहुफलो–बहुत फल देनेवाला

होइ–होता है।

नर-तिरिएसु–मनुष्य (गति) और तिर्यञ्चगतिमे।

वि–भी।

जीवा–जीव।

पावंति–प्राप्त करते हैं।

न–नहीं।

दुक्ख-दोगच्चं–दुःख तथा दुर्दशाको।

तुह–आपका।
सम्मत्ते लद्धे–सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेपर।
चिंतामणि-कप्पपायव-ब्भहिए–चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्षसे भी अधिक।
पावंति–प्राप्त करते हैं।
अविग्घेणं–सरलतासे।
जीवा–जीव।
अयरामरं ठाणं–अजरामर-स्थानको, मुक्तिपदको।
इअ–इस प्रकार।
संथुओ–स्तुति की है।
महायस !–हे महायशस्विन् !
भत्ति–भर–निब्भरेण–भक्तिसे भरपूर।
भत्ति-भक्ति। भर-समूह। निब्भर-भरा हुआ।
हिअएण–हृदयसे।
ता–अतएव।
देव !–हे देव।
दिज्ज–प्रदान करो।
बोहिं–बोधि, सम्यक्त्व !
भवे भवे–प्रत्येक भवमें।
पास–जिणचंद !–हे पार्श्वजिन-चन्द्र ! जिनेश्वरोंमें चन्द्र-समान पार्श्वनाथ !

अर्थ–सङ्कलना–

जो सम्पूर्ण उपद्रवोंको दूर करनेवाले हैं, भक्तजनोंके समीप **हैं,** कर्म–समूहसे मुक्त बने हुए हैं, जिनका नाम–स्मरण सर्पके विषका नाश करता है, तथा मिथ्यात्व आदिको दूर करता है और जो मङ्गल और कल्याणके गृहरूप हैं, ऐसे श्रीपार्श्वनाथको मैं वन्दन करता हूँ ॥ १ ॥

[श्रीपार्श्वनाथ प्रभुके नामसे युक्त] विसहर–फुलिंग नामक मन्त्रका जो मनुष्य नित्य स्मरण करता है, उसके दुष्टग्रह, महारोग, मारण–प्रयोग अथवा महामारी आदि उत्पात और दुष्टज्वर शान्त हो जाते हैं ॥ २ ॥

यह मन्त्र तो दूर रहे, हे पार्श्वनाथ ! आपको किया हुआ प्रणाम ही बहुत फल देनेवाला होता है । उसके द्वारा मनुष्य और तिर्यञ्च-गतिमें स्थित जीव किसी भी प्रकारके दुःख दुर्दशाको नहीं प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

चिन्तामणि-रत्न और कल्पवृक्षसे भी अधिक शक्ति धारण करनेवाले आपके सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेपर जीव सरलतासे मुक्ति-पदको प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

मैंने इस प्रकार भक्तिसे भरपूर हृदयसे आपकी स्तुति की है अतएव हे देव ! हे महायशस्विन् ! हे पार्श्वजिनचन्द्र ! मुझे प्रत्येक भवमें अपनी बोधि-अपना सम्यक्त्व प्रदान करो ॥ ५ ॥

सूत्र-परिचय—

इस स्तोत्रमें श्रीपार्श्वनाथ भगवानके गुणोंकी स्तुति बहुत सुन्दर रीतिसे की गयी है और इसका उपयोग चैत्यवन्दनमें स्तवनके रूपमें होता है । नव-स्मरणमें इसकी संख्या दूसरी है ।

इस स्तोत्रकी रचनाके विषयमें निम्न कथा प्रचलित है :—भद्रबाहु-स्वामीके वराहमिहिर नामका एक भाई था । उसने भी जैन-दीक्षा ली थी; किन्तु किसी कारणवश बादमें वह त्याग दी और ज्योतिषशास्त्रद्वारा अपनी महत्ता प्रदर्शितकर जैन-साधुओंकी निन्दा करने लगा । एक समय उसने राजाके पुत्रकी जन्मकुण्डली बनायी और उसमें लिखा कि 'पुत्र सौ वर्षका होगा !' राजाको यह बात सुनकर अत्यन्त हर्ष हुआ और वराहमिहिरका बहुत सम्मान किया । इस प्रसङ्गका लाभ लेकर वराहमिहिरने राजाके कान भर दिये कि महाराज ! आपके यहाँ कुँवरका जन्म होनेसे सभी प्रसन्न होकर आपसे मिलने आगये किन्तु जैनोंके आचार्य भद्रबाहु नहीं आये, उसका

कारण तो जानिये ! राजाने उस सम्बन्धमें खोज की तो श्रीभद्रबाहुस्वामीने उत्तर दिया कि निष्कारण दो बार क्यों जाना-आना ! यह पुत्र तो सातवें दिन बिल्लीकेद्वारा मृत्युको प्राप्त होनेवाला है। राजाने यह सुनकर पुत्ररक्षाके लिये चौकी-पहरे रखे और गाँवकी सभी बिल्लियाँ दूर भेज दीं। परन्तु हुआ ऐसा कि सातवें दिन धात्री (धाय) दरवाजेमें बैठी हुई पुत्रको दूध पिला रही थी, इतनेमें बालकपर अकस्मात् लकड़ीकी अर्गला (आगल) गिर पड़ी और वह मरणको प्राप्त हुआ। वराहमिहिर तो इससे बहुत ही लज्जित हुआ। श्रीभद्रबाहु इस समय राजाको मिलने गये और संसारका स्वरूप समझाकर धैर्य दिया। राजाने उनके ज्योतिष-ज्ञानकी प्रशंसा की और साथ-ही यह भी पूछा कि बिल्लीसे मरण होगा यह बात सत्य क्यों नहीं हुई ? इसी समय सूरिजीने लकड़ीकी आगल मँगायी तो उसके सिरे पर बिल्लीका मुँह खुदा हुआ था।

इस प्रसङ्गसे वराहमिहिरका द्वेष बढ़ा और वह मरकर व्यन्तरदेव बन जैनसङ्घमें महामारी-प्लेग जैसे रोग फैलाने लगा। परन्तु श्रीभद्रबाहुस्वामीने 'उवसग्गहरं' स्तोत्र बनाकर सङ्घको कण्ठस्थ करनेके लिये कहा, उससे वह उपद्रव दूर हुआ; तबसे यह स्तोत्र प्रचलित है।

इस स्तोत्रमें अनेक चमत्कारी मन्त्र-तन्त्र छिपे हुए हैं, जो इसपर रचित विविध टीकाओंसे जाने जा सकते हैं। इस स्तोत्रकी मूल गाथाएँ पाँच ही हैं, इसलिये अधिक गाथावाले जो स्तोत्र मिलते हैं वे बादमें बने हुए हैं।+

+ 'उवसग्गहरं' स्तोत्रका विशेष रहस्य जाननेके लिये देखिये— प्रबोधटीका भाग पहला, सूत्र १७।

१८ पणिहाण-सुत्तं

['जय वीयराय'-सूत्र]

मूल—

[गाहा]

जय वीयराय ! जग-गुरु !, होऊ मम तुह पभावओ भयवं ! ।
भव-निव्वेओ मग्गाणुसारिआ इट्ठफल-सिद्धी ॥ १ ॥

लोग-विरुद्ध-च्चाओ, गुरुजण-पूआ परत्थकरणं च ।
सुहगुरु-जोगो तव्वयण-सेवणा आभवमखंडा ॥ २ ॥

वारिज्जइ जइ वि नियाण-बंधणं वीयराय ! तुह समये ।
तह वि मम हुज्ज सेवा, भवे भवे तुम्ह चलणाणं ॥ ३ ॥

दुक्ख-खओ कम्म-खओ, समाहि मरणं च बोहि लाभो अ ।
संपज्जउ मह एअं, तुह नाह ! पणाम करणेणं ॥ ४ ॥

[अनुष्टुप्]

सर्व मङ्गल माङ्गल्यं, सर्व कल्याण कारणम् ।
प्रधानं सर्व धर्माणां, जैनं जयति शासनम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—

जय–आपकी जय हो।
वीयराय !–हे वीतराग प्रभो !
जग-गुरु !–हे जगद्गुरो !
होउ–हो।
ममं–मुझे।
तुह–आपके।
पभावओ–प्रभावसे, सामर्थ्यसे।
भयवं !–हे भगवन् !
भव-निव्वेओ–संसारके प्रति वैराग्य।
मग्गाणुसारिआ–मोक्षमार्गमें चलनेकी शक्ति।
इट्ठफल-सिद्धि–इष्टफलकी सिद्धि।
लोग-विरुद्ध-च्चाओ–लोकनिन्दा हो ऐसी प्रवृत्तिका त्याग, लोकनिन्दा हो ऐसा कोई भी कार्य करनेके लिये प्रवृत्त न होना।
गुरुजण-पूआ–धर्माचार्य तथा मातापितादि बड़े व्यक्तियोंके प्रति परिपूर्ण आदर-भाव।
परत्थकरणं–दूसरोंका भला करनेकी तत्परता।
च–और।
सुहगुरु-जोगो–सद्गुरुका योग।
तव्वयण-सेवणा–उनकी आज्ञानुसार चलनेकी शक्ति।

आभवं–जहाँतक संसारमें परिभ्रमण करना पड़े वहाँतक।
अखंडा–अखण्ड रीतिसे।
वारिज्जइ–निषेध किया है।
जइ वि–यद्यपि।
नियाण-बंधणं–निदान-बंधन, फलकी याचना।
वीयराय !–हे वीतराग !
तुह–आपके।
समये–शास्त्रमें, प्रवचनमें।
तह वि–तथापि।
मम–मुझे।
हुज्ज–प्राप्त हो।
सेवा–उपासना।
भवे भवे–प्रत्येक भवमें।
तुम्ह–आपके।
चलणाणं–चरणोंकी।
दुक्ख-खओ–दुःखका नाश।
कम्म-खओ–कर्मका नाश !
समाहि-मरणं–शान्तिपूर्वक मरण।
च–और।
बोहि-लाभो–बोधि-लाभ, सम्यक्त्वकी प्राप्ति।
अ–और।
संपज्जउ–उत्पन्न हो।
मह–मुझे।

एअं–ऐसी परिस्थिति।

तुह–आपको।

नाह!–हे नाथ!

पणाम-करणेणं–प्रणाम करनेसे।

सर्व-मङ्गल-माङ्गल्यं–सर्व मङ्गलोंका मङ्गलरूप।

सर्व-कल्याण-कारणम्–सर्व कल्याणोंका कारणरूप।

प्रधानं–श्रेष्ठ।

सर्व-धर्माणां–सर्व धर्मोंमें।

जैनं–जैन।

जयति–विजयी है, जयको प्राप्त हो रहा है।

शासनम्–शासन।

अर्थ-सङ्कलना—

हे वीतराग प्रभो! हे जगद्गुरो! आपकी जय हो। हे भगवन्! आपके सामर्थ्यसे मुझे संसारके प्रति वैराग्य उत्पन्न हो, मोक्षमार्गमें चलनेकी शक्ति प्राप्त हो और इष्टफलकी सिद्धि हो (जिससे मैं धर्मका आराधन सरलतासे कर सकूँ)॥ १॥

हे प्रभो! (मुझे ऐसा सामर्थ्य प्राप्त हो कि जिससे) मेरा मन लोकनिन्दा हो ऐसा कोई भी कार्य करनेको प्रवृत्त न हो, धर्माचार्य तथा मातापितादि बड़े व्यक्तियोंके प्रति परिपूर्ण आदर–भावका अनुभव करे और दूसरोंका भला करनेको तत्पर बने। और हे प्रभो! मुझे सद्गुरुका योग मिले, तथा उनकी आज्ञानुसार चलनेकी शक्ति प्राप्त हो। यह सब जहाँतक मुझे संसारमें परिभ्रमण करना पड़े, वहाँ तक अखण्ड रीतिसे प्राप्त हो॥ २॥

हे वीतराग! आपके प्रवचनमें यद्यपि निदान–बन्धन अर्थात् फलकी याचनाका निषेध है, तथापि मैं ऐसी इच्छा करता हूँ कि

प्रत्येक भवमें आपके—चरणोंकी उपासना करनेका योग मुझे प्राप्त हो ॥ ३ ॥

हे नाथ ! आपको प्रणाम करनेसे दुःखका नाश हो, कर्मका नाश हो, सम्यक्त्व मिले और शान्तिपूर्वक मरण हो ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो ॥ ४ ॥

सर्व मङ्गलोंका मङ्गलरूप, सर्व कल्याणोंका कारणरूप और सर्व धर्मोंमें श्रेष्ठ ऐसा जैन शासन जयको प्राप्त हो रहा है ॥ ५ ॥

श्रावक और साधु दिन एवं रात्रिके भागमें जो चैत्यवन्दन करते हैं, उसमें यह सूत्र बोला जाता है। मनका प्रणिधान करनेमें यह सूत्र उपयोगी है, इसलिये यह 'पणिहाण-सुत्त' कहलाता है। इसमें वीतरागके समक्ष निम्न वस्तुओंकी प्रार्थना की जाती है :—

(१) भवनिर्वेद—बार-बार जन्म लेनेकी अरुचि। बार - बार
(२) मार्गानुसारिता—ज्ञानियोंद्वारा प्रदर्शित मोक्षमार्गमें चलनेकी शक्ति।
(३) इष्टफल-सिद्धि—इच्छित फलकी प्राप्ति।
(४) लोक-विरुद्ध-त्याग—अधिक मनुष्य निन्दा करे, ऐसे कार्योंका त्याग।
(५) गुरुजनोंकी पूजा—धर्मगुरु, विद्यागुरु, बड़े व्यक्ति आदिकी पूजा।
(६) परार्थकरण—परोपकार करनेकी वृत्ति।
(७) सद्‌गुरुका योग।
(८) सद्‌गुरुके वचनानुसार चलनेकी शक्ति।
(९) वीतरागके चरणोंकी सेवा।
(१०) दुःखका नाश।
(११) कर्मका नाश।
(१२) समाधि-मरण—शान्तिपूर्वक मृत्यु।
(१३) बोधि-लाभ—सम्यक्त्वकी (जैन धर्मकी) प्राप्ति।

---

१९ चेइयथय-सुत्तं

['अरिहंत चेइयाणं' सूत्र]

मूल—

अरिहंत-चेइयाणं करेमि काउस्सग्गं ।

वंदण-वत्तियाए पूअण-वत्तियाए सक्कार-वत्तियाए सम्माण-वत्तियाए बोहिलाभ-वत्तियाए निरुवसग्ग-वित्तयाए ।

सद्धाए मेहाए धिईए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए, ठामि काउस्सग्गं ॥

शब्दार्थ—

अरिहंत-चेइयाणं—अर्हत्-चैत्योंके, अर्हत् प्रतिमाओंके ।
चैत्य-बिम्ब, मूर्ति अथवा प्रतिमा ।

करेमि—करता हूँ; करना चाहता हूँ ।

काउस्सग्गं—कायोत्सर्ग ।

वंदण-वत्तियाए—वन्दनके निमित्तसे, वन्दनका निमित्त लेकर ।

पूअण-वत्तियाए—पूजनके निमित्तसे, पूजनका निमित्त लेकर ।

सक्कार-वत्तियाए—सत्कारके निमित्तसे, सत्कारका निमित्त लेकर ।

सम्माण-वत्तियाए—सम्मानके निमित्तसे, सम्मानका निमित्त लेकर ।

बोहिलाभ-वत्तियाए—बोधिलाभके निमित्तसे, बोधिलाभका निमित्त लेकर ।

निरुवसग्ग-वत्तियाए—मोक्षके निमित्तसे, मोक्षका निमित्त लेकर ।

सद्धाए—श्रद्धासे, इच्छासे ।

मेहाए—मेधासे, प्रज्ञासे ।

धिईए—धृतिसे, चित्तकी स्वस्थतासे ।

धारणाए—ध्येयका स्मरण करनेसे, धारणासे।	**वड्ढमाणीए**—वृद्धि पाती हुई, बढ़ती हुई।
अणुप्पेहाए—बार बार चिन्तन करनेसे, अनुप्रेक्षासे।	**ठामि काउस्सग्गं**—मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

अर्थ-सङ्कलना—

अर्हत् प्रतिमाओंके आलम्बनसे कायोत्सर्ग करनेकी इच्छा करता हूँ। वन्दनका निमित्त लेकर, पूजनका निमित्त लेकर, सत्कारका निमित्त लेकर, सम्मानका निमित्त लेकर, बोधिलाभका निमित्त लेकर तथा मोक्षका निमित्त लेकर बढ़ती हुई इच्छासे, बढ़ती हुई प्रज्ञासे बढ़ती हुई चित्तकी स्वस्थतासे, बढ़ती हुई धारणासे और बढ़ती हुई अनुप्रेक्षासे मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

सूत्र-परिचय—

इस सूत्रमें अरिहन्तके चैत्योंको (स्थापनाजिनोंको) कायोत्सर्गद्वारा वन्दनादि करनेकी विधि बतलायी है, इसीसे यह 'चैत्यस्तव' कहलाता है।

चैत्यस्तव

प्रश्न—चैत्य किसको कहते है?

उत्तर—बिम्ब, मूर्ति अथवा प्रतिमाको। जिनमन्दिरको भी चैत्य कहा जाता है।

प्रश्न—चैत्य किसके बनाये जाते हैं?

उत्तर—चैत्य अरिहन्त भगवन्तके बनाये जाते हैं, क्योंकि मुख्य उपासना-आराधना उनकी ही की जाती है।

प्रश्न—अरिहन्तके चैत्य किस वस्तुके बनाये जाते हैं?

उत्तर—अरिहन्तके चैत्य रत्न, सुवर्ण, पाषाण आदिके बनाये जाते हैं। वे देखनेमें बहुत ही सुन्दर होते हैं।

प्रश्न—अरिहन्तके चैत्यमें क्या विशेषता होती है?

उत्तर—अरिहन्तके चैत्यमें विशेषता यह होती है कि उनका मुख-कमल प्रसन्न होता है, उनके नेत्रोंमें शान्तरस भरा हुआ होता है, उनके हाथमें किसी प्रकारके अस्त्र-शस्त्र नहीं होते हैं, अतः वीतरागका अपूर्व दृश्य उपस्थित करता है।

प्रश्न—अरिहन्तके चैत्योंकी उपासना किस रीतिसे की जाती है?

उत्तर—अरिहन्तके चैत्योंकी उपासना अङ्गपूजा, अग्रपूजा और भावपूजाद्वारा की जाती है।

प्रश्न—अङ्गपूजा किसे कहते हैं?

उत्तर—जल, चन्दन, पुष्पादिसे अरिहन्तके अङ्गोंका पूजन करना, उसे अङ्गपूजा कहते हैं।

प्रश्न—अग्रपूजा किसे कहते हैं?

उत्तर—अरिहन्तके चैत्यके समक्ष अक्षत, फल, नैवेद्य, धूप, दीपादि रखना, उसे अग्रपूजा कहते हैं?

प्रश्न—भावपूजा किसे कहते हैं?

उत्तर—अरिहन्त भगवन्तकी स्तुति-प्रार्थना करनी तथा उनका ध्यान धरना, उसे भावपूजा कहते हैं।

प्रश्न—अरिहन्त भगवन्तका ध्यान कैसे धरते हैं?

उत्तर—उसके लिये प्रधानतया कायोत्सर्ग किया जाता है और उसमें अरिहन्त भगवन्तके चैत्यका आलम्बन (सहारा) लिया जाता है।

प्रश्न—आलम्बन लेनेका कारण क्या है?

उत्तर—आलम्बन लेनेसे मन उनपर स्थिर होता है। यदि आलम्बन नहीं लें तो मन उनपर स्थिर नहीं होता।

प्रश्न—अरिहन्त भगवन्तके चैत्यका आलम्बन लेनेके पश्चात् क्या किया जाता है?

उत्तर—प्रथम उनके वन्दनका निमित्त लेकर चित्तको एकाग्र किया जाता है। तदनन्तर उनके पूजनका निमित्त लेकर चित्तको एकाग्र किया जाता है। इस प्रकार सत्कारका निमित्त लेकर, सम्मानका निमित्त लेकर, बोधिलाभका निमित्त लेकर तथा मोक्षका निमित्त लेकर चित्त एकाग्र किया जाता है और उसके द्वारा वन्दनादिकसे जो लाभ मिलते हैं, वे मिलें। ऐसी इच्छा की जाती हैं।

प्रश्न—पृथक् पृथक् विषयोंमें भ्रमण करनेवाला चित्त एकाग्र किस तरह हो सकता है?

उत्तर—यदि श्रद्धा धारण की जाय, प्रज्ञा (मेधा) विकसित की जाय, धृति (चित्तकी स्वस्थता) रखी जाय, धारणाका अभ्यास किया जाय और अनुप्रेक्षा (बार बार चिन्तन) का फिर-फिरकर आश्रय लिया जाय, तो चित्त एक विषयमें एकाग्र हो सकता है।

---

२० 'कल्लाण-कंदं' थुई

[पञ्चजिन स्तुति]

मूल—

[उपेन्द्रवज्रा]

कल्लाण-कंदं पढमं जिणिंदं,
संतिं तओ नेमिजिणं मुणिंदं।
पासं पयासं सुगुणिक्क-ठाणं,
भत्तीइ वंदे सिरिवद्धमाणं ॥ १ ॥

[उपजाति]

अपार संसार–समुद्द–पारं,
पत्ता सिवं दिंतु सुइक्क–सारं ।
सव्वे जिणिंदा सुर–विंद–वंदा,
कल्लाण वल्लीण विसाल–कंदा ॥ २ ॥

निव्वाण–मग्गे वर–जाण–कप्पं,
पणासियासेस–कुवाइ–दप्पं ।
मयं जिणाणं सरणं बुहाणं,
नमामि निच्चं तिजग–प्पहाणं ॥ ३ ॥

कुंदिंदु–गोक्खीर–तुसार–वन्ना,
सरोज–हत्था कमले निसन्ना ।
वाईसरी–पुत्थय–वग्ग–हत्था,
सुहाय सा अम्ह सया पसत्था ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—

कल्लाण-कंदं–कल्याणरूपी वृक्षके मूलको, कल्याणके कारणरूपको ।
पढमं–पहले, प्रथम ।
जिणिंदं–जिनेन्द्रको, तीर्थङ्कर श्री-ऋषभदेवको ।
संतिं–श्रीशान्तिनाथको ।
तओ–तदनन्तर ।
नेमिजिणं–नेमिजिनको, श्रीनेमि-नाथको ।
मुणिंदं–मुनियोंमें श्रेष्ठ ।
पासं–श्रीपार्श्वनाथको ।
पयासं–प्रकाश-स्वरूप ।
सुगुणिक्क-ठाणं–सभी सद्गुण जहाँ एकत्रित हुए हैं ऐसे, सर्व सद्गुणोंके स्थानरूप ।
भत्तीइ–भक्ति-पूर्वक ।
वंदे–मैं वन्दन करता हूँ ।

सिरिवद्धमाणं–श्रीवर्धमानको, श्री-महावीर स्वामीको।

अपार–संसार–समुद्द–पारं–जिसका पार पाना कठिन है; ऐसे संसार-समुद्रके किनारेको।

पत्ता–प्राप्त किये हुए।

सिवं–कल्याण, मोक्षसुख।

दिंतु–प्रदान करो।

सुइक्क-सारं–शास्त्रका अनन्य सार-रूप अथवा पूर्ण-पवित्र।

सव्वे–सभी।

जिणिंदा–जिनेन्द्र।

सुर–विंद–वंदा–देवसमूहसे भी वन्दनीय।

कल्लाण–वल्लीण–कल्याणरूपी लताके।

विसाल–कंदा–विशाल कन्दके समान।

निव्वाण–मग्गे–निर्वाण–प्राप्तिके मार्गमें।

वर–जाण–कप्पं–श्रेष्ठ वाहनके समान।

पणासियासेस–कुवाइ–दप्पं–जिसने कुवादियोंका अभिमान सर्वथा नष्ट किया है, जिसने एकान्तवादियोंके सिद्धान्तोंको असत्य प्रमाणित किया है।

मयं–मत, श्रुतज्ञान।

जिणाणं–जिनोंका, श्रीजिनेश्वरदेव प्ररूपित।

सरणं–शरणरूप, शरण लेने योग्य।

बुहाणं–विद्वानोंके।

नमामि–मैं नमस्कार करता हूँ।

निच्चं–नित्य।

तिजग-प्पहाणं–तीनों लोकमें श्रेष्ठ।

कुंदिंदु–गोक्खीर–तुसार–वन्ना–मुचुकुन्द-पुष्प (मोगरा), चन्द्रमा, गायका दूध और हिमसमूह जैसी श्वेत कायावाली। कुंद-मोगरा। इंदु-चन्द्रमा। गोखीर-गायका दूध। तुसार-हिम (बर्फ) वन्ना-वर्णवाली।

सरोज-हत्था–हाथमें कमल धारण करनेवाली।

कमले–कमलपर।

निसन्ना–बैठी हुई।

वाइसरी–वागीश्वरी (सरस्वतीदेवी)।

पुत्थय-वग्ग-हत्था–पुस्तकके समूहको हाथमें धारण करनेवाली।

सुहाय–सुखके लिये, सुख देनेवाली। | **सया**–सदा।
सा–वह। | **पसत्था**–प्रशस्त, सर्व प्रकारसे प्रशस्त।
अम्ह–हमें।

अर्थ-सङ्कलना—

कल्याणके कारणरूप प्रथम–तीर्थङ्कर श्रीऋषभदेवको, श्रीशान्तिनाथको, तदनन्तर मुनियोंमें श्रेष्ठ ऐसे श्रीनेमिनाथको, प्रकाशस्वरूप एवं सर्व सद्गुणोंके स्थानरूप श्रीपार्श्वनाथको तथा श्रीमहावीर स्वामीको मैं भक्तिपूर्वक वन्दन करता हूँ ॥ १ ॥

जिसका पार पाना कठिन है, ऐसे संसार–समुद्रके किनारेको प्राप्त किये हुए, देवसमूहसे भी वन्दनीय, कल्याणरूपी लताके विशाल कन्दके समान ऐसे सभी जिनेन्द्र मुझे शास्त्रका अनन्य साररूप अथवा परम–पवित्र मोक्षसुख प्रदान करे ॥ २ ॥

श्रीजिनेश्वरदेवद्वारा प्ररूपित श्रुतज्ञान जो निर्वाण–प्राप्तिके मार्गमें श्रेष्ठ–वाहनके समान है, जिसने एकान्त–वादियोंके सिद्धान्तोंको असत्य प्रमाणित किया है, जो विद्वानोंके भी शरण लेने योग्य है तथा जो तीनों लोकमें श्रेष्ठ है, उसको मैं नित्य प्रणाम करता हूँ ॥ ३ ॥

मुचुकुन्द (मोगरा) के पुष्प जैसी, पूर्णिमाके चन्द्रमा जैसी, गायके दूध जैसी अथवा हिमके समूह जैसी श्वेत कायावाली, एक हाथमें कमल और दूसरे हाथमें पुस्तकके समूहको धारण करनेवाली, कमलपर बैठी हुई सर्व प्रकारसे प्रशस्त ऐसी वागीश्वरी (सरस्वती देवी), हमें सदा सुख देनेवाली हो ॥ ४ ॥

सूत्र-परिचय—

प्रस्तुत सूत्रमें चार स्तुतियाँ हैं। उनमेंसे पहली स्तुतिमें श्रीऋषभदेव, श्रीशान्तिनाथ, श्रीनेमिनाथ, (अरिष्टनेमि), श्रीपार्श्वनाथ एवं श्रीमहावीर स्वामीको स्तुतिपूर्वक नमस्कार किया गया है। दूसरी स्तुतिमें सर्व तीर्थङ्करोंकी स्तुति की गयी है। तीसरी स्तुतिमें श्रुतज्ञान (द्वादशाङ्गी) की स्तुति की गयी है और चौथी स्तुतिमें वागीश्वरी सरस्वतीकी स्तुति की गयी है। चैत्यवन्दनमें—देववन्दनमें यह स्तुति बोली जाती है।

सामायिक लेनेकी विधि

सामायिकके उपयुक्त वस्तुएँ:—

१ शुद्ध वस्त्र, २ कटासन, ३ मुहपत्ती, ४ साँपडा, ५ धार्मिक पुस्तक, ६ चरवला, ७ घड़ी, ८ नवकारवाली।

(१) प्रथम शुद्ध वस्त्र पहिनना। उसके पश्चात्—

(२) चरवलासे भूमि प्रमार्जन कर शुद्ध करनी।

(३) गुरुका योग न हो तो एक उच्च आसन पर धार्मिक पुस्तक, मुहपत्ती अथवा नवकारवाली स्थापित करनी। तदनन्तर—

(४) मुहपत्ती बाएँ हाथमें रखकर दाहिना हाथ उसके सम्मुख रखना फिर—

(५) नमस्कार—मन्त्र तथा पंचिदिय-सूत्र कहकर उसमें आचार्यकी स्थापना करनी। अर्थात् सारी क्रिया आचार्यके सम्मुख उनकी सम्मति से होती है, ऐसा समझना (उसके बाद—

(६) एक 'खमासमण' देकर 'इरियावही' सूत्र कहना।

(७) इसके बाद 'तस्स उत्तरी' तथा 'अन्नत्थ' सूत्र कहकर 'चंदेसु निम्मलयरा' तक एक लोगस्सका काउस्सग्ग करना। 'लोगस्स' नहीं आता हो तो चार बार 'नमस्कार-मन्त्र' बोलना।

(८) काउस्सग्ग पूर्णकर प्रकटमें 'लोगस्स' बोल्कर एक 'खमासमण' देना। बादमें—

(९) 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! सामायिक मुहपत्ती पडिलेहुं?' 'इच्छं' ऐसा कहकर पचास बोल्से मुहपत्ती पडिलेहनी।

(१०) फिर एक 'खमासमण' देकर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! सामायिक संदिसाहुं?' 'इच्छं' ऐसा कहकर—

(११) एक 'खमासमण' देकर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! सामायिक ठाउं?' 'इच्छं' ऐसा कहना।

(१२) फिर दोनो हाथ मस्तकपर जोड़कर एक बार नमस्कार-मन्त्र' गिनना।

(१३) फिर 'इच्छकारी भगवन्! पसायकरी सामायिक दंडक उच्चरावोजी?' ऐसा कहना। तब गुरु अथवा पूज्य-व्यक्ति 'करेमि भंते!' सूत्र बुल्वाये! यदि गुरु अथवा पूज्य-व्यक्ति न हो तो सामायिक लेनेवालेको स्वयं यह सूत्र बोलना चाहिये।

(१४) फिर एक 'खमासमण' देकर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! बेसणे संदिसाहुं?' 'इच्छं' कहकर एक 'खमासमण' देकर—

(१५) 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्? बेसणे ठाउं?' 'इच्छं' कह कर एक 'खमासमण' देकर—

(१६) 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! सज्झाय संदिसाहुं?' 'इच्छं' कह कर एक 'खमासमण' देकर—

(१७) 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! सज्झाय करूँ?' 'इच्छं' कह कर दोनों हाथ जोड तीन बार 'नमस्कार-मन्त्र' बोल्कर दो घड़ी अर्थात् अड़तालीस मिनिट तक धर्मध्यान करना। शास्त्रका पाठ लेना, उसका अर्थ सीखना, तत्सम्बन्धी प्रश्नोत्तर करना, धर्मकथा श्रवण करनी, अनानुपूर्वी गिननी, माला फिरानी, अरिहन्तका जप करना अथवा धर्मध्यानका अभ्यास करना, ये धर्मध्यान कहलाते हैं।

सामायिक पारनेकी विधि

(१) प्रथम एक 'खमासमण' देकर 'इरियावही सूत्र' कहना।

(२) फिर 'तस्स उत्तरी०' 'अन्नत्थ०' कहकर 'चंदेसु निम्मलयरातक' एक 'लोगस्स' का अथवा चार नमस्कारका 'काउस्सग्ग' करना। बादमें 'काउस्सग्ग' पूर्ण करके—

(३) प्रकट 'लोगस्स' कहकर एक 'खमासमण' देना। तदनन्तर—

(४) 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! मुहपत्ती पडिलेहुं?' 'इच्छं' ऐसा कहकर मुहपत्ती पडिलेहना।

(५) बादमें एक 'खमासमण' देकर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! सामायिक पारुं?' 'यथाशक्ति' ऐसा कहकर—

(६) 'खमासमण' देकर इच्छाकारेण संदिसह भगवन! सामायिक पार्युं ?' 'तहत्ति' ऐसा कहकर--

(७) दाहिना हाथ चरवला अथवा कटासण पर रखकर एक नमस्कार गिनकर 'सामाइय-वय-जुत्तो' सूत्र कहना।

(८) फिर दाहिना हाथ सीधा रख कर, एक नमस्कार गिन स्थापनाचार्य को योग्य स्थानपर स्थापित करना।

(९) एक साथ दो या तीन सामायिक कर सकते हैं, उसमें हर समय सामायिक लेनेकी विधि करना, परन्तु उसमें 'सज्झाय करूँ' के स्थानपर 'सज्झायमें हूँ' ऐसा कहना, और प्रत्येक समय सामायिक पारना नहीं। दो सामायिक करने हों तो दो होने पर और तीन करने हों तो पूरे होने पर, एक बार पारना। यदि एक ही साथ आठ-दस सामायिक करने हों तो भी तीन तीन सामयिक पूरे होने पर पारना चाहिये।

चैत्यवंदनकी विधि

(१) प्रथम तीन 'खमासमण' देना फिर बाँया घुटना खड़ा रखकर उत्तरासन डालकर दोनों हाथ जोड़, 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! चैइयवंदणं करेमि' 'इच्छं' कहकर—

(२) 'जगचिंतामणि' चैत्यवन्दन कहना, अथवा 'सकल-कुशलवल्ली' स्तुति× कहकर कोई भी पूर्वाचार्य-कृत चैत्यवन्दन कहना।

(३) बादमें 'जं किंचि' कहकर 'नमो त्थु णं' सूत्र कहना।

(४) फिर 'जावंति चेइयाइं' सूत्र कहकर एक 'खमासमण' देना।

(५) इसके बाद 'जावंत के वि साहू' तथा 'नमोऽर्हत्' सूत्र कहना।

(६) तदन्तर स्तवन कहना अथवा 'उवसग्गहरं' स्तोत्र कहना।

(७) फिर दोनों हाथ मस्तकपर रख 'जय वीयराय' सूत्र 'आभवमखंडा' तक कहना, फिर दोनों हाथ नीचे उतारकर 'जय वीयराय' सूत्र कहना।

(८) फिर खडे होकर 'अरिहन्त चेइयाणं' सूत्र कह 'अन्नत्थ०' सूत्र कहकर एक नमस्कारका 'काउस्सग्ग' करना।

) बादमें 'काउस्सग्ग' पूर्ण कर 'नमोऽर्हत्' सूत्र कह थुई (स्तुति) कहना। फिर एक 'खमासमण' देना।

× सकलकुशलवल्ली पुष्करावर्तमेघो,
दुरिततिमिरभानुः कल्पवृक्षोपमानः।
भवजलनिधिपोतः सर्वसम्पत्तिहेतुः,
स भवतु सततं वः श्रेयसे शान्तिनाथः ॥१॥

२१ संसारदावानल-थुई

[श्रीमहावीर स्तुति]

मूल—

[उपजाति]

संसार-दावानल-दाह-नीरं,
संमोह-धूली-हरणे-समीरं ॥
माया-रसा-दारण-सार-सीरं,
नमामि वीरं गिरि-सार-धीरं ॥ १ ॥

[वसन्ततिलका]

भावावनाम-सुर-दानव-मानवेन—
चूला-विलोल-कमलावलि-मालितानि ।
संपूरिताभिनत-लोक-समीहितानि,
कामं नमामि जिनराज-पदानि तानि ॥ २ ॥

[मन्दाक्रान्ता]

बोधागाधं सुपद-पदवी-नीर-पूराभिरामं,
जीवाहिंसाविरल-लहरी-संगमागाह-देहं ।
चूला-वेलं गुरुगम-मणी-संकुलं दूरपारं,
सारं वीरागम-जलनिधिं सादरं साधु सेवे ॥ ३ ॥

[स्रग्धरा]

आमूलालोल–धूली–बहुल–परिमलाऽऽलीढ–लोलालिमाला–
झंकाराराव–सारामलदल–कमलागार–भूमी–निवासे ! ।
छाया–संभार–सारे ! वरकमल–करे ! तार–हाराभिरामे !,
वाणी–संदोह–देहे ! भव–विरह–वरं देहि मे देवि ! सारं ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—

संसार–दावानल–दाहनीरं– संसाररूपी दावानलके तापको शान्त करनेमें जलके समान ।
दावानल–जङ्गलमें प्रकट हुई अग्नि । दाह–ताप ।
नीर–जल

संमोह–धूली–हरणे – अज्ञानरूपी धूलको दूर करनेमें ।
संमोह–अज्ञान ।

समीरं–पवन, वायु ।

माया–रसा–दारण–सार–सीरं – मायारूपी पृथ्वीको चीरनेमें तीक्ष्ण हल–समान ।
रसा–पृथ्वी । दारण–चीरनेकी क्रिया । सार–तीक्ष्ण ।
सीर–हल ।

नमामि–मैं नमस्कार करता हूँ, मैं वन्दन करता हूँ ।

वीरं–श्रीमहावीर प्रभुको ।

गिरि–सार–धीरं–मेरु–पर्वत जैसे स्थिर ।

भावावनाम–सुर–दानव–मान–वेन–चूला–विलोल–कम–लावलि–मालितानि – भक्ति-पूर्वक नमन करनेवाले सुरेन्द्र, दानवेन्द्र और नरेन्द्रोंके मुकुटमें स्थित चपल कमलश्रेणिसे पूजित ।
भाव–सद्भाव अथवा भक्ति ।
अवनाम–नमन । इन–स्वामी । चूला–शिर अथवा शिखा । विलोल–चपल ।
आवलि–श्रेणि । मालित–पूजित । यह पद 'जिन–राज–पदानि' का विशेषण है ।

संपूरिताभिनत–लोक––समी–हितानि–जिनके प्रभावसे नमन

करनेवाले लोगोंके मनोवाञ्छित अच्छी तरह पूर्ण हुए हैं।
संपूरित–अच्छी तरह पूर्ण ।
अमिनत–अच्छी तरह नमा हुआ। समीहित–अच्छी तरहसे इच्छित, मनोवाञ्छित।

कामं–बहुत, अत्यन्त ।

नमामि–मैं नमन करता हूँ ।

जिनराज–पदानि–जिनेश्वरके चरणोंको ।

तानि–उन।

बोधागाधं–ज्ञानद्वारा गम्भीर।
बोध–ज्ञान । अगाध–गम्भीर ।

सुपद – पदवी – नीर – पूराभि – रामं–सुन्दर पद–रचनारूप जलके समूहसे मनोहर।
सुपद–अच्छा पद । पदवी–योग्य रचना। पूर–समूह, अभिराम–सुन्दर।

जीवाहिंसाविरल–लहरी–संग–मागाह–देहं–जीवदयाके सिद्धान्तोंकी अविरल लहरियोंके सङ्गमसे जिसका देह अतिगहन है।
अहिंसा–हिंसासे विरति। अविरल–निरन्तर। लहरी–तरङ्ग। संगम–मेल, सङ्गम।

चूला–वेलं–चूलिकारूप ज्वारवाला।
चूला–चूलिका। शास्त्रका परिशिष्ट भाग। वेल–ज्वार।

गुरुगम – मणी – संकुलं – उत्तम आलापकरूपी रत्नोंसे भरपूर ।
गुरु–श्रेष्ठ। गम–एक–समान–पाठवाले आलापक। संकुल–व्याप्त।

दूर–पारं–जिसका सम्पूर्ण पार पाना अति कठिन है।

सारं–उत्तम, श्रेष्ठ।

वीरागम–जलनिधिं–श्रीवीरप्रभुके आगमरूपी समुद्रको। आगम–आप्त–वचनोंका संग्रह।

सादरं–आदरपूर्वक।

साधु–अच्छी तरह।

सेवे–मैं उपासना करता हूँ, मैं सेवा करता हूँ।

आमूलालोल–धूली–बहुल–परिमलाऽऽलीढ–लोलालिमाला–झंकाराराव–सारा–मलदल–कमलागार–भूमी–निवासे !–मूलपर्यन्त कुछ डोलनेसे गिरे हुए मकरन्दकी अत्यन्त सुगन्धमें मग्न बने हुए चपल भ्रमर–वृन्दके झङ्कार शब्दसे युक्त उत्तम निर्मल पँखुडीवाले कमलगृहकी भूमिमें

वास करनेवाली। आमूल–मूल पर्यन्त। आलोल–कुछ डोलता हुआ। धूली–रज अथवा पराग। बहुल–बहुत। परिमल–सुगन्ध। आलीढ–आसक्त, मग्न अथवा चिपकी हुई। लोल–चपल। अलिमाला–भ्रमरसमूह। आगार–भूमी–रहनेकी जगह।

छाया-संभार - सारे ! - कान्ति, पुञ्जसे उत्तम। अत्यन्त तेजस्विताके कारण रमणीय। संभार–समूह–पुञ्ज अथवा जत्था।

वरकमल–करे !–सुन्दर कमलयुक्त हाथवाली।

तार–हाराभिरामे ! – देदीप्यमान हारसे सुशोभित। तार–स्वच्छ। देदीप्यमान, चमकीला–दमकता।

वाणी-संदोह देहे !–वाणीके समूह–रूप देहवाली। संदोह–समूह या जत्था।

भव–विरह–वरं–मोक्षका वरदान।

देहि–दो।

मे–मुझे।

देवि !–हे श्रुतदेवि !, हे देवि !

सारं–श्रेष्ठ।

अर्थ-सङ्कलना—

संसाररूपी दावानलके तापको शान्त करनेमें जलके समान, अज्ञानरूपी धूलको दूर हटानेमें वायुके समान, माया–रूपी पृथ्वीको चीरनेमें तीक्ष्ण हल–समान और मेरु–पर्वत जैसे स्थिर श्रीमहावीर प्रभुको मैं वन्दन करता हूँ ॥ १ ॥

भक्तिपूर्वक नमन करनेवाले सुरेन्द्र, दानवेन्द्र और नरेन्द्रोंके मुकुटमें स्थित चपल कमल–श्रेणि द्वारा जो पूजित हैं, जिनके प्रभावसे नमन करनेवाले लोगोंके मनोवाञ्छित अच्छी तरह पूर्ण हुए हैं, उन प्रभावशाली जिनेश्वरके चरणोंको मैं अत्यन्त श्रद्धा-पूर्वक नमन करता हूँ ॥ २ ॥

यह आगम–समुद्र (अपरिमित) ज्ञानद्वारा गम्भीर है, सुन्दर पद–रचनारूप जलके समूहसे मनोहर है, जीवदयाके सिद्धान्तोंकी अविरल लहरियोंके सङ्गमसे जिसका देह अति गहन है, चूलिकारूप ज्वारवाला हैं, उत्तम आलापकरूपी रत्नोंसे भरपूर है और जिसका सम्पूर्ण पार पाना अतिकठिन है, ऐसे श्रेष्ठ श्रीवीरप्रभुके आगमरूपी समुद्रकी मैं आदरपूर्वक अच्छी तरह सेवा करता हूँ ॥ ३ ॥

मूलपर्यन्त कुछ डोलनेसे गिरे हुए मकरन्दकी अत्यन्त सुगन्धमें मग्न बने हुए चपल भ्रमर वृन्दके झङ्कार शब्दसे युक्त उत्तम निर्मल पँखुड़ीवाले कमल गृहकी भूमिमें वास करनेवाली, अत्यन्त तेजस्विताके कारण रमणीय, सुन्दर कमल युक्त हाथवाली, देदीप्यमान हारसे सुशोभित वाणीके समूहरूप देहवाली हे देवि! मुझे मोक्षका वरदान दो ॥ ४ ॥

सूत्र–परिचय

इस सूत्रमें चार स्तुतियाँ है। उनमें पहली स्तुति महावीर स्वामीकी है, दूसरी स्तुति सर्व जिनोंकी है, तीसरी स्तुति श्रुतसागर अर्थात् द्वादशाङ्गीकी है और चौथी स्तुति श्रुतदेवीकी है।

इनमेंसे पूर्वकी तीन स्तुतियाँ अनेक शास्त्रोंके निर्माता श्रीहरिभद्रसूरिने बनायी हैं और चौथी स्तुतिका केवल पहला चरण ही उन्होंने बनाया है। ऐसा कहा जाता हैं कि उन्होंने १४४४ ग्रन्थ बनानेकी प्रतिज्ञा की थी, उनमें यह रचना अन्तिम थी और उन्होंने इसका पहला चरण बनाया कि उनकी वाणी बन्द हो गयी, अतः शेष तीन चरण उनकी इच्छानुसार श्रीसङ्घने पूर्ण किये हैं और इसीसे ये तीनों चरण आज भी श्रीसङ्घद्वारा उच्चस्वरसे बोले जाते है।

इस स्तुतिको संस्कृत–भाषाकी रचना भी कह सकते हैं और प्राकृत–भाषाकी रचना भी, क्योंकि इसमें व्यवहृत–शब्द दोनों भाषाओंमें समान है।

२२ सुयधम्म-थुई

['पुक्खरवर'-सूत्र]

मूल—

[गाहा]

पुक्खरवर-दीवड्ढे, धायइसंडे य जंबुदीवे य ।
भरहेरवय-विदेहे, धम्माइगरे नमंसामि ॥ १ ॥

तम-तिमिर-पडल-विद्धंसणस्स सुरगण-नरिंद-महियस्स ।
सीमाधरस्स वंदे, पप्फोडिय-मोहजालस्स ॥ २ ॥

[वसन्ततिलका]

जाई-जरा-मरण-सोग-पणासणस्स,
कल्लाण-पुक्खल-विसाल-सुहावहस्स ।
को देव-दाणव-नरिंद-गणच्चियस्स,
धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ॥ ३ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

सिद्धे भो ! पयओ णमो जिणमए नंदी सया संजमे,
देवं-नाग-सुवन्न-किन्नर-गण-स्सब्भूअ-भावच्चिए ।
लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलुक्क-मच्चासुरं,
धम्मो वड्ढउ सासओ विजयओ धम्मुत्तरं वड्ढउ ॥ ४ ॥

सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं, वंदण-वत्तियाए० ॥

शब्दार्थ—

पुक्खरवर-दीवड्ढे-अर्ध पुष्कर-वर द्वीपमें ।

धायइसंडे-धातकीखण्डमें ।

य-और ।

जंबुदीवे-जम्बूद्वीपमें ।

य-तथा ।

भरहेरवय-विदेहे-भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्रोंमें ।

धम्माइगरे-धर्मकी आदि करने-वालोंको ।

नमंसामि-मैं नमस्कार करता हूँ ।

तम-तिमिर-पडल-विद्धंसणस्स-अज्ञानरूपी अन्धकारके समूहका नाश करनेवालोंको ।

सुरगण-नरिंद-महियस्स-देव-समूह तथा राजाओंके समूहसे पूजित ।

सीमाधरस्स-सीमा धारण करने-वालेको, मर्यादायुक्त । **सीमा**-मर्यादा ।

वंदे-मैं वन्दन करता हूँ ।

पप्फोडिय-मोहजालस्स-मोह-जालको बिलकुल तोडनेवालेको ।

जाई-जरा-मरण-सोग-पणा-सणस्स-जन्म, जरा, मृत्यु तथा शोकका नाश करनेवाला । जाई-जन्म । जरा-वृद्धावस्था । मरण-मृत्यु । प्राण-नाश । सोग-मानसिक दुःख, समवेदना ।

कल्लाण-पुक्खल-विसाल-सुहा-वहस्स-पूर्ण कल्याण और बड़े सुखको देनेवाला ।
कल्लाण-आत्माका भला । पुक्खल-पुष्कल, बहुत । विसाल-बड़ा ।

को–कौन ? कौन मनुष्य ?
देव–दाणव–नरिंद–गणच्चिअ-
यस्स–देवेन्द्रों, दानवेन्द्रों और नरेन्द्रोंके समूहमे पूजित।
धम्मस्स–धर्मका, श्रुतधर्मका।
सारमुवलब्भ–सार प्राप्त करके।
करे–करे।
पमायं–प्रमाद।
सिद्धे–सिद्ध।
भो !–हे सुज्ञजनो !, हे मनुष्यों !
पयओ–प्रयत्नपूर्वक, आदरपूर्वक।
णमो–मैं नमस्कार करता हूँ।
जिणमए–जिनमतको, जैनदर्शनको।
नंदी–वृद्धि।
सया–सदा।
संजमे–संयममें, संयम-मार्गकी।
देवं–नाग–सुवन्न–किन्नर–गण–
स्सब्भूअ–भावच्चिए–देव, नागकुमार, सुपर्णकुमार, किन्नर आदिसे सच्चे भावपूर्वक पूजित। देव–वैमानिक देव। नाग–नागकुमार। ये भवनपति देवका एक प्रकार है। सुवन्न–सुवर्णकुमार। यह भी भवनपति देवका एक प्रकार है। किन्नर–यह व्यन्तर जातिके देवका एक प्रकार है। सब्भूअ–भाव–सच्चा भाव, हृदयका सच्चा उल्लास। अच्चिअ–पूजित।
लोगो–लोक, सकल पदार्थ।
जत्थ–जहाँ।
पइट्ठिओ–प्रतिष्ठित है, वर्णित है।
जगमिणं–यह जगत्।
तेलुक्कमच्चासुरं–तीनों लोकके मनुष्य तथा (सुर)–असुरादिकको आधाररूप।
धम्मो–धर्म, जैनधर्म।
वड्ढउ–वृद्धिको प्राप्त हो।
सासओ–शाश्वत।
विजयओ–विजयसे, विजयकी।
धम्मुत्तरं–धर्मोत्तर, चारित्रधर्म।
वड्ढउ–वृद्धिको प्राप्त हो।
सुअस्स-भगवओ–श्रुत–भगवान्‌की (आराधनाके निमित्त)।
करेमि काउस्सग्गं–कायोत्सर्ग करता हूँ।

अर्थ-सङ्कलना—

अर्ध पुष्करवरद्वीप, धातकीखण्ड और जम्बूद्वीप (मिलकर ढाई द्वीप) में आये हुए भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्रोंमें (श्रुत) धर्मकी आदि करनेवालोंको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

अज्ञानरूपी अन्धकारके समूहका नाश करनेवाले, देव-समूह तथा राजाओंके समूहसे पूजित और मोहजालको बिलकुल तोड़नेवाले, मर्यादायुक्त (श्रुतधर्म) को मैं वन्दन करता हूँ ॥ २ ॥

जन्म, जरा, मृत्यु तथा शोकका नाश करनेवाला, पूर्ण कल्याण और बड़े सुखको देनेवाला, देवेन्द्रों, दानवेन्द्रों और नरेन्द्रोंके समूहसे पूजित ऐसे श्रुतधर्मका सार प्राप्त करके कौन मनुष्य धर्मकी आराधना करनेमें प्रमाद करे ? ॥ ३ ॥

हे मनुष्यों ! (नय-निक्षेपसे) सिद्ध ऐसे जैनदर्शनको मैं आदर-पूर्वक नमस्कार करता हूँ, कि जो देव नागकुमार, सुपर्णकुमार, किन्नर, आदिसे सच्चे भावपूर्वक पूजित है, तथा जो संयम-मार्गकी सदा वृद्धि करनेवाला है और जिसमें सकल पदार्थ तथा तीनों लोकके मनुष्य एवं (सुर) असुरादिकका आधाररूप-जगत् वर्णित है। ऐसा (संयम-पोषक ओर ज्ञान-समृद्ध दर्शन द्वारा प्रवृत्त) शाश्वत जेनधर्म वृद्धिको प्राप्त हो ओर विजयकी परंपरासे चारित्र धर्म भी नित्य वृद्धिको प्राप्त हो ॥ ४ ॥

श्रुत-भगवानकी आराधनाके निमित्त मैं कायोत्सर्ग करता हूँ। 'वंदण-वत्तियाए०' आदि।

सूत्र-परिचय—

इस सूत्रमें श्रुतधर्मकी स्तुति की गयी है, इसलिये यह 'सुयधम्म-थुई' कहलाती है। इसका दूसरा नाम 'श्रुतस्तव' है।

९२

श्रुतज्ञान

(द्वादशाङ्गी)

प्रश्न—श्रुतज्ञान किसे कहते है ?

उत्तर—तीर्थङ्कर देवोंके पाससे गणधर भगवन्तोंने सुनकर जो ज्ञान प्राप्त किया हो उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुत अर्थात् सुना हुआ।

प्रश्न—गणधर भगवन्त श्रुतज्ञान प्राप्त करके क्या करते हैं ?

उत्तर—शास्त्रोंकी रचना करते हैं।

प्रश्न—कितने शास्त्रोंकी रचना करते हैं ?

उत्तर—बारह शास्त्रोंकी रचना करते हैं। इस प्रत्येक शास्त्रको अङ्ग कहा जाता है, अर्थात् बारह शास्त्रोंके समूहको द्वादशाङ्गी कहते हैं।

प्रश्न—द्वादशाङ्गीमें कौनसे बारह शास्त्र होते हैं ?

उत्तर—(१) आचार, (२) सुयगड, (३) ठाण, (४) समवाय, (५) विवाह-पण्णत्ति, (६) नायाधम्मकहा, (७) उवासगदसा, (८) अंतगडदसा, (९) अणुत्तरोववाइयदसा, (१०) पण्हावागरण, (११) विवागसुय और (१२) दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद)।

प्रश्न—क्या अभी द्वादशाङ्गी सम्पूर्ण मिलती है ?

उत्तर—नहीं, अभी द्वादशाङ्गीके पहले ग्यारह शास्त्र मिलते हैं किन्तु बारहवाँ दिट्ठिवाय नामका शास्त्र नहीं मिलता। क्योंकि उसका दीर्घकालपूर्व ही विच्छेद हो गया है।

प्रश्न—अभी जो द्वादशाङ्गी मिलती है, वह कौनसे गणधर भगवन्तने रची है ?

उत्तर—सुधर्मास्वामीने, परंतु इसकी तीन वाचनाएँ हुई हैं।

प्रश्न—वाचना किसे कहते हैं ?

उत्तर—आचार्य तथा गीतार्थ सम्मिलित होकर जो शास्त्रका संग्रह करते हैं उसे वाचना कहते हैं।

प्रश्न—पहली वाचना कब हुई ?

उत्तर—पहली वाचना श्रीमहावीरस्वामीके छठे पाट पर आये हुए श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहुस्वामीके समयमें हुई। उस समय बारह वर्षका दुष्काल पड़ा था, इसलिये साधुगण पाटलीपुत्र और उसके आसपासका प्रदेश छोड़कर दूर दूर चले गये थे और उनमेंसे बहुतसे अनशन करके कालधर्मको प्राप्त हो गये थे। जो साधु शेष रहे थे, वे शनैः शनैः पाटलीपुत्र वापस आये, किन्तु दुष्कालमें शास्त्रोंका स्वाध्याय उचित रूपमें नहीं होनेसे कुछ सूत्र सर्वथा विस्मृत हो गये, जिससे पाटलीपुत्रमें श्रमणसङ्घ एकत्रित हुआ और सूत्रोंकी वाचना हुई थी।

प्रश्न—दूसरी वाचना कब हुई?

उत्तर—विक्रममें द्वितीय शतकमें पुनः बारह वर्षका दुष्काल पड़ा, जिससे श्रुत पुनः अव्यवस्थित हो गया, इसलिये वि. सं. १५३ में आर्य स्कन्दिलाचार्यने मथुरामें श्रमणसङ्घको एकत्रित करके दूसरी वाचना की।

प्रश्न—तीसरी वाचना कब हुई?

उत्तर—तीसरी वाचना सम्भवतः इसी समयमें सौराष्ट्रके वल्लभीपुर नगरमें स्थविर नागार्जुनकी प्रधानतामें हुई। इतना स्मरण रहे कि प्राचीन कालमें जैनसाधु सूत्रोंको गुरुमुखसे धारण करते थे और उनकी वारम्वार आवृत्ति करके स्मरण रखते थे, परंतु इसके लिये कोई पुस्तक-पत्रादिका उपयोग नहीं करते थे।

प्रश्न—तो जैन-सूत्र कब लिखे गये?

उत्तर—वीरनिर्वाणके पश्चात् ९८० वें वर्षमें देवर्षिगणि क्षमाश्रमणने वल्लभीपुरमें श्रमणसङ्घको एकत्रित करके जैन-सूत्र लिखा लेनेका निर्णय किया, तबसे जैन-सूत्र लिखाये गये और उनकी प्रतियाँ अलग अलग भण्डारोंमें सुरक्षित रहने लगीं। इन भण्डारोंके प्रतापसे ही वर्तमान द्वादशाङ्गी हम तक पहूँची है।

२३ सिद्धाणं-थुई

['सिद्धाणं बुद्धाणं'-सूत्र]

[गाहा]

सिद्धाणं बुद्धाणं, पार-गयाणं परंपर-गयाणं ।
लोअग्गमुवगयाणं, नमो सया सव्व-सिद्धाणं ॥ १ ॥

जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमंसन्ति ।
तं देवदेव-महिअं, सिरसा वंदे महावीरं ॥ २ ॥

इक्को वि नमुक्कारो, जिणवर-वसहस्स वद्धमाणस्स ।
संसार-सागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा ॥ ३ ॥

उज्जिंतसेल-सिहरे, दिक्खा नाणं निसीहिआ जस्स ।
तं धम्म-चक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमंसामि ॥ ४ ॥

चत्तारि अट्ठ दस दो, अ वंदिआ जिणवरा चउव्वीसं ।
परमट्ठ-निट्ठिअट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—

सिद्धाणं-सिद्धोंके लिये, सिद्धिपद प्राप्त करनेवालोंके लिये।
बुद्धाणं-सर्वज्ञोंके लिये।
पार-गयाणं-पारङ्गतोंके लिये, संसारका पार प्राप्त करनेवालोंके लिये।
परंपर-गयाणं-परम्परासे सिद्ध होनेवालोंके लिये।
लोअग्गमुवगयाणं-लोकके अग्रभागपर गये हुओंके लिये।
नमो-नमस्कार हो।
सया-सदा।
सव्व-सिद्धाणं-सर्व सिद्ध-भगवन्तोंको।
जो-जो।
देवाण-देवोंके।
वि-भी।
देवो-देव।
जं-जिनको।
देवा-देव।
पंजली-अञ्जली-पूर्वक।
नमंसंति-नमन करते हैं।
तं-उनको।
देवदेव-महिअं-इन्द्रोंद्वारा पूजितको।
सिरसा-मस्तक झुकाकर।
वंदे-मैं वन्दन करता हूँ।
महावीरं-श्रीमहावीरस्वामीको।
इक्को-एक।
वि-भी।
नमुक्कारो-नमस्कार।
जिणवर-वसहस्स-जिनेश्वरोंमें उत्तम।
वद्धमाणस्स-श्रीमहावीरप्रभुको।
संसार-सागराओ-संसाररूपसागरसे।
तारेइ-तिरा देता है।
नरं-पुरुषको।
व-अथवा।
नारिं-नारीको।
वा-अथवा।
उज्जिंतसेल-सिहरे-गिरनार पर्वतके शिखरपर।
दिक्खा-दीक्षा।
नाणं-केवलज्ञान।
निसीहिआ-निर्वाण।
जस्स-जिनका।
तं-उन।
धम्मचक्कवट्टिं-धर्मचक्रवर्ती।

अरिट्ठनेमिं–श्रीअरिष्टनेमि भगवान्के लिये।
नमंसामि–मैं नमस्कार करता हूँ।
चत्तारि–चार।
अट्ठ–आठ।
दस–दस।
दो–दो।
अ–और।
वंदिआ–वन्दन किये हुए।
जिणवरा–जिनेश्वर।
चउव्वीसं–चौबीसों।
परमट्ठ–निट्ठिअट्ठा–परमार्थमे कृत-कृत्य, मोक्ष–सुखको प्राप्त किये हुए।
सिद्धा–सिद्ध।
सिद्धिं–सिद्धि।
मम–मुझे।
दिसंतु–प्रदान करे।

अर्थ–सङ्कलना—

सिद्धिपदको प्राप्त किये हुए, सर्वज्ञ, संसारका पार प्राप्त किये हुए, परम्परासे सिद्ध बने हुए, और लोकके अग्रभागपर गये हुए, ऐसे सर्व सिद्ध भगवन्तोंके लिये सदा नमस्कार हो ॥ १ ॥

जो देवोंके भी देव हैं, जिनको देव अञ्जलि–पूर्वक नमन करते हैं, तथा जो इन्द्रोंसे भी पूजित हैं, उन श्रीमहावीर–स्वामीको मैं मस्तक झुकाकर वन्दन करता हूँ ॥ २ ॥

जिनेश्वरोंमें उत्तम ऐसे श्रीमहावीर प्रभुको किया हुआ एक भी नमस्कार पुरुष अथवा नारीको संसाररूप सागरसे तिरा देता है ॥३॥

जिनके दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण गिरनार–पर्वतके शिखर-पर हुए हैं, उन धर्मचक्रवर्ती श्रीअरिष्टनेमि भगवान्के लिये मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

चार, आठ दस और दो ऐसे क्रमसे वन्दन किये हुए चौबीसों जिनेश्वर तथा जो मोक्ष-सुखको प्राप्त किये हुए हैं, ऐसे सिद्ध मुझे सिद्धि प्रदान करें ॥ ५ ॥

सूत्र-परिचय—

इस सूत्रमें सिद्ध भगवन्तोंकी स्तुति की गयी है, इसलिये यह 'सिद्ध-थुई' कहलाती है।

सिद्ध भगवन्त

प्रश्न—सिद्ध भगवन्त किसे कहते हैं?

उत्तर—जो आत्माएँ कर्मके सम्पूर्ण नाशद्वारा अपना शुद्ध स्वरूप प्रकट करें वे सिद्ध भगवन्त कहलाते हैं।

प्रश्न—सिद्ध भगवन्त कैसे होते हैं?

उत्तर—जो सिद्ध हों, बुद्ध हों, पारङ्गत हों, परम्परागत हों और लोकके अग्रभागपर विराजित हों।

प्रश्न—सिद्ध अर्थात्?

उत्तर—कृतकृत्य। जिनको अब कुछ करना शेष नहीं रहा, वे कृतकृत्य कहलाते हैं।

प्रश्न—बुद्ध अर्थात्?

उत्तर—सर्वज्ञ और सर्वदर्शी। जो केवलज्ञानसे सर्व वस्तुओंको जानते हैं वे सर्वज्ञ और जो केवलदर्शनसे सर्व वस्तुओंको देख सकते हैं, वे सर्वदर्शी।

प्रश्न—पारङ्गत अर्थात्?

उत्तर—संसारका पार प्राप्त किये हुए। जिनको नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य या देवगतिमेंसे एक भी गतिमें जाना नहीं पड़े वे संसारका पार प्राप्त किये हुए-पारङ्गत कहलाते हैं।

प्रश्न—परम्परागत अर्थात्?

उत्तर—परम्परासे मोक्ष प्राप्त किये हुए। जिनकी अनादिकालसे मोक्षमें जानेकी परम्परा चालू है, अर्थात् प्रत्येक सिद्ध भगवन्त परम्परासे मोक्षमें जाते हैं।

प्रश्न—सिद्ध भगवन्त लोकके अग्रभागपर किसलिये विराजते हैं?

उत्तर—आत्माकी मूल गति सीधी रेखासे ऊपर जानेकी है, इसलिये सर्व कर्मोंका नाश होनेपर वह सीधी रेखासे ऊपर गति करती है और जहाँ लोकका अग्रभाग आये, वहाँ जाकर रुकती है। लोकके अग्रभागको सिद्धशिला कहते हैं, क्योंकि सिद्ध बने हुए सभी जीव वहाँ स्थिर होते हैं।

प्रश्न—लोक किसे कहते हैं?

उत्तर—विश्व, ब्रह्माण्ड अथवा जगत्को लोक कहलाते हैं। वह अनन्त आकाशके एक भागमें आया है। चेतन तथा जड़ पदार्थोंकी गति और स्थिरता उसमें ही होती है। जिस आकाशमें लोक न हो, उसको अलोक कहते हैं। अलोकमें कोई आत्मा अथवा जड़ पदार्थ नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा करनेके लिये जिन तत्त्वोंकी सहायता चाहिये, वे वहाँ नहीं है।

प्रश्न—सिद्ध भगवन्त कितने होंगे?

उत्तर—अनन्त।

प्रश्न—वे सब आत्माएँ एक ही स्थान पर कैसे रहती होंगी?

उत्तर—जैसे अनेक दीपकोंका प्रकाश एक कमरेमें साथ रह सकता है, वैसे ही अनन्त आत्माएँ सिद्धशिलामें एक साथ रह सकतीं हैं।

२४ वेयावच्चगर-सुत्तं

['वेयावच्चगराणं'-सूत्र]

मूल—

वेयावच्चगराणं संतिगराणं सम्मद्दिट्ठि-समाहिगराणं करेमि काउस्सग्गं। [अन्नत्थ० इत्यादि]

शब्दार्थ—

वेयावच्चगराणं-वैयावृत्त्य करनेवालोंके निमित्तसे।

संतिगराणं-उपद्रवों अथवा उपसर्गोंकी शान्ति करनेवालोंके निमित्तसे।

सम्मद्दिट्ठि-समाहिगराणं-सम्यग्-दृष्टियोंके लिये समाधि उत्पन्न करनेवालोंके निमित्तसे।

करेमि काउस्सग्गं-मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

[**अन्नत्थ० इत्यादि**-अन्नत्थ० आदि पद-पूर्वक।]

अर्थ-सङ्कलना—

वैयावृत्त्य करनेवालोंके निमित्तसे, उपद्रवों अथवा उपसर्गोंकी शान्ति करनेवालोंके निमित्तसे और सम्यग्-दृष्टियोंके लिये समाधि उत्पन्न करनेवालोंके निमित्तसे मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

सूत्र-परिचय—

यह सूत्र वैयावृत्त्य करनेवाले देवोंका कायोत्सर्ग करनेके लिये बोला जाता है।

---

२५ भगवदादिवन्दनसूत्रम्

['भगवान्हं'–सूत्र]

मूल—

भगवान्हं, आचार्यहं, उपाध्यायहं, सर्वसाधुहं ॥

भगवान्हं–भगवन्तोंको । **आचार्यहं**–आचार्योंको । **उपाध्यायहं**–उपाध्यायोंको । **सर्वसाधुहं**–सर्व साधुओंको ।

अर्थ-सङ्कलना—

भगवन्तोंको वन्दन हो, आचार्योंको वन्दन हो, उपाध्यायोंको वन्दन हो, सर्व साधुओंको वन्दन हो ।

सूत्र-परिचय—

भगवान्, आचार्य, उपाध्याय और साधुओंको थोमवन्दन करनेके लिये इस सूत्रका उपयोग होता है। इस सूत्रके चारों पदोंमें अपभ्रंश–भाषाके नियमानुसार षष्ठीके बहुवचनका हं प्रत्यय लगा हुआ है और वन्दन हो अर्थ अध्याहारसे लिया गया है ।

२६ पडिक्कमण-ठवणा-सुत्तं

['सव्वस्स वि'-सूत्र]

मूल—

इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! देवसिअ-पडिक्कमणे ठाउं?* इच्छं।

सव्वस्स वि देवसिअ दुच्चिंतिअ दुब्भासिअ दुच्चिट्ठिअ मिच्छा मि दुक्कडं॥

शब्दार्थ—

इच्छाकारेण–स्वेच्छासे।
संदिसह–आज्ञा प्रदान करो।
भगवन्!–हे भगवन्!
देवसिअ-पडिक्कमणे–दैवसिक प्रतिक्रमणमें।
ठाउं–स्थिर होनेकी।
इच्छं–मैं भगवन्तके इस वचनको चाहता हूँ।
सव्वस्स–सबका।
वि–भी।
देवसिअ–दिवस सम्बधी, दिनके मध्यमें।
दुच्चिंतिअ–दुष्ट-चिन्तन सम्बन्धी।
दुब्भासिअ–दुष्ट-भाषण सम्बन्धी।
दुच्चिट्ठिअ–दुष्ट-चेष्टा सम्बन्धी।
मिच्छा मि दुक्कडं–मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

अर्थ-सङ्कलना—

हे भगवन्! स्वेच्छासे मुझे दैवसिक प्रतिक्रमणमें स्थिर होनेकी आज्ञा प्रदान करो। मैं भगवन्तके इस वचनको चाहता हूँ।

× यहाँ गुरु आज्ञा देते हैं कि 'ठाएह'—'प्रतिक्रमणमें स्थिर बनो।' तब शिष्य कहे कि—

दिनके मध्यमें दुष्ट–चिन्तन–सम्बन्धी, दुष्ट–भाषण–सम्बन्धी, दुष्ट–चेष्टा–सम्बन्धी मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

सूत्र-परिचय—

यह सूत्र प्रतिक्रमणका बीज माना जाता है, क्योंकि इसमें मन, वचन और कायासे किये हुए पापोंका मिथ्या दुष्कृतद्वारा प्रतिक्रमण किया जाता है।

---

२७ अइयारालोअण–सुत्तं

[अतिचार–आलोचना–सूत्र]

मूल—

इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! देवसिअं आलोउं?
[गुरु–'आलोएह']
इच्छं।
आलोएमि—
जो मे देवसिओ अइयारो कओ,
काइओ वाइओ माणसिओ,
उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो,
दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ,
अणायारो अणिच्छिअव्वो असावग–पाउग्गो,

नाणे दंसणे चरित्ताचरित्ते सुए सामाइए ॥
तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं,
पंचण्हमणुव्वयाणं, तिण्हं गुणव्वयाणं, चउण्हं सिक्खावयाणं, बारसविहस्स सावगधम्मस्स जं खंडिअं, जं विराहिअं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥

शब्दार्थ—

इच्छाकारेण-इच्छा-पूर्वक ।
संदिसह-आज्ञा प्रदान करो ।
भगवन्!-हे भगवन्!
देवसिअं-दिवस सम्बन्धी ।
आलोउं-आलोचना करूँ?
[**आलोएह**-आलोचना करो ।]
इच्छं-चाहता हूँ । (इसी प्रकार ।)
आलोएमि-आलोचना करता हूँ ।
जो-जो ।
मे-मेरे द्वारा ।
देवसिओ-दिवस सम्बन्धी ।
अइयारो-अतिचार ।
कओ-किया हो-हुआ हो ।
काइओ-कायिक, कायाद्वारा हुआ हो ।
वाइओ-वाचिक, वाणीद्वारा हुआ हो ।
माणसिओ-मानसिक, मनद्वारा हुआ हो ।
उस्सुत्तो-उत्सूत्र, सूत्रके विरुद्ध भाषण करनेसे हुआ हो ।
उम्मग्गो-उन्मार्ग, मार्गसे विरुद्ध वर्तन करनेसे हुआ हो ।
अकप्पो-अकल्प, कल्पसे विरुद्ध वर्तन करनेसे हुआ हो ।
अकरणिज्जो-नहीं करने योग्य कर्तव्य करनेसे हुआ हो ।
दुज्झाओ-दुर्ध्यानसे हुआ हो ।
दुव्विचिंतिओ-दुष्ट-चिन्तनसे हुआ हो ।
अणायारो-अनाचारसे हुआ हो ।
अणिच्छिअव्वो-अनिच्छित वर्तनसे हुआ हो ।
असावग-पाउग्गो-श्रावकके लिये सर्वथा अनुचित हो, ऐसे व्यवहारसे हुआ हो ।
नाणे-ज्ञानाराधनके विषयमें ।
दंसणे-दर्शनाराधनके विषयमें ।

चरित्ताचरित्ते–देशविरति चारित्राराधनके विषयमें।
सुए–श्रुतज्ञान ग्रहणके विषयमें।
सामाइए–सामायिकके विषयमें।
तिण्हं गुत्तीणं–तीन गुप्तियोंका।
चउण्हं कसायाणं–चार कषायोंसे।
पंचण्हं अणुव्वयाणं–पाँच अणुव्रतोंका।
तिण्हं गुणव्वयाणं–तीन गुणव्रतोंका।
चउण्हं सिक्खावयाणं–चार शिक्षाव्रतोंका।
बारसविहस्स–बारह प्रकारके।
सावगधम्मस्स–श्रावकधर्मका।
जं–जो।
खंडिअं–खण्डित हुआ हो।
विराहिअं–विराधित हुआ हो।
तस्स–तत्सम्बन्धी।
मिच्छा मि दुक्कडं–मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

अर्थ-सङ्कलना—

इच्छा-पूर्वक आज्ञा प्रदान करो, हे भगवन्! मैं दिवस सम्बन्धी आलोचना करूँ?

[गुरु कहें–आलोचना करो।]

[शिष्य]–इसी प्रकार चाहता हूँ।

दिवस-सम्बन्धी मुझसे जो अतिचार हुआ हो उसकी आलोचना करता हूँ। (यह अतिचार–)

कायाद्वारा हुआ हो, वाणीद्वारा हुआ हो या मनद्वारा हुआ हो।

सूत्रसे विरुद्ध, मार्गसे विरुद्ध, कल्पसे विरुद्ध या कर्तव्यसे विरुद्ध (चलनेके कारण हुआ हो।)

दुष्ट-ध्यानसे हुआ हो अथवा दुष्ट-चिन्तनसे हुआ हो।

अनाचारसे हुआ हो, नहीं चाहने योग्य वर्तनसे हुआ हो या श्रावकके लिये सर्वथा अनुचित ऐसे व्यवहारसे हुआ हो।

ज्ञानाराधनके विषयमें, दर्शनाराधनके विषयमें, देशविरति चारित्राराधनके विषयमें, श्रुतज्ञान-ग्रहणके विषयमें अथवा सामायिकके विषयमें हुआ हो॥

तीन गुप्तियोंका, पाँच अणुव्रतोंका, चार शिक्षाव्रतोंका, बारह प्रकारके श्रावक धर्मका चार कषायोंसे जो खण्डित हुआ हो, विराधित हुआ हो, तत्सम्बन्धी मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

सूत्र-परिचय—

दिनके मध्यमें हुए अतिचारोंको गुरुके समक्ष प्रकट करनेके लिये इस सूत्रकी योजना की गयी है।

२८ अइयार-वियारण-गाहा

[अतिचार विचारनेके लिये गाथाएँ]

मूल—

[गाहा]

नाणम्मि दंसणम्मि अ चरणम्मि तवम्मि तह य वीरियम्मि।
आयरणं आयारो, इअ एसो पंचहा भणिओ ॥ १ ॥

शब्दार्थ—

नाणम्मि-ज्ञानके विषयमें ।
दंसणम्मि-दर्शनके विषयमें ।
अ-और ।
चरणम्मि-चारित्रके विषयमें ।
तवम्मि-तपके विषयमे ।
तह य-और ।
वीरयम्मि-वीर्यके विषयमें ।
आयरणं-आचरण करना ।
आयारो-आचार ।
इह-यह ।
पंचहा-पाँच प्रकारका ।
भणिओ-कहलाता है ।

अर्थ-सङ्कलना—

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्यके विषयमें जो आचरण करना वह आचार कहलाता है । यह आचार पाँच प्रकारका है:— (१) ज्ञानाचार, (२) दर्शनाचार, (३) चारित्राचार, (४) तपाचार और (५) वीर्याचार ॥ १ ॥

मूल—

काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तह अनिण्हवणे ।
वंजण-अत्थ-तदुभये, अट्ठविहो नाणमायारो ॥ २ ॥

शब्दार्थ—

काले—कालके विषयमें ।
विणए—विनयके विषयमें ।
बहुमाणे—बहुमानके विषयमें ।
उवहाणे—उपधानके विषयमें ।
तह—तथा ।
अनिण्हवणे—अनिह्नवताके विषयमें । अनिण्हवण—गुरु, ज्ञान और सिद्धान्त आदिके विषयमें अपलाप करना ।
वंजण-अत्थ-तदुभये—व्यञ्जन, अर्थ और तदुभयके विषयमें ।
अट्ठविहो—आठ प्रकारका ।
नाणमायारो—ज्ञानाचार ।

अर्थ-सङ्कलना—

ज्ञानाचार आठ प्रकारका है:—(१) काल, (२) विनय, (३) बहुमान, (४) उपधान, (५) अनिह्नवता, (६) व्यञ्जन, (७) अर्थ और (८) तदुभय ॥ २ ॥

मूल—

निस्संकिअ निक्कंखिअ, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी अ ।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—

निस्संकिअ—किसी प्रकारकी शङ्का न करना, निःशङ्कता ।
निक्कंखिअ—किसी प्रकारकी इच्छा न करना, निष्कांक्षता ।
निव्वितिगिच्छा—मतिविभ्रमसे रहित अवस्था, निर्विचिकित्सा ।
अमूढदिट्ठी—जिस दृष्टिमें मूढता न हो, अमूढदृष्टिता ।
अ—और ।
उववूह-थिरीकरणे—उपबृंहणा और स्थिरीकरण ।
वच्छल्ल-पभावणे—वात्सल्य और प्रभावना ।
अट्ठ—आठ ।

अर्थ-सङ्कलना—

दर्शनाचारके आठ प्रकार हैं:—(१) निःशङ्कता, (२) निष्काङ्क्षता, (३) निर्विचिकित्सा, (४) अमूढदृष्टिता, (५) उपबृंहणा, (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना ॥ ३ ॥

मूल—

पणिहाण-जोग-जुत्तो, पंचहिं समिईहिं तीहिं गुत्तीहिं ।
एस चरित्तायारो, अट्ठविहो होइ नायव्वो ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—

पणिहाण-जोग-जुत्तो-चित्तकी समाधि-पूर्वक ।
पंचहिं समिईहिं-पाँच समितियोंका ।
तीहिं गुत्तीहिं-तीन गुप्तियोंका (पालन) ।
एस-यह, इस तरह ।
चरित्तायारो-चारित्राचार ।
अट्ठविहो-आठ प्रकारका ।
होइ-होता है ।
नायव्वो-जानने योग्य ।

अर्थ-सङ्कलना—

चित्तकी समाधि-पूर्वक पाँच समिति और तीन गुप्तियोंका पालन, इस तरह चारित्राचार आठ प्रकारका जानने योग्य होता है ॥ ४ ॥

मूल—

बारसविहम्मि वि तवे, सब्भिंतरे-बाहिरे कुसल-दिट्ठे ।
अगिलाइ अणाजीवी, नायव्वो सो तवायारो ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—

बारसविहम्मि–बारह प्रकारका।
वि–भी।
तवे–तपके विषयमें, तप।
सब्भितर-बाहिरे–अभ्यंतर सहित बाह्य, बाह्य और अभ्यन्तर।
कुसल-दिट्ठे–जिनेश्वरोंद्वारा कथित।
अगिलाइ अणाजीवी–ग्लानि-रहित और आजीविकाके हेतु विना।
नायव्वो–जानना।
सो–वह।
तवायारो–तपाचार।

अर्थ-सङ्कलना—

जिनेश्वरोंद्वारा कथित बाह्य और अभ्यन्तर तप बारह प्रकारका है। वह जब ग्लानि-रहित और आजीविकाके हेतु विना होता हो, तब उसे तपाचार जानना ॥ ५ ॥

मूल—

अणसणमूणोअरिआ, वित्ती-संखेवणं रस-च्चाओ।
काय-किलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—

अणसणमूणोअरिआ–अनशन और ऊनोदरिका-ऊनोदरता।
वित्ती-संखेवणं–वृत्ति संक्षेप।
रस-च्चाओ–रस-त्याग।
काय-किलेसो–कष्ट-सहन करना-तितिक्षा, काय-क्लेश।
संलीणया–शरिरादिकका सङ्गोपन, संलीनता।
य–और।
बज्झो–बाह्य।
तवो–तप।
होइ–होता है, है।

अर्थ-सङ्कलना—

(१) अनशन, (२) ऊनोदरता, (३) वृत्ति-संक्षेप, (४) रस-त्याग-(५) काय-क्लेश और (६) संलीनता ये बाह्य तप हैं ॥ ६ ॥

मूल—

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं उस्सग्गो वि अ, अब्भिंतरओ तवो होई ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—

पायच्छित्तं-प्रायश्चित्त।	उस्सग्गो-त्याग।
विणओ-विनय।	वि अ-और फिर।
वेयावच्चं-वैयावृत्य (शुश्रूषा)।	अब्भिंतरओ-अभ्यन्तर।
तहेव-वैसे ही।	तवो-तप।
सज्झाओ-स्वाध्याय।	होइ-होता है, हैं।
झाणं-ध्यान।	

अर्थ-सङ्कलना—

(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान और (६) उत्सर्ग, (त्याग) ये अभ्यंतर तप हैं ॥ ७ ॥

मूल—

अणिगूहिअ-बल-वीरिओ, परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो।
जुंजइ अ जहाथामं, नायव्वो वीरिआयारो ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—

अणिगूहिअ-बल-वीरिओ-बाह्य-और अभ्यन्तर सामर्थ्यको न छिपाते हुए।	आउत्तो-उसके पालनमें।
परक्कमइ-पराक्रम करता है।	जुंजइ-जोडता है।
जो-जो।	अ-और।
जहुत्तं-उपर्युक्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपके छत्तीस आचारोंके विषयमें।	जहाथामं - यथाशक्ति अपनी आत्माको।
	नायव्वो-जानना।
	वीरिआयारो-वीर्याचार।

अर्थ-सङ्कलना—

उपर्युक्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपके छत्तीस आचारोंके विषयमें जो बाह्य और अभ्यन्तर सामर्थ्यको न छिपाकर पराक्रम करता है और उसके पालनमें अपनी आत्माको यथाशक्ति जोड़ता है, ऐसे आचारवान्का आचार वीर्याचार जानना ॥ ८ ॥

सूत्र-परिचय—

कायोत्सर्गमें अतिचार विचारनेके लिये इन गाथाओंका उपयोग होता है। इनमें प्रत्येक आचारके जो प्रकार दिखाये हैं, उनमें लगे हुए अति-चारोंका चिन्तन किया जाता है।

पञ्चाचार

प्रश्न—आचार किसे कहते हैं ?

उत्तर—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्यसम्बन्धी जो आचरण, वह आचार कहलाता है।

प्रश्न—ये आचार कितने प्रकारके होते हैं ?

उत्तर—पाँच प्रकारके। ज्ञानसम्बन्धी ज्ञानाचार, दर्शनसम्बन्धी दर्शनाचार, चारित्रसम्बन्धी चारित्राचार, तपसम्बन्धी तपाचार और वीर्यसम्बन्धी वीर्याचार।

प्रश्न—ज्ञानाचार कितने प्रकारका है ?

उत्तर—आठ प्रकारका। वह इस तरहः—

(१) श्रुत समयानुसार पढ़ना।

(२) श्रुत विनयसे पढ़ना।

(३) श्रुत बहुमानपूर्वक पढ़ना।

(४) श्रुत उपधानपूर्वक पढ़ना।

(५) गुरु, ज्ञान अथवा सिद्धान्तका अपलाप नहीं करना।

(६) उच्चारण शुद्ध करना।

(७) अर्थ शुद्ध करना।

(८) उच्चारण और अर्थ दोनों शुद्ध करने।

प्रश्न—दर्शनाचार कितने प्रकारका है?

उत्तर—आठ प्रकारका। वह इस तरहः—

(१) जिनवचनमें शङ्का नहीं करना।

(२) जिनवचनके अतिरिक्त अन्यकी कांक्षा नहीं करना।

(३) जिनवचनमें मतिभ्रम नहीं करना।

(४) मूढदृष्टिवाला नहीं होना। अर्थात् सत्यासत्य-(विवेक) परीक्षण सीखना चाहिए।

(५) धर्माचरणवालोंकी पुष्टि करना।

(६) धर्ममार्गसे विचलित होनेवालेको स्थिर करना।

(७) साधर्मिकोंके प्रति वात्सल्यभाव रखना।

(८) धर्मकी प्रभावना करनी।

प्रश्न—चारित्राचार कितने प्रकारका है?

उत्तर—आठ प्रकारका। वह इस तरहः—

(१) पाँच समितियोंका पालन करना।

(२) तीन गुप्तियोंका पालन करना।

प्रश्न—तपाचार कितने प्रकारका है?

उत्तर—बारह प्रकारका। वह इस तरहः—

छह प्रकारका बाह्यतप—

(१) उपवास करना।

(२) ऊणोदरी व्रतका पालन करना, भूख की अपेक्षा कुछ कम करना।

(३) वृत्ति-संक्षेप करना, खानेके द्रव्य कम करना।

(४) रसका त्याग, दूध, दही, घृत, तेल, गुड़ और पक्वान्न यथाशक्ति कम करना।

(५) संयमके पालनमें यथाशक्य कायाका क्लेश सहन करना।

(६) शरीरादिका सङ्गोपन करना; अर्थात् अङ्गोपाङ्ग सङ्कोच-पूर्वक रखना।

छ प्रकारका अभ्यन्तर तप—

(१) दोषोंकी शुद्धिके लिये शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त लेना।

(२) ज्ञानादि मोक्षके साधनोंकी यथाविधि आराधना करना।

(३) सङ्घ, श्रमण आदिका वैयावृत्त्य करना।

(४) शास्त्रका स्वाध्याय करना।

(५) शुभ ध्यान धरना।

(६) कषाय आदिका त्याग करना।

प्रश्न—वीर्याचार कितने प्रकारका है?

उत्तर—तीन प्रकारका। मन, वचन और कायाकी शक्ति बिना छिपाये ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपके आचारोंका पालन करनेके लिये पुरुषार्थ करना।

प्रश्न—पञ्चाचारसे क्या होता है?

उत्तर—पञ्चाचारसे धर्मकी आराधना सुन्दर रीतिसे होती है।

२९ सुगुरु-वंदण-सुत्तं

[सुगुरु-वन्दन-सूत्र]

मूल—

इच्छामि खमासमणो! वंदिउं जावणिज्जाए, निसीहिआए,
अणुजाणह मे मिउग्गहं,
निसीहि अहोकायं, काय-संफासं खमणिज्जो भे!
किलामो,
अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे! दिवसो वइक्कंतो?
जत्ता भे?
जवणिज्जं च भे?
खामेमि खमासमणो! देवसिअं वइक्कमं,
आवस्सिआए पडिक्कमामि।
खमासमणाणं देवसिआए आसायणाए,
तित्तीसन्नयराए,
जं किंचि मिच्छाए,
मण-दुक्कडाए वय-दुक्कडाए काय-दुक्कडाए,
कोहाए माणाए मायाए लोभाए,

सव्वकालियाए सव्वमिच्छोवयाराए,

सव्वधम्माइक्कमणाए,

आसायणाए,

जो मे अइयारो कओ, तस्स खमासमणो !

पडिक्कमामि निंदामि, गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।।

शब्दार्थ—

इच्छामि—चाहता हूँ ।
खमासमणो !—हे क्षमाश्रमण गुरुदेव !
वंदिउं—वन्दन करनेको ।
जावणिज्जाए—सुखशाता (शान्ति) पूछते हुए ।
निसीहिआए—अविनय आशातनाकी क्षमा माँगते हुए ।
अणुजाणह—आज्ञा प्रदान करो ।
मे—मुझे ।
मिउग्गहं—अवग्रहमें आनेके लिये, मर्यादित भूमिमें प्रवेश करनेकी । मित-मर्यादित । अवग्रह-गुरुके आसपासकी शरीर जितनी (साढे-तीन हाथ) जगह ।
निसीहि—अशुभ व्यापारोंके त्याग-पूर्वक ।
अहोकायं—चरणोंको ।
काय-संफासं—मेरी कायाद्वारा संस्पर्श ।
खमणिज्जो—सहन करने योग्य है, क्षमा करें ।
मे !—आपके द्वारा, आप ।
किलामो—खेद ।
अप्पकिलंताणं—अल्प ग्लानिवाले आपका ।
बहुसुभेण—अत्यन्त सुखपूर्वक ।
मे !—आपका ।
दिवसो—दिवस ।
वइक्कंतो ?—बीता ?, व्यतीत हुआ ?
जत्ता—यात्रा, संयम-यात्रा ।
मे ?—आपकी ।
जवणिज्जं—इन्द्रिय और मन उप-शमसे युक्त, इन्द्रिय कषाय उप-घातसे रहित ।
च—और ।

मे ?–आपका।

खामेमि–खमाता हूँ, क्षमा माँगता हूँ।

खमासमणो !–हे क्षमाश्रमण।

देवसिअं–दिवस सम्बन्धी, दिनमें किये हुए।

वइक्कमं–व्यतिक्रमकी, अपराधकी।

आवस्सिआए–आवश्यक-क्रियाके लिये।

पडिक्कमामि–प्रतिक्रमण करता हूँ, अवग्रहसे बाहर जाता हूँ।

खमासमणाणं–क्षमाश्रमणकी।

देवसिआए–दिवस-सम्बन्धी।

आसायणाए–आशातना।

तित्तीसन्नयराए–तैंतीसमेंसे।

जं किंचि–जो कोई।

मिच्छाए–मिथ्याभावद्वारा।

मण-दुक्कडाए–मनके दुष्कृतद्वारा, मनकी दुष्ट प्रवृत्तिसे हुई।

वयदुक्कडाए–वचनके दुष्कृतद्वारा, वचनकी दुष्ट प्रवृत्तिसे हुई।

काय-दुक्कडाए–कायाके दुष्कृत-द्वारा, कायाकी दुष्ट प्रवृत्तिसे हुई।

कोहाए–क्रोधसे हुई।

माणाए–मानसे हुई।

मायाए–मायासे हुई।

लोभाए–लोभसे हुई, लोभकी वृत्तिसे हुई।

सव्वकालियाए–सर्वकाल सम्बन्धी।

सव्वमिच्छोवयाराए–सर्व प्रकारके मिथ्या उपचारोंसे।

सव्वधम्माइक्कमणाए–सर्व प्रकारके धर्मका अतिक्रमण होनेके कारण हुई।

जो–जो।

मे–मुझसे।

अइयारो–अतिचार।

कओ–किया हो, हुआ हो।

तस्स–तत् सम्बन्धी।

खमासमणो !–हे क्षमाश्रमण !

पडिक्कमामि–प्रतिक्रमण करता हूँ, वापस लौटता हूँ।

निंदामि–निन्दा करता हूँ।

गरिहामि–गुरुके समक्ष निन्दा करता हूँ।

अप्पाणं–आत्माको, अशुभ योगमें प्रवृत्त अपनी आत्माका।

वोसिरामि–छोड़ देता हूँ, त्याग करता हूँ।

अर्थ-सङ्कलना—

[शिष्य कहता है—] हे क्षमाश्रमण गुरुदेव ! आपको मैं सुख-शाता पूछते हुए तथा अविनय आशातनाकी क्षमा माँगते हुए वन्दन करना चाहता हूँ। ×

मुझे आपकी मर्यादित भूमिके समीप आनेकी आज्ञा प्रदान करो। +

सर्व अशुभ व्यापारोंके त्याग-पूर्वक आपके चरणोंको अपनी कायासे स्पर्श करता हूँ। उससे जो कोई खेद-कष्ट हुआ हो उसकी मुझे क्षमा प्रदान करें। आपका दिन अल्प-खेदसे सुखपूर्वक व्यतीत हुआ है ? *

आपकी संयम-यात्रा चल रही है ? ÷

आपकी इन्द्रियाँ और कषाय उपघात रहित वर्तन करते हैं ? =

हे क्षमाश्रमण ! दिनमें किये हुए अपराधोंकी क्षमा माँगता हूँ। °

× यहाँ गुरु कहें—'छंदेणं' यदि ऐसी ही इच्छा हो तो ऐसा करो, तब शिष्य कहे—

+ यहाँ गुरु कहें—'अणुजाणामि'—आज्ञा देता हूँ। तब शिष्य कहे—

* यहाँ गुरु कहें—'तह त्ति' ऐसा ही है। तब शिष्य कहे—

÷ यहाँ गुरु कहें—'तुब्भंपि वट्टए ?' तुम्हारी भी चल रही है ?

= यहाँ गुरु कहें—'एवं' ऐसा ही है। तब शिष्य कहे—

° यहाँ गुरु कहें—'अहमवि खामेमि तुब्भं'—मैं भी तुमसे क्षमा चाहता हूँ। फिर शिष्य कहे—

आवश्यक-क्रियाके लिये अब मैं अवग्रहके बाहर जाता हूँ। दिनमें आप क्षमाश्रमणकी तैंतीसमेंसे कोई भी आशातना की हो तो उससे मैं वापस लौटता हूँ। और जो कोई अतिचार मिथ्याभावके कारण हुई आशातनासे हुआ हो, मन, वचन और कायाकी दुष्ट-प्रवृत्तिसे हुई आशातनासे हुआ हो, क्रोध, मान, माया और लोभकी वृत्तिसे हुई आशातनासे हुआ हो अथवा सर्व काल-सम्बन्धी, सर्व प्रकारके मिथ्या उपचारोंसे, सर्व प्रकारके धर्मके अतिक्रमणके कारण हुई आशातनासे हुआ हो, उनसे हे क्षमाश्रमण! मैं वापस लौटता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, उसकी गर्हा करता हूँ और इस अशुभ-योगमें प्रवृत्त अपनी आत्माका त्याग करता हूँ।

सूत्र-परिचय—

गुरुको बारह आवर्तपूर्वक वन्दन करनेके लिये यह सूत्र बोला जाता है। इसमें 'इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए' इन पदोंसे वन्दनकी इच्छाका निवेदन किया जाता है, अतः इसको 'इच्छा-निवेदन-स्थान' कहते हैं। 'अणुजाणह' से 'किलामो' पर्यन्तके पदोंसे अनुज्ञा माँगी जाती है, अतः इसको 'अनुज्ञापन-स्थान' कहते हैं। 'अप्प-किलंताणं' से 'बहुकतो' तकके पदोंसे 'अव्याबाध-स्थिति' पूछी जाती है, अतः इसको 'अव्याबाध-पृच्छा-स्थान' कहते हैं। 'जत्ता भे?' इन दो पदोंसे संयम-यात्राकी पृच्छा की जाती है, अतः इसको 'संयम यात्रा-पृच्छा-स्थान' कहते हैं। 'जवणिज्जं च भे?' इन तीन पदोंसे यापनाकी पृच्छा की जाती है, अतः इसको 'यापना-पृच्छा-स्थान' कहते हैं। और 'खामेमि खमासमणो' से 'वोसिरामि' तकके पदोंसे अपराधकी क्षमा माँगी जाती है, अतः इसको 'अपराध-क्षमापन-स्थान' कहते हैं।

इस सूत्रमें 'अहोकायं काय-' 'जत्ता मे ?' और 'जवणिज्जं च मे ?' ये शब्द विशिष्ट रीतिसे बोले जाते हैं, वे इस प्रकार—

अ—रजोहरणको स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

हो—ललाटको स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

का—रजोहरणको स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

यं—ललाटको स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

का—रजोहरणको स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

य—ललाटको स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

ज—अनुदात्त-स्वरसे बोला जाता है और उसी समय गुरु-चरणकी स्थापनाको दोनों हाथोंसे स्पर्श किया जाता है।

त्ता—स्वरित-स्वरसे बोला जाता है और उस समय चरण स्थापनासे उठाये हुए हाथ रजोहरण और ललाटके बीचमें चौड़े करनेमें आते हैं।

मे—उदात्त-स्वरसे बोला जाता है और उस समय दृष्टि गुरुके समक्ष रखकर दोनों हाथ ललाटपर लगाये जाते हैं।

ज—अनुदात्त-स्वरसे, चरणस्थापनाको स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

व—स्वरित-स्वरसे, मध्यमें आये हुए हाथ चौड़े करके बोला जाता है।

णि—उदात्त-स्वरसे, ललाटको स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

ज्जं—अनुदात्त-स्वरसे, चरण-स्थापनाको स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

च—स्वरित-स्वरसे, मध्यमें आते हुए हाथ चौड़े करके बोला जाता है।

मे—उदात्त-स्वरसे, ललाटको स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

---

३० जीवहिंसा-आलोयणा

['सात लाख'–सूत्र]

मूल—

सात लाख पृथ्वीकाय,
सात लाख अप्काय,
सात लाख तेउकाय,
सात लाख वाउकाय,
दस लाख प्रत्येक–वनस्पतिकाय,
चौदह लाख साधारण–वनस्पतिकाय,
दो लाख दो इन्द्रिय,
दो लाख तीन इन्द्रिय,
दो लाख चार इन्द्रिय,
चार लाख देवता,
चार लाख नारकी,
चार लाख तिर्यञ्च–पञ्चेन्द्रिय,
चौदह लाख मनुष्य,

इस प्रकार चौरासी लाख जीवयोनियों में से किसी जीवका हनन किया हो, हनन कराया हो, हनन करते हुएका अनुमोदन किया हो, वह सब मन, वचन और कायासे मिच्छा मि दुक्कडं ॥

शब्दार्थ और अर्थ-सङ्कलना—

स्पष्ट है।

सूत्र-परिचय

यह सूत्र चौरासी लाख जीवयोनियोंके अन्तर्गत किसी भी जीवकी हिंसा की हो, उसका मिथ्या दुष्कृत लेनेके लिए बोला जाता है।

---

३१ अट्ठारस पाव-ठाणाणि

[अठारह पापस्थानक]

मूल—

पहला प्राणातिपात,
दूसरा मृषावाद,
तीसरा अदत्तादान,
चौथा मैथुन,
पाँचवाँ परिग्रह,
छठा क्रोध,
सातवाँ मान,
आठवीं माया,
नोवाँ लोभ,
दसवाँ राग,

ग्यारहवाँ द्वेष,
बारहवाँ कलह,
तेरहवाँ अभ्याख्यान,
चौदहवाँ पैशुन्य,
पन्द्रहवाँ रति–अरति,
सोलहवाँ पर–परिवाद,
सत्रहवाँ माया–मृषावाद,
अठारहवाँ मिथ्यात्व–शल्य ।

इन अठारह पापस्थानकोंमेंसे मेरे जीवने जो कोई पाप सेवन किया हो, सेवन कराया हो, सेवन करते हुएके प्रति अनुमोदन किया हो; उन सबका मन, बचन और कायासे मिच्छा मि दुक्कडं ॥

शब्दार्थ—

प्राणातिपात–हिंसा ।
मृषावाद–झूँठ बोलना ।
अदत्तादान–चोरी ।
मैथुन–अब्रह्म ।
परिग्रह–धन-दौलतपर मोह ।
क्रोध–गुस्सा, कोप ।
मान–गर्व, मद ।
माया–छल, कपट ।
लोभ–तृष्णा ।
राग–प्रेम ।
द्वेष–परस्पर ईर्ष्या करना ।
कलह–क्लेश ।
अभ्याख्यान–दोषारोपण, व्यर्थ ही किसी पर झूँठा दोष आरोपण करना ।

पैशुन्य-चुगली, पीठ पीछे सच्चे-झूँठे दोष प्रकाशित करना।

रति-अरति-हर्ष और उद्वेग।

पर-परिवाद-दूसरेको बुरा कहना और अपनी प्रशंसा करना।

माया-मृषावाद-प्रवञ्चना, ठगाई।

मिथ्यात्व-शल्य-मिथ्यात्व दोष।

अर्थ-सङ्कलना—

स्पष्ट है।

सूत्र-परिचय—

यह सूत्र अठारह पापस्थानकोंमेंसे किसी भी पापस्थानकका सेवन किया हो, उसका मिथ्या दुष्कृत लेनेके लिये बोला जाता है।

३२ सावग-पडिक्कमण-सुत्तं

['वंदित्तु'-सूत्र]

[गाहा]

मूल—

वंदित्तु सव्वसिद्धे, धम्मायरिए अ सव्वसाहू अ ।
इच्छामि पडिकमिउं, सावग-धम्माइआरस्स ॥ १ ॥

शब्दार्थ—

वंदित्तु-वन्दन करके ।
सव्वसिद्धे-सर्व सिद्ध भगवन्तोंको ।
धम्मायरिए-धर्माचार्योंको ।
अ-और ।
सव्वसाहू-सब साधुओंको ।
अ-और ।
इच्छामि-चाहता हूँ ।
पडिक्कमिउं-प्रतिक्रमण करनेको ।
सावग-धम्माइआरस्स- श्रावक-धर्ममें लगे हुए अतिचारोंका ।

अर्थ-सङ्कलना—

सर्व सिद्ध भगवन्तों, (सर्व) धर्माचार्यों और सर्व साधुओंको वन्दन करके श्रावक-धर्ममें लगे हुए अतिचारोंका प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ ॥ १ ॥

मूल—

जो मे वयाइआरो, नाणे तह दंसणे चरित्ते अ।
सुहुमो व बायरो वा, तं निंदे तं च गरिहामि ॥ २ ॥

शब्दार्थ—

जो–जो।
मे–मुझे।
वयाइआरो–व्रतोंके विषयमे अतिचार लगा हो।
नाणे–ज्ञानकी आराधनाके विषयमें।
तह–उसी प्रकार।
दंसणे–दर्शनकी आराधनाके विषयमें।
चरित्ते–चारित्रकी आराधनाके विषयमें।
अ–और।
सुहुमो–शीघ्र ध्यानमें न आये ऐसा, छोटा।
व–अथवा।
बायरो–शीघ्र ध्यानमें आये ऐसा, बड़ा।
वा–अथवा।
तं–उसकी।
निंदे–आत्मसाक्षीसे बुरा मानता हूँ, निन्दा करता हूँ।
तं–उसकी।
च–और।
गरिहामि–गुरुकी साक्षीमें प्रकट करता हूँ, गर्हा करता हूँ।

अर्थ-सङ्कलना—

मुझे व्रतोंके विषयमें तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी आराधनाके विषयमें छोटा अथवा बड़ा, जो अतिचार लगा हो, उसकी मैं निन्दा करता हूँ, उसकी मैं गर्हा करता हूँ ॥ २ ॥

मूल—

दुविहे परिग्गहम्मी, सावज्जे बहुविहे अ आरंभे।
कारावणे अ करणे, पडिकमे देसिअं सव्वं ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—

दुविहे—दो प्रकारके, बाह्य और अभ्यन्तर ये दो प्रकारके।
परिग्गहम्मी—परिग्रहके विषयमें, परिग्रहके कारण। जो वस्तु ममत्वसे ग्रहण की जाय वह परिग्रह। धन, धान्य आदि परिग्रह कहलाते हैं।
सावज्जे—पापमय।
बहुविहे—अनेक प्रकारके।
अ—और।
आरंभे—आरम्भ।
कारावणे—दूसरेसे करवाते हुए।
अ—और।
करणे—स्वयं करते हुए।
पडिक्कमे—प्रतिक्रमण करता हूँ, निवृत्त होता हूँ।
देसिअं—दिवस-सम्बन्धी।
सव्वं—छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों उन सबसे।

अर्थ-सङ्कलना—

बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहके कारण, पापमय अनेक प्रकारके आरम्भ दूसरेसे करवाते हुए और स्वयं करते हुए, दिवस-सम्बन्धी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ॥३॥

मूल—

जं बद्धमिंदिएहिं, चउहिं कसाएहिं अप्पसत्थेहिं।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—

जं बद्धं—जो बँधा हो।
इंदिएहिं—इन्द्रियोंसे।
चउहिं कसाएहिं—चार कषायोंसे।
अप्पसत्थेहिं—अप्रशस्त।
रागेण—रागसे। रागका लक्षण प्रीति अथवा आसक्ति है।
व—अथवा।
दोसेण—द्वेषसे। द्वेषका लक्षण अप्रीति है।
व—अथवा।
तं निंदे तं च गरिहामि—पूर्ववत्।

अर्थ-सङ्कलना—

अप्रशस्त इन्द्रियों, चार कषायों, (तीन योगों) तथा राग और द्वेषसे, जो (अशुभ-कर्म) बँधा हो, उसकी मैं निन्दा करता हूँ, उसकी मैं गर्हा करता हूँ ॥ ४ ॥*

मूल—

आगमणे निग्गमणे, ठाणे चंकमणे अणाभोगे ।
अभिओगे अ निओगे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—

आगमणे–आनेमें ।
निग्गमणे–जानेमे ।
ठाणे–एक स्थानपर खड़े रहनेमें ।
चंकमणे–बारंबार चलनेमें अथवा इधर उधर फिरनेमें ।
अणाभोगे–अनुपयोगमें, उपयोग न होनेसे ।
अभिओगे–अभिग्रहसे, दबाव होनेसे ।
अ–और ।
निओगे–नौकरी-आदिके कारण ।
पडिक्कमे देसिअं सव्वं–पूर्ववत्०

अर्थ-सङ्कलना—

उपयोग नहीं रहनेसे, दबाव होनेसे अथवा नौकरी-आदिके कारण आनेमें, जानेमें, एक स्थान पर खड़े रहनेमें और बारंबार चलनेमें अथवा इधर उधर फिरनेमें दिवस-सम्बन्धी जो (अशुभ-कर्म) बँधे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ॥ ५ ॥

* इन्द्रिय, कषाय, योग तथा राग-द्वेषके प्रशस्त और अप्रशस्त विभागोंके लिये देखो, प्रबोधटीका भाग २, पृ. १७७। यहाँ तीन योग उपलक्षणसे लिये जाते हैं ।

मूल—

संका कंख विगिच्छा, पसंस तह संथवो कुलिंगीसु ।
सम्मत्तस्स इआरे, पडिकमे देसिअं सव्वं ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—

संका–वीतरागके वचनोंमें शङ्का ।
कंख–अन्यमतकी इच्छा, कांक्षा ।
विगिच्छा–धर्मके फलमें सन्देह होना अथवा साधु–साध्वीके मलिन वस्त्र देखकर दुर्भाव (दुगंछा) होना, विचिकित्सा ।
पसंस–प्रशंसा, कुलिङ्गि–प्रशंसा ।
तह–तथा ।
संथवो–संस्तव ।
कुलिंगीसु–कुलिङ्गियोंके बारेमें । पृथक् पृथक् वेश पहनकर धर्मके बहाने जो लोगोंको ठगते हैं वे कुलिङ्गी कहलाते हैं ।
सम्मत्तस्स इआरे–सम्यक्त्वके अतिचारोंमें ।
पडिकमे देसिअं सव्वं–पूर्ववत्०

अर्थ-सङ्कलना—

सम्यक्त्वके पालनमें शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, कुलिङ्गि-प्रशंसा तथा कुलिङ्गि-संस्तवद्वारा दिवस-सम्बन्धी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ॥ ६ ॥

मूल—

छक्काय-समारंभे, पयणे अ पयावणे अ जे दोसा ।
अत्तट्ठा य परट्ठा, उभयट्ठा चेव तं निंदे ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—

छक्काय-समारंभे–छकायके जीवोंकी विराधना हो ऐसी प्रवृत्ति करते हुए ।
पयणे–राँधते हुए ।
अ–और ।
पयावणे–रँधाते हुए ।

अ–तथा।
जे–जो।
दोसा–दोष।
अत्तट्ठा–स्वयंके लिये, अपने लिये।
य–और।
परट्ठा–दूसरोंके लिये।
उभयट्ठा–दोनोंके लिये।
चेव–और साथही।
तं निंदे–उनकी मैं निन्दा करता हूँ।

अर्थ-सङ्कलना—

छकायके जीवोंकी विराधना हो ऐसी प्रवृत्ति करते हुए तथा अपने लिये, दूसरोंके लिये और साथही दोनोंके लिये राँधते हुए, रँधाते हुए जो दोष हुए हों, उनकी मैं निन्दा करता हूँ ॥ ७ ॥

मूल—

पंचण्हमणुव्वयाणं, गुणव्वयाणं च तिण्हमइआरे।
सिक्खाणं च चउण्हं, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—

पंचण्हमणुव्वयाणं–पाँच अणुव्रतोंमें।

स्थूल – प्राणातिपात – विरमणव्रत आदि पाँच व्रत अणुव्रत कहलाते हैं।

गुणव्वयाणं–गुणव्रतोंमें।

दिक्-परिमाण-व्रत आदि तीन व्रत गुणव्रत कहलाते हैं।

च–और।
तिण्हं–तीन।
अइआरे–अतिचारोंको।
सिक्खाणं–शिक्षाव्रतोंमें।

सामायिक-व्रत आदि चार व्रत शिक्षाव्रत कहलाते हैं।

च–और।
चउण्हं–चार।
पडिक्कमे देसिअं सव्वं–पूर्ववत्०

अर्थ-सङ्कलना—

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंमें दिवस-सम्बन्धी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ॥ ८ ॥

मूल—

पढमे अणुव्वयम्मि, थूलग-पाणाइवाय-विरईओ।
आयरियमप्पसत्थे, इत्थ पमाय-प्पसंगेणं ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—

पढमे अणुव्वयम्मी-प्रथम अणुव्रतके विषयमें।

थूलग-पाणाइवाय-विरईओ-स्थूल प्राणातिपातकी विरतिसे दूर हो ऐसा,

स्थूल-प्राणातिपात-विरमण-व्रतमे अतिचार लगे ऐसा।

थूलग-स्थूल, कुछ अंशोंमें पालन करना।

पाणाइवाय-प्राणका वियोग करना, हिंसा। विरइ-विरमणव्रत, दूर रहना।

आयरिय-जो कोई आचरण किया हो।

अप्पसत्थे-अप्रशस्त-भावका उदय होनेसे।

इत्थ-यहाँ।

पमाय-प्पसंगेणं-प्रमादके प्रसङ्गसे

अर्थ-सङ्कलना—

अब प्रथम अणुव्रतके विषयमें (लगे हुए अतिचारोंका प्रतिक्रमण किया जाता है।) यहाँ प्रमादके प्रसङ्गसे अथवा (क्रोधादि) अप्रशस्त भावका उदय होनेसे स्थूल-प्राणतिपात-विरमण-व्रतमें अतिचार लगे ऐसा जो कोई आचरण किया हो, उससे मैं निवृत्त होता हूँ ॥ ९ ॥

मूल—

वह-बंध-छविच्छेए, अइभारे भत्त-पाण-वुच्छेए।
पढम-वयस्स इआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥ १० ॥

शब्दार्थ—

वह-बंध-छविच्छेए-मारते (फटकारते), बाँधते और अङ्गोपाङ्ग छेदते।

वह—पशु अथवा दास-दासी आदिको निर्दयता-पूर्वक मारना। बंध-पशु अथवा दास-दासी आदिको रस्सी या साँकलसे बाँधना। छविच्छेअ-अङ्गोपाङ्ग अथवा चमड़ी छेदना।

अइभारे-बहुत बोझा भरनेसे।

भत्त-पाण-वुच्छेए-भोजन और पानीका विच्छेद करनेसे, भूखा-प्यासा रखनेसे।

भत्त-भोजन। पाण-पानी।

वुच्छेअ-विच्छेद करना, नहीं देना।

पढम-वयस्स-पहले व्रतके विषयमें।

इआरे-अतिचारोंको।

यहाँ मूल शब्द अइआरे है, पर पूर्वके अकारका लोप होनेसे इआरे ऐसा पाठ बोला जाता है।

पडिक्कमे देसिअं सव्वं-पूर्ववत्।

अर्थ-सङ्कलना—

प्राणियोंको मारनेसे, (फटकारनेसे), रस्सी आदिसे बाँधनेसे, अङ्गोपाङ्ग छेदनेसे, बहुत बोझा भरनेसे और भूखा-प्यासा रखनेसे, पहले व्रतके विषयमें, दिवस-सम्बन्धी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ॥ १० ॥

मूल—

बीए अणुव्वयम्मि, परिथूलग-अलिय-वयणविरईओ।
आयरियमप्पसत्थे, इत्थ पमाय-प्पसंगेणं ॥ ११ ॥

बीए अणुव्वयम्मि–दूसरे अणु-व्रतके विषयमें।

परिथूलग – अलिय – वयणविरईओ–स्थूल मृषावाद–विरमण-व्रतमें अतिचार लगे ऐसा।

परिथूलग–स्थूल। **अलिय–वयण**–झूँठे वचन, मृषावाद। **विरति**–विरमण–व्रत।

आयरियमप्पसत्थे इत्थ पमायप्पसंगेणं–पूर्ववत्०

अर्थ-सङ्कलना—

अब दूसरे अणुव्रतके विषयमें (लगे हुए अतिचारोंका प्रतिक्रमण किया जाता है।) यहाँ प्रमादके प्रसङ्गसे अथवा क्रोधादि अप्रशस्त भावका उदय होनेसे स्थूल-मृषावाद-विरमण-व्रतमें अतिचार लगे ऐसा जो कोई आचरण किया हो, उससे मैं निवृत्त होता हूँ ॥ ११ ॥

मूल—

सहसा–रहस्स–दारे, मोसुवएसे अ कूडलेहे अ।
बीयवयस्स इआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—

सहसा–रहस्स–दारे–सहसाभ्याख्यान करनेसे, रहोऽभ्याख्यान करनेसे, स्वदारमन्त्र–भेद करनेसे।

सहसाऽभ्याख्यान–बिना विचारे किसीको दूषित कहना। रहोऽभ्याख्यान–कोई मनुष्य रहस् अर्थात् एकान्तमें गुप्त बातें करते हों, उन्हें देखकर मनमाना अनुमान लगा लेना। स्वदारमन्त्रभेद–अपनी स्त्रीकी गुप्त बात बाहर प्रकाशित करना।

मोसुवएसे–मिथ्या उपदेश अथवा झूँठी सलाह देनेसे।

अ–और।

कूडलेहे–झूँठी बातें लिखनेसे।

अ–और।

बीयवयस्स इआरे–दूसरे व्रतके विषयमें।

पडिक्कमे देसिअं सव्वं–पूर्ववत्०

अर्थ-सङ्कलना—

बिना विचारे किसीको दूषित कहनेसे (किसी पर दोषारोपण करनेसे), कोई मनुष्य गुप्त बातें करते हों, उन्हें देखकर मनमान अनुमान लगानेसे, अपनी स्त्रीकी गुप्त बात बाहर प्रकाशित करनेसे, मिथ्या उपदेश अथवा झूँठी सलाह देनेसे तथा झूँठी बात लिखनेसे, दूसरे व्रतके विषयमें दिवस-सम्बन्धी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ॥ १२ ॥

मूल—

तइए अणुव्वयम्मि, थूलग-परदव्व-हरण-विरईओ।
आयरियमप्पसत्थे, इत्थ पमाय-प्पसंगेणं ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—

तइये अणुव्वयम्मी–तीसरे अणुव्रतके विषयमें।

थूलग-परदव्व-हरण-विरईओ–स्थूल-परद्रव्य-हरणकी विरतिसे दूर हो ऐसा, स्थूल-अदत्तादान-विरमण-व्रतमें अतिचार लगे ऐसा।

थूलग–परदव्व–हरण–विरई–दूसरेके धनको हरण करनेका स्थूल रूपमें त्याग करना।

आयरियमप्पसत्थे इत्थ पमाय-प्पसंगेणं–पूर्ववत्०

अर्थ-सङ्कलना—

अब तीसरे अणुव्रतके विषयमें (लगे हुए अतिचारोंका प्रतिक्रमण किया जाता है।) यहाँ प्रमादके प्रसङ्गसे अथवा क्रोधादि अप्रशस्त भावका उदय होनेसे स्थूल–अदत्तादान–विरमण–व्रतमें

अतिचार लगे ऐसा जो कोई आचरण किया हो, उससे मैं निवृत्त होता हूँ ॥ १३ ॥

मूल—

तेनाहड-प्पओगे, तप्पडिरूवे विरुद्ध-गमणे अ ।
कूडतुल-कूडमाणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—

तेनाहड-प्पओगे-स्तेनाहृत तथा स्तेन-प्रयोगमें, चोरद्वारा लायी हुई वस्तु रख लेनेसे और चोरी करनेका उत्तेजन मिले ऐसे वचन बोलनेसे ।

तेन-चोर, आहड-लायी गयी । स्तेनप्रयोग-चोरी करनेका उत्ते-जन मिले, ऐसे वचन बोलना ।

तप्पडिरूवे-नकली माल बेचनेसे मालमें किसी तरहकी मिलावट करनेसे ।

विरुद्ध-गमणे-राज्यके नियमोंसे विरुद्ध गमन करनेसे ।

कूडतुल-कूडमाणे-झूँठा तौल तौलनेसे, झूँठा मापनेसे, झूँठा तौल तथ झूँठे मापका उपयोग करनेसे ।

पडिक्कमे देसिअं सव्वं-पूर्ववत्०

अर्थ-सङ्कलना—

चोरद्वारा लायी हुई वस्तु रख लेनेसे, चोरी करनेका उत्तेजन मिले, ऐसा वचन-प्रयोग करनेसे, मालमें मिलावट करनेसे, राज्यके नियमोंसे विरुद्ध गमन करनेसे और झूँठा तौल तथा झूँठे मापका उपयोग करनेसे, दिवस-सम्बन्धी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ॥ १४ ॥

मूल—

चउत्थे अणुवयम्मि, निच्चं परदार-गमण-विरईओ।
आयरियमप्पसत्थे, इत्थ पमाय-प्पसंगेणं ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—

चउत्थे अणुवयम्मि-चौथे अणुव्रतके विषयमें।
निच्चं-नित्य, निरन्तर।
परदार-गमण-विरईओ-परदार-गमन-विरतिमें अतिचार लगे ऐसा।
आयरियमप्पसत्थे इत्थ पमाय-प्पसंगेणं-पूर्ववत्०

अर्थ-सङ्कलना—

अब चौथे अणुव्रतके विषयमें (लगे हुए अतिचारोंका प्रतिक्रमण किया जाता है।) यहाँ प्रमादके प्रसङ्गसे अथवा क्रोधादि अप्रशस्त-भावका उदय होनेसे निरन्तरकी परदार-गमन-विरतिमें अतिचार लगे, ऐसा जो कोई आचरण किया हो, उससे मैं निवृत्त होता हूँ ॥ १५ ॥

मूल—

अपरिग्गहिए-इत्तर-अणंग-विवाह-तिव्व-अणुरागे।
चउत्थवयस्स इआरे, पडिकमे देसिअं सव्वं ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—

अपरिग्गहिआ-इत्तर-अणंग-विवाह-तिव्व-अणुरागे-अपरिगृहीता-गमन, इत्वरगृहीता-गमन, अनङ्ग-क्रीडा, परविवाह करण और तीव्र-अनुरागके कारण।

अपरिगृहीता-गमन-जो स्त्री परिगृहीता अर्थात् विवाहित न हो वह अपरिगृहीता, कन्या और विधवा स्त्रियाँ अपरिगृहीता कहलाती हैं, उनके साथ गमन करना-सङ्ग करना; वह अपरिगृहीता-गमन।

इत्वरगृहीता-अल्प समयके लिये ग्रहण करनेमें आयी हुई स्त्री अर्थात् रखात (पासवान) अथवा वेश्या।

अनङ्ग-क्रीडा-कामवासना जागृत करनेवाली क्रिया।

परविवाह-करण-अपने लड़के-लड़की अथवा आश्रितोंके अतिरिक्त दूसरोंके विवाह आदि करना-कराना।

तीव्र-अनुराग-विषय-भोग करनेकी अत्यन्त आसक्ति।

चउत्थवयस्स इआरे-चौथे व्रतके अतिचारोंको।

पडिक्कमे देसिअं सव्वं-पूर्ववत्०

अर्थ-सङ्कलना—

अपरिगृहीता-गमन, इत्वरगृहीता-गमन, अनङ्ग-क्रीडा, परविवाह-करण और तीव्र-अनुरागके कारण चौथे व्रतके विषयमें दिवस-सम्बन्धी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ॥ १६ ॥

मूल—

इत्तो अणुव्वये पंचमम्मि आयरिअमप्पसत्थम्मि ।
परिमाण-परिच्छेए, इत्थ पमाय-प्पसंगेणं ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—

इत्तो-यहाँसे, अब।

अणुव्वये पंचमम्मि-पाँचवें अणुव्रतके विषयमें।

आयरिअमप्पसत्थम्मि-अप्रशस्त-भावका उदय होनेसे जो कोई आचरण किया हो।

परिमाण-परिच्छेए-परिमाण परिच्छेदके विषयमें, परिग्रह-परिमाण-व्रतमें अतिचार लगे ऐसा।

इत्थ पमाय-प्पसंगेणं-पूर्ववत्०

अर्थ-सङ्कलना—

अब पाँचवें अणुव्रतके विषयमें (लगे हुए अतिचारोंका प्रतिक्रमण किया जाता है।) यहाँ प्रमादके प्रसङ्गसे अथवा क्रोधादि अप्रशस्त भावका उदय होनेसे परिग्रह-परिमाण-व्रतमें अतिचार लगे ऐसा जो कोई आचरण किया हो, उससे मैं निवृत्त होता हूँ ॥१७॥

मूल—

धण-धन्न खित्त-वत्थू-रुप्प-सुवन्ने अ कुविअ-परिमाणे ।
दुपए चउप्पयम्मि य, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—

धण-धन्न-खित्त-वत्थू-रुप्प-सुवन्ने-धन-धान्य-प्रमाणातिक्रममें, क्षेत्र-वास्तु प्रमाणातिक्रममें, रौप्य-सुवर्ण-प्रमाणातिक्रममें।

धण-गणित, धरिम, मेय और परिच्छेद्य वस्तुओंका सङ्ग्रह धन कहलाता है। गणिम अर्थात् गिनकर लेने योग्य वस्तुएँ, जैसे-रोकड़े रुपये (नोट), सुपारी, श्रीफल आदि। धरिम अर्थात् तौलकर ली जाय ऐसी वस्तुएँ, जैसे कि गुड़, शक्कर आदि। मेय अर्थात् मापकर लेने योग्य वस्तुएँ, जैसे कि घी, तेल, कपड़ा आदि। परिच्छेद्य अर्थात् घिसकर अथवा काटकर ली जायँ ऐसी वस्तुएँ, जैसे कि सुवर्ण, रत्न आदि।

धन्न-जव, गेहूँ, चाँवल आदि चौबीस प्रकारके धान्य। खित्त-खेत, वाडी, बाग-बगीचा आदि। वत्थू-मकान, हाट, गोदाम आदि। रुप्प-चाँदी। सुवन्न-सोना। अतिक्रम-उल्लङ्घन।

अ-और।

कुविअ-परिमाणे-कुप्य-प्रमाणातिक्रमके विषयमें।

सोना-चाँदीके अतिरिक्त वस्तुएँ कुप्य कहलाती हैं। भृङ्गार-सज्जा

आदिका समावेश भी इसी विभागमें हो जाता है।

दुपय-चउप्पयम्मि--द्विपद--चतुष्पदके विषयमें, द्विपद--चतुष्पद--प्रमाणातिक्रमके विषयमें।

दुपअ--दो पैरवाले, दास--दासी और पक्षी। चउप्पय--चार पैरवाले, हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि।

य--और।

पडिक्कमे देसिअं सव्वं--पूर्ववत्०

अर्थ-सङ्कलना—

धन-धान्यका, क्षेत्र-वास्तुका, सोना-चाँदीका, अन्य धातुओंका तथा शृङ्गार-सज्जाका और मनुष्य, पक्षी तथा पशुओंका प्रमाण उल्लङ्घन करनेसे दिवस-सबन्धी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ॥ १८ ॥

मूल—

गमणस्स य परिमाणे, दिसासु उड्ढं अहे अ तिरिअं च।
वुड्ढी सइ-अंतरद्धा, पढमम्मि गुणव्वए निंदे ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—

गमणस्स--गमनके, जाने-आनेके।

य--और।

परिमाणे--परिमाणके विषयमें।

दिसासु--दिशाओंमें।

उड्ढं--ऊर्ध्वदिशामें जानेका प्रमाण लाँघनेसे।

अहे--अधोदिशामें जानेका प्रमाण लाँघनेसे।

अ--और।

तिरिअं--तिर्यग्दिशामें जानेका प्रमाण लाँघनेसे। ऊर्ध्व और अधोदिशाका मध्य भाग तिर्यग्दिशा कहलाता है।

च--और।

वुड्ढी–वृद्धि, बढ़ जानेसे।
सइ-अंतरद्धा–स्मरण न रहनेसे, भूल जानेसे।
पढमम्मि-गुणव्वए–पहले गुण-व्रतमें।
निंदे–मैं निन्दा करता हूँ।

अर्थ-सङ्कलना—

(अब मैं दिक्‌परिमाणव्रतके अतिचारोंकी आलोचना करता हूँ।) उसमें ऊर्ध्वदिशामें जानेका प्रमाण लाँघनेसे, अधो दिशामें जानेका प्रमाण लाँधनेसे और तिर्यग् अर्थात् उत्तर-दक्षिणके मध्यकी दिशामें जानेका प्रमाण लाँघनेसे, क्षेत्रका प्रमाण बढ़ जानेसे अथवा क्षेत्रका प्रमाण भूल जानेसे पहले गुणव्रतमें जो अतिचार लगे हों, उनकी मैं निन्दा करता हूँ ॥ १९ ॥

मूल—

मज्जम्मि अ मंसम्मि अ, पुप्फे अ फले अ गंध-मल्ले अ।
उवभोग-परिभोगे, बीअम्मि गुणव्वए निंदे ॥ २० ॥

शब्दार्थ—

मज्जम्मि–मद्यके विषयमें, मदिरा (की विरति) में।
अ–और।
मंसम्मि–मांसके विषयमें, मांस (की विरति) में।
अ–तथा।
पुप्फे–फूलके विषयमें।
अ–और।
फले–फलके विषयमें।
अ–और।
गंध-मल्ले–गन्ध और माल्यके विषयमें।
गंध–केसर, कस्तूरी आदि सुगन्धी पदार्थ।
माल्य–फूलकी माला आदि शृङ्गार।
अ–और।
उवभोग-परिभोगे–उपभोग-परिभोग करनेमें।

उवभोग–एक बार उपयोगमें लेना।
परीभोग – बारंवार उपयोगमें लेना।
बीयम्मि गुणव्वए–दूसरे गुणव्रतमें।
निंदे–मैं निन्दा करता हूँ।

अर्थ-सङ्कलना—

दूसरे गुणव्रतमें मदिरा (की विरति) में, मांस (की विरति) में, तथा फूल और सुगन्धी पदार्थों एवं माला आदिके उपभोग-परीभोग करनेमें जो अतिचार लगे हों, उनकी मैं निन्दा करता हूँ ॥ २० ॥

मूल—

सच्चित्ते पडिबद्धे, अपोल-दुप्पोलियं च आहारे।
तुच्छोसहि-भक्खणया, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—

सच्चित्ते–सचित्त आहारके भक्षणमें।
सच्चित्त–सजीव, चैतन्यवाला।
पडिबद्धे–सचित्त-प्रतिबद्ध आहारके भक्षणमें।
जो वस्तु सामान्यतया निर्जीव हो चुकी हो किन्तु उसका कोई भाग सचित्तके साथ जुड़ा हुआ हो, वह सचित्त-प्रतिबद्ध कहलाता है। जैसे कि वृक्षका गोंद, बीज सहित पका हुआ फल।
अपोल-दुप्पोलियं–अपक्व ओषधिके भक्षणमें; दुष्पक्व आहारके भक्षणमें।
अपोल–नहीं पकी हुई। दुप्पोलियं–कुछ पकी हुई और कुछ नहीं पकी हुई।
च–और।
आहारे–आहारके विषयमें, आहारके भक्षणमें।
तुच्छोसहि-भक्खणया – तुच्छ ओषधिके भक्षणमें।

जिसमें खानेका भाग कम और फेंक देनेका भाग अधिक हो, वह तुच्छ वनस्पति कहलाती है, जैसे कि बेर, सीताफल, गन्ने आदि।

पडिक्कमे देसिअं सव्वं-पूर्ववत्०

अर्थ-सङ्कलना—

निश्चित किये हुए प्रमाणसे अधिक सचित्त आहारके भक्षणमें, सचित्त प्रतिबद्ध आहारके भक्षणमें, अपक्व ओषधिके भक्षणमें, दुष्पक्व आहारके भक्षणमें तथा तुच्छ ओषधिके भक्षणमें, दिवस-सम्बन्धी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ॥ २१ ॥

मूल—

इंगाली वण साडी, भाडी फोडी सुवज्जए कम्मं।
वाणिज्जं चेव दंत-लक्ख-रस-केस-विस-विसयं ॥ २२ ॥
एवं खु जंतपीलण-कम्मं निल्लंछणं च दव-दाणं।
सर-दह-तलाय-सोसं, असई-पोसं च वज्जिज्जा ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—

इंगाली वण साडी भाडी फोडी-अङ्गार, वन, शकट भाटक और स्फोटक।
सुवज्जए-मैं छोड देता हूँ।
कम्मं-कर्म।
वाणिज्जं-वाणिज्य।
चेव-इसी प्रकार।
दंत-लक्ख-रस-केस-विस-विसयं-दन्त, लाख, रस, केश और विष-सम्बन्धी।
एवं-इसी प्रकार।
खु-वस्तुतः।
जंत-पीलण-कम्मं- यन्त्र-पीलन कर्म।

निल्लंछणं-निर्लाञ्छन-कर्म, अङ्ग-च्छेदन-कर्म।

च-और।

दव-दाणं-दव-दान-कर्म, वन, क्षेत्र आदि में आग लगानेका व्यापार।

सर-दह-तलाय-सोसं-सरोवर, स्रोत, तालाब आदिको सुखानेका कार्य।

असई-पोसं-असती-पोषण-कर्म।

वज्जिज्जा-मैं छोड़ देता हूँ। | जिस कर्म अथवा व्यापारसे बहुत कर्म-बन्धन हो, उसे कर्मादान कहते हैं। बाईसवीं और तेईसवीं गाथामें पन्द्रह कर्मादानोंके नाम दिये हैं, वे इस तरह हैं:-

(१) अङ्गार-कर्म-जिसमें अग्निका अधिक काम पड़ता हो, ऐसा कार्य।

(२) वन-कर्म-जिसमें वनस्पतिका अधिक समारम्भ हो, ऐसा कार्य।

(३) शकट-कर्म-गाड़ी बनानेका कार्य।

(४) भाटक-कर्म-किराये पर वाहन चलानेका कार्य।

(५) स्फोटक-कर्म-पृथ्वी तथा पत्थर फोड़ने का कार्य।

(६) दन्त-वाणिज्य-हाथी दाँत आदिका व्यापार।

(७) लाक्षा-वाणिज्य-लाख आदिका व्यापार।

(८) रस-वाणिज्य-दूध, दही, घृत, तेल आदिका व्यापार।

(९) केश-वाणिज्य-दो पाँव (दास-दासी विगैरह) तथा चार पाँववाले आदि जिवोंका व्यापार।

(१०) विष-वाणिज्य-ज़हर और ज़हरीले पदार्थोंका व्यापार।

(११) यन्त्र-पीलन-कर्म-चक्की, घाणी आदि अन्न तथा बीज पीसनेका कार्य।

(१२) निर्लाञ्छन-कर्म-पशुओंके अङ्गोंको छेदना, काटना, आँकना, डाम लगाना तथा गलानेका कार्य।

(१३) दव-दान-कर्म-बनमें आग लगानेका कार्य।

(१४) जल-शोषण-कर्म-सरोवर, स्रोत तथा तालाब आदि सुखानेका कार्य।

(१५) असती-पोषण-कर्म-कुलटा अथवा व्यभिचारिणी स्त्रियाँ तथा हिंसक पशुओंके पोषणका कार्य।

अर्थ-सङ्कलना—

अङ्गार-कर्म, वन-कर्म, शकट-कर्म, भाटक-कर्म, स्फोटक-कर्म, दन्त-वाणिज्य, लाक्षा-वाणिज्य, रस-वाणिज्य, केश-वाणिज्य, विष-वाणिज्य, यन्त्र-पीलन-कर्म, निर्लाञ्छन-कर्म, दव-दान-कर्म, जल-शोषण-कर्म और असती-पोषण-कर्म छोड़ देता हूँ ॥ २२–२३ ॥

मूल—

सत्थग्गि-मुसल-जंतग-तण-कट्ठे मंत-मूल-भेसज्जे ।
दिन्ने दवाविए वा, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—

सत्थग्गि-मुसल-जंतग-तण-कट्ठे–शस्त्र, अग्नि, मूसल, चक्की (पेषणी) आदि यन्त्र, तृण और काष्ठके विषयमें ।

मंत-मूल-भेसज्जे–मन्त्र, मूल और ओषधिके विषयमें ।

दिन्ने दवाविए वा–दूसरोंको देते हुए और दिलाते हुए ।

पडिक्कमे देसिअं सव्वं–पूर्ववत्०

अर्थ-सङ्कलना—

शस्त्र, अग्नि, मूसल आदि साधन, चक्की (पेषणी) आदि यन्त्र विभिन्न प्रकारके तृण, काष्ठ, मूल और ओषधि आदि (बिना कारण) दूसरोंको देते हुए और दिलाते हुए (सेवित अनर्थदण्डसे) दिवस–सम्बन्धी छोटे–बड़े जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ॥ २४ ॥

मूल—

ण्हाणुव्वट्टण-वन्नग-विलेवणे सद्द-रूव-रस-गंधे ।
वत्थासण-आभरणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—

ण्हाणुव्वट्टण-वन्नग-विलेवणे - स्नान, उद्वर्तन, वर्णक और विलेपनके विषयमें।

ण्हाण-स्नान करना।

उव्वट्टण-मैल निकालनेके लिये उबटन आदि पदार्थ लगाना।

वन्नग-रङ्ग लगाना तथा चित्रकारी करना।

विलेवण-लेपन करना।

सद्द-रूव-रस-गंधे-शब्द, रूप, रस और गन्धके विषयमें।

वत्थासण-आभरणे-वस्त्र, आसन और आभरणके विषयमें।

पडिक्कमे-देसिअं सव्वं-पूर्ववत्०

अर्थ-सङ्कलना—

१ स्नान, २ उद्वर्तन, ३ वर्णक, ४ विलेपन, ५ शब्द, ६ रूप, ७ रस, ८ गन्ध, ९ वस्त्र, १० आसन, ११ आभरणके विषयमें सेवित अनर्थदण्डसे दिवस-सम्बन्धी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हो, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ॥ २५ ॥

मूल—

कंदप्पे कुक्कुइए, मोहरि-अहिगरण-भोग-अइरित्ते।
दंडम्मि अणट्ठाए, तइअम्मि गुणव्वए निंदे ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—

कंदप्पे-कन्दर्पके विषयमें, काम-विकारके विषयमें।

कुक्कुइए-अनुचित चेष्टाके विषयमें, कौत्कुच्यके विषयमें।

मोहरि-अहिगरण-भोग-अइ-रित्ते-मौखर्य संयुक्ताधिकरण और भोगातिरिक्तताके कारण।

मौखर्य-अधिक बोलना, आवश्यकतासे अधिक बोलना। संयुक्ताधिकरण-तैयार किया हुआ

शस्त्र। जैसे कि:–धनुषके निकट तीर रखना। ऊखलके पास मूसल रखना। बन्दूक भरकर रखना आदि। भोगातिरिक्त–भोगोंकी अधिकता, आवश्यकतासे अधिक भोग भोगना।

दंडम्मि अणट्ठाए–अनर्थ–दण्डके विषयमें, अनर्थ–दण्ड विरमण–व्रत नामके।

तइअम्मि गुणव्वए–तीसरे गुण–व्रतके विषयमें।

निंदे–मैं निन्दा करता हूँ।

अर्थ–सङ्कलना—

अनर्थदण्ड–विरमण–व्रत नामके तीसरे गुण–व्रतके विषयमें (१) कन्दर्प, (२) कौकुच्य, (३) मौखर्य, (४) संयुक्ताधिकरण और (५) भोगातिरिक्तताके कारण जो अतिचार लगे हों, उनकी मैं निन्दा करता हूँ ॥ २६ ॥

मूल—

तिविहे दुप्पणिहाणे, अणवट्ठाणे तहा सई–विहूणे।
सामाइय वितह–कए, पढमे सिक्खावए निंदे ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—

तिविहे–दुप्पणिहाणे–तीन प्रकारके दुष्प्रणिधानके विषयमें; मनो–दुष्प्रणिधान, वचन–दुष्प्रणिधान और काय-दुष्प्रणिधानके विषयमें। दुप्पणिहाण–दुष्ट–प्रणिधान, दुष्ट प्रकारकी एकाग्रता।

अणवट्ठाणे–अनवस्थानके विषयमें, एक स्थान छोडकर दूसरे स्थानपर जानेसे।

तहा–इसी प्रकार।

सइ – विहूणे – स्मृति – विहीनत्वके विषयमें।

सामाइय वितहकए–सामायिक वितथ किया हो, सामायिककी विराधना की हो।

पढमे सिक्खावए–पहले शिक्षा–व्रतके विषयमें।

निंदे–मैं निन्दा करता हूँ।

अर्थ-सङ्कलना—

पहले शिक्षाव्रतमें सामायिकको निष्फल करनेवाले मनो-दुष्प्रणिधान, वचन-दुष्प्रणिधान, काय-दुष्प्रणिधान, अनवस्थान और स्मृति-विहीनत्व नामके पाँच अतिचारोंकी मैं निन्दा करता हूँ ॥२७॥

मूल—

आणवणे पेसवणे, सद्दे रूवे अ पुग्गल-क्खेवे ॥
देसावगासिअम्मि, बीए सिक्खावए निंदे ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—

आणवणे-आनयन-प्रयोगके विषयमें, बाहरसे वस्तु मँगानेसे ।
पेसवणे-प्रेष्य-प्रयोगके विषयमे, वस्तु बाहर भेजनेसे ।
सद्दे-शब्दानुपातके विषयमें, आवाज करके उपस्थिति बतलानेसे ।
रूवे-रूपानुपातके विषयमे, जाली (झरोखे) आदि स्थानपर आकर अपनी उपस्थिति बतलानेसे ।
अ-और ।
पुग्गल-क्खेवे-पुद्गलके क्षेपसे, वस्तु फेंकनेसे ।
देसावगासिअम्मि-देशावकाशिक व्रतके विषयमें ।
बीए सिक्खावए-दूसरे शिक्षाव्रतमें ।
निंदे-मैं निन्दा करता हूँ ।

अर्थ-सङ्कलना—

देशावकाशिक नामके दूसरे शिक्षा-व्रतमें (१) आनयन-प्रयोग, (२) प्रेष्य-प्रयोग, (३) शब्दानुपात, (४) रूपानुपात और (५) पुद्गल-क्षेपद्वारा जो अतिचार लगे हों, उनकी मैं निन्दा करता हूँ ॥ २८ ॥

मूल—

संथारुच्चारविहि-पमाय तह चेव भोअणाभोए॥
पोसह-विहि-विवरीए, तइए सिक्खावए निंदे ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—

संथारुच्चारविही-पमाय- संथारा और उच्चारकी विधिमें हुए प्रमादके कारण; संथारा और उच्चार-प्रस्रवण-भूमिकी प्रतिलेखना और प्रमार्जनामें प्रमाद होनेसे।
संथारेकी विधि-घास, कम्बल अथवा बिस्तर आदि पर सोते रहनेकी विधि, उच्चारकी विधि-बड़ी नीति और लघुनीति परठवनेकी विधि।

तह-तथा।

चेव-इसी तरह।

भोअणाभोए-भोजनादिकी चिन्ता-द्वारा।

पोसह-विहि-विवरीए - पोषध विधिकी विपरीतता।

तइए सिक्खावए-तीसरे शिक्षाव्रतमें।

निंदे-मैं निन्दा करता हूँ।

अर्थ-सङ्कलना—

संथारा और उच्चार-प्रस्रवण-भूमिकी प्रतिलेखना और प्रमार्जनामें प्रमाद होनेसे तथा भोजनादिकी चिन्ताद्वारा पौषधोपवास नामके तीसरे शिक्षाव्रतमें जो कोई विपरीतता हुई हो (अतिचारोंका सेवन हुआ हो) उसकी मैं निन्दा करता हूँ॥ २९ ॥

मूल—

सच्चित्ते निक्खिवणे, पिहिणे ववएस-मच्छरे चेव।
कालाइक्कम-दाणे-चउत्थे सिक्खावए निंदे ॥३०॥

शब्दार्थ—

सचित्ते निक्खिवणे—सचित्त निक्षेपमें, सचित्त वस्तु डालनेमें।

पिहिणे—सचित्त पिधानमें, सचित्त वस्तु ढकनेमें।

ववएस-मच्छरे—परव्यपदेश और मात्सर्यमें, बहाना करनेमें और ईर्षा करनेमें।

चेव—इसी प्रकार।

कालाइक्कम - दाणे - कालातिक्रम दानमें, काल बीत जानेपर दान देनेके विषयमें।

चउत्थे-सिक्खावए—चौथे शिक्षाव्रतके प्रतिक्रमण-प्रसङ्गमें।

निंदे—मैं निन्दा करता हूँ।

अर्थ-सङ्कलना—

सचित्त-निक्षेपण, सचित्त-पिधान, पर-व्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम-दान इन पाँच अतिचारोंकी मैं चौथे शिक्षाव्रतके प्रतिक्रमण-प्रसङ्गमें निन्दा करता हूँ॥ ३०॥

मूल—

सुहिएसु अ दुहिएसु अ, जा मे अस्संजएसु अणुकंपा।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि॥ ३१॥

शब्दार्थ—

सुहिएसु—सुहितोंके विषयमें। जो साधु ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें रत हो वह सुहित कहलाता है।

अ—और।

दुहिएसु—दुःखितोंके विषयमें। जिस साधुके पास वस्त्र, पात्र आदि उपधि (सामग्री) बराबर न हो वह दुःखित कहलाते हैं।

अ—और।

जा—जो।

मे—मुझसे।

अस्संजएसु—अस्वयतोंके विषयमें।

अणुकंपा—अनुकम्पा, भक्ति।

अर्थ-सङ्कलना—

जो मुझसे सुहित, दुःखित और अस्वयत साधुओंकी भक्ति राग अथवा द्वेषसे हुई हो, उसकी मैं निन्दा करता हूँ और गर्हा करता हूँ ॥ ३१ ॥

मूल—

साहूसु संविभागो, न कओ तव-चरण-करण-जुत्तेसु ।
संते फासुअदाणे, तं निंदे तं च गरिहामि ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—

साहूसु-साधुओंके विषयमें ।

संविभागो-संविभाग, वस्तुओंका एक भाग ।

न कओ-नहीं किया हो, नहीं दिया हो ।

तव-चरण-करण-जुत्तेसु-तप, चरण और करणसे युक्त तपस्वी, चारित्रशील और क्रियापात्र ।

संते फासुअदाणे-दानके योग्य वस्तुएँ उपस्थित होते हुए भी ।

तं निंदे तं च गरिहामि-पूर्ववत्०

अर्थ-सङ्कलना—

तपस्वी, चारित्रशील और क्रियापात्र साधुओंके दान देने योग्य वस्तुएँ उपस्थित होते हुए भी, उनमेंसे एक भाग नहीं दिया हो, तो अपने उस दुष्कृत्यकी मैं निन्दा करता हूँ और गर्हा करता हूँ ॥३२॥

मूल—

इह लोए परलोए, जीविअ-मरणे अ आसंस-पओगे ।
पंचविहो अइआरो, मा मज्झ हुज्ज मरणंते ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—

इहलोए—इहलोक सम्बन्धी आसक्ति रखनेसे, इहलोकाशंसा—प्रयोगमें।
परलोए—परलोक सम्बन्धी आसक्ति रखनेसे, परलोकाशंसा—प्रयोगमें।
जीविअ-मरणे—जीवनमें आसक्ति रखनेसे और मरणकी इच्छा करनेसे, जीविताशंसा-प्रयोगमें और मरणाशंसा—प्रयोगमें।
अ—और।
आसंस - पओगे – कामभोगकी आसक्ति करनेसे, मानता करनेसे, कामभोगाशंसा—प्रयोगमें।
पंचविहो—पाँच प्रकारका।
अइआरो—अतिचार।
मा—नहीं, न।
मज्झ—मुझे
हुज्ज—होवें।
मरणंते—मरणान्त समयमें, मरणके समयमें।

अर्थ-सङ्कलना—

(१) इहलोकाशंसा—प्रयोग, (२) परलोकाशंसा—प्रयोग, (३) जीविताशंसा-प्रयोग, (४) मरणाशंसा-प्रयोग और (५) कामभोगाशंसा-प्रयोग, ये पाँच प्रकारके अतिचार मुझे मरणके समय न होवें ॥३३॥

मूल—

काएण काइअस्स, पडिक्कमे वाइअस्स वायाए।
मणसा माणसिअस्स, सव्वस्स वयाइआरस्स ॥३४॥

शब्दार्थ—

काएण काइअस्स-कायाके अशुभ प्रवर्तनको शुभ काय-योगसे।
पडिक्कमे-प्रतिक्रमण करता हूँ।
वाइअस्स वायाए-वचनके अशुभ प्रवर्तनको शुभ वचनयोगसे।
मणसा माणसिअस्स - मनके अशुभ प्रवर्तनको शुभ मनोयोगसे।
सव्वस्स-सर्व।
वयाइआरस्स – व्रतोंके अतिचारोंका।

अर्थ-सङ्कलना—

कायाके अशुभ प्रवर्तनको शुभ काययोगसे, वचनेके अशुभ प्रवर्तनको शुभ वचनयोगसे, मनके अशुभ प्रवर्तनको शुभ मनोयोगसे, इस प्रकार सर्व-व्रतोंके अतिचारोंका प्रतिक्रमण करता हूँ ॥ ३४ ॥

मूल—

वंदण—वय—सिक्खा—गारवेसु सण्णा—कसाय—दंडेसु ।
गुत्तीसु अ समिईसु अ, जो अइआरो अ तं निंदे ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—

वंदण-वय-सिक्खा-गारवेसु-वन्दन, व्रत, शिक्षा और गारवके विषयमें।

सण्णा-कसाय-दंडेसु-संज्ञा, कषाय ओर दण्डके विषयमें।

गुत्तीसु-गुप्तिके विषयमें।

अ-और।

समिईसु-समितिके विषयमें।

अ-और।

जो-जो।

अइआरो-अतिचार।

अ-तथा।

तं-उसकी।

निंदे-निन्दा करता हूँ।

वन्दन दो प्रकारके हैं:-चैत्यवन्दन और गुरु-वन्दन।

व्रत बारह हैं:-स्थूल-प्राणातिपात-विरमण-व्रत आदि।

शिक्षा दो प्रकारकी हैं:-ग्रहण और आसेवना। सूत्र और अर्थ ग्रहण करना ये ग्रहणशिक्षा और कर्तव्योंका पालन करना ये आसेवनाशिक्षा।

गारव तीन हैं:-रसगारव अर्थात् मधुर खाने-पीनेका अभिमान। ऋद्धिगारवः-अर्थात् धन कुटुम्ब आदिका अभिमान और साता-गारव अर्थात् शरीर को सुख उपजे करे ऐसी सामग्रियोंका अभिमान।

संज्ञा चार हैं:-आहार, भय, मैथुन और परिग्रह।

कषाय चार हैः-क्रोध, मान, माया और लोभ।
दण्ड तीन हैंः–मनोदण्ड, वचन-दण्ड और कायदण्ड।
गुप्ति तीन हैंः–मनोगुप्ति आदि।
समिति पाँच हैंः–ईर्यासमिति आदि।

अर्थ-सङ्कलना—

(१) वन्दन, (२) व्रत, (३) शिक्षा, (४) गारव, (५) संज्ञा, (६) कषाय, (७) दण्ड, (८) गुप्ति और (९) समिति–इन नौ विषयोंमें (करने योग्य न करनेसे और नहीं करने योग्य करनेसे) जो अतिचार लगे हों, उनकी मैं निन्दा करता हूँ ॥ ३५ ॥

मूल—

सम्मद्दिट्ठी जीवो, जइ वि हु पावं समायरइ किंचि।
अप्पो सि होइ बंधो, जेण निद्धंधसं कुणइ ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—

समद्दिट्ठी–सम्यग्दृष्टिवाला।
जीवो–जीव, आत्मा।
जइ वि हु–यद्यपि।
पावं–पापको, पापमय प्रवृत्तिको।
समायरइ–करता है।
किंचि–थोड़ी, किञ्चित्।
अप्पो–अल्प।
सि–उसको।
होइ–होता है।
बंधो–बन्ध, कर्मबन्ध।
जेण–जिससे, कारण कि।
न–नहीं।
निद्धंधसं–निर्दयता पूर्वक।
कुणइ–करता है।

अर्थ-सङ्कलना—

सम्यग्दृष्टिवाला जीव–आत्मा यद्यपि (प्रतिक्रमण करनेके अनन्तर भी) किञ्चित् पापमय–प्रवृत्तिको करता है, तो भी उसे कर्मबन्ध अल्प होता है, कारण कि वह उसको निर्दयता–पूर्वक नहीं करता ॥३६॥

मूल—

तं पि हु सपडिक्कमणं, सप्परिआवं सउत्तरगुणं च ।
खिप्पं उवसामेइ, वाहि व्व सुसिक्खिओ विज्जो ॥ ३७॥

शब्दार्थ—

तं–उसको ।
पि–भी ।
हु–अवश्य (निश्चयका भाव बतलाता है) ।
सपडिक्कमणं–प्रतिक्रमणवाला हो कर, प्रतिक्रमण करके ।
सप्परिआवं–पश्चातापवाला हो कर, पश्चात्ताप करके ।
सउत्तरगुणं–उत्तर गुणवाला हो कर, प्रायश्चित्त करके ।
च–और ।
खिप्पं–शीघ्र ।
उवसामेइ–उपशान्त करता है, शमन कर देता है ।
वाहि व्व–जैसे व्याधिका ।
सुसिक्खिओ–सुशिक्षित ।
विज्जो–वैद्य ।

अर्थ-सङ्कलना—

जैसे सुशिक्षित वैद्य व्याधिका शीघ्र शमन कर देता है, वैसे ही (प्रतिक्रमण करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव उस अल्प कर्म-बन्धका भी) प्रतिक्रमण करके, पश्चात्ताप करके तथा प्रायश्चित्त करके शीघ्र नाश कर देता है ॥ ३७ ॥

मूल—

[सिलोगो]

जहा विसं कुट्ठ-गयं, मंत-मूल-विसारया ।
विज्जा हणंति मंतेहिं, तो तं हवइ निव्विसं ॥ ३८ ॥

एवं अट्ठविहं कम्मं, राग-दोस-समज्जिअं ।
आलोअंतो अ निंदंतो, खिप्पं हणइ सुसावओ ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—

जहा–जैसे ।
विसं–विषको, जहर को ।
कुट्ठ-गयं–कोष्ठमें गये हुए, पेटमे गये हुए ।
मंत-मूल-विसारया–मन्त्र और मूलके विशारद, मन्त्र और जड़ी-बूटीके निष्णात ।
विज्जा–वैद्य ।
हणंति–नष्ट करते हैं, उतारते हैं ।
मंतेहिं–मन्त्रोंसे ।
तो–उससे ।
तं–वह ।
हवइ–होता है ।
निव्विसं–निर्विष, विष-रहित ।
एवं–वैसे ही ।
अट्ठविहं–आठ प्रकारके ।
कम्मं–कर्मको ।
राग-दोस-समज्जिअं–राग और द्वेषसे उपार्जित ।
आलोअंतो–आलोचना करता हुआ ।
अ–और ।
निंदंतो–निन्दा करता हुआ ।
खिप्पं–शीघ्र ।
हणइ–नष्ट करता है ।
सुसावओ–सुश्रावक ।

अर्थ-सङ्कलना—

जैसे पेटमें गये हुए जहरको मन्त्र और जड़ी-बूटी के निष्णात वैद्य मन्त्रोंसे उतारते हैं और उससे वह विष-रहित होता है, वैसे (व्रत-कर्म करनेवाला गुणवान्) सुश्रावक अपने पापोंकी आलोचना तथा निन्दा करता हुआ राग-और द्वेषसे उपार्जित आठ प्रकारके कर्मको शीघ्र नष्ट करता है ॥ ३८-३९ ॥

मूल—

[गाहा]

कय-पावो वि मणुस्सो, आलोइअ निंदिअ गुरु-सगासे।
होइ अइरेग-लहुओ, ओहरिअ-भरु व्व भारवहो ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—

कय-पावो–कृत-पाप, पाप करने-वाला।
वि–भी।
मणुस्सो–मनुष्य।
आलोइअ निंदिअ गुरु-सगासे–गुरुके समक्ष अपने पापोंकी आलोचना तथा निन्दा करके।
होइ–होता है, होता है।
अइरेग-लहुओ–बहुत हलका।
ओहरिअ-भरु व्व–भार उतारे हुएकी तरह, जिसने भार (बोझा) उतार दिया है उसके समान।
भारवहो–भारवाहक, मज़दूर।

अर्थ-सङ्कलना—

पाप करनेवाला मनुष्य भी गुरुके समक्ष अपने पापोकी आलोचना तथा निन्दा करके भार उतारे हुए मजदूरकी तरह बहुत हलका हो जाता है ॥ ४० ॥

मूल—

आवस्सएण एएण, सावओ जइ वि बहुरओ होई।
दुक्खाणमंतकिरिअं, काही अचिरेण कालेण ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—

आवस्सएण एएण–इस आव-श्यक-द्वारा।
सावओ–श्रावक।
जइ वि–यद्यपि।
बहुरओ–बहुत रजवाला, बहुत कर्मवाला।

होइ–होता है।
दुक्खाणमंतकिरिअं – दुःखोंकी अन्तक्रिया, दुःखोंका अन्त।
काही–करेगा, करता है।
अचिरेण कालेण–अल्प समयमें।

अर्थ-सङ्कलना—

यद्यपि श्रावक (सावद्य आरम्भोंके कारण) बहुत कर्मवाला होता है, तथापि इस आवश्यक-द्वारा अल्प समयमें दुःखोंका अन्त करता है ॥ ४१ ॥

मूल—

आलोयणा बहुविहा, न य संभरिआ पडिक्कमण-काले।
मूलगुण-उत्तरगुणे, तं निंदे तं च गरिहामि ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—

आलोयणा–दोषोंको सँभालनेकी क्रिया, आलोचना।
बहुविहा–अनेक प्रकारकी।
न–नहीं।
य–और।
संभरिआ–याद आयीं।
पडिक्कमण – काले – प्रतिक्रमणके समयमें, प्रतिक्रमण करते समय।
मूलगुण-उत्तरगुणे–मूलगुण और उत्तरगुण सम्बन्धी।
तं निंदे तं च गरिहामि–पूर्ववत्–

अर्थ-सङ्कलना—

मूलगुण और उत्तरगुण सम्बन्धी आलोचना बहुत प्रकारकी होती है, वे सब प्रतिक्रमण करते समय याद नहीं आयीं हों, उनकी यहाँ मैं निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ ॥ ४२ ॥

मूल--

तस्स धम्मस्स केवलि-पन्नत्तस्स-
अब्भुट्ठिओ मि आराहणाए विरओ मि विराहणाए।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—

तस्स धम्मस्स-उस धर्मकी, उस श्रावक धर्मकी।

केवलि-पन्नत्तस्स-केवली भगवन्तोंद्वारा प्ररूपित।

अब्भुट्ठिओ मि-खड़ा हुआ हूँ, तत्पर हुआ हूँ।

आराहणाए-आराधनाके लिये।

विरओ मि-मैं विरत हुआ हूँ।

विराहणाए-विराधनासे।

तिविहेण-तीन प्रकारसे; मन, वचन और कायाद्वारा।

पडिक्कंतो-प्रतिक्रमण करता हुआ, सम्पूर्ण दोषोंसे निवृत्त होता हुआ।

वंदामि-मैं वन्दन करता हूँ।

जिणे-जिनोंको।

चउव्वीसं-चौबीसों।

अर्थ-सङ्कलना—

अब मैं केवली भगवन्तोंद्वारा प्ररूपित (और गुरुके निकट स्वीकृत) श्रावक-धर्मकी आराधनाके लिये तत्पर हुआ हूँ और विराधनासे विरत हुआ हूँ, अतः मन, वचन और कायाद्वारा सम्पूर्ण दोषोंसे निवृत्त होता हुआ चौबीसों जिनोंको मैं वन्दन करता हूँ ॥ ४३ ॥

मूल—

जावंति चेइआइं, उड्ढे अ अहे अ तिरिअलोए अ
सव्वाइं ताइं वंदे, इह संतो तत्थ संताइं ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—

जावंति–जितने।
चेइआई–चैत्य, जिनबिम्ब।
उड्ढे–ऊर्ध्वलोकमें।
अ–और।
अहे–अधोलोकमें।
अ–और।
तिरिअलोए–तिर्यग्लोकमें, मनुष्य-लोकमें।
अ–भी।
सव्वाइं ताइं–उन सबको।
वंदे–मैं वन्दन करता हूँ।
इह–यहाँ।
संतो–रहता हुआ।
तत्थ संताइ–वहाँ रहे हुओंको।

अर्थ-सङ्कलना—

ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मनुष्यलोकमें जितने भी जिनबिम्ब हों, उन सबको यहाँ रहता हुआ, वहाँ रहे हुओंको मैं वन्दन करता हूँ॥ ४४॥

मूल—

जावंत के वि साहू, भरहेरवय–महाविदेहे अ।
सव्वेसिं तेसिं पणओ, तिविहेण तिदंड–विरयाणं॥ ४५॥

शब्दार्थ—

जावंत के वि–जो कोई भी।
साहू–साधु।
भरहेरवय-महाविदेहे–भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्रमें।
अ–और।
सव्वेसिं तेसिं–उन सबको।
पणओ–नमा हुआ हूँ, नमन करता हूँ।
तिविहेण–करना, कराना और अनुमोदन करना इन तीन प्रकारोंसे।
तिदंड-विरयाणं-तीन दण्डसे विरत; मन, वचन और कायासे पाप प्रवृत्ति नहीं करनेवाले।

अर्थ-सङ्कलना—

भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्रमें स्थित जो कोई भी साधु मन, वचन और कायासे पाप-प्रवृत्ति करते नहीं, कराते नहीं, और करते हुएका अनुमोदन भी करते नहीं, उन सबको मैं नमन करता हूँ ॥ ४५ ॥

मूल

चिर-संचिअ-पाव-पणासणीइ भव-सय-सहस्स-महणीए ।
चउवीस-जिण-विणिग्गय-कहाइ वोलंतु मे दिअहा ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

चिर-संचिअ-पाव-पणासणीइ – दीर्घकालसे सञ्चित पापोंका नाश करनेवाली ।
चिर–दीर्घकाल । संचिअ–उपार्जित । पाव–पाप । पणासणीइ–नाश करनेवाली ।

भव-सय-सहस्स-महणीए – लाखों भवका मथन करनेवाली, लाखों भवका अन्त करनेवाली । भव–संसार । सय-सहस्स–सौ हजार, लाख । महणीए–मथन करनेवाली, नाश करनेवाली ।

चउवीस-जिण-विणिग्गय-कहाइ – चौबीसों जिनेश्वरोंके मुखसे निकली हुई कथाओंसे ।
चउवीस–चौबीस । जिण–जिनेश्वर । विणिग्गय–मुखसे निकली हुई । कहाइ–कथाओंसे, धर्म-कथाओंके स्वाध्यायसे ।

वोलंतु–जाएँ, व्यतीत हों ।

मे–मेरे ।

दिअहा–दिवस ।

अर्थ-सङ्कलना--

दीर्घकालसे सञ्चित पापोंका नाश करनेवाली, लाखों भवका अन्त करनेवाली ऐसी चौबीसों जिनेश्वरोंके मुखसे निकली हुई धर्मकथाओंके स्वाध्यायसे मेरे दिवस व्यतीत हों ॥ ४६ ॥

मूल—

मम मंगलमरिहंता, सिद्धा साहू सुअं च धम्मो अ ।
सम्मद्दिट्ठी देवा, दिंतु समाहिं च बोहिं च ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—

मम-मुझे ।
मंगलं-मङ्गलरूप हों ।
अरिहंता-अरिहन्त, अर्हन्त ।
सिद्धा-सिद्ध ।
सुअं-द्वादशाङ्गीरूप श्रुत ।
च-और ।
धम्मो-धर्म, चारित्रधर्म ।
अ-और ।
सम्मद्दिट्ठी-देवा-सम्यग्दृष्टि देव ।
दिंतु-प्रदान करें ।
समाहिं-समाधिको ।
च-और ।
बोहिं-बोधिको ।
च-और ।

अर्थ-सङ्कलना—

अर्हन्त, सिद्ध, साधु, द्वादशाङ्गीरूप श्रुत और चारित्रधर्म मुझे मङ्गलरूप हो, तथा सम्यग्दृष्टि देव मुझे समाधि और बोधि प्रदान करें ॥ ४७ ॥

मूल—

पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे अ पडिक्कमणं ।
असद्दहणे अ तहा, विवरीअ-परुवणाए अ ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—

पडिसिद्धाणं-निषेध किये हुए कृत्योंके ।
करणे-करनेसे ।
किच्चाणं-करने योग्य कृत्योंके ।
अकरणे-नहीं करनेसे ।
अ-और ।
पडिक्कमणं-प्रतिक्रमण करना आवश्यक होता है ।
असद्दहणे-अश्रद्धा होनेसे ।
अ-और ।
तहा-इसी तरह ।
विवरीअ-परूवणाए- श्रीजिनेश्वरदेवके उपदेशसे विपरीत प्ररूपणा करनेसे ।

अर्थ-सङ्कलना—

निषेध किये हुए कृत्योके करनेसे, करने योग्य कृत्योंके नहीं करनेसे, अश्रद्धा होनेसे और श्रीजिनेश्वरदेवके उपदेशसे विपरीत प्ररूपणा करनेसे प्रतिक्रमण करना आवश्यक होता है ॥ ४८ ॥

मूल—

[सिलोगो]

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ—

खामेमि-मैं क्षमा करता हूँ ।
सव्वजीवे-सब जीवोंको ।
सव्वे-सब ।
जीवा-जीव ।
खमंतु-क्षमा करें ।
मे-मुझे ।
मित्ती-मैत्री ।
मे-मेरी ।
सव्व-भूएसु-सर्व प्राणियोंके प्रति-सब जीवोंके साथ ।
वेरं-वैर ।
मज्झ-मेरा ।
न-नहीं ।
केणइ-किसीके साथ ।

अर्थ-सङ्कलना—

सब जीवोंको मैं क्षमा करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें, मेरी सब जीवोंके साथ मैत्री (मित्रता) है। मेरा किसीके साथ वैर नहीं ॥ ४९ ॥

मूल—

[गाहा]

एवमहं आलोइअ, निंदिअ गरहिअ दुगंछिउं सम्मं ।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—

एवमहं-इस तरह मैं।

आलोइअ-आलोचना करके।

निंदिअ-निन्दा करके।

गरहिअ-गर्हा करके।

दुगंछिउं-अरुचि व्यक्त करके, जुगुप्सा करके।

सम्मं-सम्यक् प्रकारसे।

तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं-पूर्ववत्०

अर्थ-सङ्कलना—

इस तरह सम्यक् प्रकारसे अतिचारोंकी आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा करके, मैं मन, वचन और कायासे सम्पूर्ण दोषोंकी निवृत्तिपूर्वक चौबीसों जिनेश्वरोंको वन्दन करता हूँ ॥ ५० ॥

सूत्र-परिचय—

इस सूत्रसे श्रावक धर्ममें लगे हुए अतिचारोंका प्रतिक्रमण किया जाता है, इसलिये यह श्रावक प्रतिक्रमण-सूत्र (सावग-पडिक्कमण-सुत्त) कहलाता है। इसका पहला शब्द 'वंदित्तु' है, इसलिये यह 'वंदित्तु-सूत्र' भी कहलाता है।

श्रावक-धर्म

प्रश्न—श्रावक किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो सुने उसे श्रावक कहते है।

प्रश्न—क्या सुने उसे श्रावक कहते हैं ?

उत्तर—जो जिनवचन सुने उसे श्रावक कहते हैं।+

प्रश्न—श्रावक जिनवचन किस प्रकार सुने ?

उत्तर—जो जिनेश्वर भगवान् विद्यमान हों तो श्रावक उनके पास जाय और श्रद्धापूर्वक उनके वचन सुने, परन्तु वे विद्यमान न हों तो उनकी पाट-परम्परामें उतरे हुए आचार्य महाराजों, उपाध्याय महाराजों अथवा साधु-मुनिराजोंके समीप जाय और उनसे श्रद्धापूर्वक जिन-वचन सुने।

प्रश्न—श्रावक जिनवचन सुनकर क्या करे ?

उत्तर—श्रावक जिनवचन सुनकर उनपर विचार करे, मनन करे और उनमेंसे जितना शक्य हो, उतना अपने जीवनमें उतारे।

प्रश्न—उत्तम श्रावक किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिसे जिनेश्वर भगवान्के शासनमें सम्पूर्ण श्रद्धा हो, जो सुपात्रको निरन्तर दान देता हो, जो प्रतिदिन पुण्यके कार्य करता हो और जो सुसाधुओंकी सेवा करनेमें अपने जीवनको धन्य मानता हो, उसे उत्तम श्रावक कहते हैं। एतदर्थ नीचेका पद्य स्मरण रखने योग्य हैः—

श्रद्धालुतां श्राति जिनेन्द्रशासने,
धनानि पात्रेषु वपत्यनारतम्।
करोति पुण्यानि सुसाधुसेवना—
दतोऽपि तं श्रावकमाहुरुत्तमाः ॥ १ ॥

प्रश्न—श्रावकका धर्म कितने प्रकारका है ?

+ श्रावक शब्दकी विशेष व्याख्याके लिये देखो—प्रबोधटीका भाग १ ला, सूत्र ११-४ तथा प्रबोधटीका भा. २ रा, सूत्र ३४-४, गाथा ४६.।

उत्तर—श्रावकका धर्म दो प्रकारका है:-सामान्य श्रावक-धर्म और विशेष श्रावक-धर्म।

प्रश्न—सामान्य श्रावक-धर्म किसे कहते हैं?

उत्तर—मार्गानुसारीके पैंतीस बोलोंका पालन करना, उसे सामान्य श्रावक-धर्म कहते हैं।

प्रश्न—मार्गानुसारीके पैंतीस बोल कौनसे हैं?

उत्तर—वे इस ग्रन्थके पीछे उपयोगी विषयोंके सङ्ग्रहमें दिये हैं।

प्रश्न—मार्गानुसारीके पैंतीस बोलोंका पालन करनेसे क्या होता है?

उत्तर—मार्गानुसारीके पैंतीस बोलोंका पालन करनेसे व्यवहारकी शुद्धि होती है, नीतिका स्तर उच्च होता है और विशेष श्रावक-धर्मके पालनकी योग्यता आती है।

प्रश्न—विशेष श्रावक धर्म किसे कहते हैं?

उत्तर—सम्यक्त्वमूल बारह व्रतोंके पालनको विशेष श्रावकधर्म कहते हैं।

प्रश्न—सम्यक्त्वमूल अर्थात्?

उत्तर—जिसके मूलमें सम्यक्त्व स्थित हो, वह सम्यक्त्वमूल।

प्रश्न—सम्यक्त्व किसे कहते हैं?

उत्तर—तत्त्वद्वारा अर्थकी श्रद्धा करनी, उसे सम्यक्त्व कहते हैं।

प्रश्न—तत्त्व अर्थात्?

उत्तर—तत्त्व अर्थात् भाव।

प्रश्न—अर्थ-अर्थात्?

उत्तर—अर्थ-अर्थात् जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। तात्पर्य यह है कि जीवाजीवादि नव तत्त्वोंपर हृदयसे श्रद्धा रखनी, यह सम्यक्त्व है।

प्रश्न—सम्यक्त्वका व्यावहारिक स्वरूप क्या है?

उत्तर—सुदेव, सुगुरु और सुधर्मपर श्रद्धा।

प्रश्न—सुदेव किसे कहते हैं?

उत्तर—अरिहन्त भगवन्तको सुदेव कहते हैं, क्योंकि वे सर्व दोषोंसे रहित हैं। सिद्ध भगवन्तको भी सुदेव कहते हैं, क्योंकि उनमें भी कोई दोष नहीं है।

प्रश्न—सुगुरु किसे कहते हैं?

उत्तर—जो स्वयं तिरें और दूसरोंको तारें उनको सुगुरु कहते हैं। उनके मुख्य लक्षण पाँच महाव्रत, पाँच आचार तथा पाँच समिति और तीन गुप्तिका पालन है।

प्रश्न—सुधर्म किसे कहते हैं?

उत्तर—जो केवली भगवन्तद्वारा कथित हो उसको सुधर्म कहते हैं।

प्रश्न—बारह व्रतोंके नाम क्या हैं?

उत्तर—(१) स्थूल-प्राणातिपात-विरमण-व्रत।
(२) स्थूल-मृषावाद-विरमण-व्रत।
(३) स्थूल-अदत्तादान-विरमण-व्रत।
(४) परदारागमन-विरमण-व्रत।
(५) परिग्रह-परिमाण-व्रत।
(६) दिक्-परिमाण-व्रत।
(७) उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत।
(८) अनर्थदण्ड-विरमण-व्रत।
(९) सामायिक-व्रत।
(१०) देशावकाशिक-व्रत।
(११) पोषधोपवास-व्रत।
(१२) अतिथि-संविभाग-व्रत।

प्रश्न—इन व्रतोंके कितने विभाग होते हैं?

उत्तर—तीन। उनमें एकसे पाँच तकके व्रतोंको अणुव्रत कहते हैं, छःसे आठ तकके व्रतोंको गुणव्रत कहते हैं और नौसे बारहतकके व्रतोंको शिक्षाव्रत कहते हैं। इन बारह व्रतोंमें पहले पाँच मूलव्रत हैं और बादके सात उत्तरव्रत हैं।

प्रश्न—स्थूल-प्राणातिपात-विरमण-व्रतका अर्थ क्या है ?

उत्तर—कुछ अंशोंमें हिंसा करनेसे रुकनेका व्रत। इस व्रतको लेनेवाला किसी त्रस्त जीवकी सङ्कल्पपूर्वक निरपेक्ष हिंसा नहीं करे।

प्रश्न—इस व्रतमें कितने अतिचार लगते हैं ?

उत्तर—पाँचः-वध, बन्ध, छविच्छेद, अतिभार और भक्तपान-विच्छेद।+

प्रश्न—स्थूल-मृषावाद-विरमण-व्रतका अर्थ क्या है ?

उत्तर—कुछ अंशोंमें झूठ बोलनेसे रुकनेका (विरत होनेका) व्रत। इस व्रतको लेनेवाला कन्या, गाय, भूमि, स्थापत्य अथवा साक्षीके सम्बन्धमें बड़ा झूँठ न बोले।

प्रश्न—इस व्रतमें कितने अतिचार लगते हैं ?

उत्तर—पाँचः-सहसाऽभ्याख्यान, रहोऽभ्याख्यान, स्वदारमन्त्रभेद, मृषोपदेश और कूटलेख।

प्रश्न—स्थूल-अदत्तादान-विरमण-व्रतका अर्थ क्या है ?

उत्तर—कुछ अंशोंमे अदृष्टवस्तु लेनेमे विरत होनेका व्रत। इस व्रतको लेनेवाला डाका डालकर, सेंध लगाकर गाँठ खोलकर अथवा तालेमें कुंची आदि लगाकर किसीकी बिना दी हुई वस्तु नहीं ले।

प्रश्न—इस व्रतमें कितने अतिचार लगते हैं ?

उत्तर—पाँचः-स्तेनाहृत-प्रयोग, स्तेन-प्रयोग, तत्प्रतिरूप, विरुद्धगमन और कूटतुल-कूटमान।

प्रश्न—परदारागमन-विरमण-व्रतका अर्थ क्या है ?

उत्तर—दूसरेकी विवाहित स्त्रीके साथ सङ्ग करनेसे विरत होनेका व्रत। इस व्रतको लेनेवाला अपनी परिणीत-पत्नीसे सन्तुष्ट रहे।

प्रश्न—इस व्रतमें कितने अतिचार लगते हैं ?

उत्तर—पाँचः-अपरिगृहीतागमन, इत्वरगृहीतागमन, अनङ्गक्रीडा, पर-विवाह-करण और तीव्र-अनुराग।

+ अतिचारोंके नाम विषयको स्पष्ट समझनेके लिये दिये हैं, इनके अर्थ प्रत्येक गाथाके पश्चात् आये हुए शब्दार्थसे जानने।

प्रश्न—परिग्रह-परिमाण-व्रतका अर्थ क्या है।

उत्तर—धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु, चाँदी, सोना एवं अन्य धातु, द्विपद और चतुष्पदके सङ्ग्रहको परिग्रह कहते हैं। उसका माप करना-मर्यादा करनी वह परिग्रह-परिमाण-व्रत।

प्रश्न—इस व्रतमें कितने अतिचार लगते हैं?

उत्तर—पाँचः-धन-धान्य-प्रमाणातिक्रम, क्षेत्र-वास्तु-प्रमाणातिक्रम, रुप्य-सुवर्ण-प्रमाणातिक्रम, कुप्य-प्रमाणातिक्रम और द्विपद-चतुष्पद-प्रमाणातिक्रम।

प्रश्न—दिक्-परिमाण-व्रतका अर्थ क्या है?

उत्तर—प्रत्येक दिशामें कुछ अन्तरसे अधिक नहीं जाना ऐसा व्रत।

प्रश्न—इस व्रतमें कितने अतिचार लगते हैं?

उत्तर—पाँचः-ऊर्ध्वदिक्-प्रमाणातिक्रम, अधोदिक्-प्रमाणातिक्रम, तिर्यग्दिक्-प्रमाणातिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तर्धान।

प्रश्न—उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रतका अर्थ क्या है?

उत्तर—जो वस्तु एकबार भोगी जाय वह उपभोग और बारबार भोगीजाय वह परिभोग। उसका माप निश्चित करना, वह उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत। इस व्रतमें बहुत आरम्भ-समारम्भवाले व्यापार अर्थात् कर्म भी छोड़ दिये जाते हैं।

प्रश्न—इस व्रतमें कितने अतिचार लगते हैं?

उत्तर—बीस। उनमें सचित्त, सचित्त-सम्बद्ध, संमिश्र, अभिषव और दुष्पक्व ये पाँच अतिचार भोगके सम्बन्धमें लगते हैं और पन्द्रह अतिचार ईंगाल आदि कर्मोंके सम्बन्धमें लगते हैं।

प्रश्न—अनर्थदण्ड-विरमण व्रतका अर्थ क्या है?

उत्तर—बिना कारण आत्माको दण्ड देनेसे विरत होनेका व्रत। इस व्रतको लेनेवाले अपध्यान, पापोपदेश, हिंस्रप्रदान और प्रमादाचरण इन चार वस्तुओंका त्याग करते हैं। अपध्यान अर्थात् आर्तध्यान और रौद्रध्यान। पापोपदेश अर्थात् अन्यको आरम्भ-समारम्भ करनेकी प्रेरणा

मिले ऐसे वचन। हिंस्रप्रदान अर्थात् हिंसाकारी वस्तुएँ दूसरोंको देनी और प्रमादाचरण अर्थात् प्रमादवाला आचरण।

प्रश्न—इस व्रतमें कितने अतिचार लगते है?

उत्तर—पाँचः-कंदर्प, कौकुच्य, मौखर्य, संयुक्ताधिकरण और भोगातिरिक्त-भोगोंकी अधिकता।

प्रश्न—सामायिक-व्रतका अर्थ क्या है?

उत्तर—दो घड़ीतक सर्व पापव्यवहार छोड़ देनेका व्रत।

प्रश्न—इस व्रतमें कितने अतिचार लगते है?

उत्तर—पाँचः-मनोदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, अनवस्थान और स्मृतिहीनत्व।

प्रश्न—देशावकाशिक-व्रतका अर्थ क्या है?

उत्तर—किन्हीं भी व्रतोंमें रखी हुई छूटोंको विशेष मर्यादित करके उसके एक भागमें स्थिर रहना। इस व्रतमें चौदह नियम रखे जाते हैं, वे पीछे उपयोगी विषयोंके संग्रहमें दिये हैं।

प्रश्न—इस व्रतमें कितने अतिचार लगते है?

उत्तर—पाँचः-आनयन-प्रयोग, प्रेष्य-प्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप।

प्रश्न—पौषधोपवास-व्रतका अर्थ क्या है?

उत्तर—अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वके दिनोंमें उपवासपूर्वक धर्मध्यान करना।

प्रश्न—इस व्रतमें कितने अतिचार लगते हैं?

उत्तर—पाँचः-अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-शय्या-संस्तारक, अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-शय्या-संस्तारक, अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-उच्चार-प्रस्रवणभूमि, अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-उच्चार-प्रस्रवणभूमि और अनुपालना!

प्रश्न—अतिथि-संविभाग-व्रतका अर्थ क्या है?

उत्तर—साधुओंको निर्दोष आहार-पानी वहोरनेका व्रत।

प्रश्न—इस व्रतमें कितने अतिचार लगते हैं?

उत्तर—पाँचः-सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, परव्यदेश, मात्सर्य और कालातिक्रमदान।

प्रश्न—इस प्रकार श्रावक कुल कितने अतिचारोंका प्रतिक्रमण करता है?

उत्तर—१२४ अतिचारोंका, उनमें ५+५+५+५+५+५+२०+५+५+५+५+५ मिलकर ७५ अतिचार बारह व्रत सम्बन्धी होते हैं और ४९ अतिचार दूसरे होते हैं।

प्रश्न—४९ अतिचारोंकी गणना किस तरह होती है?

उत्तर—ज्ञानाचारके ८, दर्शनाचारके ८, चारित्राचारके ८, तपाचारके १२, वीर्याचारके ३, सम्यक्त्वके ५ और संलेखनाके ५, इस प्रकार कुल ४९।×

प्रश्न—सम्यक्त्वके पाँच अतिचार कौनसे हैं?

उत्तर—शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, कुलिङ्गिप्रशंसा और कुलिङ्गि-संस्तव।

प्रश्न—संलेखनाके पाँच अतिचार कौनसे हैं?

उत्तर—इहलोकाशंसा-प्रयोग, परलोकाशंसा-प्रयोग, जीविताशंसा-प्रयोग, मरणाशंसा-प्रयोग और कामभोगाशंसा-प्रयोग।

प्रश्न—अतिचारोंकी शुद्धिके लिये श्रावक क्या करे?

उत्तर—प्रतिक्रमण।

प्रतिक्रमण

प्रश्न—प्रतिक्रमण क्या है?

उत्तर—एक प्रकारकी आवश्यक-क्रिया।

प्रश्न—उसमें क्या किया जाता है?

उत्तर—आलोचना, निन्दा और गर्हा।

प्रश्न—आलोचना किसे कहते हैं?

उत्तर—दोषों अथवा अतिचारोंका स्मरण करना, उसे आलोचना कहते हैं।

× अतिचार विचारनेकी गाथामें पञ्चाचारके ३९ अतिचारोंका वर्णन आ जाता है।

प्रश्न—निन्दा किसे कहते है ?

उत्तर—मैंने यह अनुचित किया अथवा मुझसे यह अनुचित हुआ, इस प्रकार आत्मसाक्षीसे कहना, यह निन्दा कहलाती है।

प्रश्न—गर्हा किसे कहते हैं ?

उत्तर—दोषों अथवा अतिचारोंको गुरुके समक्ष निवेदन करना, यह गर्हा कहलाती है।

प्रश्न—प्रतिक्रमण शब्दका अर्थ क्या है ?

उत्तर—इसके लिये शास्त्रकारोंद्वारा कथित गाथा सुनोः—

स्वस्थानाद् यत् परस्थानं, प्रमादस्य वशं गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते॥

आत्मा प्रमादवश अपने स्थानसे परस्थानमें गयी हो, वहाँसे वापस लौटना, वह प्रतिक्रमण कहाता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्रका भाव त्यागकर मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद एवं कषायमें पड़ी हो, वहाँसे वापस, ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें आ जाय, उसे प्रतिक्रमण कहते हैं।

प्रश्न—प्रतिक्रमण कितने प्रकारके हैं ?

उत्तर—पाँच प्रकारके;—(१) देवसिअ–दैवसिक, (२) राइअ–रात्रिक, पक्खिअ–पाक्षिक, (४) चाउम्मासिअ–चातुर्मासिक और (५) संवच्छरिअ–सांवत्सरिक।

प्रश्न—दैवसिक प्रतिक्रमण किसे कहते है ?

उत्तर—जो प्रतिक्रमण दिवसके अतिचारोंके सम्बन्धमें किया जाय, उसको दैवसिक-प्रतिक्रमण कहते हैं। यह प्रतिक्रमण सायंकालमें किया जाता है।

प्रश्न—रात्रिक प्रतिक्रमण किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो प्रतिक्रमण रात्रिके अतिचारोंके सम्बन्धमें किया जाय, उसको रात्रिक प्रतिक्रमण कहते हैं। यह प्रतिक्रमण प्रातःकालमें किया जाता है।

प्रश्न—पाक्षिक प्रतिक्रमण किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो प्रतिक्रमण पक्षके अतिचारोंके सम्बन्धमें किया जाय, उसको पाक्षिक-प्रतिक्रमण कहते हैं। यह प्रतिक्रमण चतुर्दशीके दिन सायं-कालको किया जाता है।

प्रश्न—चातुर्मासिक प्रतिक्रमण किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो प्रतिक्रमण चातुर्मासमें लगे हुए अतिचारोंके सम्बन्धमें किया जाय, उसको चातुर्मासिक-प्रतिक्रमण कहते हैं। यह प्रतिक्रमण कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी, फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी और आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशीके दिन सायङ्कालको किया जाता है।

प्रश्न—सांवत्सरिक प्रतिक्रमण किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो प्रतिक्रमण संवत्सर अर्थात् वर्षके अतिचारोंके सम्बन्धमें किया जाय, उसको सांवत्सरिक प्रतिक्रमण कहते हैं। यह प्रतिक्रमण भाद्रपद शुक्ला चतुर्थीके दिन सायङ्कालको किया जाता है।

प्रश्न...प्रतिक्रमण करना आवश्यक कब होता है ?

उत्तर—इसका उत्तर वंदित्तु-सूत्रकी ४८ वीं गाथामें दिया गया है; वह इस प्रकारः—

पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे अ पडिक्कमणं।
असद्दहणे अ तहा, विवरीअ-परूवणाए अ ॥ ४८ ॥

निषिद्ध किये कृत्योंको करनेसे, करने योग्य कृत्योंको नहीं करनेसे, अश्रद्धा उत्पन्न होनेसे और श्रीजिनेश्वरदेवके उपदेशसे विपरीत प्ररूपणा करनेसे प्रतिक्रमण करना आवश्यक होता है।

प्रश्न—प्रतिक्रमणका फल क्या है ?

उत्तर—दोषोंकी निवृत्ति, आत्माकी शुद्धि।

प्रश्न—प्रतिक्रमण कौन करे ?

उत्तर—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका।

प्रश्न—इन सबका प्रतिक्रमण एक समान होता है अथवा पृथक् पृथक्?

उत्तर—पृथक् पृथक्। साधु-साध्वी साधु-धर्ममें लगे हुए अतिचारोंका प्रतिक्रमण करे और श्रावक-श्राविका श्रावक-धर्ममें लगे हुए अतिचारोंका प्रतिक्रमण करे। परन्तु दोनों प्रतिक्रमणोंमें कुछ सूत्र समान होते हैं, इसलिये साधु तथा श्रावक और साध्वी तथा श्राविका साथ बैठकर प्रतिक्रमण कर सकते हैं।

३२ गुरुखामणा-सुत्तं

['अब्भुट्ठिओ'-सूत्र]

मूल—

[शिष्य] इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! अब्भुट्ठिओ हं अब्भिंतर-देवसिअं (राइअं) खामेउं।

[गुरु-खामेह]

[शिष्य] इच्छं, खामेमि देवसिअं (राइअं)।

जं किंचि अपत्तिअं, परपत्तिअं, भत्ते, पाणे, विणए, वेयावच्चे, आलावे, संलावे, उच्चासणे, समासणे, अंतरभासाए, उवरिभासाए।

जं किंचि मज्झ विणय-परिहीणं सुहुमं वा बायरं वा तुब्भे जाणह, अहं न जाणामि, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥

शब्दार्थ—

इच्छाकारेण संदिसह-इच्छापूर्वक आज्ञा प्रदान करो।
भगवन्!-हे भगवन्!
अब्भुट्ठिओ हं-मैं उपस्थित हुआ हूँ।
अब्भिंतर-देवसिअं-दिनके किये हुए।
खामेउं-खमानेके लिये, क्षमा मागनेके लिये।
(**खामेह**-खमावो-क्षमा माँगो)

इच्छं–चाहता हूँ।
खामेमि–खमाता हूँ, क्षमा माँगता हूँ।
देवसिअं–दिवस-सम्बन्धी अपराध।
जं किंचि–जो कुछ।
अपत्तिअं–अप्रीतिकारक।
परपत्तिअं–विशेष अप्रीतिकारक।
भत्ते–आहारमें।
पाणे–पानीमें।
विणए–विनयमें।
वेयावच्चे–वैयावृत्यमें।
आलावे–बोलनेमें।
संलावे–बातचीत करनेमें।
उच्चासणे–(गुरुसे) उच्च आसन-पर बैठनेमें, ऊँचा आसन रखनेमें।
समासणे–(गुरुके आसनके) समान आसन रखनेमें।
अंतरभासाए–बीचमें बोलनेमें।
उवरिभासाए–गुरुसे ऊपर होकर बोलनेमें।
जं किंचि–जो कोई (वर्तन)।
मज्झ–मेरा।
विणय–परिहीणं–विनयरहित।
सुहुमं वा बायरं वा–सूक्ष्म अथवा स्थूल।
तुब्भे जाणह–आप जानते हो।
अहं न जाणामि–मैं नहीं जानता।
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं–पूर्ववत्०

अर्थ-सङ्कलना—

हे भगवन्! इच्छा–पूर्वक आज्ञा प्रदान करो। मैं दिन (रात्रि) के अंदर किये हुए अपराधोंकी क्षमा माँगनेके लिये उपस्थित हुआ हूँ।

[गुरु]–क्षमा माँगो।

[शिष्य]–चाहता हूँ! दिवस–सम्बन्धी अपराधोंकी क्षमा माँगता हूँ।

आहारमें, पानीमें, विनयमें, वैयावृत्यमें, बोलनेमें, बातचीत करनेमें ऊँचा आसन रखनेमें, समान आसन रखनेमें, बीचमें बोलनेमें,

गुरुके ऊपर होकर बोलनेमें जो कुछ अप्रीति अथवा विशेष अप्रीति-कारक किया हो, तथा मुझसे सूक्ष्म अथवा स्थूल (अल्प या अधिक) जो कोई विनय-रहित वर्तन हुआ हो; आप जानते हो और मैं नहीं जानता, (ऐसा कोई अपराध हुआ हो;) तत्सम्बन्धी मेरे सब पाप मिथ्या हों ॥

सूत्र-परिचय—

इस सूत्रद्वारा शिष्य गुरुके प्रति हुए छोटे-बड़े अपराधोंकी क्षमा माँगता है, इसलिये ये 'गुरुखामणा-सुत्त' कहलाता है। पहले शब्दसे इसे 'अब्भुट्ठिओ' सूत्र भी कहते हैं

गुरु-क्षमापन

प्रश्न—गुरु-क्षमापना अर्थात् ?

उत्तर—गुरुके प्रति छोटे-बड़े जो अपराध हुए हों उनकी क्षमा माँगनेकी क्रिया।

प्रश्न—गुरुके प्रति छोटे-बड़े अपराध कितने प्रकारसे होने सम्भव हैं ?

उत्तर—तीन प्रकारसे।

(१) अप्रीति अथवा विशेष अप्रीति उत्पन्न करें, ऐसे कार्य।

(२) कोई भी विनय-रहित कृत्य होनेसे, जिनका कि शिष्यको ध्यान हों।

(३) कोई भी विनय-रहित कृत्य होनेसे, जिनका कि शिष्यको ध्यान न हो।

प्रश्न—अप्रीति अथवा विशेष अप्रीति उत्पन्न हों ऐसे कार्य होने कब सम्भव हैं ?

उत्तर-(१) भत्ते-आहार-सम्बन्धी गुरुने जो सूचना दी हो, उसपर पूर्ण ध्यान न दिया जाय तब।

(२) **पाणे**–पानी सम्बन्धी गुरुने जो सूचना दी हो, उसपर पूर्ण ध्यान न दिया जाय तब।

(३) **विणए**—गुरुका जिस जिस प्रकारसे विनय करना चाहिये, उस उस प्रकारसे विनय न हुआ हो तब।

(४) **वेयावच्चे**–गुरुका जिस जिस प्रकारसे वैयावृत्त्य करना चाहिये, उस उस प्रकारसे वैयावृत्त्य नहीं हुआ हो तब।

(५) **आलावे**–बोलते समय जिस तरह शब्द–प्रयोग होना चाहिये, वह नहीं हुआ हो तब।

(६) **संलावे**—बातचीत करते समय जिस तरह मान रखनेमें सचेत रहना चाहिये, वैसा नहीं हुआ हो तब।

(७) **उच्चासणे**—गुरुके आसनसे अपना आसन ऊँचा रखा हो तब।

(८) **समासणे**—गुरुके जितना ही अपना आसन ऊँचा रखाना हो तब।

(९) **अन्तरभासाए**—गुरु किसीके साथ वार्तालाप करते हों और बीचमें बोल गये हों तब।

(१०) **उवरिभासाए**—गुरुके ऊपर होकर कोई बात कही गयी हो तब।

प्रश्न—विनय–रहित कृत्य होना कब सम्भव है ?

उत्तर—किसी भी समय। शिष्यको गुरुके साथ अनेक प्रकारके कार्य होते है, अतः प्रत्येक समय उसको गुरुके प्रति योग्य विनय करना चाहिये, परन्तु किसी कारणवश उसका ध्यान न रहे तो विनयरहित कृत्य होता है।

प्रश्न—शिष्य जान–बूझकर गुरुका विनय नहीं करे तो ?

उत्तर—तो वह महादोषका भागी होता है और उसकी सब साधना निष्फल हो जाती है। शास्त्रोंमें कहा है कि:–जो साधु (शिष्य) गुरुका विनय यथार्थ रूपसे नहीं करता है, और मोक्षको इच्छा करता है, वह

जीवितकी इच्छा करते हुए अग्निमें प्रवेश करनेका कार्य करता है। इसलिये यहाँ भूल-चूकका प्रसङ्ग समझना चाहिये। किसी समय भूल होनेके पश्चात् शिष्यको ध्यान आ जाता है कि मुझसे भूल हुई और किसी समय ऐसा ध्यान बिलकुल नहीं आता है, यद्यपि गुरुको इस बातका ध्यान आता है। अतएव ऐसे समस्त अपराधोंकी क्षमा माँगी जाती है।

प्रश्न—क्षमा किस तरह माँगी जाती है?

उत्तर—प्रथम गुरुकी आज्ञा लेकर तथा उनकी स्वीकृतिपूर्वक नीचा झुक कर, भूमिपर मस्तक टेककर बाँये हाथमें धारण की हुई मुहपत्तीसे (प्रतिक्रमणके अतिरिक्त वन्दनाके प्रसङ्गमें गृहस्थोंको दुपट्टेसे) मुख आच्छादित करके तथा दाँया हाथ गुरुके चरणपर रखकर (ऐसा न हो सके तो उनकी ओर हाथ लम्बा करके अपने अपराधोंकी क्षमा माँगी जाती है।

३४ आयरियाइ-खामणासुत्तं

[' आयरिय-उवज्झाए '-सूत्र]

मूल—

[गाहा]

आयरिय-उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुल-गणे अ ।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥ १ ॥
सव्वस्स समणसंघस्स, भगवओ अंजलिं करिअ सीसे ।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥ २ ॥
सव्वस्स जीवरासिस्स, भावओ धम्म-निहिअ-निय-चित्तो ।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—

आयरिय-उवज्झाए-आचार्य और उपाध्यायके प्रति ।
सीसे-शिष्यपर ।
साहम्मिए-साधर्मिकके प्रति ।
साधर्मिक-समान धर्मवाला ।
कुल-गणे-कुल और गणके प्रति ।
कुल-एक आचार्यका समुदाय ।
गण-तीन कुलोंका समूह ।
अ-और ।
जे मे केइ कसाया-मैंने जो कोई कषाय किये हों ।
सव्वे-उन सबकी ।
तिविहेण-तीन प्रकारोंसे, मन, वचन और कायासे ।
खामेमि-क्षमा माँगता हूँ ।
सव्वस्स-सकल ।

समण-संघस्स-श्रमण-सङ्घको।	**सव्वस्स जीवरासिस्स**-सकल जीवराशीकी।
भगवओ-पूज्य।	**भावओ**-भावसे, अन्तःकरणसे।
अंजलिंकरिअ-हाथ जोडकर।	**धम्म-निहिय-निय-चित्तो**-धर्मके विषयमें स्थापित किया है चित्त जिसने ऐसा मैं, धर्म-भावना-पूर्वक।
सीसे-मस्तकपर।	**सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि**-पूर्ववत्०।
सव्वं-सबको।	
खमावइत्ता-क्षमा माँगकर।	
खमामि-क्षमा करता हूँ।	
सव्वस्स-सबको।	
अहयं पि-मैं भी।	

अर्थ-सङ्कलना—

आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक, कुल और गणके प्रति मैंने जो कोई कषाय किये हों, उन सबकी मैं मन, वचन और कायासे क्षमा माँगता हूँ ॥ १ ॥

मस्तकपर हाथ जोड़कर पूज्य ऐसे सकल श्रमण-सङ्घसे क्षमा माँगकर मैं भी सबको क्षमा देता हूँ ॥ २ ॥

अन्तःकरणसे धर्मभावना-पूर्वक सकल जीवराशिसे क्षमा माँगकर मैं भी उनको क्षमा करता हूँ ॥ ३ ॥

सूत्र-परिचय—

इस सूत्रद्वारा आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक, कुल, गण तथा सकल श्रमणसङ्घके प्रति क्रोधादि कषायोंसे जो अपराध हुए हों उनकी क्षमा माँगी जाती है। इसी प्रकार जीवराशिके सकल जीवोंसे क्षमा माँगकर उनको क्षमा दी जाती है।

---

३५ सुअदेवया-थुई

[श्रुतदेवताकी स्तुति]

मूल—

[सुअदेवयाए करेमि काउस्सग्गं । अन्नत्थ०]

[गाहा]

सुअदेवया भगवई, नाणावरणीअ-कम्म-संघायं ।
तेसिं खवेउ सययं, जेसिं सुअ-सायरे भत्ती ॥ १ ॥

शब्दार्थ—

[**सुअदेवयाए**-श्रुतदेवताके लिये, श्रुतदेवीकी आराधनाके लिये ।
करेमि काउस्सग्गं-मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।]
सुअदेवया-श्रुतदेवी ।
भगवई-पूज्य ।
नाणावरणीय-कम्म-संघायं-ज्ञानावरणीय-कर्मके समूहका ।
तेसिं-उनके ।
खवेउ-खपाओ, क्षय करो ।
सययं-सदा ।
जेसिं-जिनकी ।
सुअ-सायरे-प्रवचनरूपी समुद्रके विषयमें ।
भत्ती-भक्ति ।

अर्थ-सङ्कलना—

श्रुतदेवीकी आराधनाके लिये मैं कायोत्सर्ग करता हूँ । जिनकी प्रवचनरूपी समुद्रके विषयमें सदा भक्ति है, उनके ज्ञानावरणीय-कर्मके पूज्य श्रुतदेवी क्षय करो ॥ १ ॥

सूत्र-परिचय—

यह स्तुति श्रुतदेवताकी है और इसको पुरुष ही बोलते हैं ।

———

३६ खित्तदेवया-थुई

[क्षेत्रदेवता-स्तुति]

मूल—

[खित्तदेवयाए करेमि काउस्सग्गं । अन्नत्थ०]

[गाहा]

जीसे खित्ते साहू, दंसण-नाणेहिं चरण-सहिएहिं ।
साहंति मुक्ख-मग्गं, सा देवी हरउ दुरिआइं ॥ १ ॥

शब्दार्थ—

[**खित्तदेवयाए**-क्षेत्रदेवताकी आराधनाके लिये ।

करेमि काउस्सग्गं-मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।]

जीसे-जिनके ।

खित्ते-क्षेत्रमें ।

साहू-साधुगण ।

दंसणनाणेहिं-दर्शन और ज्ञान-द्वारा, सम्यग्ज्ञानद्वारा ।

चरण - सहिएहिं -- चारित्रसहित सम्यक्चारित्र सहित ।

साहंति-साधते हैं ।

मुक्ख-मग्गं-मोक्ष-मार्गको ।

सा-वह, वे ।

देवी-देवी, क्षेत्रदेवता,

हरउ-हरण करे, दूर करें ।

दुरिआइं-दुरितोंको-विघ्नोंको ।

अर्थ-सङ्कलना—

क्षेत्रदेवताकी आराधनाके लिये कायोत्सर्ग करता हूँ । जिनके क्षेत्रमें साधुगण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सहित मोक्ष-मार्गको साधते हैं, वे क्षेत्रदेवता दुरितोंको-विघ्नोंको दूर करें ॥१॥

सूत्र-परिचय—

यह स्तुति क्षेत्रदेवताकी है और इसको पुरुष ही बोलते हैं ।

---

३७ श्रुतदेवता-स्तुति

['कमल-दल'-स्तुति]

मूल—

[गाहा]

कमल-दल-विपुल-नयना, कमल-मुखी कमलगर्भ-सम-गौरी ।
कमले स्थिता भगवती, ददातु श्रुतदेवता सिद्धिम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ—

कमल-दल-विपुल-नयना-कमल-पत्र जैसे विशाल नयनोंवाली ।	**स्थिता**-स्थित ।
कमल मुखी-कमल जैसे मुखवाली ।	**भगवती**-पूज्य ।
कमल-गर्भ-सम-गौरी-कमल-के मध्यभाग जैसे गौर वर्णवाली ।	**ददातु**-प्रदान करे ।
कमले-कमलमें ।	**श्रुतदेवता**-श्रुतदेवता ।
	सिद्धिम्-सिद्धि ।

अर्थ-सङ्कलना—

कमल-पत्र जैसे विशाल नयनोंवाली, कमल जैसे मुखवाली, कमलके मध्यभाग जैसे गौर वर्णवाली और कमलपर स्थित ऐसी पूज्य श्रुतदेवता सिद्धि प्रदान करे ॥ १ ॥

सूत्र-परिचय—

यह स्तुति श्रुतदेवताकी है। और इसको 'सुयदेवया थुई' सूत्र ३५ के स्थान पर स्त्रियाँ बोलती हैं।

———

३८ वर्धमान-स्तुति

['नमोऽस्तु वर्धमानाय'-सूत्र]

मूल—

इच्छामो अणुसट्ठिं नमो खमासमणाणं।
नमोऽर्हत्-सिद्धाचार्योपाध्याय-सर्व-साधुभ्यः।

[अनुष्टुप्]

नमोऽस्तु वर्धमानाय, स्पर्धमानाय कर्मणा।
तज्जयावाप्तमोक्षाय, परोक्षाय कुतीर्थिनाम् ॥ १ ॥

[औपच्छन्दसिक]×

येषां विकचारविन्द-राज्या, ज्यायःक्रम-कमलावलिं दधत्या।
सदृशैरिति सङ्गतं प्रशस्यं, कथितं सन्तु शिवाय ते जिनेन्द्राः॥२॥

[वंशस्थ]

कषाय-तापार्दित-जन्तु-निर्वृतिं,
करोति यो जैनमुखाम्बुदोद्गतः।

× औपच्छन्दसिक छन्द वैतालिकका ही एक भेद है, परन्तु इसमें १६+१८, १६+१८ मात्राएँ होती हैं, अर्थात् वैतालिकसे इसमें दो मात्राएँ अधिक होती हैं।

स शुक्र-मासोद्भव-वृष्टि-सन्निभो,
दधातु तुष्टिं मयि विस्तरो गिराम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—

इच्छामो-चाहते हैं ।
अणुसट्ठिं-अनुशासन, आज्ञा ।
नमो-नमस्कार हो ।
खमासमणाणं-पूज्य क्षमाश्रमणोंको ।
नमोऽर्हत्०-पूर्ववत्०
नमःअस्तु-नमस्कार हो ।
वर्धमानाय-श्रीवर्धमानके लिये, श्रीमहावीरप्रभुको ।
स्पर्धमानाय-जीतनेकी स्पर्धा करते हुए ।
कर्मणा-कर्मके साथ, कर्मवैरीके साथ ।
तज्जयावाप्तमोक्षाय-उस (कर्म) के जयद्वारा मोक्ष प्राप्त करने-वालेको ।
परोक्षाय-परोक्ष, अगम्य ।
कुतीर्थिनाम् - कुतीर्थिकोंके लिये, मिथ्यात्वियोंके लिये ।
येषां-जिनकी ।
विकचारविन्द-राज्या - विकसित कमलकी पङ्क्तिने ।
विकच-विकसित, खिला हुआ ।
अरविन्द-कमल । राजि-श्रेणि ।
ज्यायः-क्रम-कमलावलिं- उत्तम चरण-कमलकी श्रेणिको ।
ज्यायस्-उत्तम । क्रम-चरण ।
आवलि-हार, श्रेणि ।
दधत्या-धारण करनेवाली ।
सदृशैः-समानके साथ ।
इति सङ्गतं-इस प्रकार समागम होना वह ।
प्रशस्यं-प्रशस्त, प्रशंसनीय ।
सन्तु-हों ।
शिवाय-शिवके लिये, मोक्षके लिये ।
ते-वे ।
जिनेन्द्राः-जिनेन्द्र ।
कषाय-तापार्दित-जन्तु-निर्वृत्तिं-कषायरूपी तापसे पीडित प्राणि-योंकी शान्तिको ।
करोति-करता है ।
यः-जो ।
जैनमुखाम्बुदोद्गतः - जिनेश्वरके मुखरूपी मेघसे प्रकटित ।
जैनमुख-जिनेश्वरका मुख ।
अम्बुद-मेघ । उद्गत-प्रकटित ।

सः-वह ।
शुक्रमासोद्भव-वृष्टि-सन्निभः-
ज्येष्ठमासमें हुई वृष्टिके जैसा।
शुक्रमास-ज्येष्ठ मास। उद्भव-
उत्पन्न। वृष्टि-वर्षा। सन्निभ-
सदृश, जैसा।

दधातु-करो।
तुष्टि-अनुग्रह।
मयि-मुझ पर।
विस्तरः-विस्तार, समूह।
गिराम्-वाणीका।

अर्थ-सङ्कलना—

हम अब आपकी आज्ञा चाहते हैं। पूज्य क्षमा-श्रमणोंको नमस्कार हो। अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओंको नमस्कार हो।

जो कर्म-वैरीके साथ जीतनेकी स्पर्धा करते हुए जय प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करनेवाले हैं और जिनका स्वरूप मिथ्यात्वियोंके लिये अगम्य है, ऐसे श्रीमहावीर प्रभुको मेरा नमस्कार ॥ १ ॥

जिनकी उत्तम चरण-कमलकी श्रेणीको धारण करनेवाली (देवनिर्मित) विकसित (सुवर्ण) कमलोंको पङ्क्तिने (मानो ऐसा) कहा कि-'समानके साथ इस प्रकार समागम होना, प्रशंसनीय है,' वे जिनेन्द्र मोक्षके लिये हों ॥ २ ॥

जो वाणीका समूह जिनेश्वरके मुखरूपी मेघसे प्रकटित होनेपर कषायके तापसे पीडित प्राणियोंको शान्तिप्रदान करता है और जो ज्येष्ठ मासमें हुई (पहली) वृष्टि जैसा है, वह मुझपर अनुग्रह करो ॥३॥

सूत्र-परिचय--

दैवसिअ प्रतिक्रमणमें छः आवश्यक पूर्ण होनेके पश्चात् मङ्गलस्तुतिके निमित्त यह सूत्र बोला जाता है। इसमें पहली स्तुति श्रीमहावीरस्वामीकी है, दूसरी स्तुति सामान्य जिनोंकी है और तीसरी स्तुति श्रीतीर्थङ्करके वाणीरूप श्रुतज्ञान की है। स्त्रियाँ इस स्तुतिके स्थानपर 'संसार दावानल' की तीन स्तुति बोलती हैं।

---

३९ प्राभातिक-स्तुति

['विशाल-लोचन-दलं'-सूत्र]

[अनुष्टुप्]

विशाल-लोचन-दलं, प्रोद्यद्-दन्तांशु-केसरम्।
प्रातर्वीरजिनेन्द्रस्य, मुख-पद्मं पुनातु वः ॥ १ ॥

[औपच्छन्दसिक]

येषामभिषेक-कर्म-कृत्वा, मत्ता हर्षभरात् सुखं सुरेन्द्राः।
तृणमपि गणयन्ति नैव नाकं, प्रातः संतु शिवाय ते जिनेन्द्राः ॥२॥

[वंशस्थ]

कलङ्क-निर्मुक्तममुक्तपूर्णतं, कुतर्क-राहु-ग्रसनं सदोदयम्।
अपूर्वचन्द्रं जिनचन्द्रभाषितं, दिनागमे नौमि बुधैर्नमस्कृतम् ॥३॥

शब्दार्थ—

विशाल-लोचन-दलं-विशाल नेत्र-रूपी पत्रवाला।

प्रोद्यद्-दन्तांशु-केसरम्-देदीप्यमान दाँतोंकी किरणरूप केसरवाला।

प्रोद्यत्-देदीप्यमान। दन्त-दाँत। अंशु-किरण। केसर-पुष्पतन्तु-फूलके मध्यमें होनेवाले पुंकेसर, स्त्रीकेसर आदि तन्तुविशेष।

प्रातः-प्रातःकालमें।

वीर – जिनेन्द्रस्य – श्रीवीरजिनेश्वरका।
मुख-पद्मं-मुखरूपी कमल।
पुनातु-पवित्र करो।
वः-तुमको।
येषाम्-जिनकी।
अभिषेक-कर्म-अभिषेकका कार्य, स्नान-क्रिया।
कृत्वा-करके।
मत्ताः-मत्त बने हुए।
हर्षभरात्-हर्षके समूहसे, अति हर्षसे।
सुखं-सुखको।
सुरेन्द्राः-सुरेन्द्र, देवेन्द्र।
तृणमपि-तिनके जितना भी, तृणमात्र भी।
गणयन्ति नैव-नहीं गिनते हैं।
नाकं-स्वर्गको स्वर्गके।
प्रातःप्रातःकालमें।
सन्तु-हों।
शिवाय-शिवसुखके लिये।
ते-वे।
जिनेन्द्राः-जिनेन्द्र।
कलङ्क-निर्मुक्तम्-कलङ्कसे रहित।
अमुक्तपूर्णतं-पूर्णता नहीं त्यागनेवालेको।
कुतर्क – राहु – ग्रसनं– कुतर्करूपी राहुको डसनेवालेको।
सदोदयम्-कभी अस्त नहीं होनेवाला, सदा उदयको प्राप्त।
अपूर्वचन्द्रं-नवीन प्रकारके चन्द्रमाको, अपूर्वचन्द्रको।
जिनचन्द्र – भाषितं– जिनचन्द्रकी वाणीसे बना हुआ।
दिनागमे-प्रातःकालमें।
नौमि-स्तवन करता हूँ, स्तुति करता हूँ।
बुधैः-पण्डितोंने।
नमस्कृतम्-नमस्कार किया है उसको।

अर्थ-सङ्कलना—

विशाल नेत्ररूपी पत्रवाला, देदीप्यमान दाँतोंकी किरणरूप केसरवाला, श्रीवीरजिनेश्वरका मुखरूपी कमल प्रातःकालमें तुमको पवित्र करो ॥ १ ॥

जिनकी स्नान–क्रिया करनेसे अतिहर्षसे मत्त बने हुए देवेन्द्र स्वर्गके सुखको तृणमात्र भी नहीं गिनते हैं, वे जिनेन्द्र प्रातःकालमें शिव–सुखके लिये हो ॥ २ ॥

जो कलङ्कसे रहित हैं, पूर्णताका त्याग नहीं करते, कुतर्करूपी राहुको डस लेते हैं, सदा उदयको प्राप्त रहते हैं, ऐसे जिनचन्द्रकी वाणीसे जो बना हुआ है और पण्डितोंने जिसे नमस्कार किया है, उस आगमरूपी अपूर्वचन्द्रकी मैं प्रातःकालमें स्तुति करता हूँ ॥ ३ ॥

सूत्र-परिचय—

रात्रिक प्रतिक्रमणमे ६ आवश्यक पूरे होनेके बाद मङ्गल स्तुतिके निमित्त यह सूत्र बोला जाता है। इसमें पहली स्तुति श्रीवीरजिनेश्वरकी है, दूसरी स्तुति सामान्य जिनोंकी है और तीसरी स्तुति श्रीतीर्थङ्करकी वाणीकी है। स्त्रियाँ इस स्तुतिके, स्थानपर 'ससार दावानल' की तीन स्तुति बोलती है।

शब्दार्थ—

इति–अन्तमें ।
पूर्वसूरि-दर्शित-मन्त्रपद-विद-र्भित :– पूर्वसूरियोंद्वारा गुर्वाम्नाय-पूर्वक प्रगट किये हुए मन्त्रपदोंसे गूँथा हुआ ।
स्तव शान्तेः–शान्ति-स्तव ।
सलिलादि-भय-विनाशी– जलादिके भयसे मुक्त करनेवाला ।
शान्त्यादिकरः–उपद्रवोंकी शान्ति पूर्वक तुष्टि और पुष्टिको भी करनेवाला ।
च–और ।
भक्तिमताम्–भक्ति करनेवालोंको, विधि-पूर्वक अनुष्ठान करनेवालोंको ।

अर्थ-सङ्कलना—

अन्तमें यही कहना है कि यह शान्ति-स्तव पूर्वसूरियोंद्वारा गुर्वाम्नायपूर्वक प्रकट किये हुए मन्त्रपदोंसे गूँथा हुआ और यह विधिपूर्वक अनुष्ठान करनेवालोंको जलादिके भयसे मुक्त करनेवाला तथा उपद्रवोंकी शान्ति-पूर्वक तुष्टि और पुष्टिको भी करनेवाला है ॥ १६ ॥

मूल—

यश्चैनं पठति सदा, शृणोति भावयति वा यथायोगम् ।
स हि शान्तिपदं यायात्, सूरिः श्रीमानदेवश्च ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—

यः–जो ।
च–और ।
एनं–इस स्तवको ।
पठति–पढ़ता है ।
सदा-निरन्तर, सदा ।
शृणोति–दूसरेके पाससे सुनता है ।
भावयति वा यथायोगम्–अथवा मन्त्रयोगके नियमानुसार उसकी भावना करता है ।
स–वह ।

हि-निश्चय।
शान्तिपदं-सिद्धि पदको, शान्ति पदको।
यायात्-प्राप्त करे।
सूरिः श्रीमानदेवः च-श्रीमानदेवसूरि भी।

अर्थ-सङ्कलना—

और जो इस स्तवको सदा भावपूर्वक पढ़ता है, दूसरेके पाससे सुनता है, तथा मन्त्रयोगके नियमानुसार इसकी भावना करता है, वह निश्चय ही शान्तिपदको प्राप्त करता है। सूरि श्रीमानदेव भी शान्तिपदको प्राप्त करें ॥ १७ ॥

मूल—

(अन्त्यमङ्गल)

[श्लोक]

[उपसर्गाः क्षयं यान्ति, छिद्यन्ते विघ्न-वल्लयः।
मनः प्रसन्नतामेति, पूज्यमाने जिनेश्वरे ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—

उपसर्गाः-उपसर्ग, आपत्तिया।
क्षयं यान्ति-नष्ट होते हैं।
छिद्यन्ते-कट जाती हैं।
विघ्न-वल्लयः-विघ्नरूपी लताएँ।
मनः-मन।
प्रसन्नताम् एति-प्रसन्नताको प्राप्त होता है।
पूज्यमाने जिनेश्वरे-जिनेश्वर देवका पूजन करनेसे।

अर्थ-सङ्कलना—

[श्रीजिनेश्वर देवका पूजन करनेसे समस्त प्रकारके उपसर्ग नष्ट होते हैं, विघ्नरूपी लताएँ कट जाती हैं और मन प्रसन्नताको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

मूल—

सर्व मङ्गल-माङ्गल्यं, सर्व-कल्याणकारणम् ।
प्रधानं सर्व-धर्माणां, जैनं जयति शासनम् ॥ १९ ॥]

शब्दार्थ—

सर्व-मङ्गल-माङ्गल्य०-अर्थ पूर्ववत्०

अर्थ-सङ्कलना—

सर्व मङ्गलोंमें मङ्गलरूप, सर्व कल्याणोंका कारण रूप और सर्व धर्मोंमें श्रेष्ठ ऐसा जैन शासन (प्रवचन) सदा जयवाला है ॥१९॥]

सूत्र-परिचय—

वीर-निर्वाणकी सातवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें शाकम्भरी नगरीमें किसी कारणसे कुपित हुई शाकिनीने महामारीका उपद्रव फैलाया। यह उपद्रव इतना भारी था कि इसमें ओषध और वैद्य कुछ भी काम नहीं आ सकते थे। इसलिये प्रतिक्षण मनुष्य मरने लगे और सारी नगरी श्मशान जैसी भयङ्कर दिखने लगी।

इस परिस्थितिमें कुछ सुरक्षित रहे हुए श्रावक जिनचैत्यमें एकत्रित होकर विचार करने लगे, तब आकाशसे आवाज हुई कि 'तुम चिन्ता क्यों करते हो? नाड्डल नगरीमें श्रीमानदेवसूरी विराजते हैं, उनके चरणोंके प्रक्षालन जलका तुम्हारे मकानोंमें छिटकाव करो जिससे सम्पूर्ण उपद्रव शान्त हो जायगा।

इस वचनसे आश्वासन पाये हुए सङ्घने वीरदत्त नामके एक श्रावकको विज्ञप्ति-पत्र देकर नाड्डुल नगरी (नाडोल-मारवाड़में) श्रीमानदेवसूरिके पास भेजा।

सूरिजी तपस्वी, ब्रह्मचारी और मन्त्रसिद्ध महापुरुष थे तथा लोकोपकार करनेकी परम निष्ठावाले थे, इससे उनने शान्ति-स्तव नामका एक मन्त्रयुक्त चमत्कारिक स्तोत्र बनाकर दिया और चरणोदक भी दिया। यह शान्ति-स्तव लेकर वीरदत्त शाकम्भरी नगरीमें आया। वहाँ उनके चरण-जलका (शान्ति-स्तवसे मन्त्रित) अन्य जलके साथ मन्त्रित कर छिटकाव करनेसे तथा शान्ति-स्तवका पाठ करनेसे महामारीका उपद्रव शान्त हो गया, तबसे यह स्तव सब प्रकारके उपद्रवोंके निवारणार्थ बोला जाता है। प्रतिक्रमणमें यह कालान्तरसे प्रविष्ट हुआ है।

शान्ति-स्तव

प्रश्न—शान्ति-स्तवकी रचना किसने की है?

उत्तर—शान्ति-स्तवकी रचना वीरनिर्वाणकी सातवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें हुए श्रीमानदेवसूरिने की है।

प्रश्न—उनने इस स्तवकी रचना किसलिये की?

उत्तर—उनने इस स्तवकी रचना शाकम्भरी नगरीमें शाकिनीद्वारा किये हुए महामारीके उपद्रवका शमन करनेके लिये की थी, परन्तु इसमें विशेषता यह रखी कि इसका विधिवत् पाठ करनेसे अनेक प्रकारके भय दूर हों और उपद्रव शान्त हों।

प्रश्न—शान्तिस्तवका पाठ करनेसे कौनसे भय दूर होते हैं?

उत्तर—शान्ति-स्तवका पाठ करनेसे नीचे लिखे भय दूर होते हैं:—

(१) जलका भय (अतिवृष्टि बाढ़ आदि)।
(२) अग्निका भय।
(३) विषका भय।
(४) सर्पका भय।
(५) दुष्टग्रहका भय।
(६) राजका भय।
(७) रोगका भय।
(८) युद्धका भय, (लड़ाई-झगड़ा, आक्रमण आदिका भय)।

प्रश्न—शान्ति-स्तवका पाठ करनेसे कौनसे उपद्रव शान्त होते हैं ?

उत्तर—शान्ति-स्तवका पाठ करनेसे नीचे लिखे उपद्रव शान्त होते हैं:—

(१) राक्षसका उपद्रव ।

(२) शत्रुसमूहका उपद्रव ।

(३) महामारी (प्लेग) का उपद्रव ।

(४) चोरका उपद्रव ।

(५) ईतिसंज्ञक-उपद्रवः-(१) अतिवृष्टि होना, (२) बिलकुल वृष्टि न होना, (३) चूहोंकी वृद्धि होना, (४) पतंगे आदिका आधिक्य होना, (५) शुकोंकी बहुलता, (६) अपने राज्य-मण्डलमें आक्रमण होना और (७) शत्रु-सैन्यकी चढ़ाई, ये सात ईतिसंज्ञक उपद्रव है ।

(६) हिंसक (शिकारी) पशुओंका उपद्रव ।

(७) भूत-पिशाचका उपद्रव ।

(८) शाकिनी-डाकिनियोंका उपद्रव ।

प्रश्न—शान्ति-स्तवमे किसकी स्तुति की गयी है ?

उत्तर—शान्ति-स्तवमें श्रीशान्तिनाथ भगवान् तथा विजया-जयादेवीकी स्तुति की गयी है ।

प्रश्न—शान्ति-स्तवमें श्रीशान्तिनाथ भगवान्की स्तुति किस प्रकार की गयी है ?

उत्तर—शान्ति-स्तवमें प्रथम श्रीशान्तिनाथ भगवान्के सामान्य गुणोंकी स्तुति की गयी है, जैसे कि:—वे शान्तिके गृहसमान हैं, प्रशमरसमें निमग्न हैं, अशिवका नाश करनेवाले हैं, आदि। तदनन्तर पाँच गाथाओंसे नाम-मन्त्र-स्तुति की गयी है ।

प्रश्न—नाम-मन्त्र स्तुतिमें क्या आता है ?

उत्तर—नाम-मन्त्र स्तुतिमें सोलह नाम-मन्त्र आते हैं; वे इस प्रकारः—

(१) ॐ **निश्चितवचसे** शान्तिनाथाय नमो नमः ॥

(२) ॐ **भगवते** शान्तिजिनाय नमो नमः ॥

(३) ॐ **अर्हते** शान्तिजिनाय नमो नमः ॥

(४) ॐ **जयवते** शान्तिजिनाय नमो नमः ॥

(५) ॐ **यशस्विने** शान्तिजिनाय नमो नमः

(६) ॐ **दमिनां स्वामिने** शान्तिजिनाय नमो नमः ॥

(७) ॐ **सकलातिशेषक-महासम्पत्ति-समन्विताय** शान्ति-जिनाय नमो नमः ॥

(८) ॐ **शस्याय** शान्तिजिनाय नमो नमः ॥

(९) ॐ **शान्तिदेवाय** शान्तिजिनाय नमो नमः ॥

(१०) ॐ **त्रैलोक्यपूजिताय** शान्तिजिनाय नमो नमः ॥

(११) ॐ **सर्वामरसुसमूह-स्वामिक-सम्पूजिताय** शान्ति-जिनाय नमो नमः ॥

(१२) ॐ **निजिताय** शान्तिजिनाय नमो नमः ॥

(१३) ॐ **भुवनजनपालनोद्यततमाय** शान्तिजिनाय नमो नमः ॥

(१४) ॐ **सर्वदुरितौघनाशनकराय** शान्तिजिनाय नमो नम; ॥

(१५) ॐ **सर्वाशिवप्रशमनाय** शान्तिजिनाय नमो नमः

(१६) ॐ **दुष्टग्रह-भूत-पिशाच-शाकिनी-प्रमथनाथ** शान्ति-जिनाय नमो नमः ॥

प्रश्न—इन नाम-मन्त्रोंसे क्या होता है ?

उत्तर—इन नाम-मन्त्रोंवाले वाक्य-प्रयोगोंसे विजया-जयादेवी तुष्ट होकर ऋद्धि-सिद्धि प्रदान करती हुई लोक-हित करती है ।

प्रश्न—शान्ति-स्तवमें विजया-जया देवीकी स्तुति किस प्रकारकी हुई है?

उत्तर—शान्ति-स्तवमें प्रथम विजया-जया-देवीकी नामस्तुति की हुई है और फिर मन्त्रस्तुति की हुई है।

प्रश्न—विजया-जया देवीकी नामस्तुतिमें क्या आता है?

उत्तर—विजया-जया देवीकी नामस्तुतिमें चौबीस नामोंके सम्बोधनपूर्वक भय और उपद्रवसे रक्षण करनेकी और शान्ति, तुष्टि, पुष्टि और स्वस्ति देनेकी प्रार्थना करनेमें आयी है।

प्रश्न—वह किस प्रकार?

उत्तर—सातवीं गाथामें भगवती[१], विजया[२], सुजया[३], अजिता[४], अपराजिता[५], जयावहा[६] और भवती[७], ये सात नाम आते हैं। आठवीं गाथामें 'भद्र-कल्याण-मङ्गल-प्रददे!' इस वाक्यसे भद्रा[८], कल्याणी[९] और मङ्गला[१०]का सूचन होता है एवं 'शिव-सुतुष्टि-पुष्टिप्रदे!' से शिवा[११], तुष्टिदा[१२] और पुष्टिदा[१३] का सूचन होता है। नौवीं गाथामें 'भव्यानां कृतसिद्धे!' सिद्धिदायिनीका[१४] 'निर्वृति-निर्वाण-जननि!' इस पदसे निर्वृति[१५] और निर्वाणी[१६] नामका और 'अभय-प्रदान-निरते!' तथा 'स्वस्तिप्रदे!' पदसे अभया[१७] और क्षेमङ्करी[१८] का सूचन होता है। दसवीं गाथामें 'शुभावहे!' पदसे शुभङ्करीका[१९] तथा 'धृति-रति-मति-बुद्धि-प्रदानाय' पदसे सरस्वतीका[२०] सूचन होता है। इसी प्रकार ग्यारहवीं गाथामें 'श्री-सम्पत्-कीर्ति-यशो-वर्धिनी।' पदसे श्रीदेवता[२१], रमा[२२], (सम्पत्ति बढ़ानेवाली), कीर्तिदा[२३] और यशोदा[२४] का सूचन होता है। इस प्रकार सातवीं गाथासे लेकर ग्यारहवीं गाथा तक चौबीस नाम गूँथे हुए हैं और बारहवीं तथा तेरहवीं गाथामें सलिलादि-भयोंसे एवं राक्षसादि उपद्रवोंसे रक्षण करनेकी तथा शान्ति, तुष्टि, पुष्टि और स्वस्ति देनेकी प्रार्थना की हुई है।

प्रश्न—विजया-जया देवीकी मन्त्रस्तुतिमें क्या आता है?

उत्तर—विजया-जया देवीकी मन्त्रस्तुतिमें 'ॐ नमो नमो ह्राँ ह्रीँ ह्रूँ ह्रः यः क्षः ह्रीँ फट्-फट् स्वाहा' इन मन्त्राक्षर-पूर्वक शिव, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि और स्वस्ति करनेकी प्रार्थना आती है। सारांश यह है कि इन दोनों प्रकारकी स्तुतिद्वारा उपद्रवोंका निवारण तथा शान्ति, तुष्टि, पुष्टि और क्षेम प्राप्तिकी इच्छा की गयी है और मन्त्रमें प्रसन्न हुई देवी भक्तोंको यथामिलषित लाभ देती है।

प्रश्न—शान्ति-स्तवकी गाथाएँ कितनी हैं?

उत्तर—सत्रह। अन्तकी दो गाथाएँ सुभाषितके रूपमें बोली जाती हैं।

४३ पासनाह-जिण-थुई

['चउकसाय'-सूत्र]

मूल—

[पादाकुलक]

चउकसाय--पडिमल्लुल्लूरणु,
दुज्जय-मयण-बाण-मुसुमूरणु ।
सरस-पियंगु-वण्णु गय-गामिउ,
जयउ पासु भुवणत्तय-सामिउ ॥ १ ॥

[अडिल्ल]

जसु-तणु-कंति-कडप्प सिणिद्धउ,
सोहइ फणि-मणि-किरणालिद्धउ ।
नं नव-जलहर तडिल्लय-लंछिउ,
सो जिणु पासु पयच्छउ वंछिउ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—

चउक्कसाय-पडिमल्लुल्लूरणु-चार कषायरूपी शत्रु योद्धाओंका नाश करनेवाले ।

चउक्कसाय-क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय । पडिमल्ल-सामने लड़नेवाला योद्धा । उल्लुल्लूरणु-नाश करनेवाला ।

दुज्जय-मयण-बाण-मुसुमुरणु- कठिनाईसे जीते जाएँ ऐसे कामदेवके बाणोंको तोड़ देनेवाले। दुज्जय-कठिनाईसे जीता जाय ऐसा। मयण-बाण-कामदेवके बाण। मुसुमूरणु-तोड़ देनेवाला।

सरस-पियंगु-वण्णु-नवीन (ताजा) प्रियङ्गुलता जैसे वर्णवाले। सरस-ताजा, नवीन। पियंगु-एक प्रकारकी वनस्पति, प्रियङ्गु। वण्णु-वर्ण, रंग।

गय-गामिउ-हाथीके समान गतिवाले।

जयउ-जयको प्राप्त हों।

पासु-पार्श्वनाथ।

भुवणत्तय-सामिउ-तीनों भुवनके स्वामी।

जसु-जिनके।

तणु-कंति-कडप्प-शरीरका, तेजोमण्डल।

सिणिद्धउ-कोमल, मनोहर।

सोहइ-शोभित होता है।

फणि-मणि-किरणालिद्धउ-नागमणिके किरणोंसे युक्त। फणि-नाग। मणि-मस्तकपर स्थित मणि।

नं-वस्तुतः।

नव-जलहर-नवीन मेघ। नव-नवीन। जलहर-मेघ, बादल।

तडिल्लय-लंछिउ-बिजलीसे युक्त तडिल्लय-बिजली। लंछिउ-युक्त, सहित।

सो-वह, वे।

जिणु-जिन।

पासु-श्रीपार्श्वनाथ।

पयच्छउ-प्रदान करें।

वंछिउ-वाञ्छित, मनोवाञ्छित।

अर्थ-सङ्कलना—

चार कषायरूपी शत्रु-योद्धाओंका नाश करनेवाले, कठिनाईसे जीते जायँ ऐसे कामदेवके बाणोंको तोड़देनेवाले, नवीन प्रियङ्गुलताके समान वर्णवाले, हाथीके समान गतिवाले, तीनों भुवनके स्वामी श्रीपार्श्वनाथ जयको प्राप्त हों ॥ १ ॥

जिनके शरीरका तेजोमण्डल मनोहर है, जो नागमणिकी किरणोंसे युक्त और जो वस्तुतः बिजलीसे युक्त नवीन मेघ हों, ऐसे शोभित हैं वे श्रीपार्श्वजिन मनोवाञ्छित फल प्रदान करें ॥ २ ॥

सूत्र-परिचय--

इस सूत्रमें श्रीपार्श्वनाथ भगवान्‌की स्तुति की गयी है। अतः वे 'पास-नाह-जिण-थुई' कहलाती है। पहले शब्दसे इसको 'चउक्कसाय-सूत्र भी कहते हैं।

एक अहोरात्रमें साधु और श्रावकको सात चैत्यवन्दन करने होते हैं, उनमें साधु सातवाँ चैत्यवन्दन 'संथारा-पोरिसी' पढ़ाते समय करते हैं और श्रावक सोते समय सातवाँ चैत्यवन्दन करना भूल न जायँ, इसलिये देवसिय-पडिक्कमणके अन्तमें सामायिक पारते समय 'लोगस्स' सूत्र कहनेके पश्चात् करते हैं, तब इस सूत्रका उपयोग होता है।

४४ भरहेसर-सज्झाओ

['भरहेसर-बाहुबली '-सज्झाय]

मूल—

[गाहा]

भरहेसर बाहुबली, अभयकुमारो अ ढंढणकुमारो।
सिरिओ अणिआउत्तो, अइमुत्तो नागदत्तो अ ॥ १ ॥

मेअज्ज थूलभद्दो, वयररिसी नंदिसेण सीहगिरी।
कयवन्नो अ सुकोसल, पुंडरिओ केसि करकंडू ॥ २ ॥

हल्ल विहल्ल सुदंसण, साल महासाल सालिभद्दो अ।
भद्दो दसणभद्दो, पसण्णचंदो अ जसभद्दो ॥ ३ ॥

जंबुपहु वंकचूलो, गयसुकुमालो अवंतिसुकुमालो।
धन्नो इलाइपुत्तो, चिलाइपुत्तो अ बाहुमुणी ॥ ४ ॥

अज्जगिरी अज्जरक्खिअ, अज्जसुहत्थी उदायगो मणगो।
कालयसूरी संबो, पज्जुण्णो मूलदेवो अ ॥ ५ ॥

पभवो विण्हुकुमारो, अद्दकुमारो दढप्पहारी अ।
सिज्जंस कूरगडू अ, सिज्जंभव मेहकुमारो अ ॥ ६ ॥

एमाइ महासत्ता, दिंतु सुहं गुण-गणेहिं संजुत्ता।
जेसिं नाम-ग्गहणे, पाव-प्पबंधा विलय जंति ॥ ७ ॥

सुलसा चंदणबाला, मणोरमा मयणरेहा दमयंती।

नमयासुंदरी सीया, नंदा भद्दा सुभद्दा य ॥ ८ ॥
राइमई रिसिदत्ता, पउमावई अंजणा सिरीदेवी ।
जिट्ठ सुजिट्ठ मिगावइ, पभावई चिल्लणादेवी ॥ ९ ॥
बंभी सुंदरी रुप्पिणी, रेवइ कुंती सिवा जयंती अ ।
देवइ दोवइ धारणी, कलावई पुप्फचूला य ॥ १० ॥
पउमावई अ गोरी, गंधारी लक्खमणा सुसीमा य ।
जंबूवई सच्चभामा, रुप्पिणी कण्हट्ठ महिसीओ ॥ ११ ॥
जक्खा य जक्खदिन्ना, भूआ तह चेव भूअदिन्ना अ ।
सेणा वेणा रेणा, भइणीओ थूलभद्दस्स ॥ १२ ॥
इच्चाइ महासइओ, जयंति अकलंक-सील-कलिआओ ।
अज्ज वि वज्जइ जासिं, जस-पडहो तिहुअणे सयले ॥१३॥

शब्दार्थ—

सरल है ।

अर्थ-सङ्कलना—

भरतेश्वर, बाहुबली, अभयकुमार, ढंढणकुमार, श्रीयक, अर्णिका-पुत्र, अतिमुक्त और नागदत्त ॥ १ ॥

मेतार्यमुनि, स्थूलभद्र, वज्रऋषि, नंदिषेण, सिंहगिरि, कृतपुण्य, सुकोशलमुनि, पुण्डरीक, केशी और करकण्डू (प्रत्येक बुद्ध) ॥ २ ॥

हल, विहल, सुदर्शन शेठ, शाल और महाशाल मुनि, शालिभद्र, भद्रबाहु स्वामी, दशार्णभद्र, प्रसन्नचन्द्र राजर्षि और यशोभद्रसूरि ॥३॥

जम्बूस्वामी, बङ्कचूल राजकुमार, गजसुकुमाल, अवन्तिसुकुमाल, धन्नो (न्य), इलाचीपुत्र, चिलातीपुत्र और बाहुमुनि ॥ ४ ॥

आर्यमहागिरी, आर्यरक्षित, आर्य सुहस्तिसूरि, उदायन राजर्षि, मनककुमार और मूलदेव (राजा) ॥ ५ ॥

प्रभवस्वामी, विष्णुकुमार, आर्द्रकुमार, दृढप्रहारी, श्रेयांस, कूरगड्डु साधु, शय्यम्भव-स्वामी और मेघकुमार ॥ ६ ॥

इत्यादिक जो महापुरुष अनेक गुणोंसे युक्त हैं और जिनका नाम लेनेसे पापके दृढबन्ध नष्ट हो जाते हैं, वे सुख प्रदान करें ॥७॥

सुलसा, चन्दनबाला, मनोरमा, मदनरेखा, दमयन्ती, नर्मदा-सुन्दरी, सीता, नन्दा, भद्रा और सुभद्रा ॥ ८ ॥

राजिमती, ऋषिदत्ता, पद्मावती, अञ्जनासुन्दरी, श्रीदेवी, ज्येष्ठा, सुज्येष्ठा, मृगावती, प्रभावती और चेल्लणा रानी ॥ ९ ॥

ब्राह्मी, सुन्दरी, रुक्मिणी, रेवती, कुन्ती, शिवा, जयन्ती, देवकी, द्रौपदी, धारणी, कलावती और पुष्पचूला ॥ १० ॥

तथा पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जम्बूवती, सत्यभामा, रुक्मिणी ये आठ कृष्णकी पटरानियाँ ॥ ११ ॥

यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, सेना, वेना और रेणा ये सात स्थूलभद्रकी बहिनें ॥ १२ ॥

इत्यादि निष्कलङ्क शीलको धारण करनेवाली महासतियाँ जयको प्राप्त होती हैं कि जिनके यशका पटह आज भी समग्र त्रिभुवनमें बज रहा है ॥ १३ ॥

सूत्र-परिचय

प्रातःस्मरणीय महापुरुष और महासतियोंका स्मरण करनेके लिये यह सज्झाय प्रातःकालमें राइय-पडिक्कमण करते समय बोली जाती है। इसमें बताये हुए महापुरुषों तथा महासतियोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार हैः—

महापुरुष

१ **भरतः**—श्रीऋषभदेव भगवान्के सबसे बड़े पुत्र और प्रथम चक्रवर्ती। ये एक समय आरीसा-भुवनमें अपने अलङ्कृत शरीरको देखते थे, इतनेमें एक उँगलीमेंसे अँगूठी निकल गयी, इसलिये वह शोभारहित लगी। यह देखकर अन्य अलङ्कार भी उतारे, तो सारा शरीर शोभारहित लगने लगा। इससे 'अनित्यं संसारे भवति सकलं यन्नयनगम्' संसारमें जो वस्तुएँ आँखोंसे देखी जाती हैं, वे सब नश्वर हैं, ऐसी अनित्य-भावना होने लगी और केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। तब इन्द्रमहाराजने आकर कहा कि—'आप द्रव्यलिङ्ग धारण करिये, हम दीक्षाका महोत्सव करते हैं।' इन्होंने पञ्चमुष्टि-लोच किया और देवताओंसे दिये गये रजोहरण-पात्र आदि ग्रहण किये। अन्तमें अष्टापद पर्वतपर निर्वाणको प्राप्त हुए।

२ **बाहुबलीः**—भरत चक्रवर्तीके छोटे भाई। भगवान् ऋषभदेवने उनको तक्षशिलाका राज्य दिया था। उनका बाहुबल असाधारण था, इस कारण चक्रवर्तीकी आज्ञा नहीं मानते थे। इससे भरत चक्रवर्तीने उनपर चढ़ाई की और दृष्टियुद्ध, वाग्युद्ध, बाहुयुद्ध और दण्डयुद्ध किया, जिसमें वे हार गये। अन्तमें भरतने मुष्टिप्रहार किया, उससे बाहुबली कटि (कमर) तक जमीनमें धुस गये। उसका प्रत्युत्तर देनेके लिये बाहुबलीने भी मुट्ठी उठायी। यदि यह मुष्टि भरतपर पड़ी होती तो उनका प्राण निकल जाता; परन्तु इसी समय

बाहुबलीकी विचारधारा पलट गयी कि नश्वर राज्यके लिये बड़े भाईकी हत्या करनी उचित नहीं, इससे मुट्ठी वापस नहीं उतारते हुए उससे मस्तकके केशोंका लोच किया और भगवान् ऋषभदेवके पास जानेको तत्पर हुए, किन्तु उसी समय विचार आया कि मुझसे छोटे अठानवे भाई दीक्षा लेकर केवलज्ञानको प्राप्त हुए, वे वहाँ उपस्थित हैं उनको मुझे वन्दन करना पड़ेगा; अतः मैं भी केवलज्ञान प्राप्त करके ही वहाँ जाऊँ।' इस विचारसे वहीं कायोत्सर्गमें स्थिर रहे। एक वर्षतक उग्रतप करनेपर भी उनको केवलज्ञान नहीं हुआ, तब प्रभुने उनको प्रतिबोध देनेके लिये ब्राह्मी और सुंदरी नामकी साध्वियोंको भेजा, जो कि ससारी अवस्थामें उनकी बहिनें थीं। उनने आकर कहा 'हे भाई! हाथीकी पीठसे उतरो, हाथीपर चढ़े हुए केवलज्ञान नहीं होता है– वीरा मोरा गज थकी उतरो, गज चढ्ये केवल न होय रे!' यह सुनकर बाहुबली चौंक पड़े। यह बात अभिमानरूपी हाथीकी थी। अन्तमें भावना शुद्ध होनेसे उन्हें वहीं केवलज्ञान प्राप्त हुआ। तदनन्तर वे श्रीऋषभदेव भगवान्के पास गये और उनको वन्दन करके केवलियोंकी परिषद्में विराजित हुए।

३ अभयकुमारः—ये श्रेणिक राजाके पुत्र थे। इनकी माताका नाम सुनन्दा था। बाल्यावस्थामें ही खाली कुएमे गिरी हुई अँगूठीको अपने बुद्धि-चमत्कारसे ऊपर ले आये, जिससे प्रसन्न होकर श्रेणिक राजाने इनको मुख्य-मन्त्री बनाया। ये औत्पत्तिकी, वैनयिकी कार्मिकी और पारिणामिकी-इन चारों बुद्धियोंके स्वामी थे। पिताके कार्यमें इन्होंने बहुत सहायता की थी। अन्तमें प्रभु महावीरसे दीक्षा ले, उत्कृष्ट तपकर मोक्ष प्राप्त किया। आज भी व्यापारीवर्ग शारदा-पूजनके समय अपनी बहीमें 'अभयकुमारकी बुद्धि हो' यह वाक्य लिखकर इनका स्मरण करता है।

४ ढंढणकुमारः—ये श्रीकृष्ण वासुदेवकी ढंढणा नामक रानीके पुत्र थे। इन्होंने बाईसवें तीर्थङ्कर श्रीनेमिनाथसे दीक्षा ग्रहण की थी, परन्तु पूर्व-कर्मके उदयसे शुद्धभिक्षा नहीं मिलती थी, इसलिये अभिग्रह किया कि

शब्दार्थ—

इति-अन्तमें।

पूर्वसूरि-दर्शित-मन्त्रपद-विदर्भित:- पूर्वसूरियोंद्वारा गुर्वाम्नाय-पूर्वक प्रगट किये हुए मन्त्रपदोंसे गूँथा हुआ।

स्तव शान्तेः-शान्ति-स्तव।

सलिलादि-भय-विनाशी- जलादिके भयसे मुक्त करनेवाला।

शान्त्यादिकरः-उपद्रवोंकी शान्ति पूर्वक तुष्टि और पुष्टिको भी करनेवाला।

च-और।

भक्तिमताम्-भक्ति करनेवालोंको, विधि-पूर्वक अनुष्ठान करनेवालोंको।

अर्थ-सङ्कलना—

अन्तमें यही कहना है कि यह शान्ति-स्तव पूर्वसूरियोंद्वारा गुर्वाम्नायपूर्वक प्रकट किये हुए मन्त्रपदोंसे गूँथा हुआ और यह विधिपूर्वक अनुष्ठान करनेवालोंको जलादिके भयसे मुक्त करनेवाला तथा उपद्रवोंकी शान्ति-पूर्वक तुष्टि और पुष्टिको भी करनेवाला है ॥ १६ ॥

मूल—

यश्चैनं पठति सदा, शृणोति भावयति वा यथायोगम् ।
स हि शान्तिपदं यायात्, सूरिः श्रीमानदेवश्च ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—

यः-जो।

च-और।

एनं-इस स्तवको।

पठति-पढ़ता है।

सदा-निरन्तर, सदा।

शृणोति-दूसरेके पाससे सुनता है।

भावयति वा यथायोगम्-अथवा मन्त्रयोगके नियमानुसार उसकी भावना करता है।

स-वह।

हि–निश्चय ।	**यायात्**–प्राप्त करे ।
शान्तिपदं–सिद्धि पदको, शान्ति पदको ।	**सूरिः श्रीमानदेवः च**–श्रीमानदेवसूरि भी ।

अर्थ–सङ्कलना—

और जो इस स्तवको सदा भावपूर्वक पढ़ता है, दूसरेके पाससे सुनता है, तथा मन्त्रयोगके नियमानुसार इसकी भावना करता है, वह निश्चय ही शान्तिपदको प्राप्त करता है। सूरि श्रीमानदेव भी शान्तिपदको प्राप्त करें ॥ १७ ॥

मूल—

(अन्त्यमङ्गल)

[श्लोक]

[उपसर्गाः क्षयं यान्ति, छिद्यन्ते विघ्न-वल्लयः ।
मनः प्रसन्नतामेति, पूज्यमाने जिनेश्वरे ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—

उपसर्गाः–उपसर्ग, आपत्तिया ।	**मनः**–मन ।
क्षयं यान्ति–नष्ट होते हैं ।	**प्रसन्नताम् एति**–प्रसन्नताको प्राप्त होता है ।
छिद्यन्ते–कट जाती हैं ।	**पूज्यमाने जिनेश्वरे**–जिनेश्वर देवका पूजन करनेसे ।
विघ्न–वल्लयः–विघ्नरूपी लताएँ ।	

अर्थ–सङ्कलना—

[श्रीजिनेश्वर देवका पूजन करनेसे समस्त प्रकारके उपसर्ग नष्ट होते हैं, विघ्नरूपी लताएँ कट जाती हैं और मन प्रसन्नताको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

मूल—

सर्व मङ्गल–माङ्गल्यं, सर्व–कल्याणकारणम् ।
प्रधानं सर्व–धर्माणां, जैनं जयति शासनम् ॥ १९ ॥]

शब्दार्थ—

सर्व–मङ्गल–माङ्गल्य०–अर्थ पूर्ववत्०

अर्थ–सङ्कलना—

सर्व मङ्गलोंमें मङ्गलरूप, सर्व कल्याणोंका कारण रूप और सर्व धर्मोंमें श्रेष्ठ ऐसा जैन शासन (प्रवचन) सदा जयवाला है ॥१९॥]

सूत्र–परिचय—

वीर–निर्वाणकी सातवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें शाकम्भरी नगरीमें किसी कारणसे कुपित हुई शाकिनीने महामारीका उपद्रव फैलाया। यह उपद्रव इतना भारी था कि इसमें ओषध और वैद्य कुछ भी काम नहीं आ सकते थे। इसलिये प्रतिक्षण मनुष्य मरने लगे और सारी नगरी श्मशान जैसी भयङ्कर दिखने लगी।

इस परिस्थितिमें कुछ सुरक्षित रहे हुए श्रावक जिनचैत्यमें एकत्रित होकर विचार करने लगे, तब आकाशसे आवाज हुई कि 'तुम चिन्ता क्यों करते हो? नाडूल नगरीमें श्रीमानदेवसूरी विराजते हैं, उनके चरणोंके प्रक्षालन जलका तुम्हारे मकानोंमें छिटकाव करो जिससे सम्पूर्ण उपद्रव शान्त हो जायगा।

इस वचनसे आश्वासन पाये हुए सङ्घने वीरदत्त नामके एक श्रावकको विज्ञप्ति–पत्र देकर नाडूल नगरी (नाडोल–मारवाडमें) श्रीमानदेवसूरिके पास भेजा।

सूरिजी तपस्वी, ब्रह्मचारी और मन्त्रसिद्ध महापुरुष थे तथा लोकोपकार करनेकी परम निष्ठावाले थे, इससे उनने शान्ति-स्तव नामका एक मन्त्रयुक्त चमत्कारिक स्तोत्र बनाकर दिया और चरणोदक भी दिया। यह शान्ति-स्तव लेकर वीरदत्त शाकम्भरी नगरीमें आया। वहाँ उनके चरण-जलका (शान्ति-स्तवसे मन्त्रित) अन्य जलके साथ मन्त्रित कर छिटकाव करनेसे तथा शान्ति-स्तवका पाठ करनेसे महामारीका उपद्रव शान्त हो गया, तबसे यह स्तव सब प्रकारके उपद्रवोंके निवारणार्थ बोला जाता है। प्रतिक्रमणमें यह कालान्तरसे प्रविष्ट हुआ है।

शान्ति-स्तव

प्रश्न—शान्ति-स्तवकी रचना किसने की है?

उत्तर—शान्ति-स्तवकी रचना वीरनिर्वाणकी सातवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें हुए श्रीमानदेवसूरिने की है।

प्रश्न—उनने इस स्तवकी रचना किसलिये की?

उत्तर—उनने इस स्तवकी रचना शाकम्भरी नगरीमें शाकिनीद्वारा किये हुए महामारीके उपद्रवका शमन करनेके लिये की थी, परन्तु इसमें विशेषता यह रखी कि इसका विधिवत् पाठ करनेसे अनेक प्रकारके भय दूर हों और उपद्रव शान्त हों।

प्रश्न—शान्तिस्तवका पाठ करनेसे कौनसे भय दूर होते हैं?

उत्तर—शान्ति-स्तवका पाठ करनेसे नीचे लिखे भय दूर होते हैं:—

(१) जलका भय (अतिवृष्टि बाढ़ आदि)।
(२) अग्निका भय।
(३) विषका भय।
(४) सर्पका भय।
(५) दुष्टग्रहका भय।
(६) राजका भय।
(७) रोगका भय।
(८) युद्धका भय, (लड़ाई-झगड़ा, आक्रमण आदिका भय)।

प्रश्न—शान्ति-स्तवका पाठ करनेसे कौनसे उपद्रव शान्त होते हैं ?

उत्तर—शान्ति-स्तवका पाठ करनेसे नीचे लिखे उपद्रव शान्त होते हैं:—

(१) राक्षसका उपद्रव ।

(२) शत्रुसमूहका उपद्रव ।

(३) महामारी (प्लेग) का उपद्रव ।

(४) चोरका उपद्रव ।

(५) ईतिसंज्ञक-उपद्रवः-(१) अतिवृष्टि होना, (२) बिलकुल वृष्टि न होना, (३) चूहोंकी वृद्धि होना, (४) पतंगे आदिका आधिक्य होना, (५) शुकोंकी बहुलता, (६) अपने राज्य-मण्डलमें आक्रमण होना और (७) शत्रु-सैन्यकी चढ़ाई, ये सात ईतिसंज्ञक उपद्रव है ।

(६) हिंसक (शिकारी) पशुओंका उपद्रव ।

(७) भूत-पिशाचका उपद्रव ।

(८) शाकिनी-डाकिनियोंका उपद्रव ।

प्रश्न—शान्ति-स्तवमें किसकी स्तुति की गयी है ?

उत्तर—शान्ति-स्तवमें श्रीशान्तिनाथ भगवान् तथा विजया-जयादेवीकी स्तुति की गयी है ।

प्रश्न—शान्ति-स्तवमें श्रीशान्तिनाथ भगवान्की स्तुति किस प्रकार की गयी है ?

उत्तर—शान्ति-स्तवमें प्रथम श्रीशान्तिनाथ भगवान्के सामान्य गुणोंकी स्तुति की गयी है, जैसे कि:-वे शान्तिके गृहसमान हैं, प्रशमरसमें निमग्न हैं, अशिवका नाश करनेवाले हैं, आदि । तदनन्तर पाँच गाथाओंसे नाम-मन्त्र-स्तुति की गयी है ।

प्रश्न—नाम-मन्त्र स्तुतिमें क्या आता है ?

उत्तर—नाम-मन्त्र स्तुतिमें सोलह नाम-मन्त्र आते हैं; वे इस प्रकारः—

(१) ॐ **निश्चितवचसे** शान्तिनाथाय नमो नमः ॥

(२) ॐ **भगवते** शान्तिजिनाय नमो नमः ॥

(३) ॐ **अर्हते** शान्तिजिनाय नमो नमः ॥

(४) ॐ **जयवते** शान्तिजिनाय नमो नमः ॥

(५) ॐ **यशस्विने** शान्तिजिनाय नमो नमः

(६) ॐ **दमिनां स्वामिने** शान्तिजिनाय नमो नमः ॥

(७) ॐ **सकलातिशेषक-महासम्पत्ति-समन्विताय** शान्ति-जिनाय नमो नमः ॥

(८) ॐ **शस्याय** शान्तिजिनाय नमो नमः ॥

(९) ॐ **शान्तिदेवाय** शान्तिजिनाय नमो नमः ॥

(१०) ॐ **त्रैलोक्यपूजिताय** शान्तिजिनाय नमो नमः ॥

(११) ॐ **सर्वामरसुसमूह-स्वामिक-सम्पूजिताय** शान्ति-जिनाय नमो नमः ॥

(१२) ॐ **निर्जिताय** शान्तिजिनाय नमो नमः ॥

(१३) ॐ **भुवनजनपालनोद्यततमाय** शान्तिजिनाय नमो नमः ॥

(१४) ॐ **सर्वदुरितौघनाशनकराय** शान्तिजिनाय नमो नम; ॥

(१५) ॐ **सर्वाशिवप्रशमनाय** शान्तिजिनाय नमो नमः

(१६) ॐ **दुष्टग्रह-भूत-पिशाच-शाकिनी-प्रमथनाय** शान्ति-जिनाय नमो नमः ॥

प्रश्न—इन नाम-मन्त्रोंसे क्या होता है ?

उत्तर—इन नाम-मन्त्रोंवाले वाक्य-प्रयोगोंसे विजया-जयादेवी तुष्ट होकर ऋद्धि-सिद्धि प्रदान करती हुई लोक-हित करती है ।

प्रश्न—शान्ति-स्तवमें विजया-जया देवीकी स्तुति किस प्रकारकी हुई है ?

उत्तर—शान्ति-स्तवमें प्रथम विजया-जया-देवीकी नामस्तुति की हुई है और फिर मन्त्रस्तुति की हुई है।

प्रश्न—विजया-जया देवीकी नामस्तुतिमें क्या आता है ?

उत्तर—विजया-जया देवीकी नामस्तुतिमें चौबीस नामोंके सम्बोधनपूर्वक भय और उपद्रवसे रक्षण करनेकी और शान्ति, तुष्टि, पुष्टि और स्वस्ति देनेकी प्रार्थना करनेमें आयी है।

प्रश्न—वह किस प्रकार ?

उत्तर—सातवीं गाथामें भगवती[१], विजया[२], सुजया[३], अजिता[४], अपराजिता[५], जयावहा[६] और भवती[७], ये सात नाम आते है। आठवीं गाथामें 'भद्र-कल्याण-मङ्गल-प्रददे!' इस वाक्यसे भद्रा[८], कल्याणी[९] और मङ्गला[१०] का सूचन होता है एवं 'शिव-सुतुष्टि-पुष्टिप्रदे!' से शिवा[११], तुष्टिदा[१२] और पुष्टिदा[१३] का सूचन होता है। नौवीं गाथामें 'भव्यानां कृतसिद्धे!' सिद्धिदायिनीका[१४] 'निर्वृति-निर्वाण-जननि!' इस पदसे निर्वृति[१५] और निर्वाणी[१६] नामका और 'अभय-प्रदान-निरते!' तथा 'स्वस्तिप्रदे!' पदसे अभया[१७] और क्षेमङ्करी[१८] का सूचन होता है। दसवीं गाथामें 'शुभावहे!' पदसे शुभङ्करीका[१९] तथा 'धृति-रति-मति-बुद्धि-प्रदानाय' पदसे सरस्वतीका[२०] सूचन होता है। इसी प्रकार ग्यारहवीं गाथामें 'श्री-सम्पत्-कीर्ति-यशो-वर्धिनी।' पदसे श्रीदेवता[२], रमा[२२], (सम्पत्ति बढ़ानेवाली), कीर्तिदा[२३] और यशोदा[२४] का सूचन होता है। इस प्रकार सातवीं गाथासे लेकर ग्यारहवीं गाथा तक चौबीस नाम गूँथे हुए हैं और बारहवीं तथा तेरहवीं गाथामें सलिलादि-भयोंसे एवं राक्षसादि उपद्रवोंसे रक्षण करनेकी तथा शान्ति, तुष्टि, पुष्टि और स्वस्ति देनेकी प्रार्थना की हुई है।

प्रश्न—विजया-जया देवीकी मन्त्रस्तुतिमें क्या आता है ?

उत्तर—विजया-जया देवीकी मन्त्रस्तुतिमें ‘ॐ नमो नमो ह्रॉँ ह्रीँ ह्रूँ ह्रः यः क्षः ह्रौँ फट्-फट् स्वाहा’ इन मन्त्राक्षर-पूर्वक शिव, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि और स्वस्ति करनेकी प्रार्थना आती है। सारांश यह है कि इन दोनों प्रकारकी स्तुतिद्वारा उपद्रवोंका निवारण तथा शान्ति, तुष्टि, पुष्टि और क्षेम प्राप्तिकी इच्छा की गयी है और मन्त्रसे प्रसन्न हुई देवी भक्तोंको यथाभिलषित लाभ देती है।

प्रश्न—शान्ति-स्तवकी गाथाएँ कितनी हैं?

उत्तर—सत्रह। अन्तकी दो गाथाएँ सुभाषितके रूपमें बोली जाती हैं।

४३ पासनाह-जिण-थुई

[‘ चउक्कसाय ’–सूत्र]

मूल—

[पादाकुलक]

चउक्कसाय--पडिमल्लुल्लूरणु,
दुज्जय–मयण–बाण–मुसुमूरणु ।
सरस–पियंगु–वण्णु गय–गामिउ,
जयउ पासु भुवणत्तय–सामिउ ॥ १ ॥

[अडिल्ल]

जसु–तणु–कंति–कडप्प सिणिद्धउ,
सोहइ फणि–मणि–किरणालिद्धउ ।
नं नव–जलहर तडिल्लय–लंछिउ,
सो जिणु पासु पयच्छउ वंछिउ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—

चउक्कसाय–पडिमल्लुल्लूरणु–चार कषायरूपी शत्रु योद्धाओंका नाश करनेवाले ।

चउक्कसाय–क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय । पडिमल्ल–सामने लड़नेवाला योद्धा । उल्लुल्लूरणु–नाश करनेवाला ।

दुज्जय-मयण-बाण-मुसुमूरणु–कठिनाईसे जीते जाएँ ऐसे कामदेवके बाणोंको तोड़ देनेवाले। दुज्जय–कठिनाईसे जीता जाय ऐसा। मयण-बाण–कामदेवके बाण। मुसुमूरणु–तोड़ देनेवाला।

सरस-पियंगु-वण्णु–नवीन (ताजा) प्रियङ्गुलता जैसे वर्णवाले। सरस–ताजा, नवीन। पियंगु–एक प्रकारकी वनस्पति, प्रियङ्गु। वण्णु–वर्ण, रंग।

गय-गामिउ–हाथीके समान गतिवाले।

जयउ–जयको प्राप्त हों।

पासु–पार्श्वनाथ।

भुवणत्तय-सामिउ–तीनों भुवनके स्वामी।

जसु–जिनके।

तणु-कंति-कडप्प–शरीरका तेजो-मण्डल।

सिणिद्धउ–कोमल, मनोहर।

सोहइ–शोभित होता है।

फणि-मणि-किरणालिद्धउ–नाग-मणिके किरणोंसे युक्त। फणि–नाग। मणि–मस्तकपर स्थित मणि।

नं–वस्तुतः।

नव-जलहर–नवीन मेघ। नव–नवीन। जलहर–मेघ, बादल।

तडिल्लय-लंछिउ–बिजलीसे युक्त तडिल्लय–बिजली। लंछिउ–युक्त, सहित।

सो–वह, वे।

जिणु–जिन।

पासु–श्रीपार्श्वनाथ।

पयच्छउ–प्रदान करें।

वंछिउ–वाञ्छित, मनोवाञ्छित।

अर्थ-सङ्कलना–

चार कषायरूपी शत्रु–योद्धाओंका नाश करनेवाले, कठिनाईसे जीते जायँ ऐसे कामदेवके बाणोंको तोड़देनेवाले, नवीन प्रियङ्गुलताके समान वर्णवाले, हाथीके समान गतिवाले, तीनों भुवनके स्वामी श्रीपार्श्वनाथ जयको प्राप्त हों ॥ १ ॥

जिनके शरीरका तेजोमण्डल मनोहर है, जो नागमणिकी किरणोंसे युक्त और जो वस्तुतः बिजलीसे युक्त नवीन मेघ हों, ऐसे शोभित हैं वे श्रीपार्श्वजिन मनोवाञ्छित फल प्रदान करें ॥ २ ॥

सूत्र-परिचय--

इस सूत्रमें श्रीपार्श्वनाथ भगवान्की स्तुति की गयी है। अतः ये 'पास-नाह-जिण-थुई' कहलाती है। पहले शब्दसे इसको 'चउक्कसाय-सूत्र भी कहते हैं।

एक अहोरात्रमें साधु और श्रावकको सात चैत्यवन्दन करने होते हैं, उनमें साधु सातवाँ चैत्यवन्दन 'संथारा-पोरिसी' पढ़ाते समय करते हैं और श्रावक सोते समय सातवाँ चैत्यवन्दन करना भूल न जायँ, इसलिये देवसिय-पडिक्कमणके अन्तमें सामायिक पारते समय 'लोगस्स' सूत्र कहनेके पश्चात् करते हैं, तब इस सूत्रका उपयोग होता है।

४४ भरहेसर-सज्झाओ

['भरहेसर-बाहुबली '-सज्झाय]

मूल—

[गाहा]

भरहेसर बाहुबली, अभयकुमारो अ ढंढणकुमारो ।
सिरिओ अणिआउत्तो, अइमुत्तो नागदत्तो अ ॥ १ ॥
मेअज्ज थूलभद्दो, वयररिसी नंदिसेण सीहगिरी ।
कयवन्नो अ सुकोसल, पुंडरिओ केसि करकंडू ॥ २ ॥
हल्ल विहल्ल सुदंसण, साल महासाल सालिभद्दो अ ।
भद्दो दसणभद्दो, पसण्णचंदो अ जसभद्दो ॥ ३ ॥
जंबुपहु वंकचूलो, गयसुकुमालो अवंतिसुकुमालो ।
धन्नो इलाइपुत्तो, चिलाइपुत्तो अ बाहुमुणी ॥ ४ ॥
अज्जगिरी अज्जरक्खिअ, अज्जसुहत्थी उदायगो मणगो ।
कालयसूरी संबो, पज्जुण्णो मूलदेवो अ ॥ ५ ॥
पभवो विण्हुकुमारो, अद्दकुमारो दढप्पहारी अ ।
सिज्जंस कूरगडू अ, सिज्जंभव मेहकुमारो अ ॥ ६ ॥
एमाइ महासत्ता, दिंतु सुहं गुण-गणेहिं संजुत्ता ।
जेसिं नाम-ग्गहणे, पाव-प्पबंधा विलय जंति ॥ ७ ॥
सुलसा चंदणबाला, मणोरमा मयणरेहा दमयंती ।

नमयासुंदरी सीया, नंदा भद्दा सुभद्दा य ॥ ८ ॥
राइमई रिसिदत्ता, पउमावई अंजणा सिरीदेवी ।
जिट्ठ सुजिट्ठ मिगावइ, पभावई चिल्लणादेवी ॥ ९ ॥
बंभी सुंदरी रुप्पिणी, रेवइ कुंती सिवा जयंती अ ।
देवइ दोवइ धारणी, कलावई पुप्फचूला य ॥ १० ॥
पउमावई अ गोरी, गंधारी लक्खमणा सुसीमा य ।
जंबूवई सच्चभामा, रुप्पिणी कण्हट्ठ महिसीओ ॥ ११ ॥
जक्खा य जक्खदिन्ना, भूआ तह चेव भूअदिन्ना अ ।
सेणा वेणा रेणा, भइणीओ थूलभद्दस्स ॥ १२ ॥
इच्चाइ महासइओ, जयंति अकलंक-सील-कलिआओ ।
अज्ज वि वज्जइ जासिं, जस-पडहो तिहुअणे सयले ॥१३॥

शब्दार्थ—

सरल है ।

अर्थ-सङ्कलना--

भरतेश्वर, बाहुबली, अभयकुमार, ढंढणकुमार, श्रीयक, अर्णिका-पुत्र, अतिमुक्त और नागदत्त ॥ १ ॥

मेतार्यमुनि, स्थूलभद्र, वज्रऋषि, नंदिषेण, सिंहगिरि, कृतपुण्य, सुकोशलमुनि, पुण्डरीक, केशी और करकण्डू (प्रत्येक बुद्ध)॥ २ ॥

हल्ल, विहल्ल, सुदर्शन शेठ, शाल और महाशाल मुनि, शालिभद्र, भद्रबाहु स्वामी, दशार्णभद्र, प्रसन्नचन्द्र राजर्षि और यशोभद्रसूरि ॥३॥

जम्बूस्वामी, वङ्कचूल राजकुमार, गजसुकुमाल, अवन्तिसुकुमाल, धन्नो (न्य), इलाचीपुत्र, चिलातीपुत्र और बाहुमुनि ॥ ४ ॥

आर्यमहागिरी, आर्यरक्षित, आर्य सुहस्तिसूरि, उदायन राजर्षि, मनककुमार और मूलदेव (राजा) ॥ ५ ॥

प्रभवस्वामी, विष्णुकुमार, आर्द्रकुमार, दृढप्रहारी, श्रेयांस, कूरगडु साधु, शय्यम्भव-स्वामी और मेघकुमार ॥ ६ ॥

इत्यादिक जो महापुरुष अनेक गुणोंसे युक्त हैं और जिनका नाम लेनेसे पापके दृढबन्ध नष्ट हो जाते हैं, वे सुख प्रदान करें ॥७॥

सुलसा, चन्दनबाला, मनोरमा, मदनरेखां, दमयन्ती, नर्मदा-सुन्दरी, सीता, नन्दा, भद्रा और सुभद्रा ॥ ८ ॥

राजिमती, ऋषिदत्ता, पद्मावती, अञ्जनासुन्दरी, श्रीदेवी, ज्येष्ठा, सुज्येष्ठा, मृगावती, प्रभावती और चेल्लणा रानी ॥ ९ ॥

ब्राह्मी, सुन्दरी, रुक्मिणी, रेवती, कुन्ती, शिवा, जयन्ती, देवकी, द्रौपदी, धारणी, कलावती और पुष्पचूला ॥ १० ॥

तथा पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जम्बूवती, सत्यभामा, रुक्मिणी ये आठ कृष्णकी पटरानियाँ ॥ ११ ॥

यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, सेना, वेना और रेणा ये सात स्थूलभद्रकी बहिनें ॥ १२ ॥

इत्यादि निष्कलङ्क शीलको धारण करनेवाली महासतियाँ जयको प्राप्त होती हैं कि जिनके यशका पटह आज भी समग्र त्रिभुवनमें बज रहा है ॥ १३ ॥

सूत्र-परिचय

प्रातःस्मरणीय महापुरुष और महासतियोंका स्मरण करनेके लिये यह सज्झाय प्रातःकालमें राइय-पडिक्कमण करते समय बोली जाती है। इसमें बताये हुए महापुरुषों तथा महासतियोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

महापुरुष

१ **भरतः**—श्रीऋषभदेव भगवान्‌के सबसे बड़े पुत्र और प्रथम चक्रवर्ती। ये एक समय आरीसा-भुवनमें अपने अलङ्कृत शरीरको देखते थे, इतनेमें एक उँगलीमेंसे अँगूठी निकल गयी, इसलिये वह शोभारहित लगी। यह देखकर अन्य अलङ्कार भी उतारे, तो सारा शरीर शोभारहित लगने लगा। इससे 'अनित्यं संसारे भवति सकलं यन्नयनगम्' संसारमें जो वस्तुएँ आँखोंसे देखी जाती हैं, वे सब नश्वर हैं, ऐसी अनित्य-भावना होने लगी और केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। तब इन्द्रमहाराजने आकर कहा कि—'आप द्रव्यलिङ्ग धारण करिये, हम दीक्षाका महोत्सव करते हैं।' इन्होंने पञ्चमुष्टि-लोच किया और देवताओंसे दिये गये रजोहरण-पात्र आदि ग्रहण किये। अन्तमें अष्टापद पर्वतपर निर्वाणको प्राप्त हुए।

२ **बाहुबलीः**—भरत चक्रवर्तीके छोटे भाई। भगवान् ऋषभदेवने उनको तक्षशिलाका राज्य दिया था। उनका बाहुबल असाधारण था, इस कारण चक्रवर्तीकी आज्ञा नहीं मानते थे। इससे भरत चक्रवर्तीने उनपर चढ़ाई की और दृष्टियुद्ध, वाग्युद्ध, बाहुयुद्ध और दण्डयुद्ध किया, जिसमें वे हार गये। अन्तमें भरतने मुष्टिप्रहार किया, उससे बाहुबली कटि (कमर) तक जमीनमें धुस गये। उसका प्रत्युत्तर देनेके लिये बाहुबलीने भी मुट्ठी उठायी। यदि यह मुष्टि भरतपर पड़ी होती तो उनका प्राण निकल जाता; परन्तु इसी समय

बाहुबलीकी विचारधारा पलट गयी कि नश्वर राज्यके लिये बड़े भाईकी हत्या करनी उचित नहीं, इससे मुट्ठी वापस नहीं उतारते हुए उससे मस्तकके केशोंका लोच किया और भगवान् ऋषभदेवके पास जानेको तत्पर हुए, किन्तु उसी समय विचार आया कि मुझसे छोटे अठानवे भाई दीक्षा लेकर केवलज्ञानको प्राप्त हुए, वे वहाँ उपस्थित हैं उनको मुझे वन्दन करना पड़ेगा; अतः मैं भी केवलज्ञान प्राप्त करके ही वहाँ जाऊँ।' इस विचारसे वहीं कायोत्सर्गमें स्थिर रहे। एक वर्षतक उग्रतप करनेपर भी उनको केवलज्ञान नहीं हुआ, तब प्रभुने उनको प्रतिबोध देनेके लिये ब्राह्मी और सुंदरी नामकी साध्वियोंको भेजा, जो कि संसारी अवस्थामें उनकी बहिनें थीं। उनने आकर कहा 'हे भाई! हाथीकी पीठसे उतरो, हाथीपर चढ़े हुए केवलज्ञान नहीं होता है– वीरा मोरा गज थकी उतरो, गज चढ्ये केवल न होय रे!' यह सुनकर बाहुबली चौंक पड़े। यह बात अभिमानरूपी हाथीकी थी। अन्तमें भावना शुद्ध होनेसे उन्हें वहीं केवलज्ञान प्राप्त हुआ। तदनन्तर वे श्रीऋषभदेव भगवान्के पास गये और उनको वन्दन करके केवलियोंकी परिषद्में विराजित हुए।

३ अभयकुमारः—ये श्रेणिक राजाके पुत्र थे। इनकी माताका नाम सुनन्दा था। बाल्यावस्थामें ही खाली कुएमें गिरी हुई अँगूठीको अपने बुद्धि-चमत्कारसे ऊपर ले आये, जिससे प्रसन्न होकर श्रेणिक राजाने इनको मुख्य-मन्त्री बनाया। ये औत्पत्तिकी, वैनयिकी कार्मिकी और पारिणामिकी-इन चारों बुद्धियोंके स्वामी थे। पिताके कार्यमें इन्होंने बहुत सहायता की थी। अन्तमें प्रभु महावीरसे दीक्षा ले, उत्कृष्ट तपकर मोक्ष प्राप्त किया। आज भी व्यापारीवर्ग शारदा-पूजनके समय अपनी बहीमें 'अभयकुमारकी बुद्धि हो' यह वाक्य लिखकर इनका स्मरण करता है।

४ ढंढणकुमारः—ये श्रीकृष्ण वासुदेवकी ढंढणा नामक रानीके पुत्र थे। इन्होंने बाईसवें तीर्थङ्कर श्रीनेमिनाथसे दीक्षा ग्रहण की थी, परन्तु पूर्व-कर्मके उदयसे शुद्धभिक्षा नहीं मिलती थी, इसलिये अभिग्रह किया कि

'स्वलब्धिसे भिक्षा मिले तब ही लेनी।' एक समय भिक्षाके लिये ये द्वारिकामें फिरते थे, उस समय श्रीकृष्णने वाहन (रथ) से नीचे उतरकर भक्तिभावसे वन्दन किया। यह देखकर किसी श्रेष्ठिने उनको उत्तम मोदक वहोराये (भिक्षामें दिये), परन्तु 'यह आहार स्वलब्धिसे नहीं मिला,' ऐसा प्रभुके मुखसे जानकर, उसको कुम्हारकी शालामें परठवनेके हेतु चले। उस समय उत्तम भावना करनेसे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

५ **श्रीयकः**—ये शकडाल मन्त्रीके पुत्र और स्थूलभद्रके छोटे भाई थे। पिताकी मृत्युके अनन्तर नन्दराजाका मन्त्रीपद इनको प्राप्त हुआ था। धर्मपर अतीव अनुराग होनेसे लगभग सौ जिनमन्दिर और करीब तीनसौ धर्मशालाएँ बनवायीं थीं तथा अन्य भी धर्मके अनेक कार्य किये थे। अन्तमें इन्होंने दीक्षा ग्रहण की और पर्युषण-पर्वमें उपवासका आराधन करते हुए कालधर्मको प्राप्त हुए।

६ **अर्णिका-पुत्र आचार्यः**—उत्तर मथुरामें देवदत्त नामका एक वैश्य रहता था। वह धन कमानेके लिये दक्षिण-मथुरामें आया और वहाँ अर्णिकाके साथ उसके लग्न हुए। वहाँसे वापस उत्तर-मथुरामें जाते समय अर्णिकाने मार्गमें पुत्रको जन्म दिया और उसका नाम सन्धीरण रखा, परन्तु जनतामें वे अर्णिकापुत्र के नामसे प्रसिद्ध हुए। योग्य आयुमें जयसिंह आचार्यसे दीक्षा ग्रहणकर क्रमानुसार वे आचार्य हुए। कुछ समय पश्चात् पुष्पचूल राजा की रानी-पुष्पचूलाने इनसे प्रतिबोध प्राप्तकर दीक्षा ली। एक समय दुष्काल पड़नेसे अन्य मुनिगण तो देशान्तर चले गये, किन्तु अर्णिका-पुत्र आचार्य वृद्ध होनेके कारण पुष्पचूल राजाके आग्रहसे वहीं रहे। पुष्पचूला उनका वेयावच्च करती थी, ऐसा करते २ उसको केवलज्ञान हुआ। इस बातका आचार्यको समाचार मिला, तब उन्होंने केवली पुष्पचूलासे क्षमा माँगी और अपना मोक्ष कब होगा, यह प्रश्न पूछा? इसका उत्तर मिला कि 'गङ्गा नदी पार उतरते समय तुम्हारा मोक्ष होगा।' थोडे समयके बाद जब वे अन्य मनुष्योंके साथ नौकामें बैठ कर गङ्गा नदी पार करते थे तब

जिस ओर आचार्य थे, उसी आरसे नौका भारी होने लगी। इससे लोगोंने उठा कर नदीमे फैंक दिया, परन्तु समभावमें स्थिर रहनेसे उसी समय उनको केवलज्ञान प्राप्त हुआ। इन आचार्यका शरीर तिरता हुआ नदीके किनारे आ गया। उस स्थान पर कुछ समयके अनन्तर पाटल नामक पौधा लग गया कि जहाँ कालान्तरमें पाटलिपुत्र नामका सुन्दर शहर बसा।

७ अतिमुक्त मुनिः—पेढालपुर नगरमें विजय नामका राजा राज्य करता था। उसकी श्रीमती नामकी रानी थी। उसको एक पुत्र हुआ। उसका नाम अतिमुक्त रखा। इस कुमारने आठ वर्षकी अवस्थामें माता-पिताकी अनुमति लेकर श्रीगौतमस्वामीसे दीक्षा ली थी। ये एक समय प्रातःकालमें कुछ समयसे पूर्व गोचरी करनेके लिये निकले और एक सेठके यहाँ गये, तब सेठकी पुत्रवधूने कहा कि 'अभी कैसे? क्या बिलम्ब हो गया क्या!' शब्द द्व्यर्थक थे। गोचरी और दीक्षा दोनोंको लागू पड़ते थे। मुनि उनका मर्म समझ कर बोले कि 'मै जो जानता हूँ, वह नहीं जानता।' यह सुनकर चतुर पुत्रवधू विचारमें पड़ गयी। अन्तमे मुनिने उसका मर्म समझाया कि मरण निश्चित है, यह बात मैं जानता हूँ, किन्तु कब होगा, यह मैं नहीं जानता। एक समय वर्षा होनेके पश्चात् अन्य बालकोंके साथ ये बालमुनि भी पत्तोंकी नाव बना कर पानीमे तिराने लगे। उस समय श्रीगौतमस्वामी उधरसे निकले, उन्हें उनके मुनिधर्मका ध्यान आया और सहसा ये लज्जित हो गये। फिर श्रीमहावीर प्रभुके पास जाकर 'ईरियावहिया' आलोचन करते हुए 'दगमट्टी दगमट्टी' ऐसा शब्दोच्चार करने लगे तब पृथ्वीकाय तथा अपकायके जीवोंसे क्षमा माँगते हुए पापका अत्यन्त पश्चात्ताप होनेसे भावनाकी परम विशुद्धि हुई और केवलज्ञानी हुए।

८ नागदत्तः—(१) वाराणसी नगरीमें यज्ञदत्त नामका एक सेठ रहता था, उसकी धनश्री नामकी स्त्री थी। उसके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम नागदत्त रखा गया। उसका विवाह नागवसु नामकी कन्याके साथ हुआ। एक समय नगरका राजा अपना घोड़ा दौड़ाता हुआ जा रहा था, तब

उसके कानमेंसे एक कुण्डल नीचे गिर गया। उसी मार्गसे होकर नागदत्त निकला, परन्तु उसको दूसरेकी वस्तु नहीं लेनेकी प्रतिज्ञा थी, इससे वह कुण्डलपर दृष्टि डाले बिना चला गया और उपाश्रयमें जाकर कायोत्सर्गमें स्थिर रहा। इसी समय नगरका कोटवाल (कोतवाल) जो इसकी पत्नीको चाहता था, वह वहाँसे निकला और उसने वह कुण्डल नागदत्त के पास जाकर रख दिया।

राजाने देखा तो कुण्डल मिला नहीं। फिर कोतवालने ढूँढ़नेका बहाना करके कहा कि 'महाराज! आपका कुण्डल नागदत्तके पाससे मिल गया है।' इसलिये उसको शूलीपर चढाया गया, किन्तु सत्यके प्रभावसे शूलीका सिंहासन हो गया और शासनदेवीने प्रकट होकर कहा कि-'यह नागदत्त उत्तम पुरुष है, यह प्राण जानेपर भी दूसरेकी वस्तुका स्पर्श नहीं कर सकता। पहले धनदत्त सेठने इसकी एकसौ सोनेकी मोहरें रख ली थीं और अभी कोतवालने इस पर झूँठा आरोप किया है।' यह सुनकर राजाने उन दोनोंको दण्ड दिया।

अन्तमें नागदत्तने दीक्षा अङ्गीकृत की और सर्व कर्मोंका क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया तथा मोक्षलक्ष्मी का स्वामी हुआ।

नागदत्त—(२) लक्ष्मीपुर नगरमें दत्त नामका एक सेठ था। उसकी स्त्रीका नाम देवदत्ता था। उसके एक पुत्र हुआ। जिसका नाम नागदत्त रखा। वह नागकी क्रीडामें अत्यन्त निपुण था। एक समय उसको प्रतिबोध करानेके लिये उसका देवमित्र गारुडीका रूप लेकर उसके निकट आया और वे परस्पर एक दूसरेके सर्पोंको खिलाने लगे। तब गारुडीको तो कुछ भी नहीं हुआ, परन्तु नागदत्त गारुडीके सर्पोंके दंशसे मूर्च्छित हो गया; तब गारुडिकने उसको जिलाया और अपना पूर्वभव सुनाया कि हम दोनों पूर्वभवमें मित्रदेव थे। इससे नागदत्तको जाति-स्मरण हुआ और उसने दीक्षा ग्रहण की। तदनन्तर क्रोध-मान-माया-लोभरूपी अन्तरङ्ग शत्रुओंको वशमें करके मुक्तिको प्राप्त हुए।

९ **मेतार्यमुनिः**—ये चाण्डालके वहाँ उत्पन्न हुए थे, किन्तु इनका लालन-पालन राजगृहीके एक श्रीमन्तके घर हुआ था। पूर्वजन्मके मित्र-देवकी सहायतासे अद्भुत कार्य सिद्ध करनेसे महाराजा श्रेणिकके जामाता बने थे। बारह वर्ष तक गृहस्थ-जीवन व्यतीत कर अट्ठाईस वर्षकी आयुमें दीक्षा ग्रहण की। एक समय किसी सुनारके यहाँ ये गोचरी लेनेको गये। वह सुनार सोनेके अलङ्कार-जव बना रहा था, उन्हें छोड़कर घरके अन्दर आहार लेने गया। इतनेमें क्रौञ्च पक्षी आकर वे जव चुग गया। सोनी बाहर आया और जव न देखकर मुनिके प्रति शङ्कित हो पूछने लगा कि 'महाराज! सुवर्णके जव कहाँ गये?' महात्मा मेतार्य मुनिने सोचा कि 'यदि मैं पक्षीका नाम लूँगा तो यह सुनार उसको अवश्य मार डालेगा' इसलिये मौन रहे। उन्हें मौन देखकर सुनारकी शङ्का पक्की हो गयी और उनको स्वीकृत करानेके विचारसे मस्तकपर गीले चमड़ेकी पट्टी खूब कसकर बाँधी तथा धूपमें खड़े रखे। उस पट्टीके सङ्कुचित होनेसे तथा मस्तकपर रक्तका दबाव बढ़जानेसे असह्यपीड़ा होने लगी, परन्तु उसको कर्म-क्षयका उत्तम मार्ग मानकर वे कुछ भी नहीं बोले। अन्तमें उनके दोनों नेत्र बाहर निकल पड़े। इस असह्य-वेदनाको समभावसे सहन करनेके कारण उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

१० **स्थूलभद्रः**--ये नन्दराजाके मन्त्री शकडालके ज्येष्ठ पुत्र थे और यौवनावस्थामें कोशा नामकी गणिकाके मोहमें फँस गये थे। कालान्तरमें वैराग्य प्राप्तकर आचार्य सम्भूतिविजयसे दीक्षा ग्रहण की। श्रीभद्रबाहुस्वामीसे इन्होंने दशपूर्वका ज्ञान प्राप्त किया था। एक समय इनकी चिर-परिचिता कोशा वेश्याके यहाँ गुरुकी आज्ञासे चातुर्मास किया और सब प्रकारके प्रलोभनोंका सामना करके अपने संयम-नियममें सम्पूर्ण सफलता प्राप्त करनेके साथ ही इन्होंने कोशाको भी संयममें स्थिर रखा। गुरुने इनके कार्यको 'दुष्कर, दुष्कर, दुष्कर' कहा था।

११ **वज्रस्वामीः**—तुम्बवनमें इनका जन्म हुआ था। पिताका नाम धनगिरि और माताका नाम सुनन्दा था। इनके जन्म लेनेसे पूर्व ही पिता

धनगिरिने दीक्षा ग्रहण की। एक बार वे भिक्षाके लिये अपने पहलेवाले घरपर आये, तब बालकके बहुत रोनेसे परेशान होकर माताने वह बालक मुनि(पिता)को बहोरा दिया। बालकका नाम गुरुने वज्र रखा। कुछ वर्षोंके अनन्तर माताने बालकको वापस लेनेके हेतु राजद्वारमें आवेदन किया; किन्तु राजाने बालककी इच्छानुसार न्याय दिया और वज्रस्वामी साधुओंके समुदायमें विद्यमान रहे। बाल्यवयमें ही इन्होंने पठन-पाठन करती हुई आर्याओंके मुखसे श्रवणकर पदानुसारी लब्धिसे ग्यारह अङ्ग याद कर लिये थे। इन्होंने अपने संयमसे प्रसन्न बने हुए मित्र देवोंसे आकाशगामिनी विद्या और वैक्रियलब्धि प्राप्त की थी।

इनके समयमें बारहवर्षी भयङ्कर दुष्काल पड़ा, जिसमें इनके पाँचसौ शिष्य गोचरी नहीं मिलनेके कारण अनशन कर कालधर्मको प्राप्त हुए थे। ये आर्यसिंहगिरिके शिष्य और प्रभु महावीरके तेरहवें पट्टधर थे। दसवें पूर्वधरके रूपमें ये अन्तिम माने जाते हैं। शासन-सेवाके अनेक कार्य कर अनशन-पूर्वक कालधर्मको प्राप्त हुए।

१२ **नन्दिषेण**:—इस नामसे दो महापुरुषोंके चरित्र प्राप्त होते हैं, एक तो अद्भुत वैयावृत्य करनेवाले नन्दिषेण; कि जिनको देवता भी डिगा नहीं सके और दूसरे श्रेणिक राजाके पुत्र नन्दिषेण कि जिन्होंने प्रभु महावीरकी देशनासे प्रतिबोध प्राप्त करके दीक्षा ली थी। उग्र तपश्चर्याके कारण इनको कुछ लब्धियाँ प्राप्त हुई थी। ये एक बार गोचरीके प्रसङ्गसे एक वेश्याके यहाँ चले गये और 'धर्मलाभ' कहकर खड़े रहे। वेश्या बोली:— 'हे मुनिराज! तुम्हारे धर्मलाभको मैं क्या करूँ? यहाँ तो द्रव्य लाभकी आवश्यकता है!' यह सुनकर मुनिने एक तिनका खींचा जिससे लगातार सुवर्णकी वृष्टि हुई। यह देखकर वेश्या बोली-हे प्रभो! मूल्य देकर ऐसे ही नहीं जाया जाता। मुझपर दया करो! आप चले जायेंगे तो मेरे मरणसे आपको स्त्रीहत्या लगेगी, आदि।' मुनिधर्मका उल्लङ्घन करके भी वेश्याके यहाँ रहे, किन्तु इस बार ऐसा अभिग्रह किया कि प्रतिदिन दस पुरुषोंको उपदेश देकर,

धर्ममें श्रद्धायुक्त बनाकर प्रभुके निकट भेजना। बारह वर्ष तो इस प्रकार व्यतीत हुए, किन्तु एक दिन ऐसा आया कि दसवाँ व्यक्ति समझा नहीं। नन्दिषेणने बहुत परिश्रम किया किन्तु वह सब व्यर्थ गया। तब वेश्याने विनोद करते हुए कहा कि 'स्वामिन्! दसवें आप।' इसी समय मोहनिद्रा टूट जाने से नन्दिषेणने पुनः दीक्षा ग्रहण की और आत्मकल्याण किया।

१३ **सिंहगिरिः**—ये प्रभु महावीरके बारहवें पट्टपर विराजनेवाले प्रभावशाली आचार्य थे और वज्रस्वामीके गुरु थे।

१४ **कृतपुण्यक** (कयवन्ना सेठ):—ये पूर्वजन्ममे मुनिको दान देनेसे राजगृही नगरीमें धनेश्वर नामक श्रेष्ठीके यहाँ पुत्ररूपमें अवतरित हुए। फिर अनुक्रमसे इन्होंने श्रेणिक राजाका आधा राज्य प्राप्त किया तथा उनकी पुत्री मनोरमाके स्वामी बने। संसारके अनेक भोग भोगनेके पश्चात् प्रभु महावीरके मुखसे अपने पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनकर इन्होंने दीक्षा ग्रहण की और विविध तप करके अपनी आत्माका कल्याण किया। आज भी 'कयवन्ना सेठका सौभाग्य हो' ऐसे शब्द नये वर्षकी बहीमें लिखे जाते हैं।

सुकोशलमुनिः—ये अयोध्याके राजा कीर्तिधरके पुत्र थे। इनकी माताका नाम सहदेवी था। पहले कीर्तिधरने दीक्षा ली और बादमें उनका उपदेश सुनकर इन्होंने दीक्षा ली थी। इनकी माता सहदेवी पति और पुत्रका वियोग असह्य होनेके कारण आर्त्तध्यान करती हुई मरणको प्राप्त होकर, एक जङ्गलमें सिंहिनी हुई। एक बार दोनों राजर्षि उसी जङ्गलमें गये और कायोत्सर्ग ध्यानमे खड़े रहे, तब इस सिंहिनीने आकर सुकोशल मुनिपर आक्रमण किया और उनके शरीरको चीर डाला, परन्तु ये धर्मध्यानसे तनिक भी विचलित नहीं हुए। इसप्रकारकी अचल और प्रबल धर्मभावना होनेसे अन्तकृत् केवली हुए और मोक्षमें गये।

१६ **पुण्डरीकः**—पिताने ज्येष्ठ पुत्र पुण्डरीकको राज्य सौंपकर संयम धारण किया, तब कनिष्ठपुत्र कण्डरीकने उनके साथ दीक्षा ली, परन्तु उसका पालन न हो सकनेसे वह चारित्रभ्रष्ट होकर घर आया। पुण्डरीकने

देखा कि छोटे भाई की लालसा राज्यशासनमें हैं, अतः इन्होंने कुछ भी आनाकानी किये बिना राज्यशासन उसको सौंप दिया और स्वयं दीक्षा लेकर निवृत्त हो गये। कण्डरीकको उसी रात्रीमें अत्याहारके कारण विषूचिका हो गयी और मृत्युको प्राप्त हो सातवें नरकमें गया। जब कि पुण्डरीकमुनि भाव-चारित्रका पालन कर सर्वार्थसिद्ध विमानमें देवत्वको प्राप्त हुए।

१७ **केशीः**—ये श्रीपार्श्वनाथ स्वामीकी परम्पराके गणधर थे। प्रदेशी जैसे नास्तिक राजाको इन्होंने प्रतिबोध दिया था तथा श्रीगौतमस्वामीके साथ धर्मचर्चा की थी। अन्तमें प्रभु महावीरके पाँच महाव्रत स्वीकृतकर सिद्धि-पदको प्राप्त हुए।

१८ **राजर्षि करकण्डुः**—चम्पानगरीके राजा दधिवाहनको रानी-पद्मावतीके ये पुत्र थे। जब ये गर्भमें थे, तब राजा रानीका दोहद पूरनेके लिये रानीके साथ हाथीपर बैठकर फिरने निकला। इतनेमें हाथी उन्मत्त होकर जङ्गलकी ओर भागा। तब राजा तो जैसे-तैसे हाथीके ऊपरसे उतर गया और राज्यमें वापस लौट आया, किन्तु रानी सूचनानुसार नहीं उतर सकी। हाथीने उसको घोर जङ्गलमें छोड़ दी। तब रानी अत्यन्त प्रयाससे जङ्गलके बाहर आयी और साध्वियोंकी बस्तीमें गयी। वहाँ साध्वियोंका उपदेश सुनकर दीक्षा ग्रहण की। कुछ समयके बाद पुत्रका प्रसव हुआ उसको श्मशानमें छोड दिया। चाण्डालने उसको पाल-पोसकर बड़ा किया। शरीरमें खुजली (कण्डू) अधिक चलनेके कारण इनका नाम करकण्डू पडा। धीरे धीरे ये कञ्चनपुरके राजा हुए और दधिवाहनने इनका परिचय प्राप्तकर चम्पापुरीका राज्य भी इनको दिया। एक समय वृद्ध वृषभको देखकर इन्हें बोध हुआ और जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। इस प्रसङ्गसे राज्य छोड दिया और शुद्ध चारित्रका पालन कर आत्म-कल्याण किया। ये पहले प्रत्येक बुद्ध गिने जाते हैं।

१९-२० हल्ल-विहल्लः—हल्ल और विहल्ल ये दोनों श्रेणिककी पत्नी चेल्लणारानीके पुत्र थे। श्रेणिकने अपना सेचनक हाथी इनको दिया था,

इसलिये कोणिकने इनके साथ युद्ध किया था। इस युद्धमें वैशालीपति चेटक महाराजने हल्ल-विहल्लकी सहायता की थी, किन्तु युद्धके मध्यमें सेचनकके खाईमें गिरकर मरजानेसे इन्हें वैराग्य हो गया, अतः प्रभु महावीरसे दीक्षा ग्रहणकर आत्म-कल्याण किया।

२१ सुदर्शन सेठः—इनके पिताका नाम अर्हद्दास और माताका नाम अर्हद्दासी था। ये बारहव्रतधारी श्रावक थे। परदारा-विरमण-व्रतके विषयमें इनकी कठिन परीक्षा हुई थी। एक समय ये पोषधव्रत लेकर ध्यानमें खड़े थे, तब राज-रानी अभयाकी सूचनासे दासी इनको राजमहलमें उठा ले गयी और इनको विचलित करनेके लिये अनेक उपाय किये, पर सबके निष्फल होनेसे इनपर शीलभङ्गका मिथ्या आरोप लगाया, जिसके फल-स्वरूप राजाने इनको शूलीपर चढ़ानेका दण्ड दिया; किन्तु शीलके प्रभावसे शूलीका सिंहासन बन गया और इनका जय-जयकार हुआ। तदनन्तर वैराग्य हो जानेसे दीक्षा ग्रहण की।

२२-२३ शाल-महाशालः—इस नामके दो भाई थे। उनमें परस्पर अत्यन्त प्रीति थी। दोनों भाइयोंने राज्यको तृणवत् मानकर अपने भानजे गांगलिको राज्य सौंपकर दीक्षा ग्रहण की। उसके पश्चात् गांगलि और उसके माता-पिताको भी प्रतिबोध दिया। अन्तमें केवली होकर मोक्षमें गये।

२४ शालिभद्रः—पूर्वभवमें मुनिको क्षीरदान करनेके कारण राजगृही नगरीके अतिधनिक सेठ गोभद्र और भद्रा सेठानीके यहाँ पुत्ररूपमें उत्पन्न हुए। ये अतुल सम्पत्ति तथा उच्चकुलकी ३२ सुन्दरियोंके स्वामी थे। गोभद्र सेठ प्रभु महावीरसे दीक्षा ग्रहण कर, उत्तम चारित्रका पालनकर मृत्युके बाद स्वर्गमें गये और वहाँसे प्रतिदिन अपने पुत्रके लिये दिव्य वस्त्र तथा आभूषणादि भोग-सामग्री पूरी करने लगे। एक समय श्रेणिक महाराजा उनकी स्वर्गीय ऋद्धि देखनेके लिये आये, जिससे अपने ऊपर भी स्वामी है, यह जान कर वैराग्यको प्राप्त हो, सर्वस्वका परित्यागकर प्रभु महावीरसे दीक्षा ले, उग्र तप कर, आत्म-साधना की।

२५ भद्रबाहुस्वामीः—ये चौदहपूर्वके जानकार थे। आवश्यकादि दस सूत्रोंपर इन्होंने निर्युक्ति रची है। तथा इन्हींने सङ्घकी विज्ञप्तिसे श्रीस्थूलभद्रको पूर्वोंका ज्ञान दिया था।

२६ दशार्णभद्र राजाः—दशार्णपुरके राजा थे। इनको नित्य त्रिकाल जिनपूजनका नियम था। एक बार अभिमानपूर्वक अपूर्व समृद्धिसे युक्त हो वीरप्रभुके वन्दनार्थ जाते हुए इन्द्रकी समृद्धि देखकर इनके गर्वका खण्डन हुआ और वैराग्य जागृत होनेसे वहीं दीक्षा ग्रहण की।

२७ प्रसन्नचन्द्र राजर्षिः—इनके पिताका नाम सोमचन्द्र और माताका नाम धारिणी था। इन्होंने अपने बालकुमारको राज्यासन देकर दीक्षा ग्रहण की थी। एक समय ये राजगृहीके उद्यानमें कायोत्सर्ग करते थे, इतनेमें सुना कि चम्पानगरीके दधिवाहन राजाने उसकी नगरीको घेर रखा है और अपना पुत्र जो अभी बालक है उसको मार कर राज्य ले लेगा।' इस कारण राज्य तथा कुमारके प्रति मोह उत्पन्न होनेसे तथा उसकी रक्षाका विचार करते करते मानसिक–युद्ध खेलनेसे कुछ ही समयमें सातवें नरकके योग्य कर्म एकत्रित किये, किन्तु पुनः विचारश्रेणी बदल जानेसे उन सब कर्मोंका क्षय कर दिया और वहीं केवलज्ञान प्राप्त किया।

२८ श्रीयशोभद्रसूरिः—ये श्रीशय्यम्भवसूरिके शिष्य और भद्रबाहु स्वामीके गुरु थे। इन्होंने चारित्रका सम्यग् आराधन किया था।

२९ श्रीजम्बूस्वामीः—अखण्ड बालब्रह्मचारी और अतुल वैभव–त्यागी। निःस्पृह और वैराग्य–वासित होने पर भी माता–पिताके आग्रहसे आठ कन्याओंसे विवाह किया था, परन्तु पहली ही रात्रिमें उनको उपदेश देकर वैराग्य उत्पन्न किया। इसी समय पाँचसौ चोरोंके साथ चोरी करनेको आया हुआ प्रभव नामक चोरोंका स्वामी भी इनके उपदेशसे पिघल गया। दूसरे दिन सबने साथ मिलकर सुधर्मास्वामीसे दीक्षा ग्रहण की। धीरे धीरे इनको केवलज्ञान प्राप्त हुआ। ये इस युगके, इस क्षेत्रके, अन्तिम केवली गिने जाते हैं। श्रीसुधर्मास्वामीके बाद जैन शासनका पूर्ण भार इन्होंने वहन

किया था। श्रीसुधर्मास्वामीने आगमोंका गुम्फन इन्हींको उद्देश करके किया था।

३० कुमार वङ्कचूलः—विराट् देशका राजकुमार। इन्हें बाल्य-कालसे ही जुआ, चोरी आदि महाव्यसन लागू हो गये थे। पिताने परेशान होकर देश निकाला दिया। तब ये अपनी पत्नी (तथा एक बहिन) के साथ जङ्गलमें रहने लगे। फिर वहीं पल्लीपति हो गये। एक समय इनकी पल्लीमें मुनिने चातुर्मास किया। चातुर्मास पूर्ण होनेके पश्चात् मुनिके उपदेशसे इन्होंने (१) अपरिचित फल नहीं खाना, (२) प्रहार करनेसे पूर्व सात कदम पीछे हटना, (३) राजाकी पटरानीके साथ सांसारिक भोग नहीं भोगना तथा (४) कौएका मांस नहीं खाना, ये चार नियम ग्रहण किये और अन्त तक इनका दृढ़तापूर्वक पालन किया, जिससे मरकर बारहवें देवलोकमें उत्पन्न हुए।

३१ गजसुकुमालः—श्रीकृष्णके छोटे भाई। बाल्यावस्थामें वैराग्य हुआ। माता-पिताने मोह-पाशमें बाँधनेके लिये विवाह कर दिया। परन्तु शीघ्र ही संसारका त्याग करके श्रीनेमिनाथप्रभुके निकट जाकर इन्होंने दीक्षा ग्रहण की; और उनकी आज्ञा लेकर श्मशानमें कायोत्सर्ग करके ध्यानमें खड़े रहे। इतनेमें इनका श्वसुर सोमशर्मा ब्राह्मण उधरसे निकला। वह गजसुकुमालको मुनिवेशमें ध्यानमग्न देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने अपनी पुत्रीका जीवन बिगाड़नेके कारण इनको योग्य दण्ड देनेका निर्णय किया। अतः वहाँ पासमें ही जो चिता जल रही थी, उसमें से धधकते हुए अङ्गारे ले कर, इनके मस्तक पर रख दिये। गजसुकुमाल इससे तनिक भी क्षुब्ध नहीं हुए। अपि तु, मनको ध्यानमें और भी दृढ़ किया। ऐसा करनेसे ये अन्तकृत् केवली हुए और मोक्षमें गये।

३२ अवन्तिसुकुमालः—अवन्ति-सुकुमार। इनके पिताका नाम भद्र और माताका नाम भद्रा था। ये उज्जयिनीके निवासी थे और इनके बत्तीस पत्नियाँ थीं। एक बार आर्य सुहस्तिसूरिके समीप 'नलिनीगुल्म'

अध्ययन सुनते हुए जाति-स्मरण-ज्ञान उत्पन्न हुआ और सब वैभव छोड़कर उन्हींसे दीक्षा ग्रहण की। तदनन्तर श्मशानभूमिमें कायोत्सर्ग ध्यानमें मग्न थे तब एक सियारने इनके शरीरमें काट खाया, परन्तु ये ध्यानसे बिलकुल डिगे नहीं। फिर शुभ ध्यानमें मृत्युको प्राप्त हो, नलिनीगुल्म विमानमें देव हुए। इनके मृत्यु-स्थल पर माता-पिताने एक बड़ा प्रासाद बँधवाकर उसमें पार्श्वनाथ भगवान्‌की प्रतिष्ठा करवायी, जो 'अवन्ति-पार्श्वनाथ' के नामसे प्रसिद्ध है।

३३ **धन्यकुमारः**—इनके पिताका नाम धनसार और माताका नाम शीलवती था। इन्होंने अपने बुद्धिबलसे अक्षय लक्ष्मी उपार्जित की थी। कालान्तरमें अपनी आठ पत्नियोंका त्याग करके अपने साले शालिभद्रके साथ दीक्षा ग्रहण की और उग्र तपश्चर्या की।

३४ **इलाचीपुत्रः**—ये श्रेष्ठि-पुत्र होते हुए भी एक नटकी पुत्रीके मोहमें पड़ गये और उसके साथ विवाह करनेके लिये नटकी इच्छानुसार नट बने थे। अपनी अद्‌भुतकलासे राजाको प्रसन्न करनेके लिये एक बार ये बेन्नातट नगरमें गये। वहाँ बाँस और रस्सीपर चढ़कर अद्‌भुत खेल करने लगे, किन्तु नटपुत्रीको देखकर मोहित बना हुआ राजा प्रसन्न नहीं हुआ। इतनेमें दूर एक मुनिको देखा। उन्हें एक रूपवती स्त्री भिक्षा दे रही थी, किन्तु वे ऊँची दृष्टि करके भी उसको नहीं देख रहे थे। यह देखकर इन्हें वैराग्य हुआ। और वैसी ही भावना करनेसे वहीं केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

३४ **चिलाती-पुत्रः**—चिलाती नामकी दासीके पुत्र। ये पहले एक सेठके यहाँ नौकरी करते थे, पर सेठने अपलक्षण देखकर इनको निकाल दिया, तब ये जङ्गलमें जाकर चोरोंके सरदार बने। इनको सेठकी सुषमा नामक पुत्री पर मोह था; इससे एक बार सेठके घर डाका डाला और पुत्रीको उठा ले गये। अन्य चोरोंने दूसरा धन-माल लूटा। इतनेमें कोलाहल होनेसे राज्यके सिपाही आ पहुँचे। उनके साथ सेठ तथा सेठके

पाँचों पुत्रोंने पीछा किया। तब अन्य चोर धन-माल मार्गमें छोड़कर भग गये। सिपाही वह धन लेकर लौट गये, पर चिलातीने सुषमाको नहीं छोड़ी और वह जङ्गलमें चला गया। सेठने अपने पुत्रोंके साथ उसका बराबर पीछा किया। जब समीप आ गये, तो उनको देखकर चिलातीने सुषमाका सिर काट लिया और धड़ वहीं पड़ा रहने दिया। सेठ उसको देखकर रुदन करता हुआ वापस लौट आया। चिलातीपुत्रको अब कुछ शान्ति मिली। धीरे धीरे वह जङ्गलमें चलने लगा। वहाँ एक मुनिको ध्यानमें स्थित देखा। उन्होंने चिलापुत्रको तीन पद दिये—'उपशम, विवेक और संवर।' और आकाशमार्गसे चले गये। उक्त तीन पदोंका अर्थ विचारते हुए चिलातीपुत्र वहीं खड़ा रहा और शुभ ध्यानमें मग्न हो गया। उसका शरीर लहूसे भरा हुआ था। अतः लहूकी गन्धसे चींटियाँ आ पहुँची और काटने लगी, परन्तु वह ध्यानसे विचलित नहीं हुआ। ढाई दिनमें तो उसका शरीर छलनी जैसा हो गया। किन्तु उसने सारे दुःखोंको समभावसे सहन कर लिया और मृत्युके पश्चात् स्वर्गको गया।

३६ **युगबाहु मुनिः**—पाटलिपुत्र नामके नगरमें विक्रमबाहु नामका राजा था। उसकी मदनरेखा नामकी रानी थी। प्रौढावस्थामें उसके पुत्र हुआ। उसका नाम युगबाहु रखा गया। इनको शारदादेवी तथा विद्याधरोंकी सहायतासे अनेक विद्याएँ प्राप्त हुई थीं और अनङ्गसुन्दरी नामक अत्यन्त रूपवती रमणीके साथ इनके लग्न हुए थे। तत् पश्चात् ज्ञानपञ्चमीकी विधिपूर्वक आराधना करके दीक्षा ली और उग्र तपश्चर्या करके कर्मक्षय किया, तथा केवलज्ञान प्राप्त किया।

३७-३८ **आर्य महागिरि और आर्य सुहस्तिसूरिः**—ये दोनों श्रीस्थूलभद्रजीके दशपूर्वी शिष्य थे। इस समयमें जिनकल्पका विच्छेद था। तो भी आर्य महागिरि गच्छमें रहकर जिनकल्पकी तुलना करते थे और आर्य सुहस्ति सङ्घका भार वहन करते थे। आर्य सुहस्तिसूरिने कालान्तरमें अवन्तिपति सम्प्रति राजाको प्रतिबोध दिया। उस राजाने जिनदेवोंके अनेक

मन्दिर बनाकर अनार्यदेशमें भी साधुओंके विहार करनेकी सरलता करके जैनधर्मकी बहुत प्रभावना की। जैनशासनका प्रभाव इनके समयमें अत्यन्त विस्तारको प्राप्त हुआ था।

३९ **आर्यरक्षितसूरिः**—ये विद्वान् ब्राह्मण थे। जब ये अध्ययन करके वापस लौटे तब बहुत बड़ा उत्सव हुआ। पर जैनधर्मका पालन करनेवाली माता इस अध्ययनसे प्रसन्न नहीं हुई। उसने कहा—दृष्टिवादके अतिरिक्त अन्य हिंसा प्रतिपादक शास्त्र नरकमें ले जानेवाले हैं। माताके ऐसे वचन सुनकर आर्यरक्षित तोसलिपुत्र आचार्यके पास गये और उक्त अध्ययनकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये जैन दीक्षा ग्रहण की। गुरुके समीप जितना दृष्टिवाद था; वह सब पढ़ लिया; फिर वज्रस्वामीके पास गये और नवपूर्वका अभ्यास किया। कुछ काल पश्चात् माता-पिता आदि सारे कुटुम्बको प्रतिबोध कर दीक्षा दी। जैन श्रुतज्ञानके द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणकरणानुयोग और धर्मकथानुयोग ऐसे चार विभाग इनके द्वारा हुए हैं।

४० **उदायन राजर्षिः**—ये वीतभय नगरीके राजा थे। अपने भानजे केशीको राजगद्दी देकर इन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। इधर-उधर विहार करते-करते पुनः जब वीतभय नगरीमें आये, तब राजाके मन्त्रीद्वारा इनपर विष-प्रयोग हुआ। यद्यपि उस समय तो ये दैव-सहायसे बच गये; किन्तु बादमें विष-प्रयोग सफल हुआ। अपनेको ज़हर दिया गया है ऐसा जानते हुए भी अन्त तक शुभ ध्यानमें रहे और मरकर स्वर्गमें गये।

४१ **मनकः**—श्रीशय्यम्भवसूरिके पुत्र और शिष्य। इनकी आयु अल्प थी, इस कारण साधुधर्मका शीघ्र ज्ञान करानेके लिये सूरिजीने सिद्धान्तोंका साररूप दशवैकालिक नामका सूत्र बनाया। इस सूत्रका अभ्यासकर छः मासतक चारित्रका पालनकर स्वर्गमें गये।

४२ **कालकाचार्यः**—(१) तुरिमणि नगरीमें कालक नामके एक ब्राह्मण रहते थे। उनकी बहिनका नाम भद्रा था तथा भद्राके भी एक पुत्र था,

जिसका नाम दत्त था। कालकने दीक्षा ली थी। एवं दत्त महान् उद्धत और सातों व्यसनोंमें पारङ्गत था, धीरे धीरे उसने जितशत्रु राजासे राज्य छीन लिया और उस राज्यका अधिपति बन बैठा। फिर उसने यज्ञ आरम्भ किया, जिसमें अनेक जीवोंका संहार होने लगा।

एक समय कालकाचार्य (संसारी अवस्थाके उसके मामा) फिरते फिरते वहाँ आये तब दत्तने उनको यज्ञका फल पूछा। तब कालकाचार्यने कहा–कि 'ऐसा हिंसामय यज्ञ करनेसे नरककी ही गति प्राप्त होती है।' दत्तने इसका प्रमाण माँगा, तब आचार्यने कहा कि 'आजसे सातवें दिन तेरे मुखमें विष्ठा पड़ेगी, यही इसका प्रमाण है।' आचार्यकी यह बात सत्य निकली, और मरकर वह सातवें नरकमें गया। जितशत्रु राजा फिरसे राज्य सिंहासनपर बैठा और उसने कालकाचार्यके उपदेशसे जैनधर्म अङ्गीकार किया।

(२) **कालकाचार्यः**—इनके पिताका नाम प्रजापाल था और वह श्रीपुरका राजा था।

इनके भानजे बलमित्र और भानुमित्रके आग्रहसे इन्होंने भरुचमें चातुर्मास किया, पर पूर्वभवके वैरी गङ्गाधर पुरोहितने राजाको उलट–पुलट समझाकर युक्तिसे इनको चातुर्मासमें ही दूसरे स्थानके लिये निकलवाया, इसलिये ये वहाँसे प्रतिष्ठानपुरमें चातुर्मास करने गये। वहाँके राजा शालिवाहनने इनका नगर–प्रवेश महान् उत्सवके साथ करवाया। पर्युषणपर्व निकट होनेसे राजाने कहा कि भाद्रपद शुक्ला पञ्चमीके दिन यहाँ इन्द्रमहोत्सव मनाया जाता है इसलिये पर्युषणापर्व पहले अथवा बादमें रखना चाहिये, जिससे हम उसका आराधन कर सकें। तब कालकाचार्यने कहा कि–विशिष्ट कारण उपस्थित होनेपर चतुर्थीके दिन इसका आराधन हो सकता है। तबसे पञ्चमीके स्थानपर चतुर्थीकी संवत्सरी हुई।

श्रीसीमन्धर स्वामीने इन्द्रके समक्ष कालकाचार्यकी प्रशंसा की कि–'निगोदका स्वरूप कहनेमें उनके जैसा दूसरा कोई नहीं है।' यह सुनकर इन्द्र ब्राह्मणका रूप लेकर इनके पास आया और इनसे निगोदका स्वरूप

पूछा। कालकाचार्यने सब यथार्थ रूपमें कह दिया, जिससे इन्द्र प्रसन्न होकर स्वस्थानपर चला गया।

(३) **कालकाचार्यः**—इनके पिताका नाम वज्रसिंह और माताका नाम सुरसुन्दरी था। ये मगध देशके राजा थे। इन्होंने गुणधरसूरिसे दीक्षा ग्रहण की थी। इनकी बहिन सरस्वतीने भी इन्हींके साथ दीक्षा ली थी।

एक समय ये उज्जयिनीमें आये, तब सरस्वती साध्वी भी वहाँ आयी थी। वह साध्वी जब बहार जाकर पुनः शहरमें आ रही थी, तो वहाँके राजा गर्दभिल्लने उसको अत्यन्त स्वरूपवती देख, पकड़वाकर महलमें भेज दी। इस बातका समाचार मिलते ही सूरिजीने सङ्घको खबर दी तथा अन्य अनेक प्रकारोंसे राजाको समझाया, परन्तु दुराचारी राजा समझा नहीं, तब सूरिजीने वेश-परिवर्तन कर पारस-कूलकी ओर जाकर वहाँके ९६ शक राजाओंको प्रतिबोध देकर गर्दभिल्लपर चढ़ाई करवायी और उसको हराकर सरस्वती साध्वीको छुड़ायी।

ये कालकाचार्य महाप्रभावक थे।

४३-४४ साम्ब और प्रद्युम्नः—ये दोनों श्रीकृष्णके पुत्र थे। साम्बकी माता जम्बूवती थी। और प्रद्युम्नकी माता रुक्मिणी थी। बाल्य-कालमें अनेक लीलाएँ करके, कौमार्यावस्थामें विविध पराक्रम दिखलाकर, अन्तमें वैराग्यको प्राप्त होकर, दीक्षित हुए और शत्रुञ्जय पर्वतपर मोक्षमें गये।

४५-मूलदेवः—राजकुमार मूलदेव सङ्गीतादि कलामें निपुण थे, किन्तु बहुत जुआ खेलनेवाले थे। पिताने इनको देशनिकाला दिया, तबसे उज्जयिनीमें आकर रहने लगे। सङ्गीत-कलासे देवदत्ता नामकी गणिका तथा उसके कलाचार्य उपाध्याय विश्वभक्तिको इन्होंने पराजित कर दिया था। कुछ समयके पश्चात् दानके प्रभावसे ये हाथियोंसे समृद्ध विशाल राज्य तथा गुणानुरागिणी कला-प्रिय चतुर गणिका देवदत्ताके स्वामी हुए। अन्तमें सत्सङ्ग होनेसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और चारित्रका पालनकर स्वर्गमें गये। वहाँसे च्यवित होकर मोक्षको प्राप्त होंगे।

४६ प्रभवस्वामी:—ये पूर्वोक्त श्रीजम्बूस्वामीके वहाँ उनकी पहली रातको पाँचसौ चोरोंके साथ चोरी करने गये, वहाँ नवपरिणीत आठ वधुओंके साथ परस्पर चलते हुए आध्यात्मिक संवादको सुनकर प्रतिबुद्ध हुए और सब चोरोंके साथ दीक्षा ग्रहण की। फिर जम्बूस्वामीने शासनका भार इनको सँभलाया। ये चौदहपूर्व के जानकर थे।

४७ विष्णुकुमारः—इनके पिताका नाम पद्मोत्तर और माताका नाम ज्वालादेवी था। इन्होंने श्रीमुनिसुव्रत आचार्यसे दीक्षा ग्रहण की और तपके प्रभावसे अपूर्व लब्धिवाले हुए। एक समय पहले वादमें हारे हुए धर्मद्वेषी नमुचि प्रधानने द्वेषबुद्धिसे जैन साधुओंको राज्यकी सीमासे बाहर निकालनेकी आज्ञा की। इस बातकी जानकारी होते ही ये जैन साधुओंकी सहायता करने आये और नमुचिसे केवल तीन पग ज़मीनकी माँग की, उसने देना स्वीकार किया। तब क्रुद्ध विष्णुमुनिनें एक लाख योजनाका विराट् शरीर बनाकर एक पाँव समुद्रके पूर्व-भागपर और दूसरा पाँव समुद्रके पश्चिम भाग पर रखा। 'तीसरा पाँव कहाँ रखूँ' यह कहकर वह पाँव नमुचिके मस्तक पर रखा। जिससे वह मरकर नरकमें गया। देव, गँधर्व, किन्नर, देवाङ्गना आदिकी उपशम-रसमय मधुर सङ्गीत-प्रार्थनासे अन्तमें क्रोध शान्त हुआ। फिर तपश्चर्या करते हुए और शुद्ध चारित्रका पालन करते हुए मोक्षमें गये।

४८ आर्द्रकुमारः—ये अनार्य देशमें आये हुए आर्द्रक देशके राजकुमार थे। इनके पिता आर्द्रक और श्रेणिक राजाकी परस्पर गाढ मैत्री थी, इसकारण अभयकुमार और आर्द्रक राजाके पुत्र आर्द्रकुमारकी भी मैत्री हो गयी थी। एक समय अपने मित्रको जैनधर्म प्राप्त करानेके लिये अभय-कुमार द्वारा प्रेषित जिन-प्रतिमाके दर्शन होनेसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ और आर्यदेशमें आकार इन्होंने दीक्षा ग्रहण की। यह दीक्षा वर्षोंतक पालनेमें पश्चात्, भोगावली कर्मका उदय होनेसे इनको संसारवास स्वीकृत करना पड़ा और बालकके स्नेह बन्धनसे मुक्त होनेके लिये बारह वर्ष व्यतीत करने पड़े। तदनन्तर इन्होंने फिरसे दीक्षा ली और अनेक जीवोंको प्रतिबोध दिया। इन्होंने गोशालकके साथ धर्मचर्चा करके उसको निरुत्तर किया था।

४९ **दृढप्रहारी:**—ये यज्ञदत्तनामक ब्राह्मणके पुत्र थे और कुसङ्गसे बिगड़ गये थे। धीरे धीरे ये प्रसिद्ध चोर बन गये। एक बार लूट करते समय इन्होंने ब्राह्मण, गाय और सगर्भा स्त्रीकी हत्या की थी, किन्तु इन बड़ी हत्याओंसे इनका हृदय द्रवित होगया और इन्होंने संयम धारण किया। उसके पश्चात् जहाँतक पूर्व पापकी स्मृति हो, वहाँतक कायोत्सर्ग करनेका अभिग्रह करके हत्यावाले गाँवके पास ध्यानमें मग्न हो गये। वहाँ लोगोंने इनपर पत्थर, कूड़ा आदिका प्रहार किया और असह्य कठोर शब्द कहे, परन्तु ये ध्यानसे किञ्चित् भी विचलित न हुए। सारे उपसर्ग समभावसे सहन करते हुए इन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

५० **श्रेयांसकुमार**—ये बाहुबलीके पौत्र थे और सोमयश राजाके पुत्र थे। इन्होंने श्रीआदिनाथ प्रभुको एक वर्षके उपवासके बाद गन्नेके रसका पारणा कराया था।

५१ **कूरगड्डुमुनि:**—ये धनदत्त श्रेष्ठीके पुत्र थे और श्रीधर्मघोष-सूरिसे बाल्यवयमें दीक्षित हुए थे। इनमें क्षमाका गुण अद्भुत था, किन्तु कोई तपश्चर्या नहीं कर सकते थे। एक बार प्रातःकालमें गोचरी लाकर वापरनेके लिये बैठे कि मासखमणवाले एक साधुने कहा कि–'मैने थूँकनेका पात्र माँगा, वह क्यों नहीं दिया? और आहार वापरनेको बैठ गये? अतः अब मैं तुम्हारे पात्रमें ही बलगम डालूगा।' ऐसा कहकर उस साधुने पात्रमें बलगम (कफ) डाल दिया। कूरगड्डुमुनि इससे कुछ भी क्रुद्ध नहीं हुए। अपितु हाथ जोड़कर बोले कि 'महात्मन्! क्षमा कीजिये, मैं बालक हूँ; भूल हुई। मेरे ऐसे धन्य भाग्य कहाँ हैं कि आपके जैसे तपस्वीका बलगम मेरे भोजनमें गिरे!' ऐसी भावना उत्तरोत्तर बढ़नेसे इनको केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

५२ **शय्यम्भवसूरि:**—श्रीप्रभवस्वामीके पट्टधर शिष्य। पूर्वावस्थामें कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे। श्रीप्रभवस्वामीके अनन्तर समस्त जैनशासनका भार

इन्होंने वहन किया था। इनका बाल-पुत्र मनक भी इन्हींके मार्गमें चला था और उसने अल्पवयमें ही आत्म-हित साध लिया था। इस पुत्र-शिष्यको पढ़ानेके लिये सूरिजीने सिद्धान्तमेंसे सारसंग्रह कर दशवैकालिक सूत्रकी रचना की थी, जो एक पवित्र आगम माना जाता है।

५३ मेघकुमारः—ये श्रेणिक राजाकी धारिणी नामक पत्नीके पुत्र थे। और उच्च कुलीन आठ राजकुमारियोंके साथ इन्होंने विवाह किया था। किन्तु एक समय प्रभु महावीरकी देशना सुनकर, माता-पिताकी आज्ञासे इन्होंने दीक्षा ग्रहण की। प्रभुने इनको स्थविर साधुओंको सौंप दिये। (ये साधु दूसरे स्थानपर जाकर रात रहे।) नवदीक्षित मेघकुमारका सन्थारा अन्तिम और द्वारके समीप था। इसलिये रात्रिमें लघुशङ्कादि करनेके लिये जाते-आते साधुओंके जाने-आनेसे, उनके पैरका स्पर्श होनेसे, एवं सन्थारेमें धूल पड़नेसे सारी रात नींद नहीं आयी। तब विचार किया कि प्रातः उठकर ये सब वस्तुएँ प्रभुको सौंपकर घर जाऊँगा। प्रातः सब साधु प्रभु महावीरको वन्दन करने गये तब मेघकुमार भी साथ थे। सर्वज्ञ प्रभु महावीरने इनके द्वारा किया हुआ दुर्ध्यान बतलाकर प्रतिबोध दिया और इनका पूर्वभव कहा तथा हाथीके भवमें खरगोशको बचानेके लिये किस प्रकार अनुकम्पा की थी, यह जानकर इनके मनका समाधान हुआ। फिर चारित्रका निरतिचार पालन करके स्वर्गमें गये और वहाँसे महाविदेह क्षेत्रमें उत्पन्न होकर मोक्षमें जायँगे।

महासतियाँ

१ सुलसाः—इनके पतिका नाम नागरथ था, जो श्रेणिककी सेनामें मुख्य रथिक (सारथी) थे। प्रथम तो उनको कोई सन्तान नहीं थी, किन्तु कालान्तरमें उत्तम धर्माराधना के प्रभावसे तथा प्रसन्न हुए देवकी सहायतासे बत्तीस पुत्र हुए। ये पुत्र पढ़-लिखकर योग्यावस्थामें विवाहके पश्चात् श्रेणिकके अङ्गरक्षक बनकर रहे और श्रेणिक जब सुज्येष्ठाका हरण करने गया तब वीरता पूर्वक लड़कर मृत्युको प्राप्त हुए।

अपने बत्तीस पुत्रोंकी एक साथ मृत्यु होनेपर भी भवस्थितिका विचार करके सुलसाने शोक नहीं किया और पतिको भी शोकातुर होनेसे रोका।

सुलसा भगवान् महावीरकी परम श्राविका थी। एक समय अम्बड श्रावकके साथ भगवान् महावीरने सुलसाको 'धर्मलाभ' कहलाया। इससे अम्बडको विचार आया कि यह कैसी श्राविका होगी जिसको कि भगवान् महावीर धर्मलाभ कहलाते हैं? ऐसा विचारकर अम्बडने अपनी ऐन्द्रजालिक विद्यासे सुलसाकी परीक्षा की, परन्तु ये धर्मसे तनिक भी विचलित नहीं हुई। तब इनके घर आकर भगवान्का धर्मलाभ पहुँचाया और इनकी धर्मके प्रति जो दृढ़ता थी उसकी प्रशंसा की। ये मरकर स्वर्गमें गयीं और वहाँसे च्यवित होकर आनेवाली चौबीसीमें निर्मम नामक पन्द्रहवीं तीर्थङ्कर होंगी।

२ **चन्दनबाला**:— चम्पापुरीमें दधिवाहन नामका एक राजा था। उसकी रानी पद्मावती थी, जिसका दूसरा नाम धारिणी था। उसको वसुमती नामकी एक पुत्री थी। एक दिन कौशाम्बीके राजा शतानीकने उसपर चढाई की जिससे डरकर दधिवाहन राजा भग गया। सैनिकोंने उसके नगरको लूटा और धारिणी तथा वसुमतीको उठाकर ले गये। अपने शीलकी रक्षाके लिये धारिणी मार्गमें ही अपनी जीभ काटकर मर गयी। कौशाम्बी पहूँचनेके बाद वसुमतीको बाजारमें बेचनेके लिये खड़ी की। वहाँ एक सेठने उसको खरीद ली। उस समय वसुमतीका नाम चन्दनबाला रखा। यह अति स्वरूपवती थी। इस कारण सेठकी पत्नी मूलाको शङ्का हुई कि सम्भवतः सेठ स्वयं इसके साथ विवाह करेंगे।

एक दिन सेठ जब बाहर-गाँव गया, तब मूलाने चन्दनबालाको एक तलघरमें बन्द कर दी, उसके पैरमें बेड़ियाँ डाली और मस्तक मुँडवा दिया। इस प्रकार अन्न-जल रहित तीन दिन बीत गये। चौथे दिन सेठको खबर हुई, तब तलघर खोलकर उसको बाहर निकाली और एक सूपड़ेमें उड़दके बाकले (उबाले हुए उड़द) देकर, उसकी बेडियां तुड़वानेके लिये लुहारको

बुलाने गया। इधर चन्दनबाला मनमें विचार करती है कि—'मेरे तीन दिनका उपवास है, इसलिये यदि कोई मुनिराज पधारें तो उनको बहोराकर फिर पारणा करूँ।' इतनेमें भगवान् महावीर वहाँ पधारे, जिनको कि दस बोलका अभिग्रह था। इन अभिग्रहके बोलोंमेंसे रुदनका एक बोल कम था यह देख कर वे पीछे फिरे। इसी समय चन्दनबालाकी आँखोंमें आँसू आ गये, यह देख भगवान् पीछे फिरे और चन्दनबालाके हाथसे पारणा किया। उसी समय आकाशमें देवदुन्दुभि बजी, पञ्चदिव्य प्रकट हुए। चन्दनबालाके मस्तकपर सुन्दर बाल आ गये और लोहेकी बेड़ियोंके स्थानपर सुन्दर दिव्य आभूषण हो गये। सर्वत्र चन्दनबालाका जय-जयकार हुआ। अन्तमें चन्दनबालाने भगवान् महावीरसे दीक्षा ली और साध्वीसंघमें प्रधान बनी तथा क्रमशः केवली होकर मोक्षपदको प्राप्त हुई।

३ मनोरमाः—जिनके शीलके प्रभावसे शूलीका सिंहासन बन गया, वे सुदर्शन सेठकी पत्नी।

४ मदनरेखाः—मणिरथ राजाके छोटे भाई युगबाहुकी अत्यन्त स्वरूपवती सुशील पत्नी। मणिरथने मदनरेखाको विचलित करनेके लिये अनेक यत्न किये, पर वे व्यर्थ गये। अन्तमें युगबाहुका खून करवा दिया, परन्तु गर्भवती मदनरेखा भाग गयी। जङ्गलमें जाकर मदनरेखाने एक पुत्रको जन्म दिया, जो प्रत्येक बुद्धके रूपमें नमिराज ऋषिके नामसे आगे जाकर प्रसिद्ध हुआ। कुछ समय पश्चात् मदनरेखाने दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण किया।

५ दमयन्तीः—विदर्भ-नरेश भीमराजाकी पुत्री और नलराजाकी पत्नी। कथा प्रसिद्ध है।

६ नर्मदासुन्दरीः—सहदेवकी पुत्री और महेश्वरदत्तकी स्त्री। शीलकी रक्षाके लिये इन्होंने अनेक सङ्कटोंका सामना किया था। अन्तमें श्रीआर्यसुहस्तिसूरिसे दीक्षा ग्रहण की और अपनी योग्यतासे प्रवर्तिनीपद प्राप्त किया।

७ **सीता:**—विदेहराज जनककी पुत्री और श्रीरामचन्द्रजीकी पत्नी। कथा प्रसिद्ध है।

८ **नन्दा** (सुनन्दा):—श्रेणिक राजा माता-पितासे रूठकर बेनातट नगरमें चले गये तब वहाँ गोपाल नाम धारण किया था और धनपति नामके सेठकी पुत्री नन्दाके साथ विवाह किया। उससे अभयकुमार नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो बुद्धिके लिये आज भी दृष्टान्तरूप है। नन्दाको पतिका वियोग कुछ वर्षोंतक सहन करना पड़ा, पर वह धर्मपालन और शील-रक्षणमें अडिग रही, इसलिये उनकी गणना सती स्त्रियोंमें होती है।

९ **भद्राः**—शालिभद्रकी माता। जैन धर्मकी परम अनुरागिनी।

१० **सुभद्राः**—इनके पिताका नाम जिनदास और माताका नाम तत्त्वमालिनी था। इनके ससुरालवाले बौद्ध होसेसे इन्हें अनेक प्रकारसे सताया करते थे, परन्तु ये अपने धर्मसे लेशमात्र भी चलित नहीं हुई। एक बार मुनिकी आँखमें गिरे हुए तिनकेको निकालनेसे इनपर कलङ्क लगा, जिसको दूर करनेके लिये शासनदेवीकी आराधना की। दूसरे दिन नगरके सब द्वार बन्द हो गये। और आकाशवाणी हुई कि 'जब कोई सती स्त्री कच्चे सूतके तारसे छलनीद्वारा कुएँमेंसे जल निकालकर छींटेगी, तब इस चम्पानगरीके द्वार खुलेंगे।' यह असाधारण कार्य सती सुभद्राने कर दिखलाया, तबसे वे प्रातःस्मरणीया गिनी जाती हैं। अन्तमें दीक्षा लेकर मोक्षमें गयीं।

११ **राजिमतीः**—विवाहके लिये आया हुआ विवाहोत्सुक कन्त वापस लौट गया, निश्चित लग्न अधूरे रह गये, किन्तु एक बार मनसे पतिके रूपमें वरण किये हुएके अतिरिक्त सती दूसरेकी आशा कैसे कर सकती है? विवाहोत्सुक कन्त संसारसे विरक्त होकर जब त्यागी-तपस्वी बने, तब धर्माराधनके लिये उनका शरण अङ्गीकृत किया। मन, वचन और कायासे संयमका पालनकर ये श्रीनेमिनाथकी प्रथम साध्वी बनीं। श्रीनेमिनाथके छोटे भाई रथनेमि, उग्रसेन राजाकी इन सौन्दर्यवती पुत्रीको देखकर मोहको प्राप्त हुए

थे और साधुव्रतके अनन्तर भी डगमगाते रहे; परन्तु इन महासतीने सुन्दर शिक्षा देकर उनको चारित्रमें पुनः स्थिर कर दिया और अन्तमें वे सर्व कर्मोंका क्षय करके मुक्तिको प्राप्त हुए।

१२. **ऋषिदत्ताः**— ये हरिषेण तापसकी पुत्री थी और कनकरथ राजाके साथ इनका विवाह हुआ था। प्राक्तन कर्मोंके कारण इन्हें अनेक प्रकारकी कठिनाइयोंसे गुजरना पड़ा; पर सभीसें पार हुई और अन्तिम समयमें संयम धारणकर सिद्धिपदको प्राप्त हुई।

१३ **पद्मावतीः**—देखो राजर्षि करकण्डू (१८)।

१४ **अञ्जनासुन्दरीः**—पवनञ्जयकी पत्नी और हनुमान्‌की माता। इन्हें विवाह करके पतिने बरसोंतक छोड़ दी थी, इससे वियोगके दिन चल रहे थे। एक समय पति युद्धमें गये, वहाँ चक्रवाक-मिथुनकी विरह-विह्वलता देखकर पत्नीकी स्मृति आयी। तब पत्नीसे मिलनेके हेतु गुप्त रीतिसे वापस आये, पर इस मिलनका परिणाम आपत्तिजनक निकला (इनके पतिके आनेकी बात किसीने जानी नहीं और अञ्जनाको जब गर्भवतीके रूपमें देखी तब इनपर कलङ्क लगा। और ये पिताके घर भेज दी गयीं, किन्तु कलङ्कवाली पुत्रीको कौन रखे? अन्तमें वनकी राह ली। वहाँ हनुमान् नामक तेजस्वी पुत्रको जन्म दिया। सती अञ्जना शीलव्रतमें तत्पर रहीं। पति वापस लौटनेपर सब बात जानकर बहुत पछताया, और पत्नीकी खोजमें निकला एवं अत्यन्त परिश्रम व प्रयत्नसे मिलाप हुआ। कालान्तरमें दोनों चारित्रका पालनकर मुक्तिपदको प्राप्त हुए।

१५ **श्रीदेवीः**—ये श्रीधर राजाकी परम शीलवती स्त्री थी। एकके बाद एक, इस प्रकार दो विद्याधरोंने अपहरणकर इन्हें शीलमें डिगानेका बहुत प्रयत्न किया, परन्तु पर्वतकी तरह ये निश्चल रहीं। अन्तमें चारित्रका पालनकर स्वर्गमें गयीं और वहाँसे मोक्षमें जायँगी।

१६ **ज्येष्ठाः**—ये चेटक राजाकी पुत्री और प्रभु महावीरके ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धनकी पत्नी थीं। प्रभुसे लिये हुए बारह व्रत इन्होंने अटल निश्चयसे पाले थे। इनके शीलकी शक्रेन्द्रने भी स्तुति की थी।

१७ **सुज्येष्ठाः**—चेटककी पुत्री। सङ्केतानुसार इन्हें लेने आया हुआ श्रेणिक राजा भूलसे इनकी बहिन चेल्लणाको लेकर चला गया, इस कारण वैराग्यको प्राप्त होकर इन्होने श्रीचन्दनबालासे दीक्षा ली और विविध तपोंका आचरण करके आत्म-कल्याण किया।

१८ **मृगावतीः**—ये भी चेटक राजाकी पुत्री थीं; और कौशाम्बीके राजा शतानीकसे इनका विवाह हुआ था। एक बार इनका केवल अँगूठा देखकर किसी चित्रकारने इनका पूरा चित्र बनाया, उसे देखकर शङ्कित हुए शतानीक राजाने चित्रकारका अपमान किया, तब उस चित्रकारने वह चित्र उज्जयनिके राजा चण्डप्रद्योतको दिखलाया। फल स्वरूप चण्डप्रद्योतने शतानिक राजासे मृगावतीकी माँग की, किन्तु शतानीकने मना करदिया। इससे कौशाम्बीपर चढाई की। शतानीक उसी रात्रीकी अपस्मारक रोगसे मर गया, इसलिये मृगावतीने युक्तीसे चण्डप्रद्योतको वापस हटाया और चातुर्यसे राज्य-रक्षाके लिये राजधानीमें अत्यन्त दृढ दुर्ग (किला) बनवाया। वहाँ प्रभु महावीरका शुभागमन होनेपर रानी मृगावतीने नगरके द्वार खोल दिये और वन्दन करके लिये गयी। चण्डप्रद्योत भी प्रभु महावीरके दर्शनार्थ आया। समवसरणमें प्रभु महावीरके समक्ष अपने बालकुमारको चण्डप्रद्योतकी गोदीमें रख उसकी अनुमति प्राप्तकर मृगावतीने दीक्षा ग्रहण की तथा चन्दनबालाकी शिष्या बनीं। इनके पुत्र उदयको कौशाम्बीके राज्यशासन पर बिठलाया गया।

एक बार उपाश्रयमें आते समय विलम्ब होनेसे श्रीचन्दनबालाने उलाहना दिया। उसके निमित्त क्षमापना करते हुए उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। गुरुणी चन्दनबाला उस समय सोयी हुई थीं। गाढ अन्धकारमें उनके समीप होकर सर्प निकला, इसको केवलज्ञानका प्रभाव जानकर मृगावतीने उनका

हाथ एक तरफ कर दिया। श्रीचन्दबाला जग गयीं और पूछा कि 'मुझको क्यों जगाया ?' तब इनके दिये गये उत्तरसे ज्ञात हुआ कि मृगावतीको केवलज्ञान हुआ था। तदनन्तर इन्हें खमाते हुए श्रीचन्दनबालाको भी केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और दोनों मोक्षमें गयीं।

१९ **प्रभावतीः**—ये चेटक महाराजकी पुत्री और सिन्धुसौवीरके अन्तिम राजर्षि उदायन (४०) की पटरानि थीं। श्रीजिनेश्वरदेवके प्रति इनकी अपूर्व भक्ति थी।

२० **चेल्लणाः**—ये चेटक महाराजकी पुत्री और महाराज श्रेणिककी पत्नी थी। प्रभु महावीरकी ये परम श्राविका थीं। एक समय श्रेणिकको इनके शीलपर सन्देह हुआ, परन्तु सर्वज्ञ प्रभु महावीरके वचनसे वह दूर हुआ। शीलव्रतके अखण्ड पालनके कारण इनकी गणना सती स्त्रियोंमें होती है।

२१-२२ **ब्राह्मी और सुन्दरीः**—श्रीऋषभदेव भगवानकी विदुषी पुत्रियाँ। एक लिपिमें प्रवीण थी, और दूसरी गणितमें। दोनो बहिनोंने दीक्षा लेकर जीवनको उज्ज्वल किया। और बाहुबलीको उपदेश देनेके लिये ये दोनों बहिनें साथ गयी थीं।

२३ **रुक्मिणीः**—एक सती स्त्री, जो श्रीकृष्णकी पटरानी रुक्मिणीसे पृथक् थीं।

२४ **रेवतीः**—भगवान् महावीरकी परम श्राविका। प्रभुको रुग्णावस्थामें भक्तिभावसे कुष्माण्डपाक बहोराकर तीर्थङ्कर-नामगोत्र बाँधा था। आगामी चौबीसीमें समाधि नामक सत्रहवाँ तीर्थङ्कर होगी।

२५ **कुन्तीः**—पाँच पाण्डवोंकी माता। कथा प्रसिद्ध है।

२६ **शिवाः**—ये चेटक महाराजकी पुत्री और महाराजा चण्डप्रद्योतकी रानी थीं। तथा परम शीलवती थीं। ये देवकृत उपसर्गमें भी चलायमान नहीं हुई थीं। उज्जयिनी नगरीमें अनेक बार आग लगती थीं, जो इनके

हाथसे पानी छिटकानेपर शान्त हो जाती। अन्तमें प्रभुसे दीक्षा लेकर मोक्षमें गयीं।

२७ **जयन्तीः**—ये शतानीक राजाकी बहिन और महारानी मृगावतीकी ननँद थीं, और पूर्ण विदुषी थीं। इन्होंने प्रभु महावीरसे कुछ तात्त्विक प्रश्न पूछे थे, जिनके प्रत्युत्तर उन्होंने दिये। अन्ततः दीक्षा लेकर, कर्मक्षय करके मोक्षमें गयीं।

२८ **देवकीः**—ये वासुदेवकी पत्नी और श्रीकृष्णकी माता थी। इनके भाई कंसको किसी मुनिके कहनेसे ज्ञात हुआ कि देवकिका पुत्र तुझे मारेगा। इस कारण देवकीके जो बालक उत्पन्न होता उसको कंस लेकर मार डालता। परन्तु देव-प्रभावसे वे देवकीके बालक भद्दिलपुरमें नागसेठके यहाँ पलते थे। और उसकी पत्नी जिन मृत बालकोंको जन्म देती थी, वे यहाँ आते थे। इस प्रकार छः बालक कंसको सोंपे गये थे। सातवाँ पुत्र नन्दकी यशोदाको सोंपा गया और उसकी बालक-पुत्री कंसको दी गयी। ये सातवें पुत्र ही श्रीकृष्ण थे। कालान्तरमें देवकीने सम्यक्त्व सहित श्रावकके बारह व्रत ग्रहण किये और उनका उचितरूपेण पालन किया था।

२९ **द्रौपदीः**—पाण्डवोंकी पत्नी। कथा प्रसिद्ध है।

३० **धारिणीः**—ये चेटक महाराजाकी पुत्री और चम्पापुरीके महाराजा दधिवाहनकी पत्नी थी। एक बार शतानीक राजाके नगरपर चढ़ाई करनेसे धारिणी अपनी पुत्री वसुमतीको लेकर भाग गयी। इतनेमें किसी सैनिकने उसको पकड़ ली और मार्गमें अनुचित माँग की। ऐसे समयमें धारिणीने शीलकी रक्षाके लिये जीभ काटकर प्राण-त्याग किया।

३१ **कलावतीः**—ये शङ्ख राजाकी शीलवती स्त्री थी। एक समय भाई द्वारा प्रेषित कङ्कणोंकी जोड़ी पहनकर ये प्रशंसाके वाक्य कहती थी, उस समय मति-विभ्रमसे पतिको इनके शीलपर सन्देह हुआ, और उनने कङ्कण-सहित हाथ काटनेकी आज्ञा दी। वधिकोंने जङ्गलमें लेजाकर कङ्कण-

सहित इनके हाथ काट लिये, किंतु शीलके दिव्य प्रभावसे इनके हाथ वैसे-के-वैसे हो गये। इस जङ्गलमें इन्होंने एक पुत्रको जन्म दिया और वहाँसे चलकर एक तापसके आश्रममें आश्रय लिया। शङ्का दूर होनेपर पति बादमें पछताया। अनेक वर्षोंके पश्चात् इनसे पतिका पुनः मिलाप हुआ, किन्तु तब तो जीवनका रङ्ग पलट चुका था। अन्तमें दीक्षा ग्रहणकर इन्होंने आत्म-कल्याण किया और स्वर्गमें गयीं। वहाँसे च्यवित होकर मोक्षमें जायँगी।

३२ **पुष्पचूलाः**—देखो अर्णिकापुत्र आचार्य (६)।

३३-४०:—**पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जम्बूवती, सत्यभामा और रुक्मिणी**। ये आठों श्रीकृष्णकी पटरानियाँ थीं। इनके शीलकी परीक्षा पृथक् पृथक् समयमें हुई थी। किन्तु ये प्रत्येकमें पार उतरीं। अन्तमें आठों पटरानियोंने दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण किया।

४१-४७:—१ **यक्षा**, २ **यक्षदत्ता**, ३ **भूता**, ४ **भूतदत्ता**, ५ **सेना**, ६ **वेना और** ७ **रेणा**। ये सातों महासतियाँ श्रीस्थूलभद्रकी बहिने थीं। इनकी स्मरण-शक्ति बहुत तीव्र थी। इनमेंसे प्रत्येकने भागवती-दीक्षा अङ्गीकार करके आत्माका उद्धार किया था। इनका विशेष परिचय श्रीस्थूलभद्रके जीवन-चरित्रसे जानना।

४५ सड्ढ-निच्च-किच्च-सज्झाओ

['मन्नह जिणाणं'-सज्झाय]

मूल—

[गाहा]

मन्नह जिणाणमाणं, मिच्छं परिहरह धरह सम्मत्तं ।
छव्विह-आवस्सयम्मि उज्जुत्ता होह पइदिवसं ॥ १ ॥

पव्वेसु पोसहवयं, दाणं सीलं तवो अ भावो अ ।
सज्झाय-नमुक्कारो, परोवयारो अ जयणा अ ॥ २ ॥

जिण-पूआ जिण-थुणणं, गुरु-थुअ साहम्मिआण वच्छल्लं ।
ववहारस्स य सुद्धी रह-जत्ता तित्थ-जत्ता य ॥ ३ ॥

उवसम-विवेग-संवर-भासा-समिई छज्जीव-करुणा य ।
धम्मिअजण-संसग्गो, करण-दमो चरण-परिणामो ॥ ४ ॥

संघोवरि बहुमाणो, पुत्थय-लिहणं पभावणा तित्थे ।
सड्ढाण किच्चमेअं, निच्चं सुगुरूवएसेणं ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—

मन्नह–मानो ।

जिणाणं–जिनेश्वरोंकी ।

आणं–आज्ञाको ।

मिच्छं–मिथ्यात्वको, मिथ्यात्वका ।
मिथ्यात्व–जिसमें खोटापन अथवा असत्यता हो ।

परिहरह-त्याग करो ।

धरह–धारण करो ।

सम्मत्तं–सम्यक्त्वको ।

छव्विह-आवस्सयम्मि–छः प्रकारके आवश्यक करनेमें ।
छः आवश्यक–(१) सामायिक, (२) चतुर्विंशति–स्तव, (३) वन्दन, (४) प्रतिक्रमण, (५) कायोत्सर्ग और (६) प्रत्याख्यान ।

उज्जुत्ता–उद्यमवान्, प्रयत्नशील ।

होह–बनो ।

पइदिवसं-प्रतिदिन ।

पव्वेसु–पर्वके दिनोंमें ।

पोसहवयं-पोषधव्रत करो ।

दाणं–दान दो ।

सीलं-सदाचारका पालन करो ।

तवो–तप, तपका अनुष्ठान करो ।

अ–और ।

भावो–भाव, मैत्री आदि उत्तम प्रकारकी भावना करो ।

अ–और ।

सज्झाय-नमुक्कारो–स्वाध्याय करो और नमस्कार–मन्त्रकी गणना करो; पाँच प्रकारके स्वाध्यायमें मग्न बनो, नमस्कार–मन्त्रकी गणना करो ।

परोवयारो-परोपकार-परायण बनो ।

अ–और ।

जयणा-सावधानी रखो ।

अ–और ।

जिण-पूआ-जिनेश्वरकी पूजा करो ।

जिण-थुणणं–जिन–स्तवन करो ।

गुरु-थुअ–गुरुकी स्तुति करो ।

साहम्मिआण-वच्छल्लं-साधर्मिक भाइयोंके प्रति वात्सल्य दिखलाओ ।
साहम्मिअ-समान धर्मद्वारा अपना जीवन व्यतीत करनेवाला ।
वच्छल–स्नेह, प्रेमभाव ।

ववहारस्स य सुद्धी–और देने-लेनेमें प्रामाणिकता रखो, व्यवहारमें शुद्धि रखो ।

रह-जत्ता–रथ-यात्रा करो ।

तित्थ-जत्ता य–और तीर्थयात्रा करो ।

उवसम-विवेग-संवर - उपशम, विवेक और संवर धारण करो।

उवसम - कषायकी उपशान्ति।

विवेग - सत्यासत्यकी परीक्षा।

संवर-नये कर्म बँधे नहीं, ऐसी प्रवृत्ति।

भासा-समिई-बोलनेमें सावधानी रखो।

छज्जीव-करुणा य-छः कायके जीवोंके प्रति करुणा रखो।

छज्जीव-छः कायके जीव-(१) पृथ्वीकाय, (२) अप्‌काय, (३) तेजस्काय, (४) वायुकाय, (५) वनस्पतिकाय और (६) त्रसकाय।

धम्मिअजण - संसग्गो - धार्मिक मनुष्योंके संसर्गमें रहो।

करणदमो-इन्द्रियोंका दमन करो।

करण इन्द्रियाँ। दम-दमन।

चरण - परिणामो - चारित्र ग्रहण करनेकी भावना रखो।

चरण-चारित्र। परिणाम-भावना।

संघोवरि बहुमाणो-संघके प्रति बहुमान रखो।

पुत्थय-लिहणं-(धार्मिक) पुस्तकें लिखाओ।

पभावणा तित्थे-तीर्थकी प्रभावना करो।

तीर्थ-प्रभावना-धर्मकी उन्नति हो ऐसा प्रयत्न।

सड्ढाण श्रावकोंके।

किच्चमेअं-ये कृत्य हैं।

निच्चं-नित्य।

सुगुरूवएसेणं - सद्‌गुरुके उपदेशसे।

अर्थ-सङ्कलना—

हे भव्य जीवों! तुम जिनेश्वरोंकी आज्ञाको मानो, मिथ्यात्वका त्याग करो, सम्यक्त्वको धारण करो और प्रतिदिन छः प्रकारके आवश्यक करनेमें प्रयत्नशील बनो॥ १॥

और पर्वके दिनोमें पोषध करो, दान दो, सदाचारका पालन करो, तपका अनुष्ठान करो, मैत्री आदि उत्तम प्रकारकी भावना करो, पाँच प्रचारके स्वाध्यायमें मग्न बनो, नमस्कार-मन्त्रकी गणना करो, परोपकार-परायण बनो और यथाशक्य दयाका पालन करो॥२॥

प्रतिदिन जिनेश्वरदेवकी पूजा करो, नित्य जिनेश्वरदेवकी स्तुति करो, निरन्तर गुरुदेवकी स्तुति करो, सर्वदा साधर्मिक भाइयोंके प्रति वात्सल्य दिखलाओ, व्यवहारकी शुद्धि रखो तथा रथ–यात्रा और तीर्थ–यात्रा करो ॥ ३ ॥

कषायोंको शान्त करो, सत्यासत्यकी परीक्षा करो, संवरके कृत्य करो, बोलनेमें सावधानी रखो, छः कायके जीवोंके प्रति करुणा रखो, धार्मिकजनोंका संसर्ग रखो, इन्द्रियोंका दमन करो तथा चारित्र ग्रहण करनेकी भावना रखो ॥ ४ ॥

सङ्घके प्रति बहुमान रखो, धार्मिक पुस्तकें लिखाओ और तीर्थकी प्रभावना करो। ये श्रावकोंके नित्यकृत्य हैं, जो सद्गुरुके उपदेशसे जानने चाहिये ॥ ५ ॥

सूत्र-परिचय—

यह सज्झाय पोषधव्रतमें तथा पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक–प्रतिक्रमणके पहले दिन दैवसिक–प्रतिक्रमणमें बोली जाती है। इसमें श्रावकके करने योग्य ३६ प्रकारके कार्य प्रदर्शित किये गये हैं।

४६ सकल-तीर्थ-वंदना

['सकल-तीर्थ-वन्दना']

मूल—

[चोपाई]

सकल-तीर्थ वंदुं कर जोड, जिनवर-नामे मंगल कोड ।
पहेले स्वर्गे लाख बत्रीश, जिनवर-चैत्य नमुं निश-दिश ॥ १ ॥
बीजे लाख अट्ठावीस कह्यां, त्रीजे बार लाख सद्दह्यां ।
चोथे स्वर्गे अड लक्खधार, पांचमे वंदुं लाख ज चार ॥ २ ॥
छट्ठे स्वर्गे सहस पचास, सातमे चालीस सहस प्रासाद ।
आठमे स्वर्गे छ हजार, नव-दशमे वंदुं शत चार ॥ ३ ॥
अग्यार-बारमे त्रणसें सार, नव ग्रैवेयके त्रणसें अढार ।
पांच अनुत्तर सर्वे मली, लाख चोरासी अधिकां वली ॥ ४ ॥
सहस सत्ताणुं त्रेवीश सार, जिनवर-भवन तणो अधिकार ।
लांबा सो जोजन विस्तार, पचास ऊंचा बहोतेर धार ॥ ५ ॥
एकसो एंशी बिंब प्रमाण, सभा-सहित एक चैत्ये जाण ।
सो कोड बावन कोड संभाल, लाख चोराणुं सहस चौंआल ॥६॥

सातसें उपर साठ विशाल, सवि बिंब प्रणमुं त्रण काल ।
सात कोड ने बहोंतेर लाख, भवनपतिमां देवल भाख ॥ ७ ॥
एकसो एंशी बिंब प्रमाण, एक एक चैत्ये संख्या जाण ।
तेरसें कोड नेव्याशी कोड, साठ लाख वंदुं कर जोड ॥ ८ ॥
बत्रीसें ने ओगणसाठ, तिर्च्छालोकमां चैत्यनो पाठ ।
त्रण लाख एकाणुं हजार, त्रणसें वीश ते बिंब जुहार ॥ ९ ॥
व्यंतर ज्योतिषीमां वली जेह, शाश्वता जिन वंदुं तेह ।
ऋषभ चन्द्रानन वारिषेण, वर्धमान नामे गुण-सेण ॥ १० ॥
संमेतशिखर वंदुं जिन वीश, अष्टापद वंदुं चोवीश ।
विमलाचल ने गढ गिरनार, आबू ऊपर जिनवर जुहार ॥११॥
शंखेश्वर केसरियो सार, तारंगे श्रीअजित जुहार ।
अंतरिक्ख वरकाणो पास, जिराउलो ने थंभण पास ॥ १२ ॥
गाम नगर पुर पाटण जेह, जिनवर-चैत्य नमुं गुणगेह ।
विहरमाण वंदुं जिन वीश, सिद्ध अनन्त नमुं निश-दिश ॥१३॥
अढीद्वीपमां जे अणगार, अढार सहस सीलांगना धार ।
पंच महाव्रत समिति सार, पाले पलावे पंचाचार ॥ १४ ॥
बाह्य अभ्यंतर तप उजमाल, ते मुनि वंदुं गुण-मणिमाल ।
नितनित उठी कीर्ति करुं, जीव कहे भवसायर तरु ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—

सरल है ।

अर्थ-सङ्कलना—

सब तीर्थोंको मैं वन्दन करता हूँ, कारण कि श्रीजिनेश्वर प्रभुके नामसे करोड़ों मङ्गल प्रवृत्त होते हैं। मैं प्रतिदिन श्रीजिनेश्वरके चैत्योंको नमस्कार करता हूँ। (वह इस प्रकार–) पहले देवलोकमें स्थित बत्तीस लाख जिन–भवनोंको मैं वन्दन करता हूँ ॥ १ ॥

दूसरे देवलोकमें अट्ठाईस लाख, तीसरे देवलोकमें बारह लाख, चौथे देवलोकमें आठ लाख और पाँचवें देवलोकमें चार लाख जिन–भवनोंको मैं वन्दन करता हूँ ॥ २ ॥

छठे देवलोकमें पचास हजार, सातवें देवलोकमें चालीस हजार, आठवें देवलोकमें छः हजार, नौवें और दसवें देवलोकके मिलकर चारसौ जिन–भवनोंको मैं वन्दन करता हूँ ॥ ३ ॥

ग्यारहवें और बारहवें देवलोकके मिलकर तीनसौ, नौ ग्रैवेयकमें तीनसौ अठारह तथा पाँच अनुत्तर विमानमें पाँच जिन–भवन मिलकर चौरासी लाख, सत्तानवे हजार तेईस जिन–भवन हैं, उनको मैं वन्दन करता हूँ कि जिनका अधिकार शास्त्रोंमें वर्णित है। ये जिन–भवन सौ योजन लम्बे, पचास योजन चौड़े और बहोत्तर योजन ऊँचे हैं ॥ ४–५ ॥

इन प्रत्येक जिन–भवनों अथवा चैत्योंमें सभा–सहित १८० जिन–बिम्बोंका प्रमाण है; इस प्रकार सब मिलकर एकसौ बावन करोड चौरानवे लाख, चौंतालीस हजार, सातसौ साठ (१५२९४४४७६०) विशाल जिन–प्रतिमाओंका स्मरणकर तीनों

काल में प्रणाम करता हूँ। भवनपतिके आवासोंमें सात करोड़, बहोत्तर लाख (७७२०००००) जिन–चैत्य कहे हुए हैं ॥ ६–७ ॥

इन प्रत्येक चैत्योंमें एकसौ अस्सी जिन बिम्ब होते हैं। अतः सब मिलकर तेरहसों नवासी करोड़ और साठ लाख (१३८९६००००००) जिन बिम्ब होते हैं, जिन्हें हाथ जोड़कर मैं वन्दन करता हूँ ॥ ८ ॥

तिर्छा–लोक अर्थात् मनुष्य–लोकमें तीन हजार; दोसौ उनसाठ (३२५९) शाश्वत चैत्योंका वर्णन आता है, जिनमें तीन लाख इकानवे हजार, तीनसौ बीस (३९१३२०) जिनप्रतिमाएँ हैं, उन्हें मैं वन्दन करता हूँ ॥ ९ ॥

इसके अतिरिक्त व्यन्तर और ज्योतिषी देवोके निवासमें जो जो शाश्वत जिन–बिम्ब हैं, उन्हें भी मैं वन्दन करता हूँ। गुणोंकी श्रेणिसे परिपूर्ण चार शाश्वत जिन–बिम्बोंके शुभनाम–१ श्रीऋषभ, २ चन्द्रानन, ३ वारिषेण और ४ वर्द्धमान हैं ॥ १० ॥

संमेतशिखरपर बीस तीर्थङ्करोंकी प्रतिमाएँ हैं, अष्टापदपर चौबीस तीर्थङ्करोंकी प्रतिमाएँ हैं, तथा शत्रुञ्जय, गिरनार और आबूपर भी भव्य जिन मूर्तियाँ हैं, उन सबको मैं वन्दन करता हूँ ॥ ११ ॥

तथा शङ्खेश्वर, केशरियाजी आदिमें भी पृथक् पृथक् तीर्थङ्करोंकी प्रतिमाएँ हैं; एवं तारंगापर श्रीअजितनाथजीकी प्रतिमा है, उन सबको मैं वन्दन करता हूँ। इसी प्रकार अन्तरिक्षपार्श्वनाथ, जीरावला

पार्श्वनाथ और स्तम्भनपार्श्वनाथके तीर्थ भी प्रसिद्ध हैं, उन सबको मैं वन्दन करता हूँ ॥ १२ ॥

इसके उपरान्त भिन्न भिन्न ग्रामोंमें, नगरोंमें, पुरोंमें और पट्टन (पाटण) में गुणोंके गृहरूप जो जो जिनेश्वर प्रभुके चैत्य हों, उनको मैं वन्दन करता हूँ। बीस विहरमाण जिन एवं आजतक हुए अनन्त सिद्धोंको मैं प्रतिदिन नमस्कार करता हूँ ॥ १३ ॥

ढाई द्वीपमें जो साधु अठारह हजार शीलाङ्ग-रथके धारण करनेवाले हैं, पाँच महाव्रत, पाँच समिति तथा पाँच आचारके स्वयं पालन करनेवाले हैं और दूसरोंसे भी पालन करानेवाले हैं, ऐसे गुणरूपी रत्नोंकी मालाको धारण करनेवाले मुनियोंको मैं वन्दन करता हूँ ॥ १४ ॥

जीव (श्रीजीवविजयजी महाराज) कहते हैं कि नित्य प्रातःकालमें उठकर इन सबका मैं कीर्तन करता हूँ, (मैं) भवसागर तिर जाऊँगा ॥ १५ ॥

सूत्र-परिचय—

यह सूत्र रात्रिक-प्रतिक्रमणके छः आवश्यक पूर्ण होनेके पश्चात् लोकमें स्थित शाश्वत चैत्य, शाश्वत जिनबिम्ब, वर्तमान तीर्थ, विहरमाण जिन, सिद्ध और साधुओंको वन्दन करनेके लिये बोला जाता है; अतः इसे सकलतीर्थ-वन्दना कहते हैं। आरम्भके शब्दोंसे 'सकल तीरथ' के नामसे भी प्रसिद्ध है। इसकी रचना विक्रमकी अठारहवीं शतीके अन्तिम भागमें उत्पन्न हुए श्रीजीवविजयजी महाराजने की है।

———

४७ पोसह-सुत्तं

['पोषध लेनेका'–सूत्र]

मूल—

करेमि भंते ! पोसहं,
आहार-पोसहं देसओ सव्वओ,
सरीर-सक्कार-पोसहं सव्वओ,
बंभचेर-पोसहं सव्वओ,
अव्वावार-पोसहं सव्वओ,
चउव्विहं पोसहं ठामि,
जाव दिवसं (जाव अहोरत्तं) पज्जुवासामि,
दुविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं न करेमि,
न कारवेमि ।
तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि,
अप्पाणं वोसिरामि ॥

शब्दार्थ—

करेमि–करता हूँ ।
भंते !–हे भदन्त ! हे पूज्य !
पोसहं–पोषध ।
आहार-पोसहं–आहार-पोषध । आहार-सम्बन्धी पोषध करना वह–आहार-पोसह ।

देसओ–देशसे, कुछ अंशोंमें ।
सव्वओ–सर्वसे, सर्वांशमें ।
सरीर–सक्कार–पोसहं–शरीर–सत्कार–पोषध ।
सरीर–का । सक्कार – स्नान, उद्वर्तन (उबटन), विलेपन आदि विशिष्ट वस्त्र अलङ्कार धारण करनेकी क्रिया ।
सव्वओ–सर्वसे ।
बंभेचर पोसहं–ब्रह्मचर्य-पोषध ।
सव्वओ–सर्वसे ।
अव्वावार-पोसहं–अव्यापार-पोषध कुत्सित प्रवृत्तिके त्यागरूप जो पोषध वह अव्यापार–पोषध ।
सव्वओ–सर्वसे ।
चउव्विहं–चार प्रकारके ।
पोसहं–पोषधके विषयमें पोषध-व्रतमें ।
ठामि–रहता हूँ, स्थिर होता हूँ ।
जाव–जहाँतक ।
दिवसं–दिन पूर्ण हो वहाँतक ।
(**जाव**–जहाँतक ।
अहोरत्तं–अहोरात्र ।) (दिवस और रात्रि पूर्ण हो, वहाँतक ।)

पज्जुवासामि–सेवन करूँ ।
दुविहं–दो प्रकारसे, करना और करानारूप दो प्रकारोंसे ।
तिविहेणं–तीन प्रकारसे, मन, वचन और काया इन तीन प्रकारोंसे ।
मणेणं–मनसे ।
वायाए–वाणीसे ।
काएणं–कायासे ।
न करेमि–न करूँ ।
न कारवेमि–न कराऊँ ।
तस्स–तत्सम्बन्धी सावद्य योगका ।
भंते !–हे भदन्त ! हे भगवन् !
पडिक्कमामि–प्रतिक्रमण करता हूँ, निवृत्त होता हूँ ।
निंदामि–निन्दा करता हूँ, बुरी मानता हूँ ।
गरिहामि–गर्हा करता हूँ, स्पष्टरूपसे एकरार करता हूँ ।
अप्पाणं–आत्माका, कषायात्माका ।
वोसिरामि–वोसिराता हूँ, त्याग करता हूँ ।

अर्थ-सङ्कलना–

हे पूज्य ! मैं पोषध करता हूँ । उसमें आहार-पोषध देशसे (कुछ अंशमें) अथवा सर्वसे (सर्वांशसे) करता हूँ, शरीर–सत्कार

पोषध सर्वसे करता हूँ, ब्रह्मचर्य-पोषध सर्वसे करता हूँ और अव्यापार-पोषध (भी) सर्वसे करता हूँ। इस तरह चार प्रकारके पोषध-व्रतमें स्थिर होता हूँ। जहाँतक दिन अथवा अहोरात्र-पर्यन्त मैं प्रतिज्ञाका सेवन करूँ वहाँतक मन, वचन और कायासे सावद्य-प्रवृत्ति न करूँ और न कराऊँ। हे भगवन्! इस प्रकारकी जो कोई अशुभ-प्रवृत्ति हुई हो उससे मैं निवृत्त होता हूँ, उन अशुभ प्रवृत्तियोंको मैं बुरी मानता हूँ, तत्सम्बन्धी आपके समक्ष स्पष्ट एकरार करता हूँ और इस अशुभ प्रवृत्तिको करनेवाले कषायात्माका मैं त्याग करता हूँ।

सूत्र-परिचय—

इस सूत्रसे पोषध लिया जाता है।

पोषध

प्रश्न—पोषध क्या है?

उत्तर—एक प्रकारका शिक्षाव्रत! श्रावकके बारह व्रतोंमें इसका क्रम ग्यारहवाँ है।

प्रश्न—पोषधका अर्थ क्या है?

उत्तर—धर्मका पोषण करे, धर्मकी पुष्टि करे, वह पोषध। श्रीहरिभद्रसूरिने दसवें पञ्चाशकमे कहा है कि 'जो कुशल धर्मका पोषण करता है जिसमें श्रीजिनेश्वर देवोंद्वारा कथित आहार-त्याग आदिका विधि-पूर्वक अनुष्ठान किया जाय वह पोषध।'

प्रश्न—पोषध कितने प्रकारका है?

उत्तर—चार प्रकारका। आहार-पोषध, शरीरसत्कार-पोषध, ब्रह्मचर्य-पोषध और अव्यापार-पोषध।

प्रश्न—आहार-पोषध किसे कहते हैं?

उत्तर—उपवास आदि तप करना, उसे आहार-पोषध कहते हैं।

प्रश्न—शरीरसत्कार-पोषध किसे कहते हैं ?

उत्तर—स्नान, उद्वर्तन (पीठी अथवा अन्य उबटन लगाना), विलेपन, पुष्प, गन्ध, विशिष्ट वस्त्र और आभरणादिसे शरीरका सत्कार करनेका त्याग करना, उसे शरीरसत्कार-पोषध कहते हैं।

प्रश्न—ब्रह्मचर्य-पोषध किसे कहते हैं ?

उत्तर—ब्रह्मचर्यका पालन करना, उसे ब्रह्मचर्य-पोषध कहते हैं।

प्रश्न—अव्यापार-पोषध किसे कहते हैं ?

उत्तर—सावद्य व्यापारका त्याग करना, उसे अव्यापार-पोषध कहते हैं।

प्रश्न—ये प्रत्येक पोषध कितने प्रकारसे होता है ?

उत्तर—दो प्रकारसेः-एक देशसे और दूसरा सर्वसे, परन्तु वर्तमान सामाचारीके अनुसार आहार-पोषध ही देशसे और सर्वसे, इस तरह दो प्रकारसे होता है और शेष तीन पोषध केवल सर्वसे होते हैं।

प्रश्न—पोषधव्रत कितने समयके लिये ग्रहण किया जाता है ?

उत्तर—पौषधव्रत सामान्यतया एक अहोरात्र अर्थात् आठ प्रहरके लिये ग्रहण किया जाता है, परन्तु ऐसी अनुकूलता न हो तो केवल दिन अथवा केवल रात्रिके लिये भी पोषध-व्रत लिया जा सकता है।

प्रश्न—पोषध-व्रतसे क्या लाभ होता है ?

उत्तर—पोषधव्रतसे साधुजीवनकी शिक्षा मिलती है और आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त होती है।

४८ पोसह-पारण-सुत्तं

['पोसह पारनेका'-सूत्र]

मूल—

[गाहा]

सागरचंदो कामो, चंदवडिंसो सुदंसणो धन्नो ।
जेसिं पोसह-पडिमा, अखंडिया जीविअंते वि ॥ १ ॥

धन्ना सलाहणिज्जा, सुलसा आणंद-कामदेवा य ।
जास पसंसइ भयवं, दढव्वयत्तं महावीरो ॥ २ ॥

पोषध विधिसे लिया, विधिसे पूर्ण किया, विधि करनेमें जो कोई अविधि हुई हो, उन सबका मन, वचन कायासे मिच्छा मि दुक्कडं ॥

पोषधके अठारह दोषोंमें जो कोई दोष लगा हो तो उन सबका मन, वचन और कायासे मिच्छा मि दुक्कडं ॥

शब्दार्थ—

सागरचंदो-सागरचन्द्र राजर्षि ।
कामो-कामदेव श्रावक ।
चंदवडिंसो-चन्द्रावतंस राजा ।
सुदंसणो-सुदर्शन सेठ ।
धन्नो-धन्य हैं ।
जेसिं-जिनकी ।
पोसह-पडिमा-पोषधकी प्रतिम (नियम-विशेष) ।
अखंडिआ-खण्डित नहीं हुई, अखण्डित रही ।
जीविअंते-जीवनके अन्त तक ।
वि-भी ।

धन्ना-धन्य हैं।
सलाहणिज्जा - श्लाघनीय हैं, प्रशंसनीय हैं।
सुलसा-सुलसा नामवाली भगवान् महावीरकी परम श्राविका।
आणंद-कामदेवा-आनन्द और कामदेव नामके श्रावक।
य-और।
जास-जिनके।
पसंसइ-प्रशंसा करते हैं।
भयवं-भगवान्।
दढव्वयत्तं-दृढव्रतताको, व्रतकी दृढताको।
महावीरो-श्रमण भगवान् महावीर।
पोसह-विधिसे०-अर्थ स्पष्ट है।

अर्थ-सङ्कलना—

सागरचन्द्र, कामदेव, चन्द्रावतंस राजा और सुदर्शन सेठको धन्य है कि जिनकी पोषध-प्रतिमा (प्रतिज्ञा) जीवनके अन्ततक अखण्डित रही ॥ १ ॥

श्रमण भगवान् महावीर जिनके व्रतकी दृढताकी प्रशंसा करते है, वे सुलसा, आनन्द और कामदेव आदि धन्य और प्रशंसनीय है ॥२॥

शेष स्पष्ट है।

सूत्र-परिचय—

इस सूत्रसे पोषध पूर्ण किया जाता है।

पोषधमें त्यागने योग्य अढारह दोष

१. पोषधमें विरति-रहित किसी अन्य श्रावकका लाया हुआ आहार-पानी वापरना-काममें लाना।
२. पोषधके निमित्त सरस (रसादियुक्त) आहार लेना।
३. उत्तरवारणाके दिन विविध प्रकारकी सामग्री वापरना।
४. पोषधके निमित्त उसके पूर्व देहविभूषा करनी।

५. पोषके निमित्त वस्त्रादि धुलवाना।
६. पोषधके निमित्त आभूषण बनवाना और पोषधके समय धारण करना।
७. पोषधके निमित्त वस्त्र रँगवाना।
८. पोषधके समय शरीरसे मैल उतारना।
९. पोषधमें असमयमें शयन करना अथवा निद्रा लेना।
(रात्रिके दूसरे प्रहरमें संथारा-पोरिसी करके निद्रा लेना उपयुक्त है।)
१०. पोषधमें अच्छी-बुरी स्त्रीके सम्बन्धमें चर्चा करना।
११. पोषधमें अच्छे-बुरे आहारके सम्बन्धमें चर्चा करना।
१२. पोषधमें भली-बुरी राजकथा अथवा युद्धकथा करनी।
१३. पोषधमें देशकथा करनी।
१४. पोषधमें पूंजन-पडिलेहण विना लघुनीति अथवा बड़ीनीति परठवना।
१५. पोषधमें किसीकी निन्दा करनी।
१६. पोषधमें जिन्होंने पोषध नहीं लिया ऐसे माता, पिता, पुत्र, भाई, स्त्री आदि सम्बन्धियोंसे वार्तालाप करना।
१७. पोषधमें चोर सम्बन्धी बात करनी।
१८. पोषधमें स्त्रियोंके अङ्गोपाङ्ग देखना।

४९ संथारा-पोरिसी

[संस्तारक-पौरुषी]

मूल—

१ नमस्कार

निसीहि, निसीहि, निसीहि,
नमो खमासमणाणं गोयमाइणं महामुणीणं ॥

शब्दार्थ—

निसीहि-अन्य सर्व प्रवृत्तियोंका निषेध करता हूँ।
नमो-नमस्कार हो।
खमासमणाणं-क्षमा-श्रमणोंको।
गोयमाइणं-गौतम आदि।
महामुणीणं-महामुनियोंको।

अर्थ-सङ्कलना—

अन्य सर्व प्रवृत्तियोंका निषेध करता हूँ, निषेध करता हूँ, निषेध करता हूँ। क्षमाश्रमणोंको नमस्कार हो। गौतम आदि महामुनियोंको नमस्कार हो।

मूल—

२ संथारेकी आज्ञा

अणुजाणह जिट्ठज्जा !
अणुजाणह परम-गुरू ! गुरु-गुण-रयणेहिं मंडिय-सरीरा ! ।
बहु-पडिपुन्ना पोरिसी, राइय-संथारए ठामि ॥ १ ॥

शब्दार्थ—

अणुजाणह–अनुज्ञा दीजिये।
जिट्ठज्जा !–हे ज्येष्ठ आर्यों!
अणुजाणह–अनुज्ञा दीजिए।
परम-गुरू !–हे परम-गुरुओं!
गुरु-गुण-रयणेहिं–उत्तम गुण-रत्नोंसे।
मंडिय – सरीरा ! – विभूषित देहवाले।
बहु-पडिपुन्ना–सम्पूर्ण, अच्छी तरह परिपूर्ण।
पोरिसी–पौरुषी।
पोरिसी–दिन अथवा रात्रिका चौथा भाग।
राइय-संथारए – रात्रि – संथारेके विषयमें।
ठामि–स्थिर रहता हूँ, स्थिर होनेकी

अर्थ-सङ्कलना—

हे ज्येष्ठ आर्यों! अनुज्ञा दीजिये।

उत्तम गुणरत्नोंसे विभूषित देहवाले हे परम–गुरुओं! (प्रथम) पौरुषी अच्छी तरह परिपूर्ण हुई है, अतः रात्रि–संथारेके विषयमें स्थिर होनेकी अनुज्ञा दीजिये ॥ १ ॥

मूल—

३ संथारेकी विधि

अणुजाणह संथारं, बाहुवहाणेण वाम–पासेणं।
कुक्कुडि–पाय–पसारण, अतरंत पमज्जए भूमिं ॥ २ ॥

शब्दार्थ—

अणुजाणह–अनुज्ञा दीजिये।
संथारं–संथारेकी।
बाहुवहाणेण–हाथका उपधान (तकिया) करनेसे।
बाहु–हाथ। उवहाण–तकिया।
वाम–पासेणं–बाँयी करवटसे।
कुक्कडी – पाय – पसारण – मुर्गीकी तरह पाँव रखकर

सोनेमें ।
अतरंत–अशक्त होऊँ ।

पमज्जए–प्रमार्जन करूँ ।
भूमिं–भूमिका ।

अर्थ-सङ्कलना—

(हे भगवान् !) संस्थारेकी अनुज्ञा दीजिये, हाथका तकिया करनेसे तथा बाँयी करवटसे सोनेसे (इसकी विधि की जाती है, वह मैं जानता हूँ) और मुर्गीकी तरह पाँव रखकर (सोना चाहिये यह भी मैं जानता हूँ। यदि इस प्रकार) सोनेमें अशक्त होऊँ तो भूमिका प्रमार्जन करूँ (और बादमें पाँव लम्बे करूँ) ॥ २ ॥

मूल—

संकोइअ संडासा, उव्वट्टंते अ काय-पडिलेहा ।

४ जगना पड़े तो

दव्वाइ-उवओगं, णिस्सास-निरुम्भणालोए ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—

संकोइअ-पैर लम्बे करनेके बादमें सिकुड़ने पड़े तो ।
संडासा–घुटनोंको (पूंजकर) ।
उव्वट्टंते-करवट बदलना ।
अ–और ।
काय-पडिलेहा-कायाकी पडिलेहाणा करनी ।

दव्वाइ- उवओगं – द्रव्यादिका विचार करना; द्रव्य,क्षेत्र, काल, भावकी विचारणा करनी ।
णिस्सास - निरुंभणालोए - श्वासको रोकना और द्वारकी ओर देखना।
णिस्सास–निःश्वास । निरुंभण–रोध, रोकना ।

अर्थ-सङ्कलना—

यदि पैर लम्बे करनेके बादमें सिकुड़ने पड़े तो घुटनेंको पूंजकर सिकुड़ने और करवट बदलना पड़े तो शरीरका प्रमार्जन करना (यह इसकी विधि है। यदि कायचिन्ताके लिये उठना पड़े तो) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी विचारणा करनी और (इतना करनेपर भी यदि निद्रा न उड़े तो हाथसे नाक दबाकर) श्वासको रोकना और इस प्रकार निद्रा बराबर उड़े तब प्रकाशवाले द्वारके सामने देखना (ऐसी इसकी विधि है) ॥ ३ ॥

मूल—

५ सागारी अणसण

जइ मे हुज्ज पमाओ, इमस्स देहस्सिमाइ रयणीए।
आहारमुवहि-देहं, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—

जइ-यदि।
मे-मेरे।
हुज्ज-हो।
पमाओ-प्रमाद, मरण।
इमस्स-इस।
देहस्स-देहका।
इमाइ रयणीए-इस रात्रिमें ही।
आहारमुवहि-देहं-आहार-पानी, वस्त्र-उपकरण और देहका।
सव्वं-सबका।
तिविहेण-तीन प्रकारसे, मन, वचन और कायासे।
वोसिरिअं-वोसिराया है, त्याग किया है।

अर्थ-सङ्कलना—

यदि मेरे इस देहका इस रात्रिमें ही मरण हो तो (अभीसे) मैंने आहार-पाणी, वस्त्र-उपकरण और देह इन सबका मन, वचन और कायासे त्याग किया है ॥ ४ ॥

मूल—

६ मङ्गल-भावना

चत्तारि मंगलं अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं,
साहू मंगलं, केवलि-पन्नत्तो धम्मो मंगलं ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—

चत्तारि-चार, चार पदार्थ।
मंगलं-मङ्गल।
अरिहंता-अरिहन्त।
मंगलं-मङ्गल।
सिद्धा-सिद्ध।
मंगलं-मङ्गल।
साहू-साधु।
मंगलं-मङ्गल।
केवलि - पन्नत्तो - केवलियों से प्ररूपित, केवलि-प्ररूपित।
धम्मो-धर्म।
मंगलं-मङ्गल।

अर्थ-सङ्कलना—

चार पदार्थ मङ्गल हैं:—(१) अरिहन्त मङ्गल हैं, (२) सिद्ध मङ्गल हैं, (३) साधु मङ्गल हैं और (४) केवलि-प्ररूपित धर्म मङ्गल है ॥ ५ ॥

मूल—

चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा, केवलि-पन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—

चत्तारि—चार, चार पदार्थ । | **अरिहन्ता०**—पूर्ववत् ।
लोगुत्तमा—लोकोत्तम हैं ।

अर्थ-सङ्कलना—

चार पदार्थ लोकोत्तम हैं:—(१) अरिहन्त लोकोत्तम हैं, (२) सिद्ध लोकोत्तम हैं, (३) साधु लोकोत्तम हैं और (४) केवलि-प्ररूपित धर्म लोकोत्तम हैं ॥ ६ ॥

मूल—

७ चार शरण

चत्तारि सरणं पवज्जामि, अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलि-पन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—

चत्तारि—चारोंकी ।
सरणं—शरण ।
पवज्जामि—स्वीकृत करता हूँ, अङ्गीकार करता हूँ ।
अरिहंते—पूर्ववत् ।

अर्थ-सङ्कलना—

(संसार के भयसे बचनके लिये) मैं चारोंकी शरण अङ्गीकार करता हूँ:--(१) अरिहन्तोंकी शरण अङ्गीकार करता हूँ, (२) सिद्धोंकी शरण अङ्गीकार करता हूँ, (३) साधुओंकी शरण अङ्गीकार करता हूँ और (४) केवलि-प्ररूपित धर्मकी शरण अङ्गीकार करता हूँ ॥ ७ ॥

मूल—

८ अठारह पापस्थानकोंका त्याग

पाणाइवायमलियं चोरिक मेहुण दविणं-मुच्छं ।
कोहं माणं मायं, लोहं पिज्जं तहा दोसं ॥ ८ ॥
कलहं अब्भक्खाणं, पेसुन्नं रइ-अरइ-समाउत्तं।
परपरिवायं माया-मोस मिच्छत्त-सल्लं च ॥ ९ ॥
वोसिरसु इमाइं मुक्ख-मग्ग-संसग्ग-विग्घभूआइं।
दुग्गइ-निबंधणाइं, अट्ठारस पावठाणाइं ॥ १० ॥

शब्दार्थ—

पाणाइवायं-प्राणातिपात ।
अलियं-झूठा, मृषावाद ।
चोरिक्कं-चोरी, अदतादान।
मेहुणं-मैथुन ।
दविण-मुच्छं-द्रव्यपर ममत्व,
कोहं-क्रोध।
माणं-मान ।
मायं-माया।
लोहं-लोभ ।
पिज्जं-राग ।
तहा-तथा ।
दोसं-द्वेष ।
कलहं-कलह ।
अब्भक्खाणं-आक्षेप, अभ्याख्यान।
पेसुन्नं-चुगली, पैशुन्य।
रइ-अरइ-समाउत्तं-रति और अरतिसे युक्त, रति-अरति ।
पर-परिवायं-दूसरेको अवर्णवाद, (अयोग्यवचन) बोलनेकी क्रिया, पर-परिवाद ।
माया-मोसं-माया-मृषावाद ।
मिच्छत्त - सल्लं - मिथ्यात्वरूपी शल्यको, मिथ्यात्व-शल्य ।
च-और ।
वोसिरसु-छोड़ दे, त्याग करने योग्य है ।
इमाइं-ये ।
मुक्ख-मग्ग- संसग्ग - विग्घ-

भूआई – मोक्षमार्गकी प्राप्तिमें विघ्नभूत।
मुक्ख – मग्ग – मोक्षमार्ग।
संसग्ग–प्राप्ति।
विग्घभूअ-विघ्नभूत, अन्तरायरूप।

दुग्गइ-निबंधणाई-दुर्गतिके कारण-रूप।
दुग्गइ–नरक, तिर्यञ्च आदि गति। निबंधण–कारणरूप।
अट्ठारस–अठारह!
पाव–ठाणाइं–पाप–स्थानक।

अथ-सङ्कलना—

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, रति--अरति, पर--परिवाद, माया--मृषावाद और मिथ्यात्व-शल्य ये अठारह पाप-स्थानक मोक्ष--मार्गकी प्राप्तिमें विघ्नभूत और दुर्गतिके कारणरूप होनेसे त्याग करने योग्य हैं (अतः मैं इनका त्याग करता हूँ) ॥ ८--९--१० ॥

मूल—

९ आत्मानुशासन

[सिलोगो]

एगो हं नत्थि मे कोइ, नाहमन्नस्स कस्सइ।
एवं अदीण-मणसो, अप्पाणमणुसासइ ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—

एगो–एक, अकेला।
हं–मैं।
नत्थि–नहीं है।
मे-मेरा।

कोई–कोई।
न–नहीं।
अहं–मैं।
अन्नस्स–दूसरेका।

कस्सइ-किसी।

एवं-इस प्रकार।

अदीण-मणसो-दीनतासे रहित मनवाला, अदीन मनसे विचारता हुआ।

अप्पाणमणुसासइ-आत्माको शिक्षा दे, आत्माको समझाये।

अर्थ-सङ्कलना—

'मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और मैं किसी दूसरेका नहीं हूँ,' इस प्रकार अदीन मनसे विचारता हुआ आत्माको समझाये (समझाना चाहिये) ॥ ११ ॥

मूल—

एगो मे सासओ अप्पा, नाण-दंसण-संजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग-लक्खणा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—

एगो-एक।

मे-मेरी।

सासओ-शाश्वत, अमर।

अप्पा-आत्मा।

नाण-दंसण-संजुओ-ज्ञान और दर्शनसे युक्त।

सेसा-शेष, दूसरे सब।

मे-मेरे।

बाहिरा भावा-बाह्य-भाव बहिर्भाव।

सव्वे-सब।

संजोग-लक्खणा-पुद्गलके संयोगसे उत्पन्न, संयोगसे उत्पन्न।

अर्थ-सङ्कलना—

ज्ञान और दर्शनसे युक्त एक मेरी आत्मा ही अमर है और दूसरे सब संयोगसे उत्पन्न बहिर्भाव हैं ॥ १२ ॥

मूल—

१० सर्व सम्बन्धका त्याग

संजोग-मूला-जीवेण, पत्ता दुक्ख-परंपरा ।
तम्हा संजोग-संबंधं, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—

संजोग-मूला-संयोगके कारण उत्पन्न हुई, कर्म-संयोगके कारण ही ।

जीवेण-जीवने ।

पत्ता-प्राप्त की है ।

दुक्ख-परंपरा-दुःखकी परम्परा ।

तम्हा-अत एव ।

संजोग-संबंधं-संयोग-सम्बन्धको, कर्म-संयोगोंको ।

सव्वं-सर्व ।

सव्वं-सर्व ।

तिविहेणं-तीन प्रकारसे, मन, वचन और कायासे ।

वोसिरिअं-वोसिराया-त्याग किया है ।

अर्थ-सङ्कलना—

मेरे जीवने दुःखकी परम्परा कर्म-संयोगके कारण ही प्राप्त की है, अतएव इन सर्व कर्म-संयोगोंको मैंने मन, वचन और कायासे वोसिराया-त्याग किया है ॥ १३ ॥

मूल—

११ सम्यक्त्वकी धारणा

[गाहा]

अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो ।
जिण-पन्नत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहिअं ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—

अरिहंतो-अरिहन्त ।	**जिण-पन्नत्तं**-जिनोंद्वारा प्ररूपित ।
मह-मेरे ।	**तत्तं**-तत्त्व ।
देवो-देव (हैं)।	**इअ**-ऐसा ।
जावज्जीवं-जीऊँ वहाँतक ।	**सम्मत्तं**-सम्यक्त्व ।
सुसाहुणो-सुसाधु ।	**मए**-मैंने ।
गुरुणो-गुरु (हैं)।	**गहिअं**-ग्रहण किया है ।

अर्थ-सङ्कलना—

मैं जीऊँ वहाँतक अरिहन्त मेरे देव हैं, सुसाधु मेरे गुरु हैं और जिनोंद्वारा प्ररूपित तत्त्व (यह मेरा धर्म है,) ऐसा सम्यक्त्व मैंने ग्रहण किया है ॥ १४ ॥

मूल—

१२ क्षमापना

[दोहा]

खमिअ खमाविअ मइ खमह, सव्वह जीव-निकाय ! ।
सिद्धह साख आलोयण, मुज्झह वइर न भाव ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—

खमिअ-क्षमा करके (क्षमा किया)।	**मइ**-मुझे ।
खमाविअ-क्षमा कराकर, क्षमा माँगकर (क्षमा माँगी)।	**खमह**-क्षमा करो ।
	सव्वह-आप सब ।

जीव-निकाय !-हे जीव-समूह !	**मुज्झह**-मेरा।
सिद्धह-सिद्धोंकी।	**वइर**-वैर।
साख-साक्षीमें।	**न**-नहीं।
आलोयण-आलोचना करता हूँ।	**भाव**-भाव।

अर्थ-सङ्कलना—

हे जीव-समूह ! आप सब खमत-खामणा करके मुझे क्षमा करो। मैं सिद्धोंकी साक्षीमें आलोचना करता हूँ कि मेरा किसी भी जीवके साथ वैर-भाव नहीं है।

मूल—

सव्वे जीवा कम्म-वस, चउदह-राज-भमंत।
ते मे सव्व खमाविआ, मज्झ वि तेह खमंत ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—

सव्वे जीवा-सब जीव।	**सव्व**-सबको।
कम्म-वस-कर्म-वश होकर।	**खमाविआ**-खमाये हैं।
चउदह-राज-चौदह राजलोकमें।	**मज्झ**-मुझे।
भमंत-भ्रमण करते हैं।	**वि**-भी।
ते-उन	**तेह**-वे
मे-मैंने।	**खमंत**-क्षमा करें।

अर्थ-सङ्कलना—

सब जीव कर्म-वश होकर चौदह राजलोकमें भ्रमण करते हैं, उन सबको मैंने खमाये हैं, वे मुझे भी क्षमा करें ॥ १६ ॥

मूल—

१३ सर्व पापोंका मिथ्यादुष्कृत

जं जं मणेण बद्धं, जं जं वायाइ भासिअं पावं।
जं जं काएण कयं, मिच्छा मि दुक्कडं तस्स ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—

जं जं-जो जो।	जं जं-जो जो।
मणेण-मनसे।	काएण-कायासे।
बद्धं-बाँधा हो।	कयं-किया हो।
जं जं-जो जो।	मिच्छा-मिथ्या।
वायाइ-वाणीसे, वचनसे।	मि-मेरा।
भासिअं-कहा हो।	दुक्कडं-दुष्कृत।
पावं-पाप।	तस्स-तत्सम्बन्धी।

अर्थ-सङ्कलना—

जो जो पाप मनसे बाँधा हो, जो जो पाप वचनसे कहा हो, जो जो पाप कायासे किया हो, तत्सम्बन्धी मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१७॥

सूत्र-परिचय—

साधु तथा पोषधधारी श्रावक रात्रिके प्रथम प्रहरमें स्वाध्याय करनेके पश्चात् दूसरे प्रहरमें संथारा करनेके लिये जब गुरु महाराजकी आज्ञा माँगते है, तब यह सूत्र बोलता है। संथारा करनेकी पोरिसीमें यह सूत्र बोला जाता है, इसलिये इसको संथारा-पोरिसी कहते है।

संथारा-पोरिसी

प्रश्न—संथारा पोरिसीमें पहले क्या किया जाता है?

उत्तर—संथारा पोरिसीमें प्रथम स्वाध्यायादि प्रवृत्तियोंको निषेध करके नमस्कार किया जाता है।

प्रश्न—यह नमस्कार किसको किया जाता है?

उत्तर—यह नमस्कार सामान्यतः सर्व क्षमाश्रमणोंको और विशेषतः गौतमादि महामुनियोंको किया जाता है, क्योंकि निर्वाण-मार्गके साधनमें इनका जीवन मार्गदर्शक है।

प्रश्न—इसके बाद क्या किया जाता है?

उत्तर—बादमें नमस्कार-मन्त्र और सामायिक-सूत्र ('करेमि भंते' सूत्र) का पाठ तीन बार बोला जाता है और ज्येष्ठ आचार्य अथवा गुरुको निवेदन किया जाता है कि 'बहु पडिपुन्ना पोरिसी' अर्थात् पोरिसी स्वाध्यायमें अच्छी तरह व्यतीत हुई है, इसलिये संथारेपर जानेकी आज्ञा दीजिये और उस समय संथारेकी सामान्य विधि भी कही जाती है।

प्रश्न—संथारेकी सामान्य विधि क्या है?

उत्तर—संथारेकी सामान्य विधि यह है कि—

(१) तृण; सूखा घास अथवा कमलीका संथारा करना और उसपर तकिया आदि साधन न रखकर हाथका तकिया देकर सोना।

(२) वाम-पार्श्वसे सोना।

(३) सोते समय मुर्गीकी तरह पैरोंको घुटनोंके यहाँसे सिकोड़ लेना।

(४) यदि पैरोंको घुटनेके यहाँसे सिकुड़ना अनुकुल न हो तो पैर लम्बे करने किन्तु ऐसा करते समय जिस भूमिपर पैर रखने हों उसका प्रमार्जन करना।

(५) पैर लम्बे करके बाद सिकुड़ने हो तो घुटनोंका भाग पूंजना कि जहाँ जीव-विराधना होना सम्भव है।

(६) यदि करवट बदलनी हो तो शरीरका प्रमार्जन करना। तात्पर्य यह है कि सोनेके पश्चात् इच्छानुसार करवटें नहीं बदली जा सकतीं।

(७) सोनेके बाद कायचिन्ता (मल-मूत्र-त्याग) आदि के लिये उठना पड़े तो निद्रासे सर्वथा मुक्त होकर ही जाना योग्य है, अन्यथ निद्रावस्थामें उठकर इधर उधर धक्के खाते हुए चलना, यह आत्मनिष्ठ पुरुषके लिये योग्य नहीं।

(८) बराबर जागृत होनेके लिये प्रथम द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे विचारणा करनी चाहिये कि 'मैं कौन हूँ?' अभी प्रव्रजित हूँ कि अप्रव्रजित?' 'व्रतमें हूँ कि व्रतसे बाहर?' 'कहाँ सोया हुआ हूँ?' 'पहली, दूसरी या तीसरी मंजिल पर अथवा किसी अन्य स्थानपर (क्षेत्र)?' 'कितना समय व्यतीत हुआ होगा (काल)? मेरे अभी उठनेका प्रयोजन क्या है (भाव)? आदि

(९) इतना होनेपर भी यदि निद्रा पूर्णतया दूर न हो तो नाक दबाना और श्वास रोकना। जिससे थोड़े ही समयमें निद्राका दूर होना सम्भव है।

(१०) निद्रा बराबर दूर होने पर यदि खिड़की अथवा द्वारसे प्रकाश आता हो तो उसके सामने देखना तथा इस प्रकार सर्वथा निद्रा मुक्त होनेके पश्चात् ही जयणापूर्वक कायचिन्ता दूर करनी।

प्रश्न—इसके बाद क्या किया जाता है?

उत्तर—बादमें सागारी अणसण किया जाता है।

प्रश्न—वह किस तरह?

उत्तर—'यदि इस रात्रिमें ही मेरा मरण हो जाय तो आहार-पाणी, वस्त्र-उपकरण और देहको मैं मन वचन और कायासे वोसिराता हूँ'

इस प्रकार गुरुके समक्ष प्रगट किया जाता है। इस तरहकी एकरारवाली विज्ञप्तिको 'सागारी अणसण' कहते हैं।

प्रश्न—फिर क्या किया जाता है?

उत्तर—फिर मङ्गलभावना की जाती है तथा अरिहन्त, सिद्ध साधु और केवलिप्रणीत धर्म इन चारोंकी शरण अङ्गीकार की जाती है।

प्रश्न—फिर क्या किया जाता है?

उत्तर—फिर अठारह पापस्थानकोंका त्याग करके आत्मानुशासन किया जाता है। उसके बाद सर्व पौद्गलिक सम्बधोंका त्याग करके सम्यक्त्वकी धारणा दृढ की जाती है और सब जीवोंके साथ खमत-खामणा करके सब पापोंका मिथ्यादुष्कृत लिया जाता है। तदनन्तर रात्रिका सँथारा किया जाता है।

५० पच्चक्खाणके सूत्र

प्रभातके पच्चक्खाण।

१ नवकारसीका पच्चक्खाण।
२ पोरिसी और साड्ढपोरिसीका पच्चक्खाण।
३ पुरिमड्ढ–अवड्ढका पच्चक्खाण।
४ एगासण–बियासण और एगलठाणका पच्चक्खाण।
५ आयंबिल–निव्विगइय (निव्वी) का पच्चक्खाण।
६ तिवि (हा) हार उपवासका पच्चक्खाण।
७ चउवि (हा) हार उपवासका पच्चक्खाण।

सायंकालके पच्चक्खाण।

८ पाणहारका पच्चक्खाण।
९ चउवि (हा) हारका पच्चक्खाण।
१० तिवि (हा) हारका पच्चक्खाण।
११ दुवि (हा) हारका पच्चक्खाण।
१२ देशावकाशिकका पच्चक्खाण।

मूल—

१ नवकारसीका पच्चक्खाण।

उग्गए सूरे, नमुक्कार–सहिअं मुट्ठि–सहिअं, पच्चक्खाइ चउव्विहं पि आहारं–असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ॥

२ पोरिसी और साड्ढपोरिसीका पच्चक्खाण।

उग्गए सूरे, नमुक्कार–सहिअं पोरिसिं साड्ढ–पोरिसिं मुट्ठि–सहिअं पच्चक्खाइ।

उग्गए सूरे, चउव्विहं पि आहारं– असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छन्नकालेणं दिसा–मोहेणं, साहु-वयणेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।

३ पुरिमड्ढ–अवड्ढका पच्चक्खाण।

सूरे उग्गए पुरिमड्ढं अवड्ढं मुट्ठि–सहिअं पच्चक्खाइ।

चउव्विहं पि आहारं–असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं साहु-वयणेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ॥

४ एगासण, बियासण और एगलठाणका पच्चक्खाण।

उग्गए सूरे, नमुक्कार–सहिअं, पोरिसिं, साड्ढपोरिसिं, मुट्ठि–सहिअं पच्चक्खाइ। चउव्विहं पि आहारं–असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं साहु–वयणेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं।

विगइओ पच्चक्खाइ। अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं उक्खित्तविवेगेणं पडुच्चमक्खिएणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं।

एगासणं पच्चक्खाइ। तिविहं पि आहारं—असणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं सागारिआगारेणं आउंट-णपसारणेणं गुरु-अब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं पाणस्स लेवेण वा अलेवेण वा अच्छेण वा बहुलेवेण वा ससित्थेण वा असित्थेण वा वोसिरइ ॥

५ आयंबिल, निव्विगइय (निव्वी) का पच्चक्खाण।

उग्गए सूरे, नमुक्कार–सहिअं, पोरिसिं, साड्ढपोरिसिं मुट्ठि-सहिअं पच्चक्खाइ।

उग्गए सूरे, चउव्विहं पि आहारं—असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छन्नकालेणं दिसा–मोहेणं साहु-वयणेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं,

आयंबिलं पच्चक्खाई। अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं लेवा-लेवेणं गिहत्थ–संसट्ठेणं उक्खित्त–विवेगेणं पारिट्ठावणिआगा-रेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं,

एगासणं पच्चक्खाइ। तिविहं पि आहारं—असणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं सागारिआगारेणं आउंटण-पसारणेणं गुरु-अब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं पाणस्स लेवेण वा अलेवण वा अच्छेण वा बहुलेवेण वा ससित्थेण वा वोसिरइ ॥

६ तिवि (हा) हार उपवासका पच्चक्खाण।

सूरे उग्गए अब्भत्तट्ठं पच्चक्खाइ।

तिविहं पि आहारं–असणं खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, पाणहार पोरिसिं साड्ढपोरिसिं मुट्ठि–सहिअं पच्चक्खाइ। अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छन्नकालेणं दिसा–मोहेणं साहु–वयणेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं पाणस्स लेवेण वा अलेवेण वा अच्छेण वा बहुलेवेण वा ससित्थेण वा वोसिरइ ॥

७ चउव्वि (हा) हार उपवासका पच्चक्खाण।

सूरे उग्गए अब्भत्तट्ठं पच्चक्खाइ।

चउव्विहं पि आहारं–असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ॥

८ पाणहारका पच्चक्खाण।

पाणहार–दिवसचरिमं पच्चक्खाइ।

अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ॥

९ चउव्वि (हा) हारका पच्चक्खाण।

दिवसचरिमं पच्चक्खाइ।

चउव्विहं पि आहारं–असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ॥

१० तिवि (हा) हारका पच्चक्खाण।

दिवसचरिमं पच्चक्खाइ।

तिविहं पि आहारं असणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ॥

११ दुवि (हा) हारका पच्चक्खाण।

दिवसचरिमं पच्चक्खाइ।

दुविहं पि आहारं-असणं खाइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेण महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।

देशावकाशिकका पच्चक्खाण।

देसावगासियं उवभोग परिभोगं पच्चक्खाइ।

अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।

शब्दार्थ—

(सभी पच्चक्खाणोंके अर्थ एक साथ दिये हैं। बार बार आनेवाले शब्दोंके अर्थ एक बार ही दिये गये हैं।)

उग्गए सूरे-सूर्योदयके पश्चात् दो घड़ीतक, सूर्योदयसे दो घड़ीतक।

नमुक्कार-सहिअं-मुट्ठि-सहिअं-नमस्कार-सहित, मुष्टि-सहित।

पच्चक्खाइ-मन, वचन और कायासे त्याग करता है, प्रत्याख्यान करता है।

चउव्विहं पि आहारं-चारों प्रकारके आहारका।

असणं-अशन।

अशन-क्षुधाका शमन करे ऐसे चावल, कटोल, रोटी, पूरी आदि पदार्थ।

पाणं-पान।

पान-पानी; छाछ (मट्ठा), धोवन आदि पीने योग्य पदार्थ।

खाइमं-खादिम।

खादिम-जिसमें कुछ अंशमें क्षुधाकी तृप्ति हो ऐसे फल, गन्ने, चिवड़ा आदि पदार्थ।

साइमं-स्वादिम।

स्वादिम-स्वाद लेने योग्य सुपारी, तज, लौंग, इलायची चूर्ण आदि पदार्थ।

अन्नत्थ-इसके अतिरिक्त।

अणाभोगेणं-अनाभोगमें।

(यहाँ मूल शब्द अणाभोगेणं है, किन्तु इसमेंसे अकारका लोप हो गया है।)

किसी वस्तुका प्रत्याख्यान किया है यह बात बिलकुल भूल जानेसे कोई वस्तु खानेमें आ जाय अथवा मुँहमें रख दी जाय, उसको अनाभोग कहते हैं।

सहसागारेणं-सहसाकारसे।

कोई वस्तु इच्छा न होने पर भी संयोगवशात् अथवा हठात् मुँहमें प्रविष्ट हो जाय उसको सहसागार कहते हैं।

महत्तरागारेणं-महत्तराकारसे।

किसी विशिष्ट प्रयोजनके उपस्थित होनेपर श्रीसङ्घ अथवा आचार्य महाराज आज्ञा करें और पच्चक्खाणका समयसे पूर्व पालन करना पड़े तो उसको महत्तरागार कहते हैं।

सव्वसमाहिवत्तियागारेणं-सर्वसमाधिवत्तियाकारसे, सर्व-समाधि-प्रत्ययाकारसे।

तीव्र शूल आदि रोगके कारण शरीर विह्वल हो और प्रत्याख्यानका काल पूर्ण होनेसे पूर्व चित्तकी समाधि टिकानेके लिये प्रत्याख्यान पूर्ण किया जाय तो तो उसको सव्वसमाहिवत्तियागार कहते हैं।

वोसिरइ-त्याग करता है।

पोरिसिं-पोरिसी।

सूर्योदयके का एक पोरिसी जितना समय व्यतीत हो वहाँतक चारों आहारका त्याग करनेको पोरिसी कहते हैं।

साड्ढपोरिसिं-डेढ़ पोरिसी।

साड्ढ-आधेसे युक्त, डेढ़।

पच्छन्न-कालेणं-कालज्ञान न होनेसे।

दिसा-मोहेणं-दिशाका विपरीत भास होनेसे, दिङ्मोहसे।

साहुवयणेणं साधुका वचन सुननेसे, 'उग्घाडा पोरिसी' ऐसा साधुका वचन सुननेसे।

पुरिमड्ढ-दिनका पहला आधा भाग, पूर्वार्ध।

अवड्ढ-बादका आधा भाग, अपरार्ध।

एगासणं-एकाशन, एक बार खानेका नियम।

बे-आसणं-द्वयशन, दो बार खानेका नियम।

विगइओ-विकृति, विगइ।

लेवालेवेणं - लेपालेपसे, लेपको अलेप करनेसे।

लेव-आयंबिलमें त्याग करनेयोग्य विकृतिसे लिप्त भोजन करनेके पात्र अथवा चम्मच आदि।

अलेव-ऐसे पात्रादिको पोंछ लेना।

गिहत्थ-संसट्ठेणं-गृहस्थसे जो मिला हुआ हो उससे।

गिहत्थ-भोजन देनेवाले (से)। ससट्ठ-मिला हुआ। भोजन देनेवालेकी असावधानीके कारण विकृतिसे मिला हुआ।

उक्खित्त-विवेगेणं-जिसपर विकृति रखकर उठा ली गयी हो ऐसी वस्तु काममें लानेसे।

उक्खित्त-उठा ली गयी। विवेग-त्याग, विभाग करना।

पडुच्च-मक्खिएणं-साधारण घृत आदिचुपड़ा हुआ हो ऐसी वस्तुसे।

पडुच्च-सर्वथा शुष्क ऐसे मांड आदिका आश्रय लेकर।

मक्खिअ-जो चुपड़नेमें आया हो।

पारिट्ठावणियागारेणं- विधिपूर्वक परठवना पड़े उससे।

सागारिआगारेणं-गृहस्थ आदिके आ जानेसे आहार करनेके लिये दूसरे स्थानपर जाना पड़े उससे।

सागारिअ-गृहस्थ।

आगार-अपवाद। साधुको गृहस्थके समक्ष आहार-पानी करना निषिद्ध है अतः गृहस्थके आ जानेपर अन्यत्र जाकर आहार पानी करे तो उसको सागारिकागार कहते हैं।

आउंटण-पसारणेणं-सुन्न पड़ जानेसे अथवा झनझनाहट आनेसे शरीरके अङ्गोपाङ्ग सिकुड़ने या फैलानेसे।

आउंटण–सङ्कोच, सिकुड़ना।
पसारण–विस्तार, अङ्गोंको फैलाना।

गुरु-अब्भुट्ठाणेणं–गुरु अथवा ज्येष्ठ मुनिके आ जानेसे खड़ा होना पड़े उससे।

गुरु–गुरु, अपनेसे पहले दीक्षित मुनि। अब्भुट्ठाण–खड़ा होना।

पाणस्स–पानी सम्बन्धी।

लेवेण वा–ओसामण, इमली, दाख आदिके पानीसे, लेपसे। यहाँ लेप–शब्दसे ओसामण इमली, दाख आदिका पानी ग्रहण करनेकी समाचारी है। वा–अथवा।

अलेवेण वा–अथवा छाछके नितारे हुए पानीसे, अलेपसे। यहाँ अलेप शब्दसे साबूदानेका धोवन तथा छाछ–मट्ठाका नितरा हुआ पानी ग्रहण करनेकी समाचारी है।

अच्छेण वा–अथवा स्वच्छ पानीसे।

अच्छ–तीन बार उकाला हुआ पानी, निर्जीव, निर्मल जल तथा फल आदिका धोवन।

बहुलेवेण वा–अथवा चावल आदिके धोवनसे।

यहाँ बहुलेवेण शब्दसे चावल आदिके धोवनका पानी लेनेकी समाचारी है।

ससित्थेण वा–अथवा राँधे हुए चावलोंके गाढे माँडसे।

ससित्थ–राँधे हुए चावलोंका धोवन।

असित्थेण वा–अथवा चावल आदिके पतले माँडसे।

असित्थ–जो वस्तु अधिक न धोयी गयी हो पर सामान्य धोयी गयी हो।

आयंबिल–आयंबिल, आयामाम्ल अथवा आचामाम्ल।

आयाम – माँड (धोवन)।
आम्ल–काँजी अथवा खट्टा पानी।
चावल, उड़द और जव आदिके भोजनमें जिसका (इन दो वस्तुओंका) मुख्य उपयोग होता है, उसको आगमकी भाषामें आयंबिल कहते हैं।

अब्भत्तट्ठं–उपवासको।

अब्भत्तट्ठ- जिसमें भोजन करनेका प्रयोजन न हो।

पाणहार-दिवसचरिमं- पाणहार नामका दिवस चरिम प्रत्याख्यान।

पाणहार–पानीके आहारकी जो छूट थी उसका प्रत्याख्यान।
दिवस चरिम–जो दिनके अवशिष्ट भागमें तथा सारी रातके

लिये किया जाता है, वह दिवस-चरिम प्रत्याख्यान ।	सम्बन्धी ।
देसावगासियं-देशावकाशिक- व्रत	**उवभोगं-परिभोगं**-उपभोग परि-भोगको ।

अर्थ-सङ्कलना—

(१) नवकारसी

सूर्योदयसे दो घड़ीतक नमस्कार-सहित मुष्टि-सहित नामका प्रत्याख्यान करता है । उसमें चारों प्रकारके आहारका अर्थात् अशन, पान, खादिम और स्वादिमका अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार और सर्व-समाधि-प्रत्ययाकार-पूर्वक त्याग करता है ।

(२) पोरीसी और साड्ढपोरीसी

सूर्योदयसे एक प्रहर (अथवा डेढ़ प्रहर) तक नमस्कार-सहित मुष्टि-सहित प्रत्याख्यान करता है । उसमें चारों प्रकारके आहारका अर्थात् अशन, पान, खादिम और स्वादिमका अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिङ्मोह, साधु-वचन, महत्तराकार और सर्व-समाधि-प्रत्ययाकार-पूर्वक त्याग करता है ।

(३) पुरिमड्ढ-अवड्ढ

सूर्योदयसे पूर्वार्ध अर्थात् दो प्रहरतक अथवा अपरार्ध अर्थात् तीन प्रहरतक (नमस्कार-सहित) मुष्टि-सहित प्रत्याख्यान करता है । उसमें चारो प्रकारके आहारका अर्थात् अशन, पान, खादिम और स्वादिमका अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिङ्मोह, साधु-वचन, महत्तराकार और सर्व-समाधि-प्रत्ययाकार-पूर्वक त्याग करता है ।

(४) एगासण, बियासण और एगलठाण

सूर्योदयसे एक प्रहर अथवा डेढ़ प्रहरतक नमस्कार–सहित, मुष्टि–सहित प्रत्याख्यान करता है। उसमें चारों प्रकारके आहारका अर्थात् अशन, पान, खादिम और स्वादिमका अनाभोग, सहसाकार प्रच्छन्नकाल, दिङ्मोह, साधु-वचन, महत्तराकार और सर्व-समाधि-प्रत्ययाकार-पूर्वक त्याग करता है।

अनाभोग, सहसाकार, लेपालेप, गृहस्थ–संसृष्ट, उत्क्षिप्तविवेक, प्रतीत्य–म्रक्षित, पारिष्ठापनिकार, महत्तराकार और सर्व–समाधि–प्रत्ययाकार–पूर्वक विकृतियोंका त्याग करता है।

बियासणमें चौदह आगारोंकी छूट होती हैं, वह इस प्रकारः–अनाभोग,[१] सहसाकार,[२] सागारिकाकार,[३] आकुञ्चन–प्रसारण,[४] गुर्वभ्युत्थान,[५] पारिष्ठापनिकाकार,[६] महत्तराकार,[७] सर्व–समाधि–प्रत्ययाकार,[८] लेप,[९] अलेप,[१०] अच्छ,[११] बहुलेप,[१२] ससिक्थ,[१३] असिक्थ[१४]।

(५) आयंबिल और निव्वी

सूर्योदयसे एक प्रहर (अथवा डेढ़ प्रहर) तक नमस्कार-सहित, मुष्टि–सहित प्रत्याख्यान करता है। उसमें चारो प्रकारके आहारका अर्थात् अशन, पान, खादिम और स्वादिमका अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिङ्मोह, साधुवचन, महत्तराकार और सर्व–समाधि–प्रत्ययाकार–पूर्वक त्याग करता है।

आयंबिलका आठ आगार—पूर्वक प्रत्याख्यान करता है:— अनाभोग, सहसाकार, लेपालेप, गृहस्थ-संसृष्ट, उत्क्षिप्त-विवेक, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार और सर्व-समाधि-प्रत्ययाकार।

एकाशनका प्रत्याख्यान करता है, उसमें तीनों प्रकारके आहारका अर्थात् अशन, खादिम और स्वादिमका अनाभोग, सहसाकार, सागारिकार, आकुञ्चन-प्रसारण, गुर्वभ्युत्थान, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार और सर्व-समाधि-प्रत्ययाकार-पूर्वक त्याग करता है।

पानी-सम्बन्धी छः आगार:—लेप, अलेप, अच्छ, बहुलेप, ससिक्थ और असिक्थ।

(६) तिवि(हा)हारका उपवास

(सूर्योदयसे लेकर दूसरे दिनके) सूर्योदयतक उपवासका प्रत्याख्यान करता है। उसमें तीनों प्रकारके आहारोंका अर्थात् पानीके अतिरिक्त अशन, खादिम और स्वादिमका अनाभोग, सहसाकार, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार और सर्व—समाधि—प्रत्ययाकार—पूर्वक याग करता है।

पानी-आहारका एक प्रहर (अथवा डेढ प्रहर) तक नमस्कार—सहित, मुष्टि-सहित, अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिङ्मोह, साधु—वचन, महत्तराकार और सर्व-समाधि—प्रत्ययाकार—पूर्वक प्रत्याख्यान करता है।

पानीके—(आगार:—लेप, अलेप, अच्छ, बहुलेप, ससिक्थ और असिक्थ।

(७) चउवि(हा)हार उपवास

(सूर्योदयसे लेकर दूसरे दिनके) सूर्योदयतक उपवासका प्रत्याख्यान करता है। उसमें चारों प्रकारके आहारका अर्थात् अशन, पान, खादिम और स्वादिमका अनाभोग, सहसाकार, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार और सर्व-समाधि--प्रत्ययाकार--पूर्वक त्याग करता है।

(८) पाणहार

दिवसके शेष भागसे सम्पूर्ण रात्रि–पर्यन्त पानीके आहारका अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार और सर्व–समाधि–प्रत्ययाकार–पूर्वक त्याग करता है।

९ चउव्वि(हा)हार

दिवसके शेष भागसे सम्पूर्ण रात्रि–पर्यन्तका प्रत्याख्यान करता है। उसमें चारों प्रकारके आहारका अर्थात् अशन, पान, खादिम और स्वादिमका अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार और सर्व–समाधि–प्रत्ययाकार–पूर्वक–त्याग करता है।

(१०) तिवि (हा) हार

दिवसके शेष भागसे सम्पूर्ण रात्रि–पर्यन्तका प्रत्याख्यान करता है। उसमें तीनों प्रकारके आहारका अर्थात् अशन खादिम और स्वादिमका अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार और सर्व–समाधि–प्रत्यायाकार–पूर्वक त्याग करता है।

(११) दुवि (हा) हार

दिवसके शेष भागसे सम्पूर्ण रात्रि-पर्यन्तका प्रत्याख्यान करत है। उसमें दोनों प्रकारके आहारका अर्थात् अशन और स्वादिमका अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार और सर्व-समाधि-प्रत्ययाकार-पूर्वक त्याग करता है।

(१२) देशावकाशिक

देशसे संक्षेप की हुई उपभोग और परिभोगकी वस्तुओंका प्रत्याख्यान करता है, और उसका अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार और सर्व-समाधि-प्रत्ययाकार पूर्वक त्याग करता है।

सूत्र-परिचय—

प्रतिक्रमणमें छठे आवश्यकके अधिकारमें जब पच्चक्खाण किये जाते हैं, तब इस सूत्रका उपयोग होता है।

प्रत्याख्यान (पच्चक्खाण)

प्रश्न—प्रत्याख्यान क्या है?

उत्तर—आत्माको संयमगुणसे विभूषित करनेवाली एक प्रकारकी क्रिया!

प्रश्न—प्रत्याख्यानका अर्थ क्या है।

उत्तर—प्रत्याख्यान शब्द प्रति, आ और ख्यान ऐसे तीन पदोंसे बना हुआ है। प्रति अर्थात् अविरतिसे प्रतिकूल, आ अर्थात् विरतिके अभिमुख और ख्यान अर्थात् कहना। तात्पर्य यह है कि अविरतिके प्रतिकूल और विरतिके अनुकूल ऐसा जो प्रतिज्ञारूप कथन है वह प्रत्याख्यान कहलाता है।

प्रत्याख्यान
मूलगुण-प्रत्याख्यान
उत्तरगुण-प्रत्याख्यान
सर्व मूल०
देश मूल०
सर्व उत्तर०
देश उत्तर
पहला महाव्रत
दूसरा म०
तीसरा म०
चौथा म०
पाँचवाँ म०
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०
अनागत
अतिक्रान्त
कोटि-सहित
नियन्त्रित
साकार
अनाकार
कृत-परिमाण
निरवशेष
संकेत
अद्धा
स्थूल प्रा.
स्थूल मृ.
स्थूल अ०
परदारा०
परिग्रह परिमाण व्रत

९ सङ्केत

१ अंगुट्ठ स०, २ मुट्ठि स०, ३ गंठि स०, ४ घर स०, ५ सेऊ स०, ६ सास स०, ७ थिबुअ स०, ८ जोईस स०

१० अद्धा

१ नमुक्कार–स०, २ पोरिसी साड्ढपोरिसी, ३ पुरिमड्ढ- अवड्ढ, ४ एगासण, ५ एगलठाण, ६ आयंबिल, ७ उपवास, ८ चरिम, ९ अभिग्रह, १० विगइत्याग

देश–उत्तर०

दिग्व्रत, उपभोग–परिभोग–परिमाण, अनर्थदण्ड–विरमण, सामायिक, देशावकाशिक, पोषधोपवास, अतिथि–संविभाग

प्रश्न--प्रत्याख्यानके पर्यायवाची शब्द कौनसे हैं!

उत्तर--नियम, अभिग्रह, विरमण, व्रत, विरति, आश्रवद्वार-निरोध, निवृत्ति, गुणधारणा आदि।

प्रश्न--प्रत्याख्यान कितने प्रकारका होता है?

उत्तर--दो प्रकारकाः-(१) मूलगुण-प्रत्याख्यान और (२) उत्तरगुण-प्रत्याख्यान। उसमें मूलगुणके सम्बन्धमें जो प्रत्याख्यान किया जाय, उसको मूलगुण-प्रत्याख्यान कहते हैं और उत्तरगुणके सम्बन्धमें जो प्रत्याख्यान किया जाय, उसको उत्तरगुण प्रत्याख्यान कहते हैं। इनके भेद-प्रभेद ऊपर बतलाई हुयी तालिकासे बराबर समझमें आ जायगा।

प्रश्न-अनागत-प्रत्याख्यान किसे कहते हैं?

उत्तर-पर्वके दिनोंमें ग्लान, वृद्ध आदिका वैयावृत्त्य हो सके तदर्थ पर्व आनेसे पूर्व ही तपश्चर्याका प्रत्याख्यान करना, उसको अनागत प्रत्याख्यान कहते हैं।

प्रश्न—अतिक्रान्त-त्याख्यान किसे कहते हैं!

उत्तर—पर्वके दिनोंमें वैयावृत्त्य आदिके कारणसे जो तपश्चर्या न हो सकी हो तो वह बादके दिनोमें करनी, उसको अतिक्रान्त-प्रत्याख्यान कहते है।

प्रश्न--कोटिसहित प्रत्याख्यान किसे कहते हैं?

उत्तर—उपवास आदि जो तपश्चर्या पूर्ण हो गयी हो, वैसी ही तपश्चर्या फिरसे करनेके प्रत्याख्यानको कोटिसहित-प्रत्याख्यान कहते हैं।

प्रश्न--नियन्त्रित-प्रत्याख्यान किसे कहते हैं?

उत्तर—पहले जिस प्रत्याख्यानका सङ्कल्प किया हो, वह रोगादि कारणोंके उपस्थित होनेपर भी पूर्ण करना, उसको नियन्त्रित प्रत्याख्यान कहते हैं। ऐसा प्रत्याख्यान चौदहपूर्वी, दसपूर्वी तथा जिनकल्पोंको होता है।

प्रश्न—साकार—प्रत्याख्यान किसे कहते हैं?

उत्तर--जिस प्रत्याख्यानमें आवश्यक आगार (आकार) रखे हों, उसको साकार-प्रत्याख्यान कहते हैं।

प्रश्न--अनाकार-प्रत्याख्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर--जिस प्रत्याख्यानमें कोई आगार (आकार) नहीं रखे हों, उसको अनाकार-प्रत्याख्यान कहते हैं।

प्रश्न-परिमाणकृत-प्रत्याख्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर--जिसमें दत्ती, कवल, (कौर) अथवा घरकी संख्याका परिमाण किया हो, उसको परिमाणकृत-प्रत्याख्यान कहते हैं।

प्रश्न--निरवशेष-प्रत्याख्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर--जिसमें चारों आहार तथा अफीम-तम्बाकू आदि अनाहारका भी प्रत्याख्यान किया जाय, उसको निरवेश-प्रत्याख्यान कहते है।

प्रश्न—सङ्केत-प्रत्याख्यान किसे कहता है ?

उत्तर--जो प्रत्याख्यान किसी भी संकेतसे किया गया हो, उसको संकेत-प्रत्याख्यान कहते हैं। जैसे कि अँगूठा मुट्ठीमें रखकर नमस्कार नहीं गिनूँ वहाँतकका प्रत्याख्यान, जहाँतक मुट्ठी बन्द रखकर नमस्कार न गिनूँ वहाँतकका प्रत्याख्यान आदि।

प्रश्न--अद्धा-प्रत्याख्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर--जिसमें समयकी मर्यादा रखी गयी हो, उसको अद्धा-प्रत्याख्यान कहते हैं। इसके दस प्रकार हैं, वे इस तरहः--

(१) नमस्कार-सहित (नमुक्कारसी अथवा नवकारसी)।

(२) पौरुषी-सार्द्ध-पौरुषी (पोरिसी, साड्ढपोरिसी)।

(३) पुरिमार्ध-अपार्ध (पुरिमड्ड, अवड्ढ)।

(४) एकाशन-द्वयशन (एकासण, बियासण)।

(५) एकलस्थान (एगलठाण)।

(६) आयामाम्ल (आयंबिल)।

(७) उपवास (चउत्थभत्त)।

(८) चरिम (चरिम)।

(९) अभिग्रह (अभिग्गह)।

(१०) विकृतित्याग (विगइका त्याग)।

आधुनिक समयमें इन दस प्रत्याख्यानोंका व्यवहार विशेष है।

प्रश्न--कैसा प्रत्याख्यान विशेष फल देता है ?

उत्तर--छ शुद्धिपूर्वक किया हुआ प्रत्याख्यान विशेष फल देता है. वह इस प्रकारः-स्पर्शना-अर्थात् उचित समयपर विधिपूर्वक प्रत्याख्यान करना, (१) पालना-अर्थात् प्रत्याख्यान हेतु लक्ष्यमें रखकर वर्तन करना, (३) शोभना-अर्थात् प्रत्याख्यान पूर्ण करनेसे पूर्व अतिथी-संविभाग करना, (४) तीरणा-अर्थात् प्रत्याख्यानका समय पूर्ण होने तक धैर्य रखकर उससे कुछ अधिक समय जाने देना, (५) कीर्तना-अर्थात् प्रत्याख्यान पूर्ण होने पर उसका उत्साहपूर्वक स्मरण करना और (६) आराधना-अर्थात् कर्मक्षयके निमित्तसे ही प्रत्याख्यान करना।

प्रश्न-प्रत्याख्यानसे कौनसे लाभ होते हैं ?

उत्तर--प्रत्याख्यानसे मनकी दृढता (एकाग्रता) प्राप्त होती है, त्यागकी शिक्षा मिलती है, चारित्रगुणकी धारणा होती है; आस्रवका निरोध होता है, तृष्णाका छेद होताहै, अतुलनीय उपशम गुणकी उपलब्धि होता है, और क्रमशः सर्व संवरकी प्राप्ति होकर अणाहारीपदकी प्राप्ति होती है।

५१ श्रीवर्धमानजिन–स्तुति

['स्नातस्या'–स्तुति]

मूल—

(शार्दूलविक्रीडित)

स्नातस्याप्रतिमस्य मेरुशिखरे शच्या विभोः शैशवे,
रूपालोकन-विस्मयाहृत-रस-भ्रान्त्या भ्रमच्चक्षुषा ।
उन्मृष्टं नयन-प्रभा-धवलितं क्षीरोदकाशङ्कया,
वक्त्रं यस्य पुनः पुनः स जयति श्रीवर्धमानो जिनः ॥ १ ॥

हंसांसाहत–पद्मरेणु-कपिश–क्षीरार्णवाम्भोभृतैः,
कुम्भैरप्सरसां पयोधर-भर-प्रस्पर्धिभिः काञ्चनैः ।
येषां मन्दर–रत्नशैल–शिखरे जन्माभिषेकः कृतः,
सर्वैः सर्व–सुरासुरेश्वरगणैस्तेषां नतोऽहं क्रमान् ॥ २ ॥

(स्रग्धरा)

अर्हद्वक्त्र–प्रसूतं गणधर–रचितं द्वादशाङ्गं विशालं,
चित्रं बह्वर्थ–युक्तं मुनिगण–वृषभैर्धारितं बुद्धिमद्भिः ।
मोक्षाग्रद्वारभूतं व्रतचरण–फलं ज्ञेय–भावप्रदीपं,
भक्त्या नित्यं प्रपद्ये श्रुतमहमखिलं सर्वलोकैकसारम् ॥ ३ ॥

निष्पङ्क-व्योम-नील-द्युतिमलसदृशं बालचन्द्राभदंष्ट्रं,
मत्तं घण्टारवेण प्रसृत-मदजलं पूरयन्तं समन्तात् ।
आरूढो दिव्यनागं विचरति गगने कामदः कामरूपी,
यक्षः सर्वानुभूतिर्दिशतु मम सदा सर्वकार्येषु सिद्धिम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—

स्नातस्य-स्नान कराये हुए, स्नात्र-अभिषेक कराये हुए ।
अप्रतिमस्य-अनुपम, अद्‌भुत ।
मेरुशिखरे-मेरुपर्वतके शिखरपर ।
शच्या-इन्द्राणीने ।
विभोः-अर्हद्‌देवके, प्रभुके ।
शैशवे-बाल्यावस्थामें ।
रूपालोकन-विस्मयाहृत-रस भ्रान्त्या-रूपका अवलोकन करनेसे उत्पन्न अद्‌भुतरसकी भ्रांतिसे । रूप-सौन्दर्य । अवलोकन-अवलोकन, देखना । विस्मय-आश्चर्य अद्‌भुत । आहृत-उत्पन्न हुआ । रस-उत्कट भाव । भ्रान्ति-भ्रम ।
भ्रमच्चक्षुषा-घुमते हुए नेत्रवाली, चञ्चल बने हुए नेत्रोवाली ।
उन्मृष्टं-पोंछा ।
नयन-प्रभा - धवलितं - नेत्रकी कान्तिसे श्वेत बना हुआ, अपनी नेत्रकान्तिसे ही उज्ज्वल बने हुए । नयन-नेत्र । प्रभा-कान्ति । धवलित-उज्ज्वल बना हुआ ।
क्षीरोदकाशङ्कया - क्षीरोदककी शङ्कासे, क्षीरसागरका जल रह तो नहीं गया ? ऐसी शङ्कासे ।
वक्त्रं-मुखको ।
यस्य-जिनके ।
पुनः पुनः-बार-बार ।
स-वह, वे ।
जयति-जयको प्राप्त हो रहे हैं ।
श्रीवर्धमानो जिनः - श्रीमहावीर जिन ।
हंसांसाहत- पद्मरेणु-कपिश-क्षीरार्णवाम्भोभृतैः - हंसकी पाँखोंसे उड़े हुए] कमल-पराग से पीत ऐसे क्षीरसमुद्रके जलसे भरे हुए।
हंस-पक्षि-विशेष । अंस-पक्ष, पाँख । आहत-उड़ा हुआ । पद्म-कमल रेणु-पराग । कपिश-पीत, पीला ।

क्षीरार्णव-क्षीर समुद्र। अम्भः-जल। भृत-भरा हुआ, पूर्ण।
कुम्भैः-घड़ोंसे।
अप्सरसां-अप्सराओंके।
पयोधर-भर-प्रस्पर्धिभिः-स्तन-समूहकी स्पर्धा करनेवालोंसे। पयोधर-स्तन। भर-समूह।
प्रस्पर्धिन्-स्पर्धा करनेवाला।
काञ्चनैः-सुवर्णके बने हुए, सुवर्णके।
येषां-जिनका।
मन्दर-रत्नशैल-शिखरे-मेरु-पर्वतके रत्नशैल नामक शिखरपर।
जन्माभिषेकः-जन्माभिषेक।
कृतः-किया है।
सर्वैः-सबने।
सर्व-सुरासुरेश्वरगणैः-सब जातिके सुर और असुरोंके इन्द्रोने। सुर-वैमानिक और ज्योतिष्क देव। असुर-भवनपति और व्यन्तरदेव। ईश्वर-स्वामी, इन्द्र। गण-परिवार।
तेषां-उनके।
नतः-नमन करता हूँ।
अहं-मैं।
क्रमान्-चरणोंको, चरणोंमें।
अर्हद्वक्त्र-प्रसूतं-श्रीजिनेश्वर, देवके मुखसे अर्थरूपमें प्रकटित। अर्हद्-श्रीजिनेश्वरदेव। वक्त्र-मुख। प्रसूत-प्रकटित।
गणधर-रचितं-गणधरोंद्वारा सूत्र-रूपमें गूँथे हुए।
द्वादशाङ्गं-बारह अङ्गवाले।
विशालं-विस्तृत।
चित्रं-अद्भुत।
बह्वर्थ-युक्तं-बहुत अर्थोंसे युक्त।
मुनिगण-वृषभैः-श्रेष्ठमुनि-समूहसे। वृषभ-श्रेष्ठ।
धारितं-धारण किये हुए।
बुद्धिमद्भिः-बुद्धिनिधान।
मोक्षाग्र-द्वारभूतं-मोक्षके द्वार समान।
व्रत-चरण-फलं-व्रत और चारित्र-रूपी फलवाले।
ज्ञेय-भाव-प्रदीपं-जानने योग्य पदार्थोंको प्रकाशित करनेमें दीपक-समान।
ज्ञेय-जानने योग्य। भाव-पदार्थ। प्रदीप-दीपक।
भक्त्या-भक्तिपूर्वक।
नित्यं-अहर्निश।
प्रपद्ये-आश्रय ग्रहण करता हूँ।
श्रुतं-श्रुतका।
अहं-मैं।
अखिलं-समस्त।

सर्वलोकैकसारम्-अखिल विश्वमें अद्वितीय सारभूत।
सर्वलोक-अखिल विश्व। एक सार-अद्वितीय सारभूत।

निष्पङ्क-व्योम-नील-द्युति-बादल-रहित (स्वच्छ) आकाशकी नील-प्रभाको धारण करनेवाले]
निष्पङ्क-बादल रहित, स्वच्छ। व्योम-आकाश। नील-वर्ण विशेष गहरा बादली रङ्ग। द्युति-प्रभा।

अलस-दृशां-आलस्यमे मन्द (मदपूर्ण) बनी हुई दृष्टिवाले।
अलस-आलस्य। दृश्-दृष्टि।

बालचन्द्राभ-दंष्ट्रं-द्वितीयाके चन्द्रकी तरह वक्र दाढोंवाले।
बालचन्द्र-द्वितीयाका चन्द्र। आभ-जैसा। दंष्ट्र-दाढ़।

मत्तं-मत्त।

घण्टारवेण-घण्टाओंके नादसे, गलेमें बंधी हुई घण्टियोंके नादसे।

प्रसृत-मदजलं-झरते हुए मद-जलको।

पूरयन्तं-पूरित करता हुआ, फैलाते हुये।

समन्तात्-चारों ओर।

आरूढो-आरूढ, विराजित।

दिव्य-नागं-दिव्य हाथी पर।

विचरति-विचरण करता है, विचरण करनेवाला।

गगने-आकाशमें।

कामदः-सम्पूर्ण मनःकामनाओंको पूर्ण करनेवाले।

कामरूपी-इच्छित रूपको धारण करनेवाले।

यक्षः-यक्ष।

सर्वानुभूति-सर्वानुभूति।

दिशतु-प्रदान करे।

मम-मुझे

सदा-सदा।

सर्वकार्येषु-सब कार्योंमें

सिद्धिम्-सिद्धि

अर्थ-सङ्कलना—

बाल्यावस्थामें रुमे पर्वतके शिखरपर स्नात--अभिषेक कराये हुए प्रभुके रूपका अवलोकन करते हुए उत्पन्न हुई अमृत--रसकी भ्रान्तिसे चञ्चल बने हुए नेत्रोंवाली इन्द्राणीने क्षीरसागरका जल यह तो नहीं गया? ऐसी शङ्का से अपनी नेत्रकान्तिसे ही उज्ज्वल बने

हुए जिनके मुखको बार-बार पोंछा, वे श्रीमहावीर जिन जयको प्राप्त हो रहे हैं ॥ १ ॥

सर्व जातिके सुर और असुरोंके इन्द्रोंने जिनका जन्माभिषेक हंसकी पाँखोंसे उड़े हुए कमल-परागसे पीत ऐसे क्षीर समुद्रके जलसे भरे हुए और अप्सराओंके स्तन-समूहकी स्पर्धा करनेवाले सुवर्णके घड़ोंसे मेरुपर्वतके रत्नशैल नामक शिखरपर किया है, उनके चरणोंमें मैं नमन करता हूँ ॥ २ ॥

श्रीजिनेश्वरदेवके मुखसे अर्थरूपमें प्रगटित और गणधरोंद्वारा सूत्ररूपमें गुँथे हुए, बारह अङ्गवाले, विस्तृत, अद्‌भुत रचना-शैलीवाले, बहुत अर्थोंसे युक्त, बुद्धिनिधान ऐसे श्रेष्ठ मुनि-समूहसे धारण किये हुए, मोक्षके द्वार समान, व्रत और चारित्ररूपी फलवाले, जानने योग्य पदार्थोंको प्रकाशित करनेमें दीपकसमान ओर समस्त विश्वमें अद्वितीय सारभूत ऐसे समस्त श्रुतका मैं भक्तिपूर्वक अहर्निश आश्रय ग्रहण करता हूँ ॥ ३ ॥

बादल-रहित स्वच्छ आकाशकी नील-प्रभाको धारण करनेवाले आलस्यसे मन्द (मदपूर्ण) दृष्टिवाले, द्वितीयाके चन्द्रकी तरह वक्र दाढोंवाले, गलेमें बँधी हुई घण्टियोंके नादसे मत्त, झरते हुए मदजलको चारों ओर फैलाते हुए ऐसे दिव्य हाथीपर विराजित मनःकामनाओंको पूर्ण करनेवाले, इच्छित रूपको धारणकरनेवाले और आकाशमें विचरण करनेवाले सर्वानुभूति यक्ष मुझे सर्व कार्योंमें सिद्धि प्रदान करे ॥ ४ ॥

सूत्र-परिचय—

इस सूत्रमें चार स्तुतियाँ हैं। उनमें पहली स्तुति श्रीमहावीर स्वामीकी है, दूसरी स्तुति सर्व जिनोंकी हैं, तीसरी स्तुति द्वादशाङ्गीकी हैं और चौथी स्तुति सर्वानुभूति यक्षकी है।

यह सूत्र इसकी चतुर्थ-स्तुतिमें आये हुए बालचन्द पदसे श्रीबालचन्द्र-सूरिने बनाया हो ऐसा प्रतीत होता है। सम्प्रदाय (किंवदन्ती) के अनुसार ये बालचन्द्रसूरि श्रीहेमचन्द्राचार्यके शिष्य थे और बादमें गुरुके साथ विरोध होनेसे पृथक् हो गये थे, इसलिये इनके द्वारा रचित स्तुति सङ्घकी ओरसे स्वीकृति नहीं हुई; परन्तु कालधर्म प्राप्त होनेके पश्चात् वे व्यन्तर जातिके देव हुए और श्रीसङ्घमें उपद्रव करना आरम्भ किया, तब श्रीसङ्घने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका विचार करके इस स्तुतिको स्वीकृति दी थी और तबसे यह स्तुति पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमणके प्रसङ्गपर बोली जाती है।

(

५२ भुवनदेवता-स्तुतिः

[भुवनदेवताकी स्तुति]

मूल—

भुवणदेवयाए करेमि काउस्सग्गं । अन्नत्थ०

[गाहा]

ज्ञानादिगुण-युतानां, नित्यं स्वाध्याय-संयम-रतानाम् ।
विद्धातु भुवनदेवी, शिवं सदा सर्वसाधूनाम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ—

भुवणदेवयाए-भुवनदेवताके लिये, भुवनदेवीकी आराधनाके निमित्तसे ।

करेमि-मैं करता हूँ ।

काउस्सग्गं-कायोत्सर्गको ।

अन्नत्थ-इसके अतिरिक्त ।

ज्ञानादिगुण - युतानां - ज्ञानादि गुणोंसे युक्तका, ज्ञान, दर्शन और चारित्रसे युक्त ।

नित्यं-निरंतर ।

स्वाध्याय - संयम - रतानाम्- स्वाध्याय और संयममें लीन ।

विद्धातु-करो ।

भुवनदेवी-भुवनदेवी ।

शिवं-कल्याण, उपद्रव-रहित ।

सदा-सदा ।

सर्वसाधुनाम्-सब साधुओंका, साधुओंको ।

अर्थ-सङ्कलना—

भुवनदेवीकी आराधनाके निमित्तसे मैं कायोत्सर्ग करता हूँ । इसके अतिरिक्त—

ज्ञान, दर्शन, और चारित्रसे युक्त, निरन्तर स्वाध्याय और संयममें लीन ऐसे सब साधुओंको भुवनदेवी सदा उपद्रव रहित करे ॥ १ ॥

सूत्र-परिचय—

पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमणके समय भुवन-देवताका कायोत्सर्ग करते हुए यह स्तुति बोली जाती है।

---

५३ क्षेत्रदेवता-स्तुतिः

[क्षेत्रदेवताकी स्तुति]

मूल—

खित्तदेवयाए करेमि काउस्सग्गं। अन्नत्थ०

[सिलोगो]

यस्याः क्षेत्रं समाश्रित्य, साधुभिः साध्यते क्रिया।
सा क्षेत्रदेवता नित्यं, भूयान्नः सुखदायिनी ॥ १ ॥

शब्दार्थ—

खित्तदेवयाए-क्षेत्रदेवताकी आराधनाके निमित्तसे।
करेमि-मैं करता हूँ।
काउस्सग्गं-कायोत्सर्ग।
अन्नत्थ०-इसके अतिरिक्त०
यस्याः-जिनके।
क्षेत्रं-क्षेत्रका।
समाश्रित्य-आश्रय लेकर।
साधुभिः-साधुओंद्वारा।
साध्यते-साधी जाती है, की जाती है।
क्रिया-मोक्षमार्गकी आराधना।
सा-वह।
क्षेत्रदेवता-क्षेत्रदेवता।
नित्यं-सदा।
भूयात्-हो।
नः-हमें।
सुखदायिनी-सुख देनेवाली।

अर्थ-सङ्कलना—

क्षेत्रदेवताकी आराधनाके निमित्त मैं कायोत्सर्ग करता हूँ। इसके अतिरिक्त—

जिनके क्षेत्रका आश्रय लेकर साधुओंद्वारा मोक्षमार्गकी आराधना की जाती है, वह क्षेत्रदेवता हमें सदा सुख देनेवाली हों ॥ १ ॥

सूत्र-परिचय—

पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमणके समय क्षेत्रदेवताका कायोत्सर्ग करते हुए यह स्तुति बोली जाती है!

५४ चतुर्विंशति-जिन-नमस्कारः

['सकलार्हत्'-स्तोत्र]

मूल—

[अनुष्टुप]

सकलार्हत्-प्रतिष्ठानमधिष्ठानं शिवश्रियः ।
भूर्भुवः-स्वस्त्रयीशानमार्हन्त्यं प्रणिदध्महे ॥ १ ॥

शब्दार्थ—

सकलार्हत्-प्रतिष्ठानं-जो सर्व अरिहन्तोंमें स्थित है।
सकल-सर्व। अर्हत्-अरिहन्तोंमें। प्रतिष्ठान-प्रतिष्ठित किया हुआ है, स्थित है।

अधिष्ठानं-शिवश्रियः-जो मोक्ष-लक्ष्मीका निवास-स्थान है।
अधिष्ठान-निवास-स्थान। शिवश्री-मोक्षरूपी लक्ष्मी।

भूर्भुवः स्वस्त्रयीशानं-जो भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक इन तीनों-पर सम्पूर्ण प्रभुत्व रखता है।
भूः-पाताल। भुवः-मर्त्यलोक। स्वः - स्वर्ग। त्रयी - तीन। ईशान-प्रभुत्व रखनेवाले।

आर्हन्त्यं प्रणिदध्महे-अरिहन्तके तत्त्व (आर्हन्त्य) का हम ध्यान करते हैं।

अर्थ-सङ्कलना—

जो सर्व अरिहन्तोंमें स्थित हैं, जो मोक्ष-लक्ष्मीका निवासस्थान है, तथा जो पाताल, मर्त्यलोक और स्वर्गलोक इन तीनोंपर सम्पूर्ण प्रभुत्व रखता है, उस अरिहन्तके तत्त्व (आर्हन्त्य) का हम ध्यान करते हैं ॥ १ ॥

मूल—

नामाऽऽकृति-द्रव्य-भावैः, पुनतस्त्रिजगज्जनम् ।
क्षेत्रे काले च सर्वस्मिन्नर्हतः समुपास्महे ॥ २ ॥

शब्दार्थ—

नामाऽऽकृति-द्रव्य-भावैः- नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव-निक्षेपद्वारा ।

नाम – नाम – निक्षेप । आकृति –स्थापना-निक्षेप । द्रव्य–द्रव्य–निक्षेप । भाव-भाव-निक्षेप । निक्षेप अर्थात् अर्थव्यवस्था ।

पुनतः–पवित्र कर रहे हैं ।

त्रिजगज्जनम्-तीनों लोकके प्राणियोंके ।

क्षेत्रे–क्षेत्रमें ।

काले-कालमें ।

च–और ।

सर्वस्मिन्–सर्व ।

अर्हतः–अर्हतोंको, अर्हतोंकी ।

समुपास्महे-हम सम्यग् उपासना करते हैं ।

अर्थ-सङ्कलना—

जो सर्वक्षेत्रमें और सर्वकालमें नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव-निक्षेपाद्वरा तीनों लोकके प्राणियोंको पवित्र कर रहे हैं, उन अर्हतोंकी हम सम्यग् उपासना करते हैं ॥ २ ॥

मूल—

आदिमं पृथिवीनाथमादिमं निष्परिग्रहम् ।
आदिमं तीर्थनाथं च, ऋषभ-स्वामिनं स्तुमः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—

आदिमं-पहले ।
पृथिवीनाथं - पृथ्वीनाथकी, राजाकी ।
आदिमं-पहले ।
निष्परिग्रहम्-साधुको ।
आदिमं-पहले ।
तीर्थनाथं-तीर्थङ्करको ।
च-और ।
ऋषभ-स्वामिनं-श्रीऋषभदेवकी
स्तुमः-हम स्तुति करते हैं ।

अर्थ-सङ्कलना—

पहले राजा, पहले साधु और पहले तीर्थङ्कर ऐसे श्रीऋषभदेवकी हम स्तुति करते हैं ॥ ३ ॥

मूल—

अर्हन्तमजितं विश्व-कमलाकर-भास्करम् ।
अम्लान-केवलादर्श-सङ्क्रान्त-जगतं स्तुवे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—

अर्हंतं-पूजनीय ।
अजितं-श्रीअजितनाथ भगवानको ।
विश्वकमलाकर - भास्करम् - जगत्के प्राणीरूप कमलोंके समूहको विकसित करनेके लिये सूर्य-स्वरूप ।
विश्व-जगत्के प्राणी । कमलाकर-कमलोंका समूह । भास्कर-सूर्य ।
अम्लान-केवलादर्श-सङ्क्रान्त-जगतं-जिनके केवलज्ञानरूपी दर्पणमें सारा जगत् प्रतिबिम्बित हुआ है, उनकी ।
अम्लान-निर्मल । केवलादर्श-केवलज्ञानरूपी दर्पण । सङ्क्रान्त-प्रतिम्बित हुआ है ।
स्तुवे-मैं स्तुति करता हूँ ।

अर्थ-सङ्कलना—

जगत्के प्राणीरूपी कमलोंके समूहको विकसित करनेके लिये सूर्य-स्वरूप तथा जिनके केवलज्ञानरूपी दर्पणमें सारा जगत् प्रतिबिम्बित हुआ है, ऐसे पूजनीय श्रीअजितनाथ भगवानकी मैं स्तुति करता हूँ ॥ ४ ॥

मूल—

विश्व-भव्य-जनाराम-कुल्या-तुल्या--जयन्ति ताः ।
देशना-समये वाचः, श्रीसम्भव-जगत्पतेः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—

विश्व-भव्य-जनाराम-कुल्या-तुल्याः-विश्वके भव्यजनरूपी बगीचेको सींचनेके लिये नालीके समान ।

आराम-बगीचा । कुल्या-नाली । तुल्या-समान ।

जयन्ति-जयको प्राप्त हो रहे हैं।

ताः-वे ।

देशना-समये-धर्मोपदेश करते समय ।

वाचः-वाणी ।

श्रीसम्भवजगत्पतेः-श्रीसम्भवनाथ भगवन्तकी ।

अर्थ-सङ्कलना—

धर्मोपदेश करते समय जिनकी वाणी विश्वके भव्यजनरूपी बगीचेको सींचनेके लिये नालीके समान है, वे श्रीसम्भवनाथ भगवन्तके वचन जयको प्राप्त हो रहे हैं ॥ ५ ॥

मूल—

अनेकान्त—मताम्भोधि—समुल्लासन—चन्द्रमाः ।
दद्यादमन्दमानन्दं, भगवानभिनन्दनः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—

अनेकान्त-मताम्भोधि-समुल्लासन-चन्द्रमाः—अनेकान्त मतरूपी समुद्रको पूर्णतया उल्लसित करनेके लिये चन्द्रस्वरूप। अनेकान्तमत—वस्तुको भिन्न भिन्न दृष्टिबिन्दुसे देखनेका सिद्धान्त। अम्भोधि-समुद्र। समुल्लासन-अच्छी प्रकारसे उल्लसित करना। चन्द्रमाः-चन्द्र।

दद्याद्—दे, प्रदान करें।

अमन्दम्—अति, परम।

आनन्दं—आनन्द।

भगवान्—भगवान्।

अभिनन्दनः—श्रीअभिनन्दन नामके चौथे तीर्थङ्कर।

अर्थ-सङ्कलना—

अनेकान्त—मतरूपी समुद्रको पूर्णतया उल्लसित करनेके लिये चन्द्रस्वरूप भगवान् श्रीअभिनन्दन हमें परम आनन्द प्रदान करें ॥ ६ ॥

मूल—

द्युसत्—किरीट—शाणाग्रोत्तेजिताङ्घ्रि—नखावलिः ।
भगवान् सुमतिस्वामी, तनोत्वभिमतानि वः ॥७॥

शब्दार्थ—

द्युसत्—किरीट-शाणाग्रोत्तेजिताङ्घ्रि - नखावलिः— देवोंके मुकुटरूपी शाण (कसौटी) के अग्रभागसे जिनके चरणकी नख पङ्क्तियाँ चकचकित हो गयी हैं। द्युसत्—देव। किरीठ—मुकुट।

शाण–कसौटी। अग्र–अग्रभाग।
उत्तेजित–चकचकित की हुई।
अङ्घ्रि–चरण। आवलि–पङ्क्ति।
भगवान्–भगवान्।
सुमतिस्वामी–श्रीसुमतिनाथ।
तनोतु–प्रदान करें।
अभिमतानि–मनोवाञ्छित।
वः–तुम्हें।

अर्थसङ्कलना—

जिनके चरणकी नख–पङ्क्तियाँ देवोंके मुकुटरूपी कसौटीके अग्रभागसे चकचकित हो गयी हैं, वे भगवान् श्रीसुमतिनाथ तुम्हें मनोवाञ्छित प्रदान करें।

मूल—

पद्मप्रभ–प्रभोर्देह–भासः पुष्णन्तु वः श्रियम्।
अन्तरङ्गारि–मथने, कोपाटोपादिवारुणाः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—

पद्मप्रभ-प्रभोः–श्रीपद्मप्रभस्वामीके।
देह–भासः–शरीरकी कान्ति।
पुष्णन्तु–पुष्ट करे।
वः–तुम्हारी।
श्रियम्–लक्ष्मीकों, आत्म- लक्ष्मीको।
अन्तरङ्गारि – मथने – आन्तरिक शत्रुओंका हनन करनेके लिये।
अन्तरङ्ग–आन्तरिक। अरि–शत्रु।
मथन–हनन करना।
कोपाटोपात्–कोपके आटोपसे, क्रोधके आवेशसे।
इव–मानो।
अरुणाः–लाल रङ्गकी।

अर्थ-सङ्कलना—

आन्तरिक शत्रुओंका हनन करनेके लिये क्रोधके आवेशसे मानो लाल रङ्गकी हो गयी हो ऐसी श्रीपद्मप्रभ–स्वामीके शरीरकी कान्ति तुम्हारी आत्म–लक्ष्मीको पुष्ट करे ॥ ८ ॥

मूल—

श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय, महेन्द्र–महिताङ्घ्रये ।
नमश्चतुर्वर्ण–सङ्घ–गगनाभोग–भास्वते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—

श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय – श्रीसुपार्श्वनाथ भगवान्‌के लिये ।

महेन्द्र – महिताङ्घ्रये – महेन्द्रोंसे पूजित चरणोंवाले ।

महेन्द्र–बड़ा इन्द्र । महित–पूजित । अङ्घ्रि–चरण ।

नमः–नमस्कार हो ।

चतुर्वर्ण – सङ्घ – गगनाभोग–भास्वते – चतुर्विध सङ्घरूपी आकाश मण्डलमें सूर्य–सदृशके लिये ।

चतुर्वर्ण–जिसमें चार वर्ण हैं ऐसा साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका समझना । सङ्घ–समुदाय गगन–आकाश । आभोग–मण्डल । भास्वत्–सूर्य ।

अर्थ-सङ्कलना—

चतुर्विध सङ्घरूपी आकाशमण्डलमें सूर्यसदृश और महेन्द्रोंसे पूजित चरणवाले श्रीसुपार्श्वनाथ भगवान्‌को नमस्कार हो ॥ ९ ॥

मूल—

चन्द्रप्रभ–प्रभोश्चन्द्र–मरीचि–निचयोज्ज्वला ।
मूर्तिर्मूर्त–सितध्यान–निर्मितेव श्रियेऽस्तु वः ॥ १० ॥

शब्दार्थ—

चन्द्रप्रभ – प्रभोः – श्रीचन्द्रप्रभ–स्वामीकी ।

चन्द्र–मरीचि–निचयोज्ज्वला – चन्द्र–किरणोंके समूह जैसी श्वेत ।

मरीचि–किरण । निचय–समूह । उज्ज्वल–श्वेत ।

मूर्तिः–काया शुक्लमूर्ति ।

मूर्त–सितध्यान – निर्मिता इव–

मानो मूर्तिमान् शुक्लध्यानसे बनायी हो ऐसी।
मूर्त-आकार प्राप्त किया हुआ। सितध्यान-शुक्लध्यान। निर्मिता-बनायी हुई। इव-मानो।

श्रियै-लक्ष्मीके लिये, आत्मलक्ष्मीकी वृद्धि करने वाली।
अस्तु-हो।
वः-तुम्हारे लिये।

अर्थ-सङ्कलना—

चन्द्र-किरणोंके समूह जैसी श्वेत और मानो मूर्तिमान-अर्थात् साक्षात् शुक्लध्यानसे बनायी हो ऐसी श्रीचन्द्रप्रभस्वामिकी शुक्लमूर्ति तुम्हारे लिये आत्म-लक्ष्मीकी वृद्धि करनेवाली हो ॥ १० ॥

मूल—

करामलकवद् विश्वं, कलयन् केवलश्रिया।
अचिन्त्य-माहात्म्य-निधिः, सुविधिर्बोधयेऽस्तु वः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—

करामलकवद्-हाथमें स्थित आँवलेके समान्।
कर-हाथ। आमलक-आँवला।
विश्वं-जगत्को।
कलयन्-जानते हुए, देख रहे हैं।
केवलश्रिया-केवलज्ञानकी सम्पत्तिसे।
केवल-केवलज्ञान। श्री-सम्पत्ति।
अचिन्त्य-माहात्म्य-निधिः—कल्पनातीत प्रभावके भण्डार।

अचिन्त्य-जिसका विचार न किया जा सके, ऐसा, कल्पनातीत।
माहात्म्य-प्रभाव। निधि-भण्डार।
सुविधिः-श्रीसुविधिनाथ प्रभु।
बोधये-बोधिके लिये, सम्यक्त्वकी प्राप्ति करानेवाले।
अस्तु-हो।
वः-तुम्हारे लिये।

अर्थ-सङ्कलना—

जो केवलज्ञानकी सम्पत्तिसे सारे जगत्को हाथमें स्थित आँवलेके समान देख रहे हैं तथा जो कल्पनातीत प्रभावके भण्डार हैं, वे श्रीसुविधिनाथ प्रभु तुम्हारे लिये सम्यक्त्वकी प्राप्ति करानेवाले हों ॥ ११ ॥

मूल—

सत्त्वानां-परमानन्द-कन्दोद्भेद-नवाम्बुदः ।
स्याद्वादामृत-निःस्यन्दी, शीतलः पातु वो जिनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—

सत्त्वानां-प्राणियोंका, प्राणियोंके लिये ।

परमानन्द - कन्दोद्भेद -नवाम्बुदः- परमानन्दरूप कन्दको प्रकटित करनेके लिये नवीन मेघस्वरूप ।

परम-उत्कृष्ट । कन्द-वनस्पतिका भूमिगत भाग । उद्भेद-प्रगट करना । नव-नया । अम्बुद-मेघ ।

स्याद्वादामृत — निःस्यन्दी — स्याद्वादरूपी अमृतको बरसानेवाले । स्याद्वाद-'स्यात्' पदकी प्रधानतावाला वाद, अनेकान्तवाद अथवा अपेक्षावाद । निःस्यन्दी-बरसानेवाला ।

शीतलः-श्रीशीतलनाथ ।

पातु-रक्षा करें ।

वः-तुम्हारी ।

जिनः-जिनेश्वर ।

अर्थ-सङ्कलना—

प्राणियोंके परमानन्दरूपी कन्दको प्रकटित करनेके लिये नवीन मेघ-स्वरूप तथा स्याद्वादरूपी अमृतको बरसानेवाले श्रीशीतलनाथ जिनेश्वर तुम्हारी रक्षा करें ॥ १२ ॥

मूल—

भव—रोगाऽऽर्त्त—जन्तूनामगदङ्कार—दर्शनः ।
निःश्रेयस—श्री—रमणः, श्रेयांसः श्रेयसेऽस्तु वः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—

भव-रोगाऽऽर्त्त - जन्तूनाम्—भव-रोगसे पीडित जन्तुओके लिये। भवरूपी जो रोग वह भवरोग। आर्त्त—पीडित।
अगदङ्कार-दर्शनः—वैद्यके दर्शन जैसे। अगदङ्कार - रोगरहित करनेवाले, वैद्य।
निःश्रेयस-श्री-रमणः—निःश्रेयस (मुक्ति) रूपी लक्ष्मीके पति। निःश्रेयस—मुक्ति। श्री—लक्ष्मी। रमण—पति।
श्रेयांसः—श्रीश्रेयांसनाथ।
श्रेयसे—श्रेयके लिये, मुक्तिके लिये।
अस्तु—हों।

अर्थ-सङ्कलना—

जिनका दर्शन भव—रोगसे पीडित जन्तुओंके लिये वैद्यके दर्शन जैसा है तथा जो निःश्रेयस—(मुक्ति) रूपी लक्ष्मीके पति हैं, वे श्रीश्रेयांसनाथ तुम्हारे श्रेय—मुक्तिके लिये हों ॥ १३ ॥

मूल—

विश्वोपकारकीभूत—तीर्थकृत्—कर्म—निर्मितिः ।
सुरासुर—नरैः पूज्यो, वासुपूज्यः पुनातु वः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—

विश्वोपकारकीभूत - तीर्थकृत्-कर्म-निर्मितिः—विश्वपर महान् उपकार करनेवाले, तीर्थङ्कर नाम—कर्मको बाँधनेवाले। विश्वोपकारकीभूत—विश्वपर महान् उपकार करनेवाले।

तीर्थकृत्-कर्म-तीर्थङ्कर-नाम कर्म।	पूज्यः-पूज्य।
निर्मिति-निर्माण, बाँधना।	वासुपूज्यः-श्रीवासुपूज्यस्वामी।
सुरासुर-नरैः-सुर, असुर और मनुष्योंद्वारा।	पुनातु-पवित्र करें।
	वः-तुम्हें।

अर्थ-सङ्कलना—

विश्वपर महान् उपकार करनेवाले, तीर्थङ्कर-नाम-कर्मको बाँधनेवाले तथा सुर, असुर और मनुष्योंद्वारा पूज्य ऐसे श्रीवासुपूज्यस्वामी तुम्हें पवित्र करें ॥ १४ ॥

मूल—

विमलस्वामिनो वाचः, कतक-क्षोद-सोदराः ।
जयन्ति त्रिजगच्चेतो-जल-नैर्मल्य-हेतवः ॥ १५ ॥

विमलस्वामिनः - श्रीविमलनाथ प्रभुकी।	जयन्ति-जयको प्राप्त हो रही है।
वाचः-वाणी।	त्रिजगत्-चेतस्-जल-नैर्मल्य-हेतवः-त्रिभुवनमें स्थित प्राणियोंके चित्तरूपी जलको स्वच्छ करनेमें कारणरूप।
कतक-क्षोद-सोदराः- कतक-फलके चूर्ण जैसी।	त्रिजगत्-त्रिभुवन। चेतस्-चित्त।
कतक-निर्मली नामकी वनस्पति। क्षोद-चूर्ण। सोदरा-बहिन जैसी।	नैर्मल्य-निर्मलता, स्वच्छ। हेतु-कारण।

अर्थ-सङ्कलना—

त्रिभुवनमें स्थित प्राणियोंके चित्तरूपी जलको स्वच्छ करनेमें कारणरूप कतक-फलके चूर्ण जैसी श्रीविमलनाथ प्रभुकी वाणी जयको प्राप्त हो रही है ॥ १५ ॥

मूल—

स्वयम्भूरमण–स्पर्द्धी, करुणारस–वारिणा।
अनन्तजिदनन्तां वः, प्रयच्छतु सुख–श्रियम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—

स्वयम्भूरमणस्पर्द्धी–स्वयम्भूरमण समुद्रकी स्पर्धा करनेवाले।
स्वयम्भूरमण – अन्तिम समुद्र।
स्पर्द्धिन्–स्पर्धा करनेवाले।
करुणारस – वारिणा – दयारूपी जलसे।
करुणारस–दयारूपी (रस)।
वारि–जल।
अनन्तजिद्–श्रीअनन्तनाथ प्रभु।
अनन्तां–अनन्त।
वः–तुम्हारे लिये।
प्रयच्छतु–प्रदान करें।
सुख–श्रियम्–सुख-सम्पत्ति।

अर्थ–सङ्कलना—

दयारूपी जलसे स्वयम्भूरमण समुद्रकी स्पर्धा करनेवाले श्रीअनन्तनाथ तुम्हारे लिये सुख-सम्पत्ति प्रदान करें ॥ १६ ॥

मूल—

कल्पद्रुम–सधर्माणमिष्ट–प्राप्तौ शरीरिणाम्।
चतुर्धा धर्म–देष्टारं, धर्मनाथमुपास्महे ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—

कल्पद्रुम–सधर्माणम् – कल्पवृक्ष-समान।
कल्पद्रुम–कल्पवृक्ष, इच्छित फल देनेवाला एक प्रकारका वृक्ष।
सधर्म–समान।
इष्ट–प्राप्तौ–इष्ट प्राप्तिमें, इच्छित फल प्राप्त करानेमें।
शरीरिणाम्–प्राणियोंको।
चतुर्धा–चार प्रकारकी।
धर्म – देष्टारं – धर्मकी देशना देनेवाले।
धर्मनाथम्–श्रीधर्मनाथ प्रभुकी।
उपास्महे–हम उपासना करते हैं।

अर्थ-सङ्कलना—

प्राणियोंका इच्छित फल प्राप्त करानेमें कल्पवृक्ष-समान और धर्मकी दानादि भेदसे चार प्रकारकी देशना देनेवाले श्रीधर्मनाथ प्रभुकी हम उपासना करते हैं ॥ १७ ॥

मूल—

सुधा-सोदर-वाग्-ज्योत्स्ना-निर्मलीकृत-दिङ्मुखः
मृग-लक्ष्मा तमःशान्त्यै, शान्तिनाथजिनोऽस्तु वः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—

सुधार-सोदर-वाग्-ज्योत्सना-निर्मलीकृत-दिङ्मुखः-
अमृततुल्य धर्म-देशनासे दिशाओंके मुखको उज्ज्वल करनेवाले ।

सुधा—अमृत । सोदर—तुल्य
वाग्ज्योत्स्ना-वाणीरूपी चन्द्रिका ।
निर्मलीकृत-उज्ज्वल किये हैं ।
दिङ्मुख-दिशाओंके मुख ।

मृग-लक्ष्मा-हरिणके लाञ्छनको धारण करनेवाले ।
मृग-हरिण । लक्ष्मन्-लाञ्छन ।

तमःशान्त्यै-अज्ञानका निवारण करनेके लिये ।

शान्तिनाथजिनः -- श्रीशान्तिनाथ भगवान् ।

अस्तु-हों ।

वः-तुम्हारे ।

अर्थ-सङ्कलना—

अमृत-तुल्य धर्म-देशनासे दिशाओंके मुखको उज्ज्वल करनेवाले तथा हरिणके लाञ्छनको धारण करनेवाले श्रीशान्तिनाथ भगवान् तुम्हारे अज्ञानका निवारण करनेके लिये हों ॥ १८ ॥

मूल—

श्रीकुन्थुनाथो भगवान्, सनाथोऽतिशयर्द्धिभिः ।
सुरासुर–नृ–नाथानामेकनाथः श्रियेऽस्तु वः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—

श्रीकुन्थुनाथः भगवान्—श्री. कुन्थुनाथ भगवान् ।
सनाथः–सहित, युक्त ।
अतिशयर्द्धिभिः – अतिशयोंकी ऋद्धिसे ।
प्रत्येक तीर्थङ्करोंको ३४ अतिशय-रूपी महाऋद्धि होती है ।
सुरासुर–नृ–नाथानाम्–सुर, असुर और मनुष्योंके स्वामीयोंके । नृ-मनुष्य । नाथ–स्वामी ।
एकनाथः–एक मात्र स्वामी, अनन्यस्वामी ।
श्रिये–लक्ष्मीके लिये, आत्म-लक्ष्मीके लिये ।
अस्तु–हो ।
वः–तुम्हें ।

अर्थ–सङ्कलना—

अतिशयोंकी ऋद्धिसे युक्त और सुर, असुर तथा मनुष्योंके स्वामीयोंके भी अनन्यस्वामी ऐसे श्रीकुन्थुनाथ भगवान् तुम्हें आत्म-लक्ष्मीके लिये हों ॥ १९ ॥

मूल—

अरनाथस्तु भगवान्, चतुर्थार–नभो–रविः ।
चतुर्थ–पुरुषार्थ–श्री–विलासं वितनोतु वः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अरनाथः–श्री अरनाथ ।
तु–और ।
भगवान्–भगवान् ।
चतुर्थार-नभो-रविः–चतुर्थ आरा रूपी गगनमण्डलमें सूर्यरूप ।
चतुर्थ–चौथा । **अर**–आरा ।

नभसू—आकाश, गगन-मण्डल।	**चतुर्थ**-पुरुषार्थ-मोक्ष।
रविं-सूर्य।	**श्री**—लक्ष्मी।
चतुर्थ-पुरुषार्थ-श्री-विलासं-मोक्षरूपी लक्ष्मीका विलास।	**वितनोतु**—प्रदान करें।
	वः—तुम्हें।

अर्थ-सङ्कलना—

चतुर्थ आरारूपी गगनमण्डलमें सूर्यरूप श्रीअरनाथ भगवान् तुम्हें मोक्ष-लक्ष्मीका विलास प्रदान करें ॥ २० ॥

मूल—

सुरासुर—नराधीश--मयूर.—नव—वारिदम् ।
कर्म्मद्रून्मूलने हस्ति—मल्लं मल्लिमभिष्टुमः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—

सुरासुर-नराधीश-मयूर-नव-वारिदम्-सुरों, असुरों और मनुष्योंके अधिपतिरूप मयूरोंके लिये नवीन मेघ-समान।	मूलसे उखाडनेके लिये।
अधीश-अधिपति। नव-नवीन।	कर्म्म-ज्ञानावरणादि। द्रु-वृक्ष
वारिद-मेघ।	उन्मूलन-मूलसे उखाड़ना।
कर्म्मद्रु-उन्मूलने-कर्मरूपी वृक्षको	**हस्ति-मल्लं**-ऐरावण हाथीके समान।
	हस्ति-हाथी। मल्ल-श्रेष्ठ।
	मल्लिम्-श्रीमल्लिनाथको।
	अभिष्टुमः-स्तुति करते हैं।

अर्थ-सङ्कलना—

सुरों, असुरों और मनुष्योंके अधिपतिरूप मयूरोंके लिये नवीन मेघ-समान तथा कर्मरूपी वृक्षको मूलसे उखाडनेके लिये ऐरावण हाथी-समान श्रीमल्लिनाथकी हम स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥

मूल—

जगन्महामोह-निद्रा-प्रत्यूष-समयोपमम् ।
मुनिसुव्रतनाथस्य, देशना-वचनं स्तुमः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—

जगन्महामोह-निद्रा-प्रत्यूष-समयोपमम्-संसारके प्राणियोंकी महामोहरूपी निद्रा उड़ानेके लिये प्रातःकाल जैसे।
जगत्-संसार, संसारके प्राणी। महा-मोह-प्रबल मोहनीय कर्मका उदय। प्रत्यूष-समय-प्रातःकाल। उपम-सदृश।
मुनिसुव्रतनाथस्य -- श्रीमुनिसुव्रत स्वामीके।
देशना-वचनं-देशना-वचनकी।
स्तुमः-हम स्तुति करते हैं।

अर्थ-सङ्कलना—

संसारके प्राणियोंकी महामोहरूपी निद्रा उड़ानेके लिये प्रातःकाल जैसे श्रीमुनिसुव्रत स्वामीके देशना-वचनकी हम स्तुति करते हैं ॥२२॥

मूल—

लुठन्तो नमतां मूर्ध्नि, निर्मलीकार-कारणम् ।
वारिप्लवा इव नमेः, पान्तु पाद-नखांशवः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

लुठन्तः-लुढ़कते हुए, फड़कते हुए।
नमतां-नमस्कार करनेवालोंके।
मूर्ध्नि-मस्तकपर।
निर्मलीकार-कारणम्-निर्मल करनेमें कारणभूत।
निर्मलीकार-अनिर्मलको निर्मल करनेकी क्रिया। कारण-हेतु।
वारि-प्लवाः-जलका प्रवाह।
वारि-जल। प्लव-प्रवाह।
इव-तरह।

नमेः–श्रीनमिनाथ प्रभुके।
पान्तु–रक्षण करें।
पाद-नखांशवः–चरणोंके नखकी किरणें। पाद-चरण। अंशु-किरण।

अर्थ-सङ्कलना—

नमस्कार करनेवालोंके मस्तकपर फड़कती हुई और जलके प्रवाहकी तरह निर्मल करनेमें कारणभूत, ऐसी श्रीनमिनाथ प्रभुके चरणोंके नखकी किरणें तुम्हारा रक्षण करें ॥ २३ ॥

मूल—

यदुवंश-समुद्रेन्दुः, कर्म-कक्ष-हुताशनः ।
अरिष्टनेमिर्भगवान्, भूयाद् वोऽरिष्टनाशनः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—

यदुवंश-समुद्रेन्दु–यदुवंशरूपी समुद्रमें चन्द्र-समान।
यदु–मथुराके हरिवंशी राजा ययातिके बड़े पुत्र। वंश–कुल। समुद्र–सागर। इन्दु–चन्द्रमा।
कर्म-कक्ष-हुताशनः–कर्मरूपी वनको जलानेमें अग्निसमान।
कर्म–ज्ञानावरणीय-कर्म। कक्ष–वन। हुताशन–अग्नि।
अरिष्टनेमिः–श्रीअरिष्टनेमि।
भगवान्–भगवान्।
भूयाद्–हों।
वः–तुम्हारे।
अरिष्टनाशनः–अमङ्गलका नाश करनेवाले।

अर्थ-सङ्कलना—

यदुवंशरूपी समुद्रमें चन्द्र–तथा कर्मरूपी वनको जलानेमें अग्नि-समान श्रीअरिष्टनेमि भगवान् तुम्हारे अमङ्गलका नाश करनेवाले हों ॥ २४ ॥

मूल—

कमठे धरणेन्द्रे च, स्वोचितं कर्म कुर्वति ।
प्रभुस्तुल्य-मनोवृत्तिः, पार्श्वनाथः श्रियेऽस्तु वः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—

कमठे—कमठासुरपर ।
धरणेन्द्रे—धरणेन्द्रपर ।
च—और ।
स्वोचितं—अपनेको उचित ।
कर्म—कृत्य ।
कुर्वति—करनेवाले ।
प्रभुः—प्रभु ।
तुल्य-मनोवृत्तिः—समानभाव धारण करनेवाले ।
तुल्य—समान । मनोवृत्ति—भाव ।
पार्श्वनाथः—श्रीपार्श्वनाथ ।
श्रिये—लक्ष्मीके लिये, आत्मलक्ष्मीके लिये ।
अस्तु—हों ।
वः—तुम्हें ।

अर्थ-सङ्कलना—

अपनेको उचित ऐसा कृत्य करनेवाले, कमठासुर और धरणेन्द्रपर समानभाव धारण करनेवाले श्रीपार्श्वनाथ प्रभु तुम्हें आत्म-लक्ष्मीके लिये हों ॥ २५ ॥

मूल—

श्रीमते वीरनाथाय, सनाथायाद्भुतश्रिया ।
महानन्द-सरो-राजमरालायार्हते नमः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—

श्रीमते—अनन्त ज्ञानादि-लक्ष्मीसे युक्तके लिये ।
वीरनाथाय—श्रीवीरस्वामीके लिये । श्रीमहावीर स्वामीके लिये ।
सनाथाय-अद्भुत-श्रिया— अलौकिक लक्ष्मीसे युक्तके लिये ।
सनाथ-युक्त । अद्भुत-अलौकिक ।
श्री—लक्ष्मी । यहाँ अलौकिक

लक्ष्मीसे चौंतीस अतिशय समझने चाहिये।
महानन्द-सरो-राजमरालाय – परमानन्दरूपी सरोवरमें राजहंस-स्वरूप।
सरस्-सरोवर। राजमराल-राजहंस।
अर्हते–पूज्य।
नमः–नमस्कार हो।

अर्थ-सङ्कलना—

परमानन्दरूपी सरोवरमें राजहंस-स्वरूप (समान) तथा अलौकिक लक्ष्मीसे युक्त ऐसे पूज्य श्रीमहावीरस्वामीके लिये नमस्कार हो ॥ २६ ॥

मूल—

कृतापराधेऽपि जने, कृपा–मन्थर–तारयोः ।
ईषद्-बाष्पार्द्रयोर्भद्रं, श्रीवीरजिन-नेत्रयोः ॥२७॥

शब्दार्थ—

कृतापराधेऽपि जने–अपराध किये हुए मनुष्यपर भी।
जिसने अपराध किया है वह कृतापराध।
कृपा-मन्थर-तारयोः– अनुकम्पासे मन्द कनीनिकावाले।
कृपा–अनुकम्पा। मन्थर–मन्द। तारा–कनीनिका।
ईषद्-बाष्पार्द्रयोः–कुछ अश्रुसे भीगे हुए।
ईषद्–अल्प, कुछ। बाष्प–अश्रु। आर्द्र–भीगे हुए।
भद्रं–कल्याण।
श्रीवीरजिन-नेत्रयोः-श्रीवीरजिनेश्वरके दोनों नेत्रोंका, श्रीमहावीर प्रभुके नेत्रोंका।

अर्थ-सङ्कलना—

अपराध किये हुए मनुष्यपर भी अनुकम्पासे मन्द कनीनिकावाले और कुछ अश्रुसे भीगे हुए श्रीमहावीर प्रभुके नेत्रोंका कल्याण हो ॥२७॥

[आर्या]

जयति विजितान्यतेजाः, सुरासुराधीश-सेवितः श्रीमान् ।
विमलस्त्रास-विरहितस्त्रिभुवन-चूडामणिर्भगवान् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—

जयति-जयको प्राप्त हो रहे हैं।
विजितान्यतेजाः-जिन्होंने अन्यका तेज जीत लिया हैं ऐसे, अन्य तीर्थिकोंके प्रभावको जीतनेवाले। विजित-जीता हुआ। अन्य-तेजस् -अन्यका तेज।
सुरासुराधीश-सेवितः-सुरेन्द्रों और असुरेन्द्रोंसे सेवित। अधीश-अधिपति, इन्द्र।
श्रीमान्-केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीसे युक्त।
विमलः-निर्मल, अठारह दोषोंसे रहित।
त्रास-विरहितः-भय-मुक्त, सातों प्रकारके भयसे मुक्त।
त्रिभुवन-चूडामणिः- त्रिभुवनके मुकुटमणि। त्रिभुवन—तीनों लोक। चूडा-मुकुट। मणि-मणि।
भगवान्-अरिहन्त भगवान्।

अर्थ-सङ्कलना—

अन्य तीर्थिकोंके प्रभावको जीतनेवाले; सुरेन्द्रों और असुरेन्द्रोंसे सेवित, केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीसे युक्त, अठारह दोषोंसे रहित, सातों प्रकारके भयसे मुक्त और त्रिभुवनके मुकुटमणि ऐसे अरिहन्त भगवान् जयको प्राप्त हो रहे हैं ॥ २८ ॥

मूल—

वीरः सर्व-सुरासुरेन्द्र-महितो, वीरं बुधाः संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्म-निचयो, वीराय नित्यं नमः ।
वीरात् तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्री-धृति-कीर्ति-कान्ति-निचयः श्रीवीर !
भद्रं दिश ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—

वीरः-श्रीमहावीर स्वामी ।
सर्व-सुरासुरेन्द्र-महितः-सर्व सुरेन्द्रों और असुरेन्द्रोंसे पूजित ।
महित-पूजित ।
वीरं-श्रीमहावीरस्वामीका ।
बुधाः-पण्डित, पण्डितोंने ।
संश्रिताः-अच्छी प्रकारसे आश्रय लिया है ।
वीरेण-श्रीमहावीरस्वामीद्वारा ।
अभिहतः-नष्ट किया हुआ है ।
स्व-कर्म-निचयः-अपना कर्म-समूह ।
स्व-अपना । कर्म-ज्ञानावरणादि कर्म । निचय-समूह ।
वीराय-श्रीमहावीरस्वामीको ।
नित्यं-प्रतिदिन ।
नमः-नमस्कार हो ।
वीरात्-श्रीमहावीरस्वामीसे ।
तीर्थम्-तीर्थ ।
इदं-यह ।
प्रवृत्तम्-प्रवर्तित ।
अतुलं-अनुपम ।
वीरस्य-श्रीमहावीरस्वामीका ।
घोरं-उग्र ।
तपः-तप ।
वीरे-श्रीमहावीरस्वामीमें ।
श्री-धृति-कीर्ति-कान्ति-निचयः-ज्ञानरूपी लक्ष्मी, धैर्य, कीर्ति और कान्तिका समूह (स्थित है) ।
श्रीवीर !-हे महावीरस्वामी ।
भद्रं-कल्याण ।
दिश-करो ।

अर्थ-सङ्कलना—

श्रीमहावीरस्वामी सर्व सुरेन्द्रों और असुरेन्द्रोंसे पूजित हैं, पण्डितोंने

श्रीमहावीरस्वामीका अच्छी प्रकारसे आश्रय लिया है; श्रीमहावीरस्वामी-द्वारा अपने कर्म-समूहका नाश किया हुआ है; श्रीमहावीरस्वामीको प्रतिदिन नमस्कार हो, यह अनुपम चतुर्विध सङ्घरूपी तीर्थ श्रीमहावीर-स्वामीसे प्रवर्तित है; श्रीमहावीरस्वामीका तप बहुत उग्र है; श्रीमहावीर स्वामीमें ज्ञानरूपी लक्ष्मी, धैर्य, कीर्ति और कान्तिका समूह स्थित है, ऐसे हे महावीरस्वामी ! मेरा कल्याण करो ॥ २९ ॥

मूल—

[मालिनी-वृत्त]

अवनितल-गतानां कृत्रिमाकृत्रिमानां,
वरभवन-गतानां दिव्य-वैमानिकानाम् ।
इह मनुज-कृतानां देवराजार्चितानां,
जिनवर-भवनानां भावतोऽहं नमामि ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—

अवनितल-गतानां-पृथ्वीतलपर स्थित ।
अवनितल-पृथ्वीतल । गत-स्थित ।

कृत्रिमाकृत्रिमानां-कृत्रिम अकृत्रिम, अशाश्वत और शाश्वत ।
कृत्रिम-मनुष्यद्वारा बनाये हुए । अकृत्रिम-शाश्वत ।

वरभवन-गतानां-भवनपतियोंके श्रेष्ठ निवासस्थानमें ।
वर-श्रेष्ठ । भवन-भवनपतिदेवोंका निवासस्थान ।

दिव्य-वैमानिकानाम्—दिव्य विमानोंमें स्थित ।
दिव्य-देवता-सम्बन्धी । वैमानिक-विमानेंमें स्थित ।

इह-इस मनुष्यलोकमें ।

मनुज-कृतानां-मनुष्योंद्वारा कराये हुए ।
मनुज-मनुष्य । कृत-कराये हुए ।

देवराजार्चितानां-देव तथा राजा-ओंसे एवं-देवराजसे पूजित ।

जिनवर-भवनानां-श्रीजिनेश्वर-देवके चैत्योंको ।

भावतः-भावपूर्वक ।

अहं-मैं ।

नमामि-नमन करता हूँ ।

अर्थ-सङ्कलना—

श्रीजिनेश्वरदेवके चैत्योंको मैं भावपूर्वक नमन करता हूँ कि जो अशाश्वत और शाश्वतरूपमें पृथ्वीतलपर, भवनपतियोंके श्रेष्ठ निवास-स्थानपर स्थित हैं, इस मनुष्य लोकमें मनुष्योंद्वारा कराये हुए हैं और देव तथा राजाओंसे एवं देवराज-इन्द्रसे पूजित हैं ॥ ३० ॥

मूल—

[अनुष्टुप्]

सर्वेषां वेधसामाद्यमादिमं परमेष्ठिनाम् ।
देवाधिदेवं सर्वज्ञं, श्रीवीरं प्रणिदध्महे ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—

सर्वेषाम्–सब ।
वेधसाम्–ज्ञाताओंमें ।
आद्यम्–श्रेष्ठ ।
आदिमं–प्रथम, प्रथम स्थानपर विराजित होनेवाले ।
परमेष्ठिनाम्–परमेष्ठियोंमें ।
देवाधिदेवं–देवोंके भी देव ।
सर्वज्ञं–सर्वज्ञ ।
श्रीवीरं–श्रीमहावीर स्वामीका ।
प्रणिदध्महे–उपासना करते हैं । हम ध्यान करते हैं ।

अर्थ-सङ्कलना—

सर्व ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ, परमेष्ठियोंमें प्रथम स्थानपर विराजित होनेवाले, देवोंके भी देव और सर्वज्ञ ऐसे श्रीमहावीर स्वामीका हम ध्यान करते हैं ॥ ३१ ॥

मूल—

[शार्दूलविक्रीडित]

देवोऽनेक-भवार्जितोर्जित-महापाप-प्रदीपानलो,
देवः सिद्धि-वधू-विशाल-हृदयालङ्कार-हारोपमः ।
देवोऽष्टादश-दोष-सिन्धुरघटा-निर्भेद-पञ्चाननो,
भव्यानां विदधातु वाञ्छितफलं श्रीवीतरागो जिनः ॥३२॥

शब्दार्थ—

देवः–देव ।

अनेक-भवार्जितोर्जित-महापाप-प्रदीपानलः–अनेक भवोंमें उपार्जित-इकट्ठे किये हुए तीव्र महापापोंको दहन करनेके लिये अग्नि-समान ।

अनेक-असंख्य । भव-जन्म-मरणके फेरे । अर्जित-इकट्ठे किये हुए । ऊर्जित-बलवान्, तीव्र । महापाप-बड़ा पाप । प्रदीप—जलाना, दहन करना । अनल—अग्नि ।

देवः–देव ।

सिद्धि-वधू-विशाल-हृदयालङ्कार-हारोपमः–मुक्तिरूपी स्त्रीके विस्तृत वक्षःस्थलको अलङ्कृत करनेमें हारके समान ।

सिद्धि-मुक्ति । वधू-स्त्री । विशाल-विस्तृत । हृदय-वक्षःस्थल । अलङ्कार—अलङ्कृत करना । हारोपम-हारके समान ।

देवः–देव ।

अष्टादश-दोष-सिन्धुरघटा—निर्भेद-पञ्चाननः-अठारह दूषण-रूपी हाथीके समूहका भेदन करनेमें सिंहसदृश ।

अष्टादश-अठारह । दोष-दूषण । सिन्धुर-हाथी । घटा-समूह । निर्भेद-भेदनकी क्रिया, भेदन करना । पञ्चानन-सिंह ।

भव्यानां-भव्यप्राणियोंको ।

विदधातु-प्रदान करें ।

वाञ्छित-फलं-इच्छित फल ।

श्रीवीतरागः जिनः- श्रीवीतराग जिनेश्वर देव ।

अर्थ-सङ्कलना—

जो देव अनेक भवोंमें इकट्ठे किये हुए तीव्र महापापोंको दहन करनेके लिये अग्नि—समान हैं, जो देव मुक्तिरूपी स्त्रीके विशाल वक्षःस्थलको अलङ्कृत करनेके लिये हारके समान हैं, जो अठारह दूषणरूपी हाथीके समूहका भेदन करनेके लिये सिंहसदृश हैं, वे श्रीवीतराग जिनेश्वरदेव भव्य-प्राणियोंको इच्छित फल प्रदान करें ॥३२॥

मूल—

ख्यातोऽष्टापदपर्वतो गजपदः सम्मेतशैलाभिधः,
श्रीमान् रैवतकः प्रसिद्धमहिमा शत्रुञ्जयो मण्डपः ।
वैभारः कनकाचलोऽर्बुदगिरिः श्रीचित्रकूटादय-
स्तत्र श्रीऋषभादयो जिनवराः कुर्वन्तु वो मङ्गलम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—

ख्यातः–प्रसिद्ध ।
अष्टापदपर्वतः—अष्टापद नामका पर्वत ।
गजपदः–गजपद अथवा गजाग्रपाद नामका पर्वत, दशार्णकूट पर्वत ।
सम्मेतशैलाभिधः— सम्मेतशिखर नामका पर्वत ।
श्रीमान्-रैवतकः–शोभावान् गिरनार पर्वत ।
प्रसिद्धमहिमा-प्रसिद्ध महिमावाला ।
शत्रुञ्जयः–शत्रुञ्जयगिरि ।
मण्डपः–मांडवगढ ।
वैभारः–वैभारगिरि ।
कनकाचलः–सुवर्णगिरि ।
अर्बुदगिरिः–आबूपर्वत ।
श्रीचित्रकूटादयः-श्रीचित्रकूट आदि तीर्थ ।
तत्र–वहाँ स्थित ।
श्रीऋषभादयः—जिनवराः— श्रीऋषभ आदि जिनेश्वर ।
कुर्वन्तु–करो ।
वः–तुम्हारा ।
मङ्गलं-मङ्गल, कल्याण ।

अर्थ-सङ्कलना—

प्रसिद्ध अष्टापय पर्वत, गजाग्रपाद अथवा दशार्णकूट पर्वत, सम्मेतशिखर, शोभावान् गिरनार–पर्वत, प्रसिद्ध महिमावाला शत्रुञ्जय गिरि, माँडवगढ़, वैभारगिरि, कनकाचल, (सुवर्णगिरि), आबूपर्वत, श्रीचित्रकूट आदि तीर्थ हैं, वहाँ स्थित श्रीऋषभ आदि जिनेश्वर तुम्हारा कल्याण करें ॥ ३३ ॥

सूत्र-परिचय—

इस स्तोत्रका मूल नाम 'चतुर्विंशति–जिन–नमस्कार' है, परन्तु इसके प्रथमाक्षरोंके आधारपर 'सकलार्हत्–स्तोत्र' के नामसे भी प्रसिद्ध है। कुछ लोग इसे बृहच्चैत्यवन्दनके नामसे पहिचानते हैं, क्यों कि पाक्षिक चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमणके समय बड़ा चैत्यवन्दन करनेमें इसका उपयोग होता है।

इस स्तोत्रके २८, २९, ३०, ३२ और ३३ वें श्लोकके अतिरिक्त सभी श्लोक कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यद्वारा रचित हैं।

इस स्तोत्रमें चौबीस जिनेश्वरोंकी स्तुति करते हुए जो उपमाएँ दी गयी है, वे अत्यन्त मनोहर हैं और वे जैनधर्मके महत्त्वपूर्ण विषयोंका वास्तविक निदर्शन कराती हैं।

५५ अजिय-संति-थओ

[अजित-शान्ति-स्तव]×

मूल—

[मङ्गलादि]

अजियं जिय-सव्व-भयं, संतिं च पसंत-सव्व-गय-पावं ।
जयगुरू संति-गुणकरे, दो वि जिणवरे पणिवयामि ॥१॥

—गाहा ॥

शब्दार्थ—

अजियं-श्रीअजितनाथको ।

जिय सव्व भयं-समस्त भयकों जीतनेवाले ।

जिय-जीतनेवाले । सव्व-भय—समस्त भय ।

संतिं-श्रीशान्तिनाथको ।

च-और ।

पसंत-सव्व-गय-पावं-सर्व रोगों और पापोंका प्रशमन करनेवाले ।

पसत-पुनः न हो इस प्रकार निवृत्ति प्राप्त, प्रशमन करनेवाले । सव्व-सर्व ।

× अक्षर ऊपर दिया हुआ ˘ ऐसा चिह्न गुरुको लघु दिखलानेके लिये और-ऐसा चिह्न लघुको गुरु दिखलानेके लिये है । प्रत्येक गाथाकी उत्थापनिकाके लिये देखो-प्रबोधटीका भाग ३ रा. पृ. ४७१ से ५३१ ।

एक स्वतंत्र पद्यके मुक्तक, दो पद्योंके समूहको सन्दानितक, तीन पद्योंके समूहको विशेषक और चार पद्योंके समूहकों कलापक कहते हैं ।

जय-गुरू जगत्के गुरुको।
संति गुणकरे-विघ्नोंका उपशमन करनेवालेको।
संति-विघ्नोंका उपशमन।
दो वि-दोनों ही।
जिणवरे-जिनववरोंको।
पणिवयामि-मैं पञ्चाङ्ग प्रणिपात करता हूँ।

अर्थ-सङ्कलना—

समस्त भयोंको जीतनेवाले श्रीअजितनाथको तथा सर्व रोगों और पापोंका प्रशमन करनेवाले श्रीशान्तिनाथको, इसी तरह जगत्के गुरु और विघ्नोंका उपशमन करनेवाले इन दोनों ही जिनवरोंको मैं पञ्चाङ्ग प्रणिपात करता हूँ ॥ १ ॥

मूल—

ववगय-मंगुल-भावे, ते हं विउल-तव-निम्मल-सहावे।
निरुवम-महप्पभावे, थोसामि सुदिट्ठ-सब्भावे ॥ २ ॥

—गाहा ॥

शब्दार्थ—

ववगय-मंगुल-भावे-जिनका राग-द्वेषरूपी अशोभनभाव चला गया है ऐसे, वीतराग।
ववगय-विशिष्ट प्रकारसे गया हुआ। मंगुल-अशोभन।
भाव-भाव।
ते-उन दोनों जिनवरोंको।
हं-मैं (नन्दिषेण)।
विउल-तव-निम्मल-सहावे-अति तपद्वारा निर्मलीभूत स्वभाववालोंको, विपुल तपसे आत्माके अनन्तज्ञानादि निर्मल स्वरूपको प्राप्त करनेवाले।
विउल-विपुल, विस्तीर्ण। तव-तप। निम्मल-निर्मल। सहाव-स्वभाव।
निरुवम-महप्पभावे-अनुपम माहात्म्यवालोंको।
निरुवम-अनुपम।
महप्पभाव-महाप्रभाव, माहात्म्य।

थोसामि–स्तुति करता हूँ।
सुदिट्ठ-सब्भावे–सर्वज्ञ और सर्वदर्शियोंको।

सुदिट्ठ-जिससे सम्यक् प्रकारसे देखा और पहिचाना है।
सब्भाव-वस्तुका सद्रूप भाव।

अर्थ-सङ्कलना—

वीतराग, विपुल तपसे आत्माके अनन्तज्ञानादि निर्मल स्वरूपको प्राप्त करनेवाले, (चौंतीस अतिशयोंके कारण) अनुपम माहात्म्य-महाप्रभाववाले और सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी (ऐसे) दोनों जिनवरोंकी मैं स्तुति करता हूँ ॥ २ ॥

मूल—

सव्व-दुक्ख-प्पसंतीणं, सव्व-पाव-प्पसंतीणं।
सया अजिय-संतीणं, नमो अजिय-संतीणं ॥ ३ ॥

—सिलोगो ॥

शब्दार्थ—

सव्व-दुक्ख-प्पसंतीणं–सर्व दुःखोंका प्रशमन करनेवाले।
सव्व-दुक्ख-आधि-व्याधि और उपाधि ये तीनों प्रकारके दुःख।
पसंति-प्रशमन।

सव्व-पाव-प्पसंतीणं–सर्व पापोंका प्रशमन करनेवाले।
पाव-पाप।

सया–सदा।

अजिय-संतीणं–अखण्ड शान्ति धारण करनेवाले।
अजिय-जिनका रागादिद्वारा पराभव न हो सके ऐसी, अखण्ड।

नमो–नमस्कार हो।

अजिय-संतीणं–श्रीअजितनाथ और श्रीशान्तिनाथको।

अर्थ-सङ्कलना—

सर्व दुःखोंका प्रशमन करनेवाले, सर्व पापोंका प्रशमन करनेवाले और सदा अखण्ड शान्ति धारण करनेवाले श्रीअजितनाथ और श्रीशान्तिनाथको नमस्कार हो ॥ ३॥

मूल—

(श्रीअजितनाथ और श्रीशान्तिनाथकी विशेषकद्वारा स्तुति)

अजियजिण ! सुह-प्पवत्तणं,
तव पुरिसुत्तम ! नाम-कित्तणं।
तह य धिइ-मइ-प्पवत्तणं,
तव य जिणुत्तम ! संति ! कित्तणं ॥ ४ ॥

—मागहिया ॥

किरिआ-विहि-संचिय-कम्म-किलेस-विमुक्खयरं,
अजियं निचियं च गुणेहिं महामुणि-सिद्धिगयं ।
अजियस्स य संतिमहामुणिणो वि य संतिकरं,
सययं मम निव्वुइ-कारणयं च नमंसणयं ॥ ५ ॥

—आलिंगणयं ॥

पुरिसा ! जइ दुक्ख-वारणं,
जइ य विमग्गह सुक्ख-कारणं ।
अजियं संतिं च भावओ,
अभयकरे सरणं पवज्जहा ॥ ६ ॥

—मागहिआ ॥

शब्दार्थ—

अजियजिण !—हे अजितनाथ !

सुह-प्पवत्तणं—शुभका प्रर्वतन करनेवाला।

सुह—सुख, शुभ। प्पवत्तण—प्रर्वतन करनेवाला।

तव—आपका।

पुरिसुत्तम !—हे पुरुषोत्तम !

नाम-कित्तणं—नामस्मरण।

कित्तण—कीर्तन, स्मरण।

तह य—वैसा ही।

धिइ-मइ-प्पवत्तणं—धृतियुक्त मतिका प्रर्वतन करनेवाला, स्थिर बुद्धिको देनेवाला।

धिइ—चित्तका स्वास्थ्य, धीरता।

मइ—बुद्धि।

तव—आपका।

य—और।

जिणुत्तम !—हे जिनोत्तम

संति !—हे शान्तिनाथ !

कित्तणं—कीर्तन, नाम-स्मरण।

किरिआ-विहि-संचिय-कम्म-किलेस-विमुक्खयरं—कायिकी आदि पचीस प्रकारकी क्रियाओंसे सञ्चित कर्मके पीडासे छुडानेवाला।

किरिआ—कायिकी आदि पचीस प्रकारकी क्रिया। विहि—विधान, करना। सञ्चित—एकत्रित। कम्म—ज्ञानावरणीय आदि कर्म। किलेस—पीडा। विमुक्खयर—विशेषतापूर्वक मुक्त करनेवाला, सर्वथा छुडानेवाला।

अजियं—पराभूत न हो ऐसा सर्वोत्कृष्ट।

निचियं—व्याप्त, परिपूर्ण।

च—और।

गुणेहिं—गुणोंसे, सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे।

महामुणि-सिद्धिगयं—महामुनियोंकी (आणिमादि आठों) सिद्धियोंको प्राप्त करानेवाले।

महामुणि—योगी। सिद्धिगय—सिद्धियोंको प्राप्त करनेवाला।

अजियस्स—श्रीअजितनाथका।

य—और।

संति—महामुणिणो—वि य—श्रीशान्तिनाथ भगवान्‌का भी।

संतिकरं—शान्तिकर।

सययं—सदा।

मम—मुझे।

निव्वुइ-कारणयं-मोक्षका कारण।
निव्वुइ-मोक्ष। कारणय-कारण।
च-और।
नमंसणयं-पूजन।
पुरिसा !-हे पुरुषों !
जइ-यदि।
दुक्ख-वारणं-दुःख-निवारण, दुःख-नाशका उपाय।
वारण-निषेध, प्रत्युपाय।
जइ य-और यदि।
विमग्गह-खोजते हो।
सुक्ख-कारणं-सुख प्राप्तिका कारण।
अजियं-श्रीअजितनाथका।
संतिं-श्रीशान्तिनाथका।
च-और।
भावओ-भावसे।
अभयकरे-अभय प्रदान करनेवाले।
सरणं-शरण।
पवज्जहा-अङ्गीकृत करो।

अर्थ-सङ्कलना—

हे पुरुषोत्तम ! हे अजितनाथ ! आपका नाम-स्मरण (सर्व) शुभ (सुख) का प्रवर्त्तन करनेवाला है, वैसा ही स्थिर-बुद्धिको देनेवाला है। हे जिनोत्तम ! हे शान्तिनाथ ! आपका नाम-स्मरण भी ऐसा ही है ॥ ४ ॥

कायिकी आदि पचीस प्रकारकी क्रियाओंसे सञ्चित कर्मकी पीड़ासे सर्वथा छुड़ानेवाला, सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे परिपूर्ण, महामुनियोंकी अणिमादि आठों सिद्धियोंको प्राप्त करानेवाला और शान्तिकर ऐसा श्रीशान्तिनाथ भगवानका पूजन मुझे सदा मोक्षका कारण बनो ॥ ५ ॥

हे पुरुषों ! यदि तुम दुःख-नाशका उपाय अथवा सुख-प्राप्तिका कारण खोजते हो तो अभयको देनेवाले श्रीअजितनाथ और शान्तिनाथकी शरण भावसे अङ्गीकृत करो ॥ ६ ॥

मूल—

(मुक्तकद्वारा श्रीअजितनाथकी स्तुति)

अरइ-रइ-तिमिर-विरहियमुवरय-जर-मरणं,
सुर-असुर-गरुल-भुयगवइ-पयय-पणिवइयं ।
अजियमहमवि य सुनय-नय-निउणमभयकरं,
सरणमुवसरिय भुवि-दिविज-महियं सययमुवणमे ॥ ७ ॥

—संगययं ॥

शब्दार्थ—

अरइ-रइ-तिमिर-विरहियं- विषाद और हर्षको उत्पन्न करनेवाले अज्ञानसे रहित ।

अरइ-विषाद । रइ-हर्ष । तिमिर-अन्धकार, अज्ञान । विरहिय-रहित ।

उवरय-जर-मरणं-वृद्धावस्था और मृत्युसे रहित ।

उवरय-निवृत्त, रहित । जरा-वृद्धावस्था । मरण-मृत्यु ।

सुर-असुर-गरुल-भुयगवइ-पयय-पणिवइयं-देव, असुरकुमार, सुवर्णकुमार, नागकुमार आदिके इन्द्रोंसे अच्छी तरह नमस्कार किये हुए ।

सुर-वैमानिक देव । असुर-असुरकुमार । गरुल-सुपर्णकुमार । भुयग-नागकुमार । वइ-पति, इन्द्र । पयय-अत्यन्त आदरपूर्वक । पणिवइय - प्रणिपात - नमस्कार किये हुए ।

अजियं-श्रीअजितनाथको ।

अहमवि य-मैं भी ।

सुनय - नय - निउणं - सुनयोंका प्रतिपादन करनेमें अति कुशल ।

सुनय-सम्यग्नय । नय-पद्धति, प्रकार । निउण-अतिकुशल ।

अभयकरं-सर्व-प्रकारके भय और उपसर्गोंको दूर करनेवाले ।

सरणं-शरण ।

उवसरिय-प्राप्तकर, स्वीकृतकर।
भुवि-दिविज-महियं-मनुष्य और देवताओंसे पूजित।
भुविज-मनुष्य। दिविज-देवता।
महिय-पूजित।
सययं-निरन्तर।
उवणमे-समीपमें जाकर नमन करता हूँ, चरणोंकी सेवा करता हूँ!

अर्थ-सङ्कलना—

मैं भी विषाद और हर्षको उत्पन्न करनेवाले, अज्ञानसे रहित, (जन्म), जरा और मृत्युसे निवृत्त; देव, असुरकुमार, सुपर्णकुमार, नागकुमार आदिके इन्द्रोंसे अच्छी तरह नमस्कार किये हुए; सुनयोंका प्रतिपादन करनेमें अतिकुशल; सर्व-प्रकारके भय और उपसर्गोंको दूर करनेवाले तथा मनुष्य और देवोंसे पूजित श्रीअजितनाथका शरण स्वीकृत कर उनके चरणोंकी सेवा करता हूँ॥ ७॥

मूल—

(दूसरे मुक्तकसे श्रीशान्तिनाथकी स्तुति)

तं च जिणुत्तम-मुत्तम-नित्तम-सत्त-धरं,
अज्जव-मद्दव-खंति-विमुत्ति-समाहि-निहिं।
संतिकरं पणमामि दमुत्तम-तित्थयरं,
संतिमुणि! मम संति-समाहि-वरं दिसउ॥ ८॥

—सोपानयं॥

शब्दार्थ—

तं-उन।
च-और।
जिणुत्तमं-जिनोत्तमको।
उत्तम-नित्तम-सत्त-धरं-श्रेष्ठ

और निर्दोष पराक्रमको धारण करनेवाले।

उत्तम–श्रेष्ठ। नित्तम–निर्मल, निर्दोष। सत्त–पराक्रम। धर–धारण करनेवाले।

अज्जव–मद्दव–खंति–विमुत्ति–समाहि-निहिं-सरलता, मृदुलता, क्षमा और निर्लोभताद्वारा समाधिके भण्डार।

अज्जव–सरलता। मद्दव–मृदुता। खंति–क्षमा। विमुत्ति–निर्लोभता। समाहि–समाधि। निहि–निधि, भण्डार।

संतिकरं–शान्ति करनेवाले।

पणमामि–प्रणाम करता हूँ।

दमुत्तम–तित्थयरं–इन्द्रिय–दमनमें उत्तम ऐसे तीर्थङ्करके। दम–इन्द्रियोंका दमन।

संतिमुणी !–हे शान्तिनाथ!

मम–मुझे।

संतिसमाहि–वरं–श्रेष्ठ शान्ति–समाधि।

संति-उपद्रवरहित स्थिति। समाहि-चित्तकी प्रसन्नता।

वर–श्रेष्ठ।

दिसउ–दो, देनेवाले बनो।

अर्थ-सङ्कलना—

श्रेष्ठ और निर्दोष पराक्रमको धारण करनेवाले; सरलता, मृदुता, क्षमा और निर्लोभता द्वारा समाधिके भण्डार; शान्ति करनेवाले; इन्द्रिय–दमनमें उत्तम ऐसे तीर्थङ्करको मैं प्रणाम करता हूँ। हे शान्तिनाथ! मुझे श्रेष्ठ समाधि देनेवाले बनो ॥ ८ ॥

मूल—

(सन्दानितकद्वारा श्रीअजितनाथकी स्तुति)

सावत्थि-पुव्व-पत्थिवँ च वरहत्थि-मत्थय-पसत्थ-वित्थिन्न-संथियं थिर-सरिच्छ-वच्छं,

मयगल-लीलायमाण-वरगंधहत्थि-पत्थाण-पत्थियं संथ वारिहं।

हत्थि-हत्थ-बाहुं धंत-कणग-रुअग-निरुवहय-पिंजरं पवर-लक्खणोवचिय-सोम-चारु-रूवं,

सुइ-सुह-मणाभिराम-परम-रमणिज्ज-वर-देव-दुंदुहि-निनाय-महुरयर-सुहगिरं ॥ ९ ॥

—वेड्ढओ (वेढो) ॥

अजियं जियारिगणं, जिय-सव्व-भयं भवोह-रिउं।
पणमामि अहं पयओ, पावं पसमेउ मे भयवं ॥ १० ॥

—रासालुद्धओ ॥

शब्दार्थ—

सावत्थि-पुव्व-पत्थिवं-श्रावस्ती नगरीके पूर्व (कालमें) राजा। सावत्थि-श्रावस्ती अयोध्या। पूव्व-पूर्व! पत्थिव-राजा।

च-और।

वरहत्थि-मत्थय-पसत्थ—वित्थिन्न-संथियं-श्रेष्ठ हाथीके कुम्भस्थल जैसे प्रशस्त और विस्तीर्ण संस्थानवाले।

वर-श्रेष्ठ। हत्थि-हाथी। मत्थय-कुम्भस्थान। पसत्थ-प्रशस्त। वित्थिन्न-विस्तीर्ण। संथिय-संस्थान।

थिर-सरिच्छ-वच्छं-निश्चल और अविषम वक्षःस्थल वाले। थिर-निश्चल। सरिच्छ-समान, अविषम। वच्छ-वक्षस्थल।

मयगल-लीलायमाण-वर—गंधहत्थि-पत्थाण-पत्थियं-जिनका मद झर रहा हो और लीलायुक्त श्रेष्ठ गंध हस्तिके जैसी गतिसे चलते हुए।

मयगल-जिसका मद झर रहा हो। लीलायमाण-लीलायुक्त। वर-श्रेष्ठ। गंधहत्थि-गन्ध-हस्ती। पत्थान-प्रस्थान, गति। पत्थियं-प्रस्थित, चलते हुए।

संथवारिहं-प्रशंसाके योग्य।
हत्थि-हत्थ-बाहुं-हाथीकी सूंढ जैसी दीर्घ और (सुन्दर) भुजावाले।
हत्थि-हत्थ-हाथीकी सूंढ! बाहु-भुजा।
धंत-कणग-रुअग-निरुवहय-पिंजरं-तपाये हुए सुवर्णकी कान्ति जैसे स्वच्छ पीत वर्णवाले। धंत-तपाया हुआ। कणग-सुवर्ण। रुअग-कान्ति। निरुवहय-स्वच्छ। पिंजर-पीतवर्ण।
पवर-लक्खणोवचिय-सोम-चारु-रूवं-श्रेष्ठ लक्षणोंसे युक्त, शान्त और मनोहर रूपवाले। पवर-श्रेष्ठ। लक्खण-लक्षण। उवचिय-युक्त। सोम-शान्त। चारु-मनोहर। रूव-रूप।
सुइ-सुह-मणाभिराम-परम-रमणिज्ज-वर-देव-दुंदुहि-निनाय-महुरयर-कानोंको सुखकारक, मनको आनन्द देनेवाले, अति रमणीय और श्रेष्ठ ऐसे देवदुन्दुभिके नादसे अतिमधुर और मङ्गलमय वाणीवाले।
सुइ-कान। सुह-सुख। मणाभिराम-मनको आनन्द देनेवाला। रमणिज्ज-रमणीय निनाय-नाद, ध्वनि। महुरयर-अत्यन्त मधुर। सुह-मङ्गल। गिर-वाणी।
अजियं-श्रीअजितनाथ भगवान्‌को।
जियारिगणं-अन्तरके शत्रुओंपर जय प्राप्त करनेवाले।
जिय-सव्व-भयं-सर्व भयोंको जीतनेवाले।
भवोह-रिउं-भव-परम्पराके प्रबल शत्रु।
पणमामि-नमस्कार करता हूँ।
अहं-मैं।
पयओ-मन, वचन और कायाके प्रणिधानपूर्वक।
पावं-पापका, अशुभ कर्मोंका।
पसमेउ-प्रशमन करो।
मे-मेरे।
भयवं-हे भगवन्।

अर्थ-सङ्कलना—

जो दीक्षासे पूर्व श्रावस्ती (अयोध्याके) के राजा थे, जिनका संस्थान श्रेष्ठ हाथीके कुम्भस्थल जैसा प्रशस्त और विस्तीर्ण था, जो

निश्चल और अविषम वक्षःस्थलवाले थे (जिनके वक्षःस्थल पर निश्चल श्रीवत्स था), जिनकी चाल मद झरते हुए और लीलासे चलते हुए श्रेष्ठ गन्धहस्तिके जैसी मनोहर थी, जो सर्व प्रकारसे प्रशंसाके योग्य थे, जिनकी भुजाएँ हाथी की सूँढके समान दीर्घ और घाटीली थी, जिनके शरीरका वर्ण तपाये हुए सुवर्णकी कान्ति जैसा स्वच्छ पीला था, जो श्रेष्ठ लक्षणोंसे युक्त, शान्त और मनोहर रूपवाले थे, जिनकी वाणी कानोंको प्रिय, सुखकारक, मनको आनन्द देनेवाली, अतिरमणीय और श्रेष्ठ ऐसे देवदुन्दुभिके नादसे भी अतिमधुर और मङ्गलमय थी, जो अन्तरके शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेवाले थे, जो सर्व भयोंको जीतनेवाले थे, जो भव--परम्पराके प्रबल शत्रु थे, ऐसे श्रीअजितनाथ भगवान्‌को मैं मन, वचन और कायाके प्रणिधान-पूर्वक नमस्कार करता हूँ और निवेदन करता हूँ कि 'हे भगवन्! आप मेरे अशुभ-कर्मोंका प्रशमन करो ॥ ९--१० ॥

मूल—

(दूसरे सन्दानितकद्वारा श्रीशान्तिनाथकी स्तुति ।)

कुरु-जणवय-हत्थिणाउर-नरीसरो य पढमं तओ महा-चक्कवट्टि-भोए महप्पभावो,

जो बावत्तरि-पुरवर-सहस्स-वर-नगर-निगम-जणवय-वई-वत्तीसा-रायवर-सहस्साणुयाय-मग्गो ।

चउदस-वररयण-नव-महानिहि-चउसट्ठि-सहस्स-पवर-जुवईण-सुन्दरवई,

चुलसी-हय-गय-रह-सयसहस्स-सामी छन्नवइ-गाम-कोडि-सामी य आसी जो भारहंमि भयवं ॥ ११ ॥

—वेड्ढओ (वेढो) ॥

तं संतिं संतिकरं, संतिण्णं सव्वभया ।
संतिं थुणामि जिणं, संतिं (च) विहेउं मे ॥ १२ ॥

—रासाणंदिययं ॥

शब्दार्थ—

कुरु-जणवय-हत्थिणाउर-नरीसरो-कुरुदेशके हस्तिनापुरके राजा ।
कुरु-जणवय-कुरुदेश । हत्थिणाउर-हस्तिनापुर । नरीसर-नरेश्वर, राजा ।

य-और ।

पढमं-पहले, प्रथम ।

तओ-तदनन्तर ।

महाचक्कवट्टि-भोए-महान् चक्रवर्तीके राज्यको भोगनेवाले ।
महाचक्कवट्टि-महान् चक्रवर्ती । भोअ-भोग, राज्य ।

महप्पभावो-महान् प्रभाववाले ।

जो-जो ।

बावत्तरि-पुरवर-सहस्स-वर-नगर-निगम-जणवयवई बहत्तर हजार मुख्य शहरों और हजारों नगर तथा निगमवाले देशके पति ।
बावत्तरि-बहत्तर । पुरवर-मुख्य शहर । सहस्स-हजार । नगर-शहर । निगम-व्यापारियोंकी बस्तीवाला गाँव । जणवय-जनपद, देश । वई-पति ।

बत्तीसा-रायवर-सहस्साणुयाय-मग्गो- जिनके मार्गका बत्तीस हजार भूप अनुसरण करते थे ।
बत्तीसा-बत्तीस । रायवर-उत्तम राजा । अणुयाय-अनुसरण करना । मग्ग-मार्ग ।

चउदस-वररयण-नव-महानिहि-चउसट्ठि-सहस्स-पवर-जुवईण-सुंदरवई-चौदह उत्तम रत्न, नव महानिधि, चौसठ हजार श्रेष्ठ स्त्रियोंके सुन्दर स्वामी ।

चउदस-चौदह। वररयण-वररत्न। महानिहि-महानिधि। चउसट्ठि-चौसठ। पवर-श्रेष्ठ। जुवई-स्त्री।
चुलसी-हय-गय-रह-सय-सहस्स-सामी-चौरासी लाख घोड़े, चौरासी लाख हाथी और चौरासी लाख रथके स्वामी। चुलसी-चौरासी। हय-घोड़ा। गय-हाथी। सय-सहस्स-लाख। सामी-स्वामी।
छन्नवइ-गाम-कोडि-सामी-छियानवे करोड़ गाँवोंके अधिपति। छन्नवइ-छियानवे। गाम-गाँव। कोडि-करोड़। सामी-अधिपति।
य-और।
आसी-थे।
जो-जो।
भारहंमि-भरतक्षेत्रमें।
भयवं-भगवान्।
तं-उन।
संतिं-साक्षात् शान्ति जैसे, मूर्तिमान् उपशम जैसे।
संतिकरं-शान्ति करनेवाले।
संतिण्णं-अच्छी तरहसे तिरे हुए।
सव्वभया-सर्व प्रकारके भयोंसे।
संतिं-श्रीशान्तिनाथ भगवान्‌की।
थुणामि-स्तुति करता हूँ।
जिणं-रागादि शत्रुओंको जितनेवाले।
संतिं-शान्ति।
(**च**-और)।
विहेउं-देनेको।
मे-मुझे।

अर्थ-सङ्कलना—

जो भगवान् प्रथम भरतक्षेत्रमें कुरुदेशके हस्तिनापुरके राजा थे और तदनन्तर महाचक्रवर्तीके राज्यको भोगनेवाले महान् प्रभाववाले हुए, तथा बहत्तर हजार मुख्य शहर और हजारों नगर तथा निगम-वाले देशके अधिपति बने; कि जिनके मार्गका बत्तीस हजार उत्तम भूप अनुसरण करते थे; और जो चौदह वररत्न, नव महानिधि, चौंसठ हजार सुन्दर स्त्रियोंके स्वामी बने थे, तथा चौरासी लाख घोड़े,

चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख रथ और छियानवे करोड़ गाँवोंके अधिपति बने थे, तथा जो मूर्तिमान् उपशम जैसे, शान्ति करनेवाले सर्वभयोंसे अच्छी तरह तिरे हुए और रागादि शत्रुओंको जीतनेवाले थे, उन श्रीशान्तिनाथ भगवान्की मैं शान्तिके निमित्त स्तुति करता हूँ ॥ ११--१२ ॥

मूल—

(मुक्तकद्वारा श्रीअजितनाथकी स्तुति)

इक्खाग ! विदेह ! नरीसर ! नर--वसहा ! मुणि--वसहा !,
नव--सारय--ससि--सकलाणण ! विगय--तमा ! विहुय--रया ! ।
अजि ! उत्तम-तेअ ! [गुणेहिं] महामुणि ! अमिय--बला !
विउल--कुला !,
पणमामि ते भव-भय-मूरण ! जग-सरणा ! मम सरणं ॥ १३ ॥
—चित्तलेहा ॥

शब्दार्थ—

इक्खाग !–हे इक्ष्वाकुलमें उत्पन्न होनेवाले ।
विदेह !–हे विशिष्ट देहवाले !
नरीसर !–हे नरेश्वर !
नर--वसहा !–हे नर-श्रेष्ठ !
वसह-श्रेष्ठ ।
मुणि--वसहा !–हे मुनि श्रेष्ठ !

नव-सारय-ससि-सकलाणण !–हे शरद्ऋतुके नवीन चन्द्र जैसे कलापूर्ण मुखवाले ! सारय–शरद्-ऋतुका । ससि–चन्द्र । सकल-पूर्ण, कला–पूर्ण । आणण–मुख ।
विगया--तमा !–हे अज्ञान रहित ।
विहुय--रया !–हे कर्म रहित !

विहुय-दूर किया हुआ। रय-रजस्, कर्म।

अजि !--हे अजितनाथ !

उत्तम--तेअ !--हे उत्तम तेजवाले !

[**गुणेहिं**--गुणोंसे ।]

महामुणि !--हे महामुनि ।

अमिय--बला !--हे अपरिमित--बलवाले !

अमिय-अपरिमित ।

विउल-कुला !-हे विशाल कुलवाले !

पणमामि--प्रणाम करता हूँ।

ते--आपको ।

भव--भय-मूरण !-हे भवके भयको नष्ट करनेवाले !

मूरण--नष्ट करनेवाला ।

जग-सरणा !--हे जगत्के जीवोंको शरण देनेवाले !

मम--मेरे।

सरणं--शरण ।

अर्थ-सङ्कलना--

हे इक्ष्वाकु कुलमें उत्पन्न होनेवाले ! हे विशिष्ट देहवाले ! हे नरेश्वर ! हे नर--श्रेष्ठ ! हे मुनि--श्रेष्ठ ! हे शरद्‌ऋतुके नवीन चन्द्र जैसे कलापूर्ण मुखवाले ! हे अज्ञान-रहित ! हे कर्म--रहित ! हे उत्तम तेजवाले ! (गुणोंसे) हे महामुनि ! हे अपरिमित बलवाले ! हे विशाल कुलवाले ! हे भवका भय नष्ट करनेवाले ! हे जगत्के जीवोंको शरण देनेवाले अजितनाथ प्रभु ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ; क्योंकि आप ही मुझे शरणरूप हैं ॥ १३ ॥

मूल--

(दूसरे मुक्तकसे श्रीशान्तिनाथकी स्तुति)

देव-दाणविंद-चंद-सूर-वंद ! हट्ठतुट्ठ ! जिट्ठ !
परम--लट्ठ--रूव
धंत-रुप्प-पट्ट-सेय-सुद्ध-निद्ध-धवल-दंत-पंति ! ।

संति ! सत्ति-कित्ति-(दित्ति)-मुत्ति-जुत्ति-गुत्ति-पवर !
दित्त-तेअ-वंद-धेय !,
सव्व-लोअ-भाविय-प्पभाव ! णेय ! पइस मे समाहिं ॥१४॥
—नारायओ (१) ॥

शब्दार्थ—

देव-दाणविंद-चंद-सूर-वंद ! हे देवेन्द्र, दानवेन्द्र, चन्द्र तथा सूर्यद्वारा बन्दन करने योग्य !
दाणविंद-दानवेन्द्र। चंद-चन्द्र। सूर-सूर्य।

हट्ठतुट्ठ !-हे आनन्दस्वरूप !

जिट्ठ !-हे अतिशय महान् ।

परम-लट्ठरूव !-हे परम मुन्दर रूपवाले ।

धंत-रुप्प-पट्ट-सेय-सुद्ध-निद्ध-धवल-दंत-पंति !-हे तपायी हुई पाठकी चाँदी जैसी उत्तम, निर्मल, चकचकित और धवल दन्तपंक्तिवाले !
धंत-तपायी हुई, गरम की हुई। रुप्प-चांदी। पट्ट-पाट। सेय-उत्तम। शुद्ध-निर्मल। निद्ध-चिकनी, चकचकित। धवल-उज्ज्वल, श्वेत।
दन्तपंति-दन्तपंक्ति।

संति !-हे शान्तिनाथ !

सत्ति-कित्ति-(दित्ति)-मुत्ति-जुत्ति-गुत्ति-पवर !-हे शक्ति-प्रवर ! हे कीर्ति-प्रवर ! (हे दीप्ति-प्रवर !) हे मुक्ति-प्रवर ! हे युक्ति-प्रवर ! हे गुप्ति-प्रवर !
सत्ति-शक्ति । कित्ति-कीर्ति । (दित्ति-दीप्ति।) मुत्ति-मुक्ति। जुत्ति-युक्ति। गुत्ति-गुप्ति। पवर-प्रवर, श्रेष्ठ।

दित्त-तेअ-वंद-धेय !-हे देव-समूहसे भी ध्यान करने योग्य !
दित्त-दीप्त। तेअ-तेज। यहाँ दीप्त-तेज शब्दसे देवोंको ग्रहण करना चाहिये। वंद-वृन्द, समूह। धेय-ध्येय, ध्यान करनेयोग्य।

सव्व-लोअ-भाविय-प्पभाव !-हे समस्त विश्वमें प्रकटित प्रभाववाले !
लोअ-लोक, विश्व। भाविय-प्रकटित। प्पभाव-प्रभाव।

जेय !-हे जानने योग्य ! | **मे**-मुझे ।
पइस-प्रदान करो । | **समाहिं**-समाधि ।

अर्थ-सङ्कलना—

हे देवेन्द्र, दानवेन्द्र, चन्द्र तथा सूर्यद्वारा वन्दन करने योग्य ! हे आनन्द-स्वरूप ! (प्रसन्नता पूर्ण !), हे अतिशय महान् ! हे परम-सुन्दर रूपवाले ! हे तपायी हुई पाटकी चाँदी जैसी उत्तम, निर्मल, चकचकित और धवल दन्त-पंक्तिवाले ! हे सर्व शक्तिमान् ! हे कीर्तिशाली ! हे अत्यन्त तेजोमय ! हे मुक्तिमार्गको बतलानेमें श्रेष्ठ ! (अथवा हे परम त्यागी !) हे युक्ति-युक्त-वचन बोलनेमें उत्तम ! हे योगीश्वर ! हे देव-समूहसे भी ध्यान करने योग्य ! हे समस्त विश्वमें प्रकटित प्रभाववाले और जानने योग्य श्रीशान्तिनाथ भगवान् ! मुझे समाधि प्रदान करो ॥ १४ ॥

मूल—

(सन्दानितकद्वारा श्रीअजितनाथकी स्तुति)

विमल-ससि-कलाइरेअ-सोमं,
वितिमिर-सूर-कराइरेअ-तेअं ।
तिअस-वइ-गणाइरेअ-रूवं,
धरणिधर-प्पवराइरेअ-सारं ॥ १५ ॥

—कुसुमलया ॥

सत्ते अ सया अजियं, सारीरे अ बले अजियं ।
तव-संजमे अ अजियं, एस थुणामि जिणं अजियं ॥ १६ ॥

—भुअगपरिरिंगिअं ॥

शब्दार्थ—

विमल-ससि-कलाइरेअ-सोमं- निर्मल चन्द्रकलासे भी सौम्य।
विमल-निर्मल। ससि-चन्द्र। अतिरेअ-अधिक। सोम-सौम्य।
वितिमिर-सूर-कराइरेअ-तेअं- आवरण रहित सूर्यकी किरणोंसे भी अधिक तेजवाले। वितिमिर-आवरण रहित।
सूर-सूर्य। कर-किरण। तेअ-तेज।
तिअस-वइ-गणाइरेअ-रूवं — इन्द्रोंके समूहसे भी अधिक रूपवान्।
तिअस-त्रिदश, देव। वइ-पति, स्वामी। रूव-रूप।
धरणि-धर-प्पवराइरेअ-सारं- मेरुपर्वतसे भी अधिक दृढतावाले।
धरणि-धर-पर्वत। प्पवर-श्रेष्ठ। धरणि-धर-प्पवर-मेरु-पर्वत।
सत्तो-आत्म-बलमें।
अ-और।
सया-निरन्तर।
अजियं-अजित, अन्यसे नहीं जीते हुए।
सारीरे-शारीरिक।
अ-और।
बले-बलमें।
अजियं-अजित।
तव-संजमे-तप तथा संयममें।
अ-और।
अजियं-अजित।
एस-यह।
थुणामि-मैं स्तुति करता हूँ।
जिणं-जिनकी।
अजियं-अजितनाथको।

अर्थ-सङ्कलना—

निर्मल-चन्द्रकलासे भी अधिक सौम्य, आवरण-रहित सूर्यकी किरणोंसे भी अधिक तेजवाले, इन्द्रोंके समूहसे भी अधिक रूपवान्, मेरु-पर्वतसे भी अधिक दृढतावाले तथा निरन्तर आत्म-बलमें अजित, शारीरिक बलमें भी अजित और तप-संयममें भी अजित, ऐसे श्रीअजित-जिनकी मैं स्तुति करता हूँ॥ १५—१६॥

मूल—

(दूसरे सन्दानितकद्वारा श्रीशान्तिनाथकी स्तुति)

सोम-गुणेहिँ पावइ न तं नव-सरय-ससी,
तेअ-गुणेहिँ पावइ न तं नव-सरय-रवी ।
रूव-गुणेहिँ पावइ न तं तिअस-गण-वई,
सार-गुणेहिँ पावइ न तं धरणि-धर-वई ॥ १७ ॥

—खिज्जिययं ।

तित्थवर-पवत्तयं-तम-रय-रहियं,
धीर-जण-थुयच्चियं-चुय-कलि-कलुसं ।
संति-सुह-पवत्तयं तिगरण-पयओ,
संतिमहं महामुणिं सरणमुवणमे ॥ १८ ॥

—ललिययं ॥

शब्दार्थ—

सोम-गुणेहिँ-आह्लादकता आदि गुणोंसे ।
पावइ न-प्राप्त नहीं हो सकता, बराबरी नहीं कर सकता ।
तं-जिनकी ।
नव-सरय-ससी-नवीन शरद्-ऋतुका पूर्णचन्द्र ।
सरय-शरद्ऋतु । ससी-चन्द्र ।
तेअ गुणेहिँ-तेज आदि गुणोंसे ।
पावइ न-बराबरी नहीं कर सकता ।
तं-जिनकी ।
नव-सरय-रवी - नवीन शरद्-ऋतुका पूर्ण किरणोंसे प्रकाशित होनेवाला सूर्य ।
रवी सूर्य ।
रूव-गुणेहिँ-रूप आदि गुणोंसे ।
पावइ न-बराबरी नहीं कर सकता ।
तं-जिनकी ।

तिअस-गण-वई-इन्द्र।
तिअस-देव। गण-समूह। वई-स्वामी।
सार-गुणेहिं-दृढता आदि गुणोंसे।
पावइ न-बराबरी नहीं कर सकता।
तं-जिनकी।
धरणि-धर-वई-मेरु पर्वत।
तित्थवर-पवत्तयं-श्रेष्ठ तीर्थके प्रवर्त्तक।
तित्थ-तीर्थ। पवत्तय-प्रवर्तक।
तम-रय-रहियं-मोहनीय आदि कर्मोंसे रहित।
तम-अन्धकार, मोहनीय। रय-रजस्, कर्म। रहिय-रहित।
धीर-जण-थुयच्चियं-प्राज्ञ पुरुषों-द्वारा स्तुत और पूजित। धीर-प्राज्ञ। जण-पुरुष। थुयच्चिय-स्तुत और पूजित।
चुय-कलि-कलुसं-कलहकी कालिमासे रहित।
चुय-रहित। कलि-कलह। कलुस-कालापन।
संति-सुह-पवत्तयं-शान्ति और शुभ (सुख) को फैलानेवाले।
संति-शान्ति। सुह-शुभ। पवत्तय-फैलानेवाला।
तिगरण-पयओ-तीन कारणोंसे प्रयत्नवान्, मन, वचन और कायाके प्रणिधानपूर्वक।
तिगरण-मन, वचन और काया। पयअ-प्रयत्नशील।
संतिं-श्रीशान्तिनाथके।
अहं-मैं।
महामुणिं-महामुनिके।
सरणं उवणमे-शरणमें जाता हूँ, शरणको अङ्गीकृत करता हूँ।

अर्थ-सङ्कलना—

शरद्‌ऋतुका पूर्णचन्द्र आह्लादकता आदि गुणोंसे जिनकी बराबरी नहीं कर सकता, शरद्‌ऋतुका पूर्ण किरणोंसे प्रकाशित होनेवाला सूर्य तेज आदि गुणोंसे जिनकी बराबरी नहीं कर सकता, इन्द्र रूप आदि गुणोंसे जिनकी बराबरी नहीं कर सकता, मेरु-पर्वत दृढता आदि गुणोंसे जिनकी बराबरी नहीं कर सकता, जो श्रेष्ठ तीर्थके प्रवर्तक हैं, मोहनीय आदि कर्मोंसे रहित हैं, प्राज्ञ पुरुषोंसे स्तुत और पूजित

हैं, जो कलहकी कालिमासे रहित हैं, जो शान्ति और शुभ (सुख)के फैलानेवाले हैं, ऐसे महामुनि श्रीशान्तिनाथकी शरणको मैं मन, वचन और कायाके प्रणिधान-पूर्वक अङ्गीकृत करता हूँ ॥ १७-१८ ॥

मूल—

(विशेषकद्वारा श्रीअजितनाथकी स्तुति)

विणओणय-सिर-रइअंजलि-रिसिगण-संथुयं थिमियं,
विबुहाहिव-धणवइ-नरवइ-थुय-महियच्चिअं बहुसो ।
अइरुग्गय-सरय-दिवायर-समहिय-सप्पभं तवसा,
गयणंगण-वियरण-समुइय-चारण-वंदियं सिरसा ॥ १९ ॥

—किसलयमाला ॥

असुर-गरुल-परिवंदियं, किन्नरोरग-नमंसियं ।
देव-कोडि-सय-संथुयं, समण-संघ-परिवंदियं ॥ २० ॥

—सुमुहं॥

अभयं अणहं, अरयं अरुयं ।
अजियं अजियं, पयओ पणमे ॥ २१ ॥

—विज्जुविलसियं ॥

शब्दार्थ—

विणओणय-सर-रइअंजलि-रिसगण-संथुयं-भक्तिसे नमे हुए मस्तकपर दोनों हाथ जोड़े हुए ऐसे ऋषियोंके समूहसे अच्छी प्रकार स्तुति किये गये।

विणय-भक्ति। ओणय-नमा हुआ रइअंजलि-दोनों हाथ जोड़े हुए। रिसि-ऋषि। गण-समूह। संथुय-स्तुति किये गये।

थिमियं-स्थिर, निश्चलता-पूर्वक।

विबुहाहिव-धणवइ-नरवइ-थुय-महियच्चियं--इन्द्र, कुबेरादि लोकपालदेवों और चक्रवर्तियोंद्वारा स्तुत, वन्दित और पूजित।

विबुहाहिव-इन्द्र। धणवइ-कुबेर। नरवइ-चक्रवर्ती। थुय-स्तुत, स्तुति किये गये। महियच्चिय-वन्दित ओर पूजित।

बहुसो-अनेकवार।

अइरुग्गय-सरय-दिवायर-समहिय-सप्पभं-तत्काल उदित हुए शरद्ऋतुके सूर्यसे बहुत अधिक कान्तिवाले।

अइर-अचिर, तत्काल। उग्गय-उदित हुआ। सरय-शरद् ऋतु। दिवायर-सूर्य। समहिय-बहुत अधिक। सप्पभ-प्रभाववाला, कान्तिवाला।

तवसा-तपसे।

गयणंगण-वियरण-समुइय-चारण-वंदियं-आकाशमें विचरण करते करते एकत्रित हुए-चारणमुनियोंसे वन्दित। गयणंगण-आकाश। वियरण-विचरण करते हुए। समुइय-एकत्रित। चारण-चारणमुनि। वंदिय-वन्दित।

सिरसा-मस्तकसे।

असुर-गरुल-परिवंदियं--असुरकुमार, सुवर्णकुमार आदि भवनपति देवताओंसे उत्कृष्ट प्रणाम किये हुये।

असुर-असुरकुमार। गरुल-सुपर्णकुमार। परिवंदिय-उत्कृष्ट प्रणाम किये हुए।

किन्नरोरग-नमंसियं-किन्नर और महोरग आदि व्यंतरदेवोंसे पूजित।

किन्नर-व्यन्तर जातिके एक प्रकारके देव। उरग-महोरग। ये भी एक प्रकारके व्यन्तरदेव ही हैं। नमंसिय-नमस्कार किये हुए, पूजित।

देव-कोडि-सय-संथुयं--शतकोटि (एक अरब) देवोंद्वारा अच्छी प्रकार स्तुति किये हुए।

देव-वैमानिक देव। कोडि-करोड़। सय--सौ। संथुय-स्तुति किये हुए।

समण-संघ-परिवंदियं--श्रमण-प्रधान चतुर्विध सङ्घसे विधिपूर्वक वन्दित।

समण-श्रमण।

अभयं-भय-रहित।

अणहं-पाप रहित।

अरयं-कर्म-रहित।

अरुयं-रोग-रहित।

अजियं–किसीसे पराजित नहीं होनेवाले।	**पयओ**–मन, वचन और कायाके प्रणिधान पूर्वक।
अजियं–श्रीअजितनाथको।	**पणमे**–प्रणाम करता हूँ।

अर्थ-सङ्कलना—

निश्चलता–पूर्वक भक्तिसे नमे हुए तथा मस्तकपर दोनों हाथ जोड़े हुए ऐसे ऋषियोके समूहसे अच्छी तरह स्तुति किये गये; इन्द्र-कुबेरादि लोकपालदेव और चक्रवर्तियोंसे अनेक बार स्तुत, वन्दित और पूजित; तपसे तत्काल उदित हुए शरदृऋतुके सूर्यसे भी अत्यधिक कान्तिवाले;—आकाशमें विचरण करते करते एकत्रित हुए चारणमुनियोसे मस्तकद्वारा वन्दित, असुरकुमार, सुपर्णकुमार आदि भवनपति देवोंद्वारा उत्कृष्ट प्रणाम किये हुए, किन्नर और महोरग आदि व्यन्तर देवोंसे पूजित; शत–कोटि (एक अरब) वैमानिक देवोंसे स्तुति किये हुए, श्रमण–प्रधान चतुर्विध सङ्घद्वारा विधि–पूर्वक वन्दित, भय–रहित, पाप–रहित, कर्म–रहित, रोग–रहित और किसीसे भी पराजित नहीं होनेवाले देवाधिदेव श्रीअजितनाथको मैं मन, वचन और कायाके प्रणिधानपूर्वक प्रणाम करता हूँ ॥ १९–२०–२१ ॥

मूल—

(दूसरे विशेषकद्वारा श्रीशान्तिनाथकी स्तुति)

आगया वर–विमाण–दिव्व–कणग–रह–तुरय–पहकर–
सएहिं–हुलियं,
ससंभमोयरण–खुभिय–लुलिय–चल–कुंडलंगय–तिरीड–
सोहंत–मउलि–माला ॥ २२ ॥
—वेड्ढो (वेढो)

जं सुर-संघा सासुर-संघा वेर-विउत्ता भत्ति-सुजुत्ता,
आयर-भूसिय-संभम-पिंडिय-सुट्ठु-सुविम्हिय-सव्व-बलोघा।
उत्तम-कंचण-रयण-परूविय-भासुर-भूसण-भासुरियंगा,
गाय-समोणय-भत्ति-वसागय-पंजलि-पेसिय-
सीस-पणामा ॥ २३ ॥
—रयणमाला ॥-

वंदिऊण थोऊण तो जिणं, तिगुणमेव य पुणो पयाहिणं।
पणमिऊण य जिणं सुरासुरा, पमुइया सभवणाइं तो गया ॥
[२४]×
—खित्तयं ॥

तं महामुणिमहं पि पंजली, राग-दोस-भय-मोह-वज्जियं।
देव-दाणव-नरिंद-वंदियं, संतिमुत्तमं महातवं नमे ॥२४॥ [२५]
—खित्तयं ॥

शब्दार्थ—

आगया—आये हुए।
वर-विमाण-दिव्व-कणग-रह-तुरय-पहकर-सएहिं-सैकड़ों श्रेष्ठ विमान, सैकड़ों दिव्य मनोहर सुवर्णमय रथ और सैकड़ों घोड़ोंके समूहमे। वर-श्रेष्ठ। विमाण-विमान। दिव्व-दिव्य। कणग-सुवर्ण। रह रथ। तुरय-घोड़ा। पहकर-समूह। सअ-सैकड़ों।
हुलियं-शीघ्र।
ससंभमोयरण-खुभिय-लुलिय चल-कुंडलंगय-तिरीड-सोहंत-मउलि-माला-वेग-

× [ ] कोष्ठकमें प्रदर्शित क्रमाङ्क गाथाके प्रचलित-क्रमका सूचन करते हैं।

पूर्वक नीचे उतरनेके कारण क्षोभको प्राप्त हुए, डोलते और चञ्चल ऐसे कुण्डल, भुजबंध, मुकुट तथा मस्तकपर सुन्दर मालाएँ धारण करनेवाले। ससंभम–वेग-पूर्वक। ओयरण–नीचे उतरनेकी क्रिया। खुभिय–क्षोभको प्राप्त। लुलिय-डोलते हुए। चल-चञ्चल। कुंडलंगय-कुण्डल-अङ्गद, कुण्डल–कानमें पहनेके आभूषण। अङ्गद–भुजबन्ध। तिरिड–मुकुट। सोहंत-शोभित, सुन्दर। मउलि–मस्तक। माला–माला।

जं–जो।

सुर-संघा–सुरोंके सङ्घ।

सासुर-संघा–असुरोंके सङ्घ सहित।

वेर-विउता–वैरवृत्तिसे मुक्त। वैर–वैमनस्य, वैर। विउत्त–मुक्त।

भत्ति-सुजुत्ता–पूर्ण भक्तिसे युक्त, पूर्ण भक्तिवाले।

आयर-भूसिय-संभम-पिंडिय-सुट्ठु-सुविम्हिय-सव्व-बलोघा–सम्मानकी भावनासे युक्त, शीघ्रतासे एकत्रित हुए, अत्यन्त आश्चर्यन्वित और सकल परिवारसे युक्त।

आयर–आदर, सम्मानकी भावना। भूसिय–अलङ्कृत, युक्त, संभम–शीघ्रतापूर्वक। पिंडिय–एकत्रित। सुट्ठु–अच्छी तरह अत्यन्त। सुविम्हिय–आश्चर्यान्वित। सव्व–सर्व, सकल। बल–सैन्य, परिवार। ओघ–समूह।

उत्तम-कंचण-रयण-परूविय-भासुर-भूसण-भासुरि-यंगा–उत्तम जातिके सुवर्ण और रत्नोंसे बने हुए तेजस्वी अलङ्कारोंसे देदीप्यमान अङ्गवाले। कंचण–सुवर्ण। रयण–रत्न। परूविय–बने हुए। भासुर–तेजस्वी। भूसण–अलङ्कार। भासुरियंगा–देदीप्यमान अङ्ग।

गाय-समोणय-भत्ति-वसागय-पंजलि-पेसिय-सीस-पणामा–शरीरद्वारा सम्यग् प्रकारसे नमे हुए, भक्तिके वशीभूत होकर आये हुए तथा अञ्जलिपूर्वक मस्तकसे नमस्कार करते हुए।

गाय–गात्र, शरीर। समोणय–अच्छी तरह नमे हुए। भत्ति–भक्ति। वस–काबू, वश। आगय

आये हुए। पंजलि-अञ्जलि-पूर्वक। पेसिय-किया हुआ। सीस-मस्तक। पणाम-प्रणाम, नमस्कार।
वंदिऊण-वन्दन करके।
थोऊण-स्तुति करके।
तो-बादमें।
जिणं-जिनको।
तिगुणमेव-वस्तुतः तीनवार।
य-और।
पुणो-पुनः।
पयाहिणं-प्रदक्षिणा देकर।
पणमिऊण-प्रणाम करके।
य-और।
जिणं-जिनको।
सुरासुरा-सुर और असुर।
पमुइया-प्रमुदित, हर्षित होकर।
सभवणाई-अपने स्थानको।
तो-तदनन्तर।
गया-गये।
तं-उन।
महामुणिं-महामुनिको।
अहं पि-मैं भी।
पंजलि-अञ्जलि-पूर्वक।
राग-दोस-भय-मोह-वज्जियं-राग, द्वेष, भय और मोहसे रहित।
देव-दाणव-नरिंद-वंदियं-देवेन्द्र, दानवेन्द्र और नरेन्द्रोंसे वन्दित। दाणव-दानव। नरिंद-नरेन्द्र। वंदनीय-वन्दित।
संतिं-श्रीशान्तिनाथको।
उत्तमं-उत्तम, श्रेष्ठ।
महातवं-महान तपस्वीको।
नमे-नमस्कार।

अर्थ-सङ्कलना—

सैंकड़ों श्रेष्ठ विमान, सैंकड़ों, दिव्य-मनोहर सुवर्णमय रथ और सैंकड़ों घोड़ोंके समूहसे जो शीघ्र आये हुए हैं और वेग-पूर्वक नीचे उतरनेके कारण जिनके कानके कुण्डल, भुजबन्ध और मुकुट क्षोभको प्राप्त होकर डोल रहे हैं और चञ्चल बने हैं; तथा जो (परस्पर) वैर-वृत्तिसे मुक्त और पूर्ण भक्तिवाले हैं; जो शीघ्रतासे एकत्रित हुए हैं और बहुत आश्चर्यान्वित हैं तथा सकल-सैन्य परिवारसे युक्त हैं, जिनके अङ्ग उत्तम जातिके सुवर्ण और रत्नोंसे बने हुए तेजस्वी

अलङ्कारोंसे देदीप्यमान हैं; जिनके गात्र भक्तिभावसे नमे हुए हैं तथा दोनों हाथ मस्तकपर जोड़कर अञ्जलि-पूर्वक प्रणाम कर रहे हैं ऐसे सुर और असुरोंके सङ्घ जो जिनेश्वर प्रभुको वन्दन करके, स्तुति करके, वस्तुतः तीन बार प्रदक्षिणा-पूर्वक नमनकार अत्यन्त हर्षपूर्वक अपने भवनोंमें वापस लौटते हैं, उन राग, द्वेष, भय और मोहसे रहित और देवेन्द्र, दानवेन्द्र एवं नरेन्द्रोंसे वन्दित श्रेष्ठ महान् तपस्वी और महामुनि श्रीशान्तिनाथ भगवान्को मैं भी अञ्जलिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ॥ २२-२३-२४ ॥

मूल—

(कलापकद्वारा श्रीअजितनाथकी स्तुति)

अंबरंतर-विआरणिआहिं,
ललिय-हंस-वहु-गामिणिआहिं ।
पीण-सोणि-थण-सालिणिआहिं,
सकल-कमल-दल-लोअणिआहिं ॥ २५ ॥ [२६]

—दीवयं ॥

पीण-निरंतर-थणभर-विणमिय-गाय-लयाहिं,
मणि-कंचण-पसिढिल-मेहल-सोहिय-सोणि-तडाहिं ।
वर-खिंखिणि-नेउर-सतिलय-वलय-विभूसणिआहिं,
रइकर-चउर-मणोहर-सुंदर-दंसणिआहिं, ॥ २६ ॥ [२७]

—चित्तक्खरा ॥

देव–सुंदरीहिँ पाय–वंदिआहिँ वंदिया य जस्स ते
सुविक्कमा कमा,

अ प्पणो निडालएहिँ मंडणोड्डण–प्पगारएहिँ
केहिँ केहिँ वि ?

अवंग–तिलय–पत्तलेह–नामएहिँ चिल्लएहिँ संगयंगयाहिँ,

भत्ति–संनिविट्ठ–वंदणागयाहि हुंति ते (य) वंदिया
पुणो पुणो ॥ २७ ॥ [२८]

--नारायओ (२) ॥

तमहं जिणचंदं, अजियं जिय–मोहं ।
धुय–सव्व–किलेसं, पयओ पणमामि ॥ २८ ॥ [२९]

--नंदिययं ॥

शब्दार्थ—

अंबरंतर- विआरणिआहिँ-आकाशके मध्यमें विचरण करनेवाली ।

अंबर-आकाश । अंतर-मध्यभाग । विआरणिआ-विचरण करनेवाली ।

ललिय-हंस-वहु-गामिणि-आहिँ-मनोहर हंसीकी तरह सुन्दर गतिसे चलनेवाली ।

ललिय–मनोहर । हंस–वहु–हंसी । गामिणिआ–चलनेवाली ।

पीण–सोणि- थण- सालिणि—आहिँ-पुष्ट नितम्ब और भरावदार स्तनोंमे शोभित ।

पीण–भरावदार, पुष्ट । सोणि–नितम्ब, कटिके नीचेका भाग । थण–स्तन । सालिणिआ–शोभित ।

सकल- कमल- दल- लोअणि-आहिँ–कलमय विकसित कमल-पत्रके समान नयनोंवाली ।

सकल-कलासे युक्त, विकसित। कमल-दल-कमलपत्र। लोअणिआ -नयनोंवाली।

पीण-निरंतर-थणभर-विणमिय -गाय-लयाहिं-पुष्ट और अंतर-रहित स्तनोंके भारसे अधिक झुकी हुई गात्र लतावाली।

पीण-पुष्ट। निरतर-अन्तर-रहित। थण-स्तन। भार-भार। विणमिअ-अधिक झुकी हुई। गाय-लया-गात्रलता।

मणि-कंचण-पसिढिल-मेहल-सोहिय-सोणि-तडाहिं- रत्न और सुवर्णकी झूलती हुई मेखला-ओंमे शोभायमान नितम्ब प्रदेशवाली।

मणि-रत्न। कंचण-सुवर्ण। पसिढिल-झूलती हुई। मेहल-मेखला, कटिका आभूषण। सोहिय -शोभायमान। सोणि-तड-नितम्ब-प्रदेश।

वर-खिंखिणि-नेउर-सतिलय-वलय-विभूसणि-आहिं - उत्तम प्रकारकी घूघरियोंवाले नूपुर और टिपकियोंवाले कङ्कण आदि अनेक प्रकारके आभूषणोंको धारण करनेवाली।

वर-श्रेष्ठ, उत्तम। खिंखिणि-किङ्किणी, घूघरियाँ। नेउर-नूपुर। सतिलय-बिन्दी अथवा टिपकीयों-वाले। वलय-कङ्कण। विभूसणिआ-अनेक प्रकारके आभूणोंको धारण करनेवाली।

रइकर-चउर-मणोहर-सुंदर-दंसणिआहिं-प्रीति उत्पन्न करने-वाली, चतुरोंके मनको हरण करनेवाली, और सुन्दर दर्शनवाली।

रईकर-प्रीतिकर। चउर-चतुर। मणोहर-मनोहर। दंसणिआ-दर्शनवाली।

देव-सुंदरीहिं-देवाङ्गनाओंसे।

पाय-वंदियाहिं-चरणोंको नमन करनेके लिये तत्पर।

वंदिया-वन्दित हैं।

य-और।

जस्स-जिनका।

ते-वे।

सुविक्कमा-बहुत पराक्रमवाले, सम्यग् पराक्रमवाले।

कमा-चरण, दोनों चरण।

अप्पणो-अपने।

निडालएहिं-ललाटोंसे।

मंडणोड्डुण-प्पगारएहिं-शृङ्गारके बड़े प्रकारोंसे।

मंडण–शृंगार । उक्कुण–बड़ा । पगारअ–प्रकार ।

केहिं–केहिं वि–किन्हीं, किन्हीं, विविध ।

अवंग-तिलय-पत्तलेह-नामएहिं –अपाङ्ग–तिलक और पत्रलेखा नामक, आँखोंमें कज्जल, ललाट-पर तिलक और स्तनमण्डलपर पत्रलेखा ।

अवंग–नेत्रका अन्तिम भाग । तिलय–चन्दन आदि पदार्थोंद्वारा ललाटपर किया जानेवाला एक प्रकारका चिह्न, टीका, बिन्दी आदि । पत्तलेह–कपोल तथा स्तनमण्डलपर कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थोंसे बनायी जाने-वाली आकृतियाँ । नामअ–नामवली ।

चिल्लएहिं–देदीप्यमान ।

संगयंगयाहिं–प्रमाणोपेत अङ्गवाली अथवा नाट्य करनेके लिये सज्जित ।

संगय-सुन्दर, प्रमाणोपेत । अंगया-अङ्गवाली ।

भत्ति-संनिविट्ठ-वंदणागयाहिं– भक्तिपूर्वक वन्दन करनेके लिये आयी हुई ।

भत्ति–भक्ति । संनिविट्ठ–व्याप्त, पूर्ण । वंदण–वन्दन । आगया–आयी हुई ।

हुंति–होते हैं ।

ते–उन दोनों ।

(**य**–और ।)

वंदिया–वन्दित ।

पुणो पुणो–बार–बार ।

तं–उनको ।

अहं–मैं ।

जिणचन्दं-जिनचन्द्रको, जिनेश्वरको ।

अजिअं–श्रीअजितनाथको ।

जियमोहं–जिन्होंने मोहको जीत लिया है उनको, मोहको सर्वथा जीतनेवालेको ।

धुय-सव्व-किलेसं–सर्व क्लेशोंका नाश करनेवालेको ।

पयओ–प्रणिधानपूर्वक ।

पणमामि–नमस्कार करता हूँ ।

अर्थ-सङ्कलना—

आकाशमें विचरण करनेवाली, मनोहर हंसी जैसी सुन्दर गतिसे

चलनेवाली, पुष्ट नितम्ब और भरावदार स्तनोंसे शोभित, कलायुक्त–विकसित कमलपत्रके समान नयनोंवाली, पृष्ट और अन्तर–रहित स्तनोंके भारसे अधिक झुकी हुई गात्रलताओंवाली, रत्न और सुवर्णकी झूलती हुई मेखलाओंसे शोभायमान नितम्ब–प्रदेशवाली, उत्तम प्रकारकी घूघरीवाले नूपुर और टिपकीवाले कङ्कण आदि विविध आभूषण धारण करनेवाली, प्रीति उत्पन्न करनेवाली, चतुरोंके मनका हरण करनेवाली; सुन्दर दर्शनवाली, जिन–चरणोंको नमन करनेके लिये तत्पर, आँखमें कज्जल, ललाटपर तिलक और स्तन–मण्डलपर पत्रलेखा ऐसे विविध प्रकारके बड़े आभूषणोंवाली, देदीप्यमान, प्रमाणोपेत अङ्गवाली अथवा विविध नाट्य करनेके लिये सज्जित तथा भक्ति-पूर्ण वन्दन करनेको आयी हुई देवाङ्गनाओंने अपने ललाटोंसे जिनके सम्यक् पराक्रमवाले चरणोंको वन्दन किया है तथा बार–बार वन्दन किया है, ऐसे मोहको सर्वथा जीतनेवाले, सर्व क्लेशोंको नाश करनेवाले जिनेश्वर श्रीअजितनाथको मन, वचन और कायाके प्रणिधान–पूर्वक मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २५–२६–२७–२८ ॥

मूल—

(दूसरे कलापकद्वारा श्रीअजितनाथकी स्तुति)

थुय–वंदियस्सा, रिसि–गण–देव–गणेहिं ।
तो देव–वहुहिं, पयओ–पणमियअस्सा ॥ २९ ॥

—मागलिका ॥

जस्स-जगुत्तम-सासण-अस्सा,
भत्ति-वस'गय-पिंडियआहिं ।
देव-वरच्छरसा-बहुआहिं,
सुर-वर-रइगुण-पंडियआहिं ॥ ३० ॥ [३०]

—भासुरयं ॥

वंस-सद्द-तंति-ताल-मेलिए तिउक्खरामिराम-सद्द-मीसए-
कए [अ] सुइ-समाणणे अ सुद्ध-सज्ज-गीय-पाय-
जाल-घंटिआहिं ।
वलय-मेहला-कलाव-नेउराभिराम-सद्द-मीसए कए अ,
देव-नट्टिआहिं हाव-भाव-विब्भम-प्पगारएहिं
नच्चिउण अंगहारएहिं ॥ ३१ ॥

(—नारायओ (३) ॥)

वंदिया य जस्स ते सुविक्कमा कमा,
तयं तिलोय-सव्व-[सत्त]-संतिकारयं ।
पसंत-सव्व-पाव-दोसमेस हं,
नमामि संतिमुत्तमं जिणं ॥ ३२ ॥ [३१]

—(अद्ध) नारायओ (४) ॥

शब्दार्थ—

थुय-वंदियस्सा-स्तुत और वन्दित।
रिसि-गण-देव-गणेहिं- ऋषि और देवताओंके समूहसे।
रिसि-गण-ऋषियोंका समूह
देवगण-देवताओंका समूह।
तो-बादमें।

देव-वहुहिं-देवाङ्गनाओंसे ।
पयओ-प्रणिधानपूर्वक ।
पणमियअस्सा-प्रणाम किये जाते हैं ।
जस्स-जगुत्तम-सासणअस्सा-जिनका मुक्ति देने योग्य और जगत्में उत्तम शासन करनेवाले ।
जस्स-जिनका । जगुत्तम-जगत्में उत्तम । सासण-शासन ।
भत्ति-वसागय-पिंडियआहिं-भक्तिवश एकत्र हुई ।
भत्ति-भक्ति । वसागय-वशीभूत होकर आयी हुई । पिंडियआ-एकत्र हुई ।
देव-वरच्छरसा-बहुआहिं-स्वर्गकी अनेक सुन्दरियाँ ।
देव-विमानवासी देव । वरच्छरसा-श्रेष्ठ अप्सराएँ, स्वर्गकी सुन्दरियाँ ।
सुर-वर-रइगुण-पंडियआहिं-देवोंको उत्तम प्रकारकी प्रीति उत्पन्न करनेमें कुशल ।
रइ-प्रीति । पंडियआ-कुशल ।
वंस-सद्द-तंति-ताल-मेलिए-वंशी आदिके शब्दमें वीणा और ताल आदिके स्वरको मिलाती हुई ।
वंस-वंशी । सद्द-शब्द । तंति-वीणा । मेलिअ-मिलाना ।

तिउक्खराभिराम-सद्द-मीसए-कए-आनद्ध वाद्योंके नादका मिश्रण करती ।
तिउक्खर-मृदङ्ग, पणव और दर्दुरक नामके चमड़ेके मढ़े हुए वाद्य । अभिराम-प्रिय । सद्द-शब्द । मीसअ-कअ-मिश्रण करना ।
[अ-और ।]
सुइ-समाणणे अ-और श्रुतियोंको समान करती हुई ।
सुइ-स्वरका सूक्ष्म भेद । समाणण-सममें लानेकी क्रिया ।
सुद्ध-सज्ज-गीय-पाय-जाल-घंटिआहिं-दोष-रहित प्रकृष्ट गुणवाले गीत गाती तथा पादजाल-पायजेबकी घूघरियाँ बजाती ।
सुद्ध-दोष-रहित । सज्ज-प्रकृष्ट गुणवाला । गीय-गीत । पाय-जाल-पायजेब, पाँवका एक प्रकारका आभूषण । घंटिआ-घूघरियाँ ।
वलय-मेहला-कलाव-नेउराभिराम-सद्द-मीसए कए-कङ्कण मेखला, कलाप और झाँझरके मनोहर शब्दोंका मिश्रण करती ।
वलय-कङ्कण । मेहला-मेखला । कलाव-कलाप । नेउर-नूपुर,

झांझर । अभिराम–मनोहर ।
सद्–शब्द । मीसए कए–मिश्रण करती ।
अ–और ।
देव-नट्टिआहिं–देवनर्तिकाओंसे । देवलोकमें नृत्य–नाट्य आदिका कार्य करनेवाली देवनर्तिका कहलाती है ।
हाव-भाव-विब्भम-प्पगारएहिं–हाव, भाव और विभ्रमके प्रकारोंसे ।
हाव–मुखसे की जानेवाली चेष्टा ।
भाव–मानसिक भावोंसे दिखायी जानेवाली चेष्टा ।
विब्भम–नेत्रके प्रान्तभागसे दिखाया जानेवाला विकार विशेष ।
नच्चिऊण अंगहारएहिं–अंगहारोंसे नृत्य करके ।
नच्चिउण–नृत्य करके । अंगहारअ–अङ्गहार । शरीरके अङ्गोपाङ्गोंसे विविध अभिनय करनेको अङ्गहार कहते हैं ।
वंदिया–वन्दित ।
य–और ।
जस्स–जिनके ।
ते–वे (दोनों) ।
सुविक्कमा कमा–उत्तम पराक्रमशाली चरण ।
तयं–उन ।
तिलोय-सव्व-(सत्त)-संतिकारयं–तीनों लोकके सर्व प्राणियोंको शान्ति करनेवाले ।
पसंत-सव्व-पाव-दोसं–जो सर्व पाप और दोषों–रोगोंसे रहित हैं ।
पसंत–प्रशान्त, रहित । दोस–दोष, रोग ।
एस हं–यह मैं ।
नमामि–नमन करता हूँ । नमस्कार करता हूँ ।
संतिं–श्रीशान्तिनाथको ।
उत्तमं–उत्तम !
जिणं–जिन भगवान् ।

शब्दार्थ—

देवोंका उत्तम प्रकारकी प्रीति उत्पन्न करनेमें कुशल ऐसी स्वर्गकी सुन्दरियाँ भक्तिवश एकत्रित होती हैं। उनमेंसे कुछ वंशी आदि सुषिर वाद्य बजाती हैं, कुछ ताल आदि घनवाद्य बजाती हैं और कुछ नृत्य

करती जाती हैं, और पाँवमे पहने हुए पायजेबकी घूघरियोंके शब्दको कङ्कण, मेखला–कलाप और नूपुरकी ध्वनिमें मिलाती जाती हैं, उस समय जिनके मुक्ति देने योग्य, जगत्में उत्तम शासन करनेवाले तथा सुन्दर पराक्रमशाली चरण पहले ऋषि और देवताओंके समूहसे स्तुत हैं–वन्दित हैं, बादमें देवियोंद्वारा प्रणिधानपूर्वक प्रणाम किये जाते हैं और तत्पश्चात् हाव, भाव विभ्रम और अङ्गहार करती हुई देवनर्तिका-ओंसे वन्दन किये जाते हैं, ऐसे तीनों लोकके सर्व जीवोंको शान्ति करनेवाले, सर्व पाप और दोषसे रहित उत्तम जिन भगवान् श्रीशान्ति-नाथको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २९–३०–३१–३२ ॥

मूल—

(विशेषकद्वारा श्रीअजितनाथ और शान्तिनाथकी स्तुति)

छत्त–चामर–पडाग–जूअ–जव–मंडिआ,
झयवर–मगर–तुरय–सिरिवच्छ–सुलंछणा ।
दीव–समुद्द–मंदर–दिसागय–सोहिया,
सत्थिअ–वसह–सीह–रह–चक्क–वरंकिया ॥ ३३ ॥ [३२]

—ललिययं ॥

सहाव–लट्ठा सम–प्पइट्ठा, अदोस–दुट्ठा गुणेहिँ जिट्ठा ।
पसाय–सिट्ठा तवेण पुट्ठा, सिरीहिँ इट्ठा रिसीहिँ जुट्ठा
॥ ३४ ॥ [३३]

—वाणवासिआ ॥

ते तवेण धुय-सव्व-पावया, सव्वलोअ-हिय-मूल-पावया ।
संथुया अजिय-संति-पायया, हुंतु मे सिव-सुहाण-दायया ॥
३५ ॥ [३४]

—अपरांतिआ ॥

शब्दार्थ

छत्त-चामर-पडाग-जूअ-जव-मंडिआ-छत्र, चामर, पताका, स्तम्भ और जवद्वारा शोभित ।

छत्त-छत्र । चामर-चँवर । पडाग-पताका, ध्वजा । जूव-यूप, स्तम्भ विशेष । जव-यव नामक धान्यकी आकृति । मंडिअ-शोभित ।

झयवर-मगर-तुरय-सिरिवच्छ-सुलंछणा-श्रेष्ठ ध्वज, मगर (घडियाल), अश्व और श्रीवत्स-रूप सुन्दर लाञ्छनवाले ।

झयवर-श्रेष्ठ ध्वज । मगर-घड़ियाल । तुरय-अश्व । सिरिवच्छ-श्रीवत्स । सुलंछणा-सुन्दर लाञ्छनवाले ।

दीव-समुद्द-मंदर-दिसागय-सोहिया-द्वीप, समुद्र, मन्दर पर्वत और ऐरावत हाथीके लाञ्छनसे सुशोभित ।

दीव-द्वीप । समुद्द-समुद्र । मंदर-मन्दर पर्वत । दिसागय-दिशाओंके हाथी, ऐरावतादि । सोहिय-शोभित ।

सत्थिअ-वसह-सीह-रह-चक्क-वरंकिया-स्वस्तिक, बैल, सिंह, रथ और श्रेष्ठ चक्रके चिह्नवाले ।

सत्थिअ-स्वस्तिक । वसह-बैल । सीह-सिंह । रह-रथ । चक्क-चक्र । वर-श्रेष्ठ । अंकिय-चिह्नवाले ।

सहाव-लट्ठा-स्वरूपसे सुन्दर ।

सहाव-स्वरूप । लट्ठ-सुन्दर ।

सम-प्पइट्ठा-समभावमें स्थिर ।

सम-समभाव । प्पइट्ठ-स्थिर ।

अदोसा-दुट्ठा-दोष रहित ।

गुणेहिं-जिट्ठा-गुणोंसे अत्यन्त महान् ।

पसाय-सिट्ठा-कृपा करनेमें उत्तम ।

पसाय-कृपा । सिट्ठ-उत्तम ।

तवेण पुट्ठा–तपके द्वारा पुष्ट। तव–तप। पुट्ठ–पुष्ट।

सिरीहिं इट्ठा–लक्ष्मीसे पूजित।

रिसीहिं जुट्ठा–ऋषियोंसे सेवित।

ते–वे।

तवेण–तपके द्वारा।

धुय-सव्व-पावया–सर्व पापोंको दूर करनेवाले।

धुय—दूर करना।

सव्व-लोअ-हिय-मूल-पावया-–समग्र प्राणि-समूहको हितका मार्ग दिखानेवाले।

सव्व–समग्र। लोअ–प्राणी।

हिय—कल्याण, हित। मूल-पावय–प्राप्त करानेवाले, मार्ग दिखानेवाले।

संथुया–अच्छी प्रकार स्तुत।

अजिय—संति—पायया—-पूज्य—श्रीअजितनाथ और श्रीशान्तिनाथ।

हुंतु–हों।

मे–मुझे।

सिव-सुहाण–मोक्ष सुखके।

दायया–देनेवाले।

अर्थ-सङ्कलना—

जो छत्र, चँवर, पतका, स्तम्भ, यव, श्रेष्ठ ध्वज, मकर (घडियाल), अश्व, श्रीवत्स, द्वीप, समुद्र, मन्दर पर्वत और ऐरावत हाथी आदिके शुभ लक्षणोंसे शोभित हो रहे हैं, जो स्वरूपसे सुन्दर, समभावमें स्थिर, दोष-रहित, गुण–श्रेष्ठ, बहुत तप करनेवाले, लक्ष्मीसे पूजित, ऋषियोंसे सेवित, तपके द्वारा सर्व पापोंको दूर करनेवाले और समग्र प्राणि–समूहको हितका मार्ग दिखानेवाले हैं, वे अच्छी तरह स्तुत, पूज्य श्रीअजितनाथ और श्रीशान्तिनाथ मुझे मोक्षसुखके देनेवाले हों ॥ ३३--३४--३५ ॥

मूल—

(दूसरे विशेषकद्वारा उपसंहार)

एवं तव–बल–विउलं, थुयं मए अजिय–संति–जिण–जुअलं।
ववगय–कम्म–रय–मलं, गइं गयं सासयं विउलं ॥३६॥ [३५]

—गाहा ॥

त बहु-गुण-प्पसायं, मुक्ख-सुहेण परमेण अविसायं ।
नासेउ मे विसायं, कुणउ अपरिसाविअ-पसायं ॥ ३७ ॥ [३६]
—गाहा ॥

तं मोएउ अ नंदिं, पावेउ अ नंदिसेणमभिनंदिं ।
परिसा वि अ सुहनंदिं, मम य दिसउ संजमे नंदिं ॥३८॥ [३७]
—गाहा ॥

शब्दार्थ—

एवं-इस प्रकार ।
तव-बल-विउलं-तपोबलसे महान् ।
थुयं-स्तुत ।
मए-मेरेद्वारा ।
अजिय-संति-जिण-जुअलं—श्रीअजितनाथ और श्रीशान्तिनाथका युगल ।
ववगय-कम्म-रय-मलं-कर्मरूपी रज और मलसे रहित । ववगय-रहित । कम्म-कर्म । रज-रज । मल-मल ।
गइं-गयं-गतिको प्राप्त ।
सासयं-शाश्वत ।
विउलं-विशाल ।
तं-उन ।
बहु-गुण-प्पसायं-अनेक गुणोंसे युक्त ।
मुक्ख-सुहेण-मोक्षसुखसे ।
परमेण-परम ।
अविसायं-क्लेश रहित ।
नासेउ-नष्ट करो ।
मे-मेरे ।
विसायं-क्लेशको ।
कुणउ-करो ।
अपरिसाविअ-पसायं - कर्मक आसव दूर करनेवाला प्रसाद ।
तं-वह (युगल) ।
मोएउ-हर्षप्रदान करे ।
अ-और ।
नंदिं-नन्दिको, सङ्गीतविशारदोंको ।
पावेउ-प्राप्त कराये ।
नंदिसेणं-नन्दिषेणको ।
अभिनंदिं-अति आनन्द ।
परिसा वि-परिषद्को भी ।
अ-और ।
सुह-नंदिं-सुख और समृद्धि ।
मम-मुझे ।
य-और ।
दिसउ-प्रदान करो ।
संजमे-संयममें ।
नंदिं-वृद्धि ।

अर्थ-सङ्कलना—

तपोबलसे महान्, कर्मरूपी रज और मलसे रहित, शाश्वत और पवित्र गतिको प्राप्त श्रीअजितनाथ और श्रीशान्तिनाथके युगलकी मैंने इस प्रकार स्तुति की; अतः अनेक गुणोंसे युक्त और परम-मोक्ष-सुखके कारण सकल क्लेशोंसे रहित (श्रीअजितनाथ और श्रीशान्तिनाथका युगल) मेरे विषादका नाश करे, और यह युगल इस स्तोत्रका अच्छी तरह पाठ करनेवालोंको हर्ष प्रदान करे, इस स्तोत्रके रचियता श्रीनन्दिषेणको अति आनन्द प्राप्त कराये और इसके सुननेवालोंको भी सुख तथा समृद्धि देवे; तथा अन्तिम अभिलाषा यह है कि मेरे (नन्दिषेणके) संयममें वृद्धि करे ॥ ३६-३७-३८ ॥

मूल—

(स्तवकी महिमा दिखलानेवाली अन्यकृत गाथाएँ)

[गाहा]

पक्खिअ-चाउम्मासिअ-संवच्छरिए अवस्स-भणियव्वो।
सोअव्वो सव्वेहिं, उवसग्ग-निवारणो एसो ॥ ३९ ॥ [३८]

शब्दार्थ—

पक्खिअ—चाउम्मासिअ—संवच्छरिए—पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमणमें।

पक्खिय-पाक्षिक। चाउम्मासिअ-चातुर्मासिक। संवच्छरिअ-सांवत्सरिक।

अवस्स-अवश्य।

भणियव्वो-पढ़ना चाहिये।

सोअव्वो-सुनना चाहिए।

सव्वेहिं-सबको।

उवसग्ग-निवारणो—उपसर्गका निवारण करनेवाला।

एसो-यह।

अर्थ-सङ्कलना—

उपसर्गका निवारण करनेवाला यह (अजित-शान्ति-स्तव) पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमणमें अवश्य पढ़ना और सबको सुनना चाहिये ॥ ३९ ॥

मूल—

जो पढइ जो अ निसुणइ, उभओ कालं पि अजिय-संति-थयं।
न हु हुंति तस्स रोगा, पुव्वुप्पन्ना वि नासंति ॥ ४० ॥ [३९]

शब्दार्थ—

जो–जो।
पढइ–पढ़ता है।
जो–जो।
अ–और।
निसुणइ–नित्य सुनता है।
उभओ कालं पि–प्रातःकाल और सायङ्काल।
अजिय-संति-थयं—अजित-शान्ति-स्तवको।
न हु हुंति–होते ही नहीं।
तस्स–उसको।
रोगा–रोग।
पुव्वप्पना–पूर्वोत्पन्न।
वि–भी।
नासंति–नष्ट होते हैं।

अर्थ-सङ्कलना—

"यह अजित-शान्ति-स्तव" जो मनुष्य प्रातःकाल और सायङ्काल पढ़ता है अथवा दूसरोंके मुखसे नित्य सुनता है, उसको रोग होते ही नहीं और पूर्वोत्पन्न हों, वे भी नष्ट हो जाते हैं ॥४०॥

मूल—

जइ इच्छह परम–पयं, अहवा कित्तिं सुवित्थडं भुवणे।
तो तेलक्कुद्धरणे, जिण–वयणे आयरं कुणह ॥ ४१ ॥ [४०]

शब्दार्थ—

जइ–यदि।	**भुवणे**–जगत् में।
इच्छह–तुम चाहते हो।	**तो**–तो।
परम–पयं–परम–पदको।	**तेलुक्कुद्धरणे**–तीनों लोकका उद्धार करनेवाले।
अहवा–अथवा।	**जिण–वयणे**–जिन–वचनके प्रति
कित्तिं–कीर्तिको।	**आयरं**–आदर।
सुवित्थडं–अत्यन्त विशाल।	**कुणह**–करो।

अर्थ-सङ्कलना—

यदि परम पदको चाहते हो अथवा इस जगत्में अत्यन्त विशाल कीर्तिको प्राप्त करना चाहते हो तो तीनों लोकका उद्धार करनेवाले जिन–वचन के प्रति आदर करो ॥ ४१ ॥

सूत्र-परिचय—

स्वसमय और परसमयके जानकार, मन्त्र और विद्याका परिपूर्ण रहस्य पहचाननेवाले, अध्यात्म रसका उत्कृष्ट पान करनेवाले और काव्यकलामें अत्यन्त कुशल ऐसे त्यागी-विरागी महर्षि नन्दिषेण एक समय श्रीशत्रुञ्जय गिरिराजकी यात्राके लिये पधारे थे। और वहाँके गगनचुम्बी भव्य जिन-प्रसादोंमें स्थित जिनप्रतिमाओंके दर्शन कर कृतकृत्य हुए। तदन्तर वे एक ऐसे रमणीय स्थानमें आये कि जहाँ द्वितीय तीर्थङ्कर श्रीअजितनाथ और सोलहवें तीर्थङ्कर श्रीशान्तिनाथके मनोहर चैत्य विराजित थे। वहाँ इन दोनों तीर्थङ्करोंकी साथ स्तुति करनेसे अजित-शान्ति-स्तवकी रचना हुई।

इस स्तवका गुम्फन संवादी है, वह अधोदर्शित तालिकासे समझ सकेंगे:-

गाथा	१ से ३		मङ्गलादि।
,,	४ से ६	विशेषक	श्रीअजित-शान्ति-संयुक्त स्तुति।
,,	७ वीं	मुक्तक	श्रीअजितनाथकी स्तुति।
,,	८ वीं	मुक्तक	श्रीशान्तिनाथकी स्तुति।
,,	९-१०	सन्दानितक	श्रीअजितनाथकी स्तुति।
,,	११-१२	,,	श्रीशान्तिनाथकी स्तुति।
,,	१३ वीं	मुक्तक	श्रीअजितनाथकी स्तुति।
,,	१४ वीं	,,	श्रीशान्तिनाथकी स्तुति।
,,	१५-१६	सन्दानितक	श्रीअजितनाथकी स्तुति।
,,	१७-१८	,,	श्रीशान्तिनाथकी स्तुति।
,,	१९-२०-२१	विशेषक	श्रीअजितनाथकी स्तुति।
,,	२२-२३-२४	,,	श्रीशान्तिनाथकी स्तुति।
,,	२५ से २८	कलापक	श्रीअजितनाथकी स्तुति।
,,	२९ से ३२	,,	श्रीशान्तिनाथकी स्तुति।
,,	३३-३४-३५	विशेषक	श्रीअजित-शान्ति-संयुक्तस्तुति।
,,	३६-३७-३८	,,	उपसंहार।
[,,	३९-४०-४१	गाथा	अन्यकृत]

इस स्तवनमें नीचे लिखे अनुसार २८ छन्द+ प्रयुक्त हुए हैं:—

१ गाहा (गाथा-आर्या) १, २, ३६, ३७, ३८, ३९, ४०, ४१
२ सिलोगो (श्लोक) ३।
३ मागहिआ (मागधिका) ४, ६।
४ आलिंगणयं (आलिङ्गनकम्) ५।

+ इन छन्दोंके स्वरूपकी विशेष चर्चाके लिये देखो प्रबोधटीका भाग ३ पृष्ठ ४५४।

५ संगययं (सङ्गतकम्) ।
६ सोवाणयं (सोपानकम्) ८ ।
७ वेड्ढओ--वेढो (वेष्टकः) ९, ११, १२ ।
८ रासालुद्धओ (रासालुब्धक) १० ।
९ रासाणंदियय (रासानन्दितकम्) १२।
१० चित्तलेहा (चित्रलेखा) १३ ।
११ नारायओ १-२-३-४ (नाराचकः) १४, २७, ३१, ३२ ।
१२ कुसुमलया (कुसुमलता) १५ ।
१३ भुअगपरिरिंगियं (भुजगपरिरिङ्गितम्) १६ ।
१४ खिज्जिययं (खिद्यतकम्) १७ ।
१५ ललिययं (१) (ललितकम्) १८ ।
१६ किसलयमाला (किसलयमाला) १९ ।
१७ सुमुहं (सुमुखम्) २० ।
१८ विज्जुविलसियं (विद्युद्विलसितम्) २१ ।
१९ रणयमाला (रत्नमाला) २३ ।
२० खित्तयं (क्षिप्तकम्) २४ ।
२१ दीवयं (दीपकम्) २५ ।
२२ चित्तक्खरा (चित्राक्षरा) २६ ।
२३ नंदिययं (नन्दितकम्) २८ ।
२४ .... (माङ्गल्कि़ा) २९ ।
२५ भासुरयं (भासुरकम्) ३० ।
२६ ललियय (.) (ललितकम्) ३३ ।
२७ वाणवासिआ (वानवासिका) ३४ ।
२८ अपरांतिआ (अपरान्तिका) ३५ ।

यह स्तव भक्तिरससे परिपूर्ण है और इसको विविध राग-रागिनियोंमें गानेसे हृदयका प्रत्येक तार झनझना उठता है ।

यह स्तव पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमणके प्रसङ्गपर स्तवनके अधिकारमें बोला जाता है ।

चतुष्पट-बन्ध

सव्व-दुक्खप्प-संतीणं,
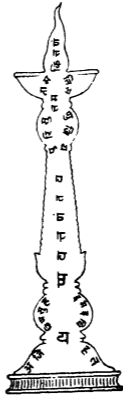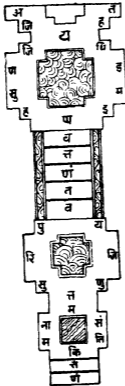
सव्व-पावप्प-संतीणं ।

सया अजिय संतीणं,

नमो अजिय-संतीणं ॥ १ ॥

[गाथा ४]

वापिका-बन्ध दीपिका-बन्ध

मंगलकलश-बन्ध

अजियजिण ! सुहप्पवत्तणं,
तव पुरिसुत्तम ! नाम-कित्तणं ।
तह य धिइ-मइ-प्पवत्तणं,
तव य जिणुत्तम ! संति ! कित्तणं ॥ ४ ॥

गुच्छ-बन्ध

सत्ते अ सया अजियं,

सारीरे अ बले अजियं ।

तव संजमे अ अजियं,

एस थुणामि जिणं अजियं ॥ १६ ॥

वृक्ष-बन्ध

सोम-गुणेहिँ पावइ न तं नव सरय-ससी

तेअ-गुणेहिँ पावइ न तं नव सरय-रवी।

रूअ-गुणेहिँ पावइ न तं तिअस-गण-वई,

सार-गुणेहिँ पावइ न तं धरणि-धर-वई ॥ १७ ॥

षड्दल-यमल-बन्ध
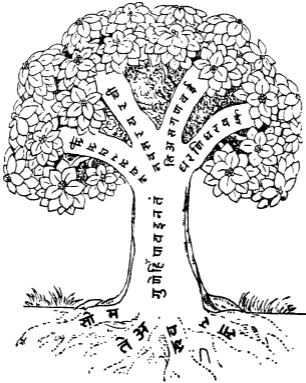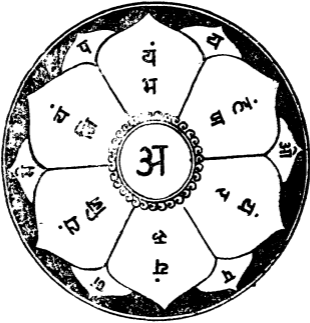
अभयं अणहं, अरयं अरुयं।
अजियं अजियं, पयओ पणमे॥ २१ ॥

वष्ट-दल-कमल-बन्ध
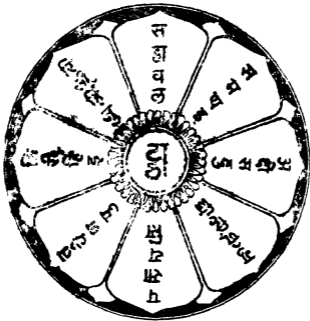
सहाव-लट्ठा सम-प्पइट्ठा, अदोस-दुट्ठा-गुणेहिँ जिट्ठा।
पसाय-सिट्ठा तवेण पुट्ठा, सिरीहिँ इट्ठा रिसीहिँ जुट्ठा ॥ ३४ ॥

५६ बृहच्छान्तिः

[बड़ी शान्ति]

मूल—

[१ मङ्गलाचरण]

[मन्दाक्रान्ता]

भो भो भव्याः ! शृणुत वचनं प्रस्तुतं सर्वमेतद्,
ये यात्रायां- त्रिभुवनगुरोरार्हता भक्तिभाजः।
तेषां शान्तिर्भवतु भवतामर्हदादि-प्रभावा-
दारोग्य-श्री-धृति-मति-करी क्लेश-विध्वंसहेतुः ॥ १ ॥

शब्दार्थ—

भोः भोः-हे ! हे !

भव्याः !-भव्यजनो !

शृणुत-सुनिये।

वचनं-वचन।

प्रस्तुतं-प्रासङ्गिक।

सर्वम्-सब।

एतद्-यह।

ये-जो।

यात्रायां-यात्रामें, रथयात्रामें।

त्रिभुवन-गुरोः-त्रिभुवनके गुरुकी, जिनेश्वरकी।

आर्हताः-श्रावक।

भक्तिभाजः-भक्तिवाले।

तेषां-उनके।

भवतु-हो, प्राप्त हो।

भवताम्-आप श्रीमानोंको।

अर्हदादि — प्रभावात् — अर्हत् आदिके प्रभावसे।

अर्हदादि-अर्हत् आदि। प्रभावात्-प्रभावसे।

आरोग्य-श्री-धृति-मति-करी-आरोग्य, लक्ष्मी, चित्तकी स्वस्थता और बुद्धिको देनेवाली।

क्लेश-विध्वंस-हेतुः-पीडाका नाश करनेमें कारणभूत।

क्लेश-पीडा। विध्वंस-नाश। हेतु कारणभूत।

अर्थ-सङ्कलना—

हे हे भव्यजनों ! आप सब मेरा यह प्रासङ्गिक वचन सुनिये जो श्री[illegible] जिनेश्वरकी रथयात्रामें भक्तिवाले हैं, उन आप श्रीमानोंको। अर्हद् [illegible]दिके प्रभावसे आरोग्य, लक्ष्मी, चित्तकी स्वस्थता और बुद्धिको देनेवाली सब क्लेश-पीडाका नाश करनेमें कारणभूत ऐसी शान्ति प्राप्त हो ॥ १ ॥

मूल—

[२ पीठिका]

भो भो भव्यलोका ! इह हि भरतैरावत-विदेह-सम्भवानां समस्त-तीर्थकृतां जन्मन्यासन-प्रकम्पानन्तरमवधिना विज्ञाय, सौधर्माधिपतिः, सुघोषा-घण्टा-चालनानन्तरं, सकल-सुरा-सुरेन्द्रैः सह समागत्य, सविनयमर्हद्-भट्टारकं गृहीत्वा, गत्वा कनकाद्रि शृङ्गे, विहित-जन्माभिषेकः शान्तिमुद्घोषयति यथा, ततोऽहं कृतानुकारमिति कृत्वा "महाजनो येन गतः स पन्थाः" इति भव्यजनैः सह समेत्य, स्नात्रपीठे स्नात्रं विधाय शान्ति-मुद्घोषयामि, तत्पूजा-यात्रा-स्नात्रादि-महोत्सवानन्तरमिति कृत्वा कर्णं दत्त्वा निशम्यतां निशम्यतां स्वाहा ॥ २ ॥

शब्दार्थ—

भोः भोः भव्यलोकाः हे !—हे ! भव्यजनों !

इह हि—इसी जगत्में, इसी ढाई द्वीपमें।

भरतैरावत-विदेह-सम्भवानां- भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्रमें प्रादुर्भूत।

समस्त-तीर्थकृतां-सर्व तीर्थङ्करोंके। समस्त-सर्व। तीर्थकृत्-तीर्थङ्कर।

जन्मनि-जन्मपर, जन्मके समयपर।

आसन-प्रकम्पानन्तरं-आसनका प्रकम्प होनेके पश्चात्, सिंहासन कम्पित होनेके पश्चात्।

अवधिना-अवधिज्ञानसे।

विज्ञाय-जानकर।

सौधर्माधिपति-:-सौधर्मेन्द्र।

सुघोषा-घण्टा-चालनानन्तरं- सुघोषा नामक घण्टा बजानेके बाद।

सुघोषा--घण्टा--सुघोषा नामक देवलोकका घण्टा। चालन-बजाना। अनन्तर-बाद।

सकल—सुरासुरेन्द्रैः सह—सब सुरेन्द्र और असुरेन्द्रोंके साथ।

समागत्य-आकर।

सविनयम्-विनयपूर्वक।

अर्हद्भट्टारकं—पूज्य अरिहन्त देवको।

गृहीत्वा-हाथमें ग्रहण करके।

गत्वा-जाकर।

कनकाद्रि - शृङ्गे - मेरु - पर्वतके शिखरपर।

विहित—जन्म—अभिषेकः— जिसने जन्माभिषेक किया है।

शान्तिम् उद्घोषयति-शान्तिकी उद्घोषणा करता है।

यथा-जैसे।

ततः-इसलिये।

अहं-मैं।

कृतानुकारमिति कृत्वा—किये हुएका अनुकरण करना ऐसा मानकर।

कृत-किया हुआ। अनुकार-अनुकरण। इति-ऐसा। कृत्वा-करके, मानकर।

'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इति-महाजन जिस मार्गसे जाय, वही मार्ग ' ऐसा मानकर।

भव्यजनैः सह-भव्यजनोंके साथ।

समेत्य-आकर।

स्नात्रपीठे-स्नात्र पीठपर।

स्नात्रं-स्नात्र।

विधाय-करके।

शान्तिम्-शान्तिकी।

उद्घोषयामि-उद्घोषणा करता हूँ।

ततः-तो।

पूजा-यात्रा-स्नात्रादि-महोत्सवानन्तरमिति कृत्वा-पूजा-महोत्सव (रथ) यात्रा-महोत्सव, स्नात्र-यात्रा महोत्सव आदिकी पूर्णाहुति करके।

कर्णं दत्त्वा-कान देकर।

निशम्यतां निशम्यतां-सुनिये सुनिये।

स्वाहा-स्वाहा।

यह पद शान्तिकर्मका पल्लव है।

अर्थ-सङ्कलना—

हे भव्यजनों! इसी ढाई द्वीपमें भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्रमें उत्पन्न सर्व तीर्थङ्करोंके जन्मके समयपर अपना आसन कम्पित होनेसे सौधर्मेन्द्र अवधिज्ञानसे (तीर्थङ्करका जन्म हुआ) जानकर, सुघोषा घण्टा बजवाकर (सूचना देते हैं, फिर) सुरेन्द्र और असुरेन्द्र साथ आकर विनय-पूर्वक श्रीअरिहन्त भगवान्को हाथमें ग्रहणकर मेरुपर्वतके शिखरपर जाकर जन्माभिषेक करनेके पश्चात् जैसे शान्तिकी उद्घोषणा करते हैं, वैसे ही मैं (भी) किये हुएका अनुकरण करना चाहिये ऐसा मानकर 'महाजन जिस मार्गसे जाय, वही मार्ग,' ऐसा मानकर भव्यजनोंके साथ आकर, स्नात्र पीठपर स्नात्र करके, शान्तिकी उद्घोषणा करता हूँ, अतः आप सब पूजा-महोत्सव, (रथ) यात्रा-महोत्सव, स्नात्र-महोत्सव आदिकी पूर्णाहुति करके कान देकर सुनिये! सुनिये! स्वाहा ॥ २ ॥

मूल—

[शान्तिपाठ]

(१) ॐ पुण्याहं पुण्याहं प्रीयन्तां प्रीयन्तां, भगवन्तोऽर्हन्तः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनस्त्रिलोकनाथास्त्रिलोकमहितास्त्रिलोकपूज्यास्त्रिलोकेश्वरास्त्रिलोकोद्योतकराः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—

ॐ—ॐकार परमतत्त्वकी विशिष्ट संज्ञा, प्रणवबीज। एक अक्षरके रूपमें यह परमतत्त्वका वाचक है और पृथक् पृथक् करें तो पञ्चपरमेष्ठिका वाचक है।×	**भगवन्त**—भगवन्त।
पुण्याहं पुण्याहं-आजका दिन पवित्र है, यह अवसर माङ्गलिक है। पुण्य—पवित्र। अहन्—दिन।	**अर्हन्त**—अरिहन्त।
प्रीयन्तां प्रीयन्तां-प्रसन्न हों, प्रसन्न हों।	**सर्वज्ञाः**—सर्वज्ञ।
	सर्वदर्शिनः—सर्वदर्शी।
	त्रिलोकनाथाः—त्रिलोकके नाथ।
	त्रिलोक-महिताः-त्रिलोकके पूजित।
	त्रिलोक-पूज्याः-त्रिलोकके पूज्य।
	त्रिलोकेश्वराः—त्रिलोकके ईश्वर।
	त्रिलोकोद्द्योतकराः — त्रिलोकमें उद्द्योत करनेवाले।

अर्थ-सङ्कलना—

ॐ आजका दिन पवित्र है, आजका अवसर माङ्गलिक है। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, त्रिलोकके नाथ; त्रिलोकसे पूजित, त्रिलोकके पूज्य, त्रिलोकके ईश्वर, त्रिलोकमें उद्द्योत करनेवाले अरिहन्त भगवन्त प्रसन्न हों, प्रसन्न हों ॥ ३ ॥

मूल—

ॐ ऋषभ—अजित—सम्भव—अभिनन्दन—सुमति—पद्मप्रभ—सुपार्श्व—चन्द्रप्रभ—सुविधि—शीतल—श्रेयांस—वासुपूज्य-विमल-अनन्त—धर्म—शान्ति—कुन्थु—अर—मल्लि—मुनिसुव्रत—नमि—नेमि-पार्श्व-वर्द्धमानान्ता जिनाः शान्ताः शान्तिकरा भवन्तु स्वाहा॥४॥

× ॐकारके विशेष विवेचनके लिये देखो **प्रबोधटीका** भाग २ रा, पृ. ४७४ **प्रबोधटीका** भाग ३ रा पृ. ५६८।

शब्दार्थ—

स्पष्ट है।

अर्थ-सङ्कलना—

ॐ ऋषभदेव, अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दनस्वामी, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ. सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्यस्वामी, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतस्वामी, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, और वर्धमानस्वामी, जिनमें अन्तिम हैं, ऐसे चौबीस शान्त जिन हमें शान्ति प्रदान करनेवाले हों। स्वाहा ॥ ४ ॥

मूल—

(२) ॐ मुनयो मुनिप्रवरा रिपुविजय-दुर्भिक्ष-कान्तारेषु दुर्गमार्गेषु रक्षन्तु वो नित्यं स्वाहा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—

ॐ-ॐ।

मुनयो मुनिप्रवराः-मुनियोमें श्रेष्ठ ऐसे मुनि।

रिपुविजय-दुर्भिक्ष-कान्तारेषु-शत्रुओंद्वारा किये गये विजयमें, दुष्कालमें (प्राण धारण करनेके प्रसङ्गमें), गहन अटवीमें (प्रवास करनेके प्रसङ्गमें)।

दुर्गमार्गेषु-विकट मार्गोंका उल्लङ्घन करते समय।

रक्षन्तु-रक्षण करें।

वः-तुम्हारा।

नित्यं-नित्य।

स्वाहा-स्वाहा।

अर्थ-सङ्कलना—

ॐ शत्रुओंद्वारा किये गये विजय-प्रसङ्गमें, दुष्कालमें (प्राण धारण करनेके प्रसङ्गमें), गहन-अटवीमें (प्रवास करनेके प्रसङ्गमें) तथा विकट मार्गका उल्लङ्घन करते समय मुनियोंमें श्रेष्ठ ऐसे मुनि तुम्हारा नित्य रक्षण करें । स्वाहा ॥ ५ ॥

मूल—

(१) ॐ श्री-ह्री-धृति-मति-कीर्ति-कान्ति-बुद्धि-लक्ष्मी **-मेधा-विद्या-साधन-प्रवेश-निवेशनेषु सुगृहीतनामानो जयन्तु ते जिनेन्द्राः ॥ ५ ॥**

शब्दार्थ—

ॐ-ॐ।

श्री-ह्री-धृति-मति-कीर्ति-कान्ति बुद्धि लक्ष्मी-मेधा-विद्या-साधन-प्रवेश-निवेशनेषु— श्री, ह्री, धृति, मति, कीर्ति, कान्ति, बुद्धि, लक्ष्मी और मेधा इन नौ स्वरूपवाली सरस्वतीकी साधनामें, योगके प्रवेशमें तथा मन्त्र-जप के निवेशनमें।

सुगृहीत-नामानः—अच्छी तरह उच्चारण किये गये नामवाले, जिनके नामोंका आदरपूर्वक उच्चारण किया जाता है ।

जयन्तु-जयको प्राप्त हों, सानिध्य करनेवाले हों ।

ते-वे ।

जिनेन्द्राः-जिनवर ।

अर्थ-सङ्कलना—

ॐ श्री, ह्री, धृति, मति, कीर्ति, कान्ति, लक्ष्मी और मेधा इन नौ स्वरूपवाली सरस्वतीकी साधनामें, योगके प्रवेशमें तथा मन्त्र-

जपके निवेशनमें जिनके नामोंका आदर-पूर्वक उच्चारण किया जाता है, वे जिनवर जयको प्राप्त हों—सान्निध्य करनेवाले हों ॥ ६ ॥

मूल—

(४) रोहिणी-प्रज्ञप्ति-वज्रशृङ्खला-वज्राङ्कुशी-अप्रतिचक्रा पुरुषदत्ता-काली-महाकाली-गौरी-गान्धारी-सर्वास्त्रमहाज्वाला-मानवी-वैरोट्या-अच्छुप्ता-मानसी-महामानसी-षोडशविद्या-देव्यो रक्षन्तु वो नित्यं स्वाहा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—

स्पष्ट है।

अर्थ-सङ्कलना—

ॐ रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृङ्खला वज्राङ्कुशी, अप्रतिचक्रा, पुरुषदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गान्धारी, सर्वास्त्रमहाज्वाला, मानवी, वैरोट्या, अच्छुप्ता, मानसी और महामानसी ये सोलह विद्यादेवियाँ तुम्हारा रक्षण करें ॥ ७ ॥

मूल—

(५) ॐ आचार्योपाध्याय-प्रभृति-चातुर्वर्णस्य श्रीश्रमण-सङ्घस्य शान्तिर्भवतु तुष्टिर्भवतु पुष्टिर्भवतु ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—

ॐ-ॐ।

आचार्योपाध्याय — प्रभृति — चातुर्वर्णस्य-आचार्य, उपाध्याय, आदि चार प्रकारके।

श्रीश्रमण-सङ्घस्य-श्रीश्रमण सङ्घके लिये।

शान्तिः-शान्ति।

भवतु-हो।

तुष्टिः—तुष्टि ।	पुष्टिः—पुष्टि (पोषण, वृद्धि)।
भवतु—हो ।	भवतु—हो ।

अर्थ-सङ्कलना—

ॐ आचार्य; उपाध्याय आदि चार प्रकारके श्रीश्रमण-सङ्घके लिये शान्ति हो, तुष्टि हो, पुष्टि हो ॥ ८ ॥

मूल—

ॐ ग्रहाश्चन्द्र-सूर्याङ्गारक-बुध-बृहस्पति-शुक्र-शनैश्चर-राहु-केतु-सहिताः सलोकपालाः सोम-यम-वरुण-कुबेर-वासवादित्य-स्कन्द-विनायकोपेता ये चान्येऽपि ग्राम-नगर-क्षेत्र-देवताऽऽदयस्ते सर्वे प्रीयन्तां प्रीयन्ताम् अक्षीण-कोश-कोष्ठागारा नरपतयश्च भवन्तु स्वाहा ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—

ॐ—ॐ ।

ग्रहाः—ग्रह ।

चन्द्र-सूर्याङ्गारक-बुध-बृहस्पति-शुक्र-शनैश्चर-राहु-केतु-सहिताः—चन्द्र, सूर्य, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र, शनैश्चर, राहु और केतु सहित ।

सलोकपालाः—लोकपाल सहित ।

सोम-यम-वरुण-कुबेर-वासवादित्य-स्कन्द-विनायकोपेताः—सोम, यम, वरुण, कुबेर, इन्द्र, सूर्य, कार्तिकेय और विनायक सहित ।

ये—जो ।

च—और ।

अन्ये अपि—दूसरे भी ।

ग्राम-नगर-क्षेत्र-देवतादयः—ग्रामदेवता, नगरदेवता, क्षेत्रदेवता आदि ।

ते—वे ।

सर्वे–सब ।	**नरपतयः**–राजा ।
प्रीयन्तां प्रीयन्ताम्–प्रसन्न हों, प्रसन्न हों ।	**च**–और ।
अक्षीण–कोश–कोष्ठागाराः—अक्षय कोश और कोठारवाले ।	**भवन्तु**–हों ।
	स्वाहा–स्वाहा ।

अर्थ-सङ्कलना—

ॐ चन्द्र, सूर्य, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु आदि ग्रह; लोकपाल–सोम, यम, वरुण, (और) कुबेर, तथा इन्द्र, सूर्य, कार्तिकेय, विनायक आदि देव एवं ग्रामदेवता, नगर-देवता, क्षेत्रदेवता आदि दूसरे भी जो देव हों, वे सब प्रसन्न हों, प्रसन्न हों और राजा अक्षय कोश और कोठारवाले हों स्वाहा ॥ ९. ॥

मूल—

(७) ॐ पुत्र-मित्र-भ्रातृ-कलत्र-सुहृत्–स्वजन–सम्बन्धि-बन्धुवर्ग–सहिता नित्यं चामोद–प्रमोद कारिणः (भवन्तु स्वाहा) ॥ १० ॥

शब्दार्थ—

ॐ–ॐ ।	**नित्यं**–नित्य ।
पुत्र–मित्र–भ्रातृ–कलत्र–सुहृत्-स्वजन–सम्बन्धि–बन्धु–वर्ग–सहिताः–पुत्र, मित्र, भाई, स्त्री, हितैषी, स्वजातीय, स्नेहिजन तथा सम्बन्धी परिवारवाले ।	**च**–और ।
	आमोद–प्रमोद–कारिणः–आनन्द–प्रमोद–करनेवाले–सुखी ।
	भवन्तु–हों ।
	स्वाहा–स्वाहा ।

अर्थ-सङ्कलना—

ॐ आप पुत्र (पुत्री), मित्र, भाई, (बहिन) स्त्री, हितैषी, स्वजातीय, स्नेहिजन और सम्बन्धी परिवारवालोंके सहित आनन्द—प्रमोद करनेवाले हों—सुखी हों ॥ १० ॥

मूल—

(८) अस्मिंश्च भूमण्डले, आयतन-निवासि-साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकाणां रोगोपसर्ग-व्याधि-दुःख-दुर्भिक्ष-दौर्मन-स्योपशमनाय शान्तिर्भवतु ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—

अस्मिन्—इस ।

च—और ।

भूमण्डले—भूमण्डलपर ।

भू-अनुष्ठान भूमिका मध्यभाग ।
मण्डल—उसके आसपासकी भूमि ।
स्नात्रविधि करते समय जिस भूमिकी मर्यादा बाँधी हो, उसको भूमण्डल कहते हैं ।

आयतन-निवासि-साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकाणां-अपने अपने स्थानमें रहे हुए साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओंके ।

रोगोपसर्ग—व्याधि—दुःख—दुर्भिक्ष-दौर्मनस्योपशमनाय

–रोग, उपसर्ग, व्याधि, दुःख दुष्काल और विषादके उपशमन-द्वारा ।

शान्ति—शान्ति ।

शान्ति—अरिष्ट अथवा कषायो-दयका उपशमरूप ।

भवतु—हो ।

अर्थ-सङ्कलना—

और इस भूमण्डलपर अपने अपने स्थानपर रहे हुए साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओंके रोग, उपसर्ग, व्याधि, दुःख, दुष्काल, और विषादके उपशमनद्वारा शान्ति हो ॥ ११ ॥

मूल—

(९) ॐ तुष्टि-पुष्टि-ऋद्धि-वृद्धि-माङ्गल्योत्सवाः सदा (भवन्तु) प्रादुर्भूतानि पापानि शाम्यन्तु, (शाम्यन्तु) दुरितानि, शत्रवः पराङ्मुखा भवन्तु स्वाहा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—

ॐ–ॐ ।	**शाम्यन्तु**–शान्त हों, नष्ट हों ।
तुष्टि-पुष्टि-ऋद्धि-वृद्धि-माङ्गल्योत्सवाः-तुष्टि, पुष्टि, ऋद्धि, वृद्धि-माङ्गल्य और अभ्युदय ।	(**शाम्यन्तु**–शान्त हों ।)
सदा–सदा ।	**दुरितानि**–भय, कठिनाइयाँ ।
(**भवन्तु**–हो ।)	**शत्रवः**–शत्रुवर्ग ।
प्रादुर्भूतानि–प्रादुर्भूत, उत्पन्न हुए ।	**पराङ्मुखाः**–विमुख ।
पापानि–पापकर्म ।	**भवन्तु**–हों ।
	स्वाहा–स्वाहा ।

अर्थ-सङ्कलना—

ॐ आपको सदा तुष्टि हो, पुष्टि हो, ऋद्धि मिले, वृद्धि मिले, माङ्गल्यकी प्राप्ति हो और आपका निरन्तर अभ्युदय हो। आपके प्रादुर्भूत पापकर्म नष्ट हों, भय–कठिनाइयाँ शान्त हों तथा आपका शत्रुवर्ग विमुख बने। स्वाहा ॥ १२ ॥

मूल—

[४. श्रीशान्तिनाथ-स्तुतिः]

[अनुष्टुप्]

(१) श्रीमते शान्तिनाथाय, नमः शान्तिविधायिने ।
त्रैलोक्यस्यामराधीश-मुकुटाभ्यर्चिताङ्घ्रये ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—

श्रीमते–श्रीमान्, पूज्य ।
शान्तिनाथाय—श्रीशान्तिनाथ भगवान्को ।
नमः–नमस्कार हो ।
शान्तिविधायिने---शान्ति करनेवाले ।
त्रैलोक्यस्य-तीन लोकके प्राणियोंको ।
अमराधीश—मुकुटाभ्यर्चिता-ङ्घ्रये—देवेन्द्रोंके मुकुटोंसे पूजित चरणवालेको । जिनके चरण देवेन्द्रोंके मुकुटोंसे पूजित हैं उनको ।
अमराधीश—देवेन्द्र । मुकुट । अभ्यर्चिताङ्घ्रि-पूजित चरणवाले ।

अर्थसङ्कलना—

तीन लोकके प्राणियोंको शान्ति करनेवाले और देवेन्द्रोंके मुकुटोंसे पूजित चरणवाले, पूज्य श्रीशान्तिनाथ भगवान्को नमस्कार हो ॥ १३ ॥

मूल—

(२) शान्तिः शान्तिकरः श्रीमान्, शान्तिं दिशतु मे गुरुः ।
शान्तिरेव सदा तेषां, येषां शान्तिर्गृहे गृहे ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—

शान्तिः–श्रीशान्तिनाथ भगवान् ।
शान्तिकरः—जगत्में शान्ति करनेवाले ।
श्रीमान्-ज्ञानादिक लक्ष्मीवाले, पूज्य ।
शान्तिं–शान्ति ।
दिशतु–प्रदान करें ।
मे–मुझे ।
गुरुः–जगद्गुरु, जगत्‌को धर्मका उपदेश करनेवाले ।
शान्तिः-शान्ति ।
एव–ही ।
सदा–सदा ।
तेषां–उनके ।
येषां–जिनके ।
शान्तिः–श्रीशान्तिनाथ ।
गृहे गृहे–घर घरमें ।

अर्थ-सङ्कलना—

जगत्में शान्ति करनेवाले, जगत्को धर्मका उपदेश देनेवाले, पूज्य शान्तिनाथ भगवान् मुझे शान्ति प्रदान करें। जिनके घर घरमें श्रीशान्तिनाथकी पूजा होती है उनके (यहाँ) सदा शान्ति ही होती है ॥ १४ ॥

मूल—

[*गाथा*]

(३) उन्मृष्ट-रिष्ट-दुष्ट-ग्रह-गति-दुःस्वप्न-दुर्निमित्तादि।
सम्पादित-हित-सम्पन्नाम-ग्रहणं जयति शान्तेः ॥१५॥

शब्दार्थ—

उन्मृष्ट-रिष्ट-दुष्ट-ग्रह-गति-दुःस्वप्न-दुर्निमित्तादि-जिन्होंने उपद्रव, ग्रहोंके दुष्ट प्रभाव, दुष्ट स्वप्न, दुष्ट अङ्गस्फुरणरूप अपशकुन आदि निमित्तोंका नाश किया है, ऐसा।

उन्मृष्ट-नाश किया है जिसने। रिष्ट-उपद्रव। दुष्ट-ग्रह-गति-ग्रहोंका बुरा असर।

सम्पादित-हित-सम्पत्-जिसके द्वारा आत्महित और सम्पत्तिको प्राप्त करानेवाला।

नाम-ग्रहणं-नामोच्चारण।

जयति-जयको प्राप्त होता है।

शान्तेः-श्रीशान्तिनाथ भगवान्का

अर्थ-सङ्कलना—

उपद्रव, ग्रहोंकी दुष्टगति, दुःस्वप्न, दुष्ट अङ्गस्फुरण और दुष्ट निमित्तादिका नाश करनेवाला तथा आत्महित और सम्पत्तिको

प्राप्त करानेवाला श्रीशान्तिनाथ भगवान्‌का नामोच्चारण जयको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

मूल—

[५. शान्ति-व्याहरणम्]

[गाथा]

(१) श्रीसङ्घ-जगज्जनपद-राजाधिप-राज-सन्निवेशानाम् ।
गोष्ठिक-पुरमुख्यानां, व्याहरणैर्व्याहरेच्छान्तिम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—

श्रीसङ्घ-जगज्जनपद-राजाधिप-राज-सन्निवेशानाम्—श्रीसङ्घ, जगत्‌के जनपद, महाराजा और राजाओंके निवासस्थानके ।

गोष्ठीक-पुरमुख्यानां—विद्वन्मण्डलीके सभ्य तथा अग्रगण्य नागरिकोंके ।

गोष्ठिक-गोष्ठीके सभ्य । प्राचीन-कालमें विद्वमण्डलीको गोष्ठीके रूपमें पहचानेकी रीति प्रचलित थी । पुरमुख्य-नगरके प्रधान कार्यकर्ता अग्रगण्य नागरिक ।

व्याहरणैः—नामोच्चरण—पूर्वक, नाम लेकर ।

व्याहरेत्-बोलनी चाहिये ।

शान्तिम्-शान्ति ।

अर्थ-सङ्कलना—

श्रीसङ्घ, जगतके जनपद, महाराजा और राजाओंके निवास-स्थान, विद्वमण्डलीके सभ्य तथा अग्रगण्य नागरिकोंके नाम लेकर शान्ति बोलनी चाहिये ॥ १६ ॥

मूल—

(२) श्रीश्रमणसङ्घस्य शान्तिर्भवतु ।
श्रीजनपदानां शान्तिर्भवतु ।
श्रीराजाधिपानां शान्तिर्भवतु ।
श्रीराजसन्निवेशानां शान्तिर्भवतु ।
श्रीगोष्ठीकानां शान्तिर्भवतु ।
श्रीपौरमुख्यानां शान्तिर्भवतु ।
श्रीपौरजनस्य शान्तिर्भवतु ।
श्रीब्रह्मलोकस्य शान्तिर्भवतु ॥ १७॥

शब्दार्थ—

स्पष्ट है।

अर्थ-सङ्कलना—

श्रीश्रमणसङ्घके लिये शान्ति हो।
श्रीजनपदों (देशों) के लिये शान्ति हो।
श्रीराजाधिपों (महाराजाओं) के लिये शान्ति हो।
श्रीराजाओंके निवासस्थानोंके लिये शान्ति हो।
श्रीगोष्ठिकोंके—विद्वन्मण्डलीके सभ्योंके लिये शान्ति हो।
श्रीअग्रगण्य नागरिकोंके लिये शान्ति हो।
श्रीनरजनोंके लिये शान्ति हो।
श्रीब्रह्मलोकके लिये शान्ति हो ॥ १७ ॥

मूल—

[६ आहुति-त्रयम्]

ॐ स्वाहा ॐ स्वाहा ॐ श्रीपार्श्वनाथाय स्वाहा ॥१८॥

शब्दार्थ—

स्पष्ट है ।

अर्थ-सङ्कलना—

ॐ स्वाहा, ॐ स्वाहा, ॐ श्रीपार्श्वनाथाय स्वाहा ॥ १८ ॥

मूल—

[७ विधि-पाठ]

एषा शान्तिः प्रतिष्ठा-यात्रा-स्नात्राद्यवसानेषु शान्ति-कलशं गृहीत्वा कुङ्कुम-चन्दन-कर्पूरागरु-धूप-वास-कुसुमाञ्जलि-समेतः स्नात्र-चतुष्किकायां श्रीसङ्घसमेतः शुचि-शुचि-वपुः पुष्प-वस्त्र-चन्दनाभरणालङ्कृतः पुष्पमालां कण्ठे कृत्वा शान्ति-मुद्घोषयित्वा शान्तिपानीयं मस्तके दातव्यमिति ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—

एषा-यह ।
शान्तिः-शान्तिपाठ।
प्रतिष्ठा-यात्रा-स्नात्राद्यवसानेषु-प्रतिष्ठा, यात्रा और स्नात्र, आदि उत्सवके अन्तमें ।
शान्ति कलशं-शान्ति कलश ।
गृहीत्वा-धारण करके ।
कुङ्कुम-चन्दन-कर्पूरागरु-धूप-वास-कुसुमाञ्जलि-समेतः केसर, चन्दन[1], कपूर[2], अगरक, धूप[3], वास[4], और कुसुमाञ्जलि[5]। लेकर ।

स्नात्र-चतुष्किकायां-स्नात्र बोलनेके मण्डपमें।
श्रीसङ्घसमेतः-श्रीसङ्घके साथ।
श्रीसङ्घ—श्रावक—श्राविकाओंका समुदाय।
शुचि-शुचि-वपुः--बाह्य और अभ्यंतर मलसे रहित।
पुष्प-वस्त्र-चन्दनाभरणालङ्कृत-श्वेतवस्त्र, चन्दन और आभरणोंसे अलङ्कृत होकर।
पुष्प—श्वेत।
पुष्पमालां कण्ठे कृत्वा-फूलोंके हारको गलेमें धारण करके।
शान्ति-पानीयं—शान्तिकलशका जल।
मस्तके दातव्यम्-मस्तकपर लगाना चाहिये।
इति—इस प्रकार।

अर्थ-सङ्कलना—

यह शान्तिपाठ, जिनबिम्बकी प्रतिष्ठा, रथयात्रा और स्नात्र आदि महोत्सवके अन्तमें (बोलना, इसकी विधि इस प्रकार है कि:—) केसर—चन्दन, कपूर, अगरका धूप, वास और कुसुमाञ्जलि—अञ्जलिमें विविधरंगोंके पुष्प रखकर, बाँये हाथमें शान्ति—कलश ग्रहण करके (तथा उसपर दाँया हाथ ढककर) श्रीसङ्घके साथ स्नात्र मण्डपमें खड़ा रहे। वह बाह्य—अभ्यन्तर मलसे रहित होना चाहिये तथा श्वेतवस्त्र, चन्दन और आभरणोंसे अलङ्कृत होना चाहिये। फूलोंका हार गलेमें धारण करके शान्तिकी उद्घोषणा करे और उद्घोषणाके पश्चात् शान्ति—कलशका जल देवे, जिसको (अपने तथा अन्यके) मस्तक पर लगाना चाहिये॥ १९॥

मूल—

[८ प्रास्ताविक-पद्यानि]

[उपजाति]

(१) **नृत्यन्ति नृत्यं मणि-पुष्प-वर्षं,**
सृजन्ति गायन्ति च मङ्गलानि ।
स्तोत्राणि गोत्राणि पठन्ति मन्त्रान् ,
कल्याणभाजो हि जिनाभिषेके ॥ २० ॥

शब्दार्थ—

नृत्यन्ति नृत्यं—विविध प्रकारके नृत्य करते हैं ।

मणि-पुष्प-वर्ष-रत्न और पुष्पोंकी वर्षा ।

सृजन्ति—करते हैं ।

गायन्ति—गाते हैं ।

च—और ।

मङ्गलानि-मङ्गल, माङ्गलिक । अष्टमङ्गलमें आठ आकृतियोंका आलेखन भी होता है-वह इस प्रकारः-(१) स्वस्तिक, (२) श्रीवत्स, (३) नन्द्यावर्त्त, (४) वर्धमानक, (५) भद्रासन, (६) कलश, (७) मत्स्य-युगल और (८) दर्पण ।

स्तोत्राणि-स्तोत्र ।

गोत्राणि-गोत्र, तीर्थङ्करके गोत्र और वंशावलि ।

पठन्ति-बोलते हैं ।

मन्त्रान्-मन्त्रोंको ।

कल्याणभाजः-पुण्यशाली ।

हि-वस्तुतः ।

जिनाभिषेके-जिनाभिषेकके समयमें, स्नात्रक्रियाके प्रसङ्गपर ।

अर्थ-सङ्कलना—

पुण्यशाली जन जिनेश्वरकी स्नात्रक्रियाके प्रसङ्गपर विविध प्रकारके नृत्य करते हैं, रत्न और पुष्पोंकी वर्षा करते हैं, (अष्ट-मङ्गलादिका आलेखन करते हैं तथा) माङ्गलिक-स्तोत्र गाते हैं और तीर्थङ्करके गोत्र, वंशावलि एवं मन्त्र बोलते हैं ॥ २० ॥

मूल—

[गाथा]

(२) शिवमस्तु सर्वजगतः, पर-हित-निरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—

शिवम्-कल्याण ।
अस्तु-हो ।
सर्व-जगतः-अखिल विश्वका ।
पर-हित-निरताः-परोपकारमें तत्पर ।
भवन्तु-हों ।
भूतगणाः-प्राणी समूह ।
दोषाः-व्याधि, दुःख, दौर्मनस्यादि ।
प्रयान्तु नाशं-नष्ट हो ।
सर्वत्र-सर्वत्र ।
सुखी-सुख भोगनेवाले ।
भवतु-हों ।
लोकः-मनुष्यजाति, मनुष्य ।

अर्थ-सङ्कलना—

अखिल विश्वका कल्याण हो, प्राणी-समूह परोपकारमें तत्पर बनें; व्याधि—दुःख—दौर्मनस्य आदि नष्ट हो और सर्वत्र मनुष्य सुख भोगनेवाले हों ॥ २१ ॥

मूल—

(३) अहं तित्थयर-माया, सिवादेवी तुम्ह नयर-निवासिनी ।
अम्ह सिवं तुम्ह सिवं, असिवोवसमं सिवं भवतु स्वाहा ॥२२॥

शब्दार्थ—

अहं-मैं ।
तित्थयर-माया-तीर्थङ्करकी माता । श्रीअरिष्टनेमि तीर्थङ्करकी माताका नाम शिवादेवी है ।
सिवादेवी-शिवादेवी ।
तुम्ह-तुम्हारे ।

नयर-निवासिनी–नगरकी रहनेवाली।	**सिवं**-कल्याण।
अम्ह-हमारा।	**असिवोवसमं** — उपद्रवका नाश करनेवाला।
सिवं-श्रेय।	**सिवं**-कल्याण।
तुम्ह-तुम्हारा।	**भवतु**-हो।
	स्वाहा-स्वाहा।

अर्थ-सङ्कलना—

मैं श्रीअरिष्टनेमी तीर्थङ्करकी माता शिवादेवी तुम्हारे नगरकी रहनेवाली हूँ–नगरमें रहती हूँ। अतः हमारा और तुम्हारा श्रेय हो, तथा उपद्रवोंका नाश करनेवाला कल्याण हो ॥ २२ ॥

मूल—

[अनुष्टुप्]

(४) उपसर्गाः क्षयं यान्ति, छिद्यन्ते विघ्न-वल्लयः ।
मनः प्रसन्नतामेति, पूज्यमाने जिनेश्वरे ॥ २३ ॥

अर्थ-सङ्कलना—

श्रीजिनेश्वरदेवका पूजन करनेसे समस्त प्रकारके उपसर्ग नष्ट हो जाते हैं, विघ्नरूपी लताएँ कट जाती हैं और मन प्रसन्नताको प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

मूल—

(५) सर्व-मङ्गल-माङ्गल्यं, सर्व-कल्याण-कारणम् ।
प्रधानं सर्व-धर्माणां, जैनं जयति शासनम् ॥

शब्दार्थ—

पूर्ववत् ।

अर्थ-सङ्कलना—

सर्व मङ्गलोंमे मङ्गलरूप, सर्व कल्याणोंका कारणरूप और सर्व धर्मोंमें श्रेष्ठ ऐसा जैन शासन (प्रवचन) सदा विजयी हो रहा है ॥ २४ ॥

सूत्र-परिचय—

महर्षि नन्दिषेण कृत 'अजित-शान्ति-स्तव' अपनी मङ्गलमय रचनाके कारण उपसर्ग-निवारक और रोग-विनाशक माना जाता है; श्रीमानदेवसूरिकृत 'शान्ति-स्तव' अपनी मन्त्रमय रचनाके कारण सलिलादि-भयविनाशी और शान्त्यादिकर माना जाता है; और वादिवेताल श्रीशान्ति-सूरि कृत यह शान्तिपाठ जो सामान्यतया 'बृहच्छान्ति' अथवा 'वृद्धशान्ति (बड़ी शान्ति)' के नामसे पहचाना जाता है, यह इसके अन्तर्गत शान्ति-मन्त्रोंके कारण शान्तिकर, तुष्टिकर और पुष्टिकर माना जाता है ।

यह सूत्र जिनबिम्बकी प्रतिष्ठा, रथयात्रा एवं स्नात्रके अन्तमें बोला जाता है तथा पाक्षिक, चातुर्मासिक प्रतिक्रमणके प्रसङ्गपर शान्तिस्तव (लघुशान्ति) के स्थानपर बोला जाता है ।

---

५७ संतिनाह-सम्मदिट्ठिय-रक्खा ।

[' संतिकरं '-स्तवन]

मूल—

[गाहा]

संतिकरं संतिजिणं, जग-सरणं जय-सिरीइ दायारं ।
समरामि भत्त-पालग-निव्वाणी-गरुड-कय-सेवं ॥ १ ॥

शब्दार्थ—

संतिकरं-शान्ति करनेवाले को ।
संतिजिणं-श्रीशान्तिनाथ भगवान्‌को ।
जग-सरणं—जगत्‌के जीवोंके शरणरूप ।
जय-सिरीइ-जय और श्रीके ।
दायारं-दातारको, देनेवालेको ।
समरामि-स्मरण करता हूँ, ध्यान धरता हूँ ।
भत्त-पालग-निव्वाणी-गरुड-कय-सेवं-भक्तजनोंके पालक, निर्वाणीदेवी तथा गरुड-यक्षद्वारा सेवित ।

भत्त-भक्त । पालग-पालन करनेवाले । निव्वाणी-निर्वाणीदेवी । गरुड-गरुड नामका यक्ष । कय-कृत । सेव-सेवा ।

अर्थ-सङ्कलना—

जो शान्ति करनेवाले हैं, जगत्‌के जीवोंके लिये शरणरूप हैं, जय और श्रीके देनेवाले हैं तथा भक्तजनोंका पालन करनेवाले, निर्वाणी-देवी और गरुड़-यक्षद्वारा सेवित हैं, ऐसे श्रीशान्तिनाथ भगवान्‌का मैं स्मरण करता हूँ, ध्यान करता हूँ ॥ १ ॥

मूल—

ॐ सनमो विप्पोसहि–पत्ताणं संतिसामि–पायाणं ।
झ्रौं स्वाहा मंतेणं, सव्वासिव–दुरिय–हरणाणं ॥ २ ॥
ॐ संति–नमुक्कारो, खेलोसहिमाइ–लद्धि पत्ताणं ।
सौँ ह्रीँ नमो य सव्वोसहि–पत्ताणं च देइ सिरिं ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—

ॐ सनमो–ॐ नमः सहित ।

विप्पोसहि-पत्ताणं--विप्रुडोषधि-नामकी लब्धि प्राप्त करनेवालोंको। विप्रुड्–विष्टा । जिस लब्धि के प्रभावसे विष्टा सुगन्धित होती है । उस लब्धिको विप्रुडोषधि—लब्धि कहते हैं ।

संति–सामि–पायाणं–पूज्य श्री-शान्तिनाथ भगवान्‌को । सामि–स्वामी । पाय–पूज्य ।

झ्रौं स्वाहा मंतेणं–'झ्रौं स्वाहा'-वाले मन्त्रसे ।

सव्वासिव–दुरिय–हरणाणं–सर्व उपद्रव और पापका हरण करने-वालोंको । अशिव–उपद्रव । दुरिय–पाप ।

ॐ संति नमुक्कारो-श्रीशान्तिनाथ भगवान्‌को ॐ पूर्वक किया हुआ नमस्कार ।

खेलोसहिमाइ--लद्धि--पत्ताणं–श्लेष्मौषधि आदि लब्धि प्राप्त करनेवालोंको । खेल–कफ । ओसहि–ओषधि । लद्धि–लब्धि । पत्त–प्राप्त ।

सौँ ह्रीँ नमो–'सौँ ह्रीँ नमः' यह मन्त्र ।

सव्वोसहि-पत्ताणं-सर्वौषधि नामक लब्धि प्राप्त करनेवालोंको । जिसके शरीरके सर्व–पदार्थ औषधिरूप हों उसे सर्वौषधिलब्धिमान् कहते हैं ।

च–और ।

देइ–देते हैं ।

सिरिं–श्रीको ।

अर्थ-सङ्कलना—

विप्रुडोषधि, श्लेष्मौषधि, सर्वौषधि आदि लब्धियाँ प्राप्त करने-वाले सर्व उपद्रव और पापका हरण करनेवाले, ऐसे श्रीशान्तिनाथ भगवान्‌को 'ॐ नमः', झ्रौं स्वाहा' तथा 'सौं ह्रूँ नमः' ऐसे मन्त्राक्षर-पूर्वक नमस्कार हो; ऐसा श्रीशान्तिनाथ भगवान्‌को किया हुआ नमस्कार जय और श्रीको देता है ॥ २–३ ॥

मूल—

वाणी–तिहुयण–सामिणि–सिरिदेवी–जक्खराय–गणिपिडगा।
गह–दिसिपाल–सुरिंदा, सया वि रक्खंतु जिणभत्ते ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—

वाणी-तिहुयण-सामिणि-सिरिदेवी-जक्खराय-गणिपिडगा- सरस्वती देवी, त्रिभवनस्वामिनी देवी, श्रीदेवी और यक्षराज गणिपिटक।

वाणि-सरस्वती देवी। तिहुयण-सामिणी — त्रिभुवन - स्वामिनी देवी। सिरिदेवी–श्रीदेवी। जक्खराज–यक्षराज। गणिपिडग–गणिपिटक।

गह--दिसिपाल--सुरिंदा- ग्रह, दिक्पाल और देवेन्द्र।

सया–सदा।

वि–ही।

रक्खंतु–रक्षा करें।

जिणभत्ते–जिन भक्तोंकी।

अर्थ-सङ्कलना—

सरस्वती, त्रिभुवनस्वामिनी, श्रीदेवी, यक्षराज गणिपिटक, ग्रह, दिक्पाल एवं देवेन्द्र सदा ही जिनभक्तोंकी रक्षा करें ॥ ४ ॥

मूल...

रक्खतु ममं रोहिणि–पन्नती वज्जसिंखला य सया ।
वज्जंकुसि चक्केसरि–नरदत्ता–कालि–महाकाली ॥ ५ ॥
गोरी तह गंधारी, महजाला माणवी य वइरुट्टा ।
अच्छुत्ता माणसिआ, महामाणसिआ उ देवीओ ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—

रक्खंतु–रक्षण करें ।
ममं–मुझे, मेरा ।
रोहिणी–पन्नत्ती–रोहिणी और प्रज्ञप्ति ।
वज्जसिंखला–वज्रशृङ्खला ।
य–और ।
सया–सदा ।
वज्जंकुसि–चक्केसरि–नरदत्ता–कालि–महाकाली–वज्राङ्कुशी, चक्रेश्वरी, नरदत्ता, काली और महाकाली ।
गोरी–गौरी ।
तह–तथा ।
गंधारी–गाँधारी ।
महजाला–महाज्वाला ।
माणवी–मानवी ।
य–और ।
वैरोट्या–वैरोट्या ।
अच्छुत्ता–अच्छुप्ता ।
माणसिआ–मानसी ।
महमाणसिआ–महामानसी ।
उ–और ।
देवीओ–देवियाँ, विद्यादेवियाँ ।

अर्थसङ्कलना—

रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृङ्खला, वज्राङ्कुशी, चक्रेश्वरी, नरदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गान्धारी, महाज्वाला, मानवी, वैरोट्या, अच्छुप्ता, मानसी, महामानसी ये सोलह विद्यादेवियाँ मेरा रक्षण करें ॥ ५–६ ॥

मूल—

जक्खा गोमुह-महजक्ख-तिमुह-जक्खेस-तुंबरू कुसुमो।
मायंग-विजय-अजिआ, बंभो मणुओ सुरकुमारो ॥ ७ ॥
छम्मुह पयाल किन्नर, गरुडो गंधव्व तह य जक्खिंदो ।
कूबर-वरुणो भिउडी, गोमेहो पास-मायंगा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—

जक्खा-यक्ष ।	**पयाल**-पाताल ।
गोमुह—महजक्ख—तिमुह—जक्खेस-तुंबरू-गोमुख, महायक्ष, त्रिमुख, यक्षेश और तुंबरु ।	**किन्नर**-किन्नर ।
	गरुडो-गरुड ।
	गंधव्व-गन्धर्व ।
कुसुमो-कुसुम ।	**तह य**-वैसे ही ।
मायंग-विजय-अजिआ-मातङ्ग, विजय और अजित।	**जक्खिंदो**-यक्षेन्द्र।
	कूबर-कुबेर।
बंभो-ब्रह्मयक्ष ।	**वरुणोति**-वरुण।
मणुओ-मनुज।	**भिउडी**-भृकुटि।
सुरकुमारो-सुरकुमार।	**गोमेहो**-गोमेध ।
छम्मुह-षण्मुख ।	**पास-मायंगा**-पार्श्व और मातङ्ग।

अर्थ-सङ्कलना--

गोमुख, महायक्ष, त्रिमुख, यक्षेश, तुम्बरु, कुसुम, मातङ्ग, विजय, अजित, ब्रह्म, मनुज, सुरकुमार, षण्मुख, पाताल, किन्नर, गरुड, गन्धर्व, यक्षेन्द्र, कुबेर, वरुण, भृकुटि, गोमेध, पार्श्व और मातङ्ग ये चौबीस यक्ष ॥ ७-८ ॥

मूल—

देवीओ चक्केसरि–अजिआ–दुरिआरि–कालि–महाकाली ।
अच्चुअ–संता–जाला, सुतारयासोय–सिरिवच्छा ॥ ९ ॥
चंडा विजयंकुसि–पन्नइत्ति–निव्वाणि–अच्चुआ धरणी ।
वइरुट्ट–छुत्त–गंधारि–अंब–पउमावई–सिद्धा ॥ १० ॥
इय तित्थ–रक्खण–रया, अन्ने वि सुरा सुरीउ चउहा वि ।
वंतर–जोइणि–पमुहा, कुणंतु रक्खं सया अम्हं ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—

देवीओ–देवियाँ ।

चक्केसरि–अजिआ–दुरिआरि–कालि–महाकाली– चक्रेश्वरी, अजिता, दुरितारि, काली, महाकाली ।

अच्चुअ–संता–जाला सुतारया–सोय–सिरिवच्छा––अच्युता, शान्ता, ज्वाला, सुतारका, अशोका, श्रीवत्सा ।

चंडा–चण्डा ।

विजयंकुसि–पन्नइत्ति–निव्वाणि–अच्चुआ–विजया, अङ्कुशी, प्रज्ञप्ति (पन्नगी), निर्वाणी, और अच्युता ।

धरणी–धारिणी ।

वइरुट्ट–छुत्त–गंधारी–अंब–पउमावई–सिद्धा––वैरोट्या, अच्छुप्ता, गन्धारी, अम्बा, पद्मावती और सिद्धायिका ।

इय–इस प्रकार ।

तित्थ–रक्खण–रया–तीर्थका रक्षण करनेमें तत्पर ।
तित्थ–तीर्थ । रक्खण–रक्षण । रया–तत्पर ।

अन्ने–दूसरे ।

वि–भी ।

सुरा–देव ।

सुरीउ–देवियाँ ।

चउहा–चार प्रकारके ।

वि–भी ।

वंतर-जोइणि--पमुहा--व्यन्तर, योगिनी आदि ।	**कुणंतु**-करें ।
वंतर-व्यन्तर । जोइणि-योगिनी ।	**रक्खं**-रक्षा ।
पमुहा आदि ।	**सया**-सदा ।
	अम्ह-हमारी ।

अर्थ-सङ्कलना—

चक्रेश्वरी, अजिता, दुरितारि, काली महाकाली, अच्युता, शान्ता, ज्वाला, सुतारका, अशोका, श्रीवत्सा, चण्डा, विजया अङ्कुशी, प्रज्ञप्ति, (पन्नगी), निर्वाणी, अच्युता (बला), धारिणी, वैरोट्या, अच्छुप्ता, गान्धारी, अम्बा, पद्मावती और सिद्धायिका ये शासन-देवियाँ तथा भगवान्के शासनका रक्षण करनेमें तत्पर ऐसे अन्य चारों प्रकारकी देव-देवियाँ तथा व्यन्तर, योगिनी आदि दूसरे भी हमारी रक्षा करें ॥ ९-१०-११ ॥

मूल—

एवं सुदिट्ठि-सुरगण-सहिओ संघस्स संति-जिणचन्दो ।
मज्झ वि करेउ रक्खं, मुणिसुन्दरसूरि-थुय महिमा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—

एवं-इस प्रकार ।	जिनेश्वर ।
सुदिट्ठि-सुरगण-सहिओ-सम्यग्-दृष्टि-देवोंके समूह सहित ।	**मज्झ-वि**-मेरी भी ।
सुदिट्ठि-सम्यग्दृष्टि । सुरगण--देवोंके समूह । सहिअ-सहित ।	**करेउ**-करें ।
संघस्स-श्रीसङ्घकी ।	**रक्खं**-रक्षा ।
संति--जिणचन्दो--श्रीशान्तिनाथ	**मुणि-सुंदरसूरि-थुय-महिमा**-श्रीमुनिसुन्दरसूरिने जिनकी महिमाकी स्तुति की है ऐसे ।

अर्थ-सङ्कलना—

इस प्रकार श्रीमुनिसुन्दरसूरिने जिनकी महिमाकी स्तुति की है, ऐसे श्रीशान्तिनाथ जिनेश्वर सम्यग्दृष्टि देवोंके समूह सहित श्रीसङ्घकी और मेरी भी रक्षा करें ॥ १२ ॥

मूल—

इय 'संतिनाह-सम्मद्दिट्ठिय-रक्खं' सरइ तिकालं जो ।
सव्वोवद्दव-रहिओ, स लहइ सुह-संपयं परमं ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—

इय-प्रकार ।	जो-जो ।
संतिनाह-सम्मद्दिट्ठिय-रक्खं-श्रीशान्तिनाथकी-सम्यग्दृष्टिक-रक्षा (स्तोत्र) का ।	सव्वोवद्दव-रहिओ-सर्व उपद्रवोंसे रहित ।
सरइ-स्मरण करता है ।	स-वह ।
तिकालं-तीनों काल, प्रातःकाल, मध्याह्न और सायङ्काल ।	लहइ-प्राप्त करता है ।
	सुह-संपयं-सुख-सम्पदाको ।
	परमं-उत्कृष्ट ।

अर्थ-सङ्कलना—

इस प्रकार 'शान्तिनाथ-सम्यग्दृष्टिक-रक्षा' (स्तोत्र) का जो तीनों काल स्मरण करता है, वह सर्व उपद्रवोंसे रहित होकर उत्कृष्ट सुख-सम्पदाको प्राप्त करता है ॥ १३ ॥

मूल—

[तवगच्छ–गयण–दिणयर–जुगवर–सिरिसोमसुंदरगुरूणं ।
सुपसाय–लद्ध–गणहर–विज्जासिद्धि–भणइ सीसो ॥ १४ ॥]

शब्दार्थ—

तवगच्छ–गयण–दिणयर–जुगवर–सिरिसोमसुंदरगुरूणं–तपागच्छरूपी आकाशमें सूर्यसमान युगप्रधान श्रीसोमसुन्दर गुरुके । तवगच्छ–तपागच्छ । गयण–गगन दिणयर–सूर्य । जुगवर–युगप्रधान ।

सुपसाय–लद्ध–गणहर–विज्जा–सिद्धि–सुप्रसादसे जिन्होंने गणधर विद्याकी (सूरिमन्त्रकी) सिद्धि प्राप्त की हैं, ऐसे । सुपसाय–सुप्रसाद । लद्ध–लब्ध । गणहर–विज्जा–गणधर विद्या, सूरिमन्त्र । सिद्धि–सिद्धि । भणइ–पढता है । सीसो–शिष्य ।

अर्थ–सङ्कलना—

तपागच्छरूपी आकाशमें सूर्य–समान ऐसे युगप्रधान श्रीसोम-सुन्दर–गुरुके सुप्रसादसे जिन्होंने गणधर विद्या (सूरिमंत्र)की सिद्धि की है, ऐसे उनके शिष्य (श्रीमुनिसुन्दरसूरि)ने यह स्तोत्र बनाया है ॥१४॥

सूत्र–परिचय—

सहस्रावधानी श्रीमुनिसुन्दरसूरिद्वारा रचित इस स्तवनके प्रयोगसे सिरोहि राज्यमें उत्पन्न टिड्डीयोंका उपद्रव शान्त हुआ था, अतः ये नित्य स्मरण करने योग्य माना जाता है और प्रचलित नव स्मरणमें इसका स्थान तीसरा है। इस स्तवनका मूल नाम इसकी तेरहवीं गाथाके अनुसार 'संतिनाह सम्मदिट्ठिय–रक्खा' है, परन्तु इसके प्रथम शब्दसे 'संतिकरं' स्तवनके नामसे प्रसिद्ध है।

* ५८ तिजयपहुत्त स्तोत्रम् ।

[चतुर्थ स्मरणम्]

मूल—

तिजयपहुत्तपयासय-अट्ठमहापाडिहेरजुत्ताणं ।
समयक्खित्तठिआणं, सरेमि चक्कं जिणंदाणं ॥ १ ॥

शब्दार्थ—

तिजयपहुत्तपयासय—त्रैलोक्यकी प्रभुताको प्रकट करनेवाले ।

अट्ठमहापाडिहेरजुत्ताणं—अष्टमहा प्रातिहार्योंसे युक्त (तथा) ।

समयक्खित्तठिआणं-समय (काल) क्षेत्रमें, अर्थात् ढाइ द्वीपमें स्थित ।

सरेमि-मैं स्मरण करता हूँ ।

चक्कं-वृंदको (यंत्रको÷) ।

जिणंदाणं-जिनेश्वरोंके ।

अर्थ-सङ्कलना—

तीर्थकरोंके अष्ट महाप्रातिहार्य होने से त्रैलोक्यका (त्रिभुवन)का स्वामित्व (प्रभुत्व) सिद्ध होता है। ये तीर्थकर ढाइ द्वीपमें (काल क्षेत्रमें) उत्कृष्ट कालमें एक सौ और सत्तर हैं। उनका मैं स्मरण करता हूँ ।

---

* प्रथम, द्वितीय और तृतीय स्मरणके लिये देखे श्रीनवस्मरणकी अनुक्रमणिका ।

÷ इस स्तोत्रमें एक सौ और सत्तर जिनेश्वरोंकी स्तुति होनेके कारण इसका दूसरा नाम 'सत्तरिसयं थुत्तं'भी है ।

श्रीमानदेवसूरिने किसी समय श्री संघमें व्यंतरद्वारा कृत उपद्रवके निवारणार्थ इस स्तोत्रकी रचना की थी-ऐसी जनश्रुति है ।

• जहाँ दिन-रातरुपी कालकी प्रधानता है ऐसे काल क्षेत्र, अर्थात् ढाइद्वीपमें उत्पन्न १७० जिनेश्वरों का स्तव यंत्रद्वारा होता है। वह यंत्र महान्

तथा बडा महात्म्ययुक्त है। उस यंत्रकी रचना-विधि अगले पृष्ठ पर वर्णित् है-तदनुसार जानें।

उस यंत्रके पाँच खडे और पाँच आड़े कोष्टक बनाएँ। इस प्रकार २५ कोष्टक बन जाएँगे। उनमें मध्यके आड़े पाँच कोष्टकोंमें 'क्षिप ॐ स्वा हा'- इन पाँच अक्षरोंकी पंच महाभूतात्मक महाविद्या लिखें। इसी प्रकार मध्यके खड़े पाँच कोष्टकों में भी इन्हीं पाँच अक्षरोंकी महाविद्या लिखें। (इनमें क्षि पृथ्वीबीज, प-अप्बीज, ॐ-अग्निबीज, स्वा-वायुबीज और हा-आकाशबीज है।) प्रथम आड़ी पंक्तिके शेष चार कोष्टकोंमें दूसरी गाथामें सूचित २५,८०,१५ और ५० अंक अनुक्रम से लिखें। दूसरी आड़ी पंक्ति के शेष चार स्थानोंमें तीसरी गाथामें सूचित २०,४५,३० और ७५ अंक अनुक्रमसे लिखें। चौथी आड़ी पंक्तिके शेष चार कोष्टकों में चौथी गाथा में सूचित ७०,३५,६० तथा ५-ये चार अंक अनुक्रम से लिखें। इसी प्रकार पाँचवी गाथामें वर्णित ५५,१०,६५ तथा ४० ऐसे तथा चार अंक अनुक्रमसे लिखें। इ बाद छठी गाथामें सूचित ह (दुरित नाशक सूर्यबीज) र, पापदहन-कारक, अग्नीबीज) हुँ (भूतादित्रासक क्रोधबीज और आत्मरक्षक कवच) तथा हः (सूर्यबीजमें संपुटित) ये चार बीजाक्षर प्रथम आडी पंक्तिके अंको-वाले चार कोष्टकों अंकोके नीचे अनुक्रमसे लिखें तथा स (सौम्यताकारक चन्द्रबीज) र (तेजोदीपन अग्निबीज) सुं (सर्वदुरितको शांतकरने वाला शामक) और सः (चन्द्रबीज में संपुटित) ये चार अक्षर दूसरी आड़ी पंक्तिके अंकोंवाले चार कोष्टकों में अनुक्रम से लिखें। चौथी आड़ी पंक्तिके अंकोंवाले चार कोष्टकोंमें भी 'ह र हुँ हः'-ये चार बीजाक्षर रखें और पाँचवी आड़ी पंक्ति के अंकोवाले चार कोष्टकों में 'स र सुं सः'-ये चार बीजाक्षर रखें। छठी गाथा के आरंभ में यह जो ॐ है वह पंच परमेष्ठी वाचक है और ह र हुं हः -इन चार बीजाक्षरों के द्वारा अनुक्रम से पद्मा, जया, विजया और अपराजिता-ये चार देवियों के नाम जानें!

इस यंत्र की चार खड़ी, चार आड़ी और दो तिरछी इस प्रकार दस पंक्तियों के अंकों का योग करने पर प्रत्येक का योगफल १७० होता है। सर्व ओर से समान योगफल मिलता है अतः इस यंत्र का नाम सर्वतोभद्र है।

इस यंत्र के चार पार्श्व के अंकों वाले १६ कोष्टकों में अनुक्रम से सातवीं और आठवीं गाथा में सूचित १६ विद्यादेवियों के नाम ॐ ह्रीं श्रीं इन तीन बीजाक्षरों सहित और अंत में ' नमः ' पदसहित लिखें।

सर्वतोभद्र यंत्र

गाथा					
२	रोहिणी २५ ह	प्रज्ञप्ति ८० र	क्षि	वज्रशृंखला १५ हुं	वज्रांकुशी ५० हः
३	चक्रेश्वरी २० स	नरदत्ता ४५ र	प	काली ३० सुं	महाकाली ७५ सः
	क्षि	प	ॐ ह्रीं श्रीं	स्वा	हा ॐ
४	गौरी ७० ह	गांधारी ३५ र	स्वा	महाज्वाला ६० हुं	मानवी ५ हः
५	वैरोट्या ५५ स	अच्छुप्ता १० र	हा	मानसी ६५ सुं	महामानसी ४० सः

यह यंत्र चाँदी या ताम्रपत्र पर लिखकर घरमें शुद्ध स्थान पर सुरक्षित रखकर नित्य पूजन करें। आवश्यकतानुसार शुद्धतापूर्वक इस यंत्रका प्रक्षालन कर उस जलका पान करें। करवाएँ जिससे रोगादि सभी उपद्रव शांत होते हैं।

मूल—

पणवीसा य असीआ, पनरस पन्नास जिणवरसमूहो ।
नासेउ सयलदुरिअं, भवियाणं भत्ति जुत्ताणं ॥ २ ॥

शब्दार्थ

पणवीसा-पचीस ।
य-और ।
असीआ-अस्सी ।
पनरस-पन्द्रह ।
पन्नास-पचास (इसप्रकार)
जिणवर समूहो-जिनेश्वरोंका समूह ।
नासेउ-नाश करो ।
सयलदुरिअं--समग्र दुरित को (पापको) ।
भविआणं-भव्य जीवों के ।
भत्तिजुत्ताणं-भक्ति से युक्त ऐसे ।

अर्थ-सङ्कलना—

पच्चीस, अस्सी, पन्द्रह और पचास इस प्रकार तीर्थकरों का समूह भक्तिसे युक्त भव्य जीवों के समग्र पापकर्मों का नाश करो ॥२॥

मूल—

वीसा पणयाला विय, तीसा पन्नतरी जिणवरिंदा ।
गहभूअरक्खसाइणि-घोरुवसग्गं पणासंतु ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—

वीसा-बीस ।
पणयाला-पैंतालीस ।
विय-तथा ।
तीसा-तीस (और) ।
पन्नतरी-पचहत्तर ।
जिणवरिंदा-जिनेश्वरगण ।
गह-भूअ-रक्खस साइणि-ग्रह, भूत, राक्षस और शाकिनी के ।
घोरुवसग्गं-घोर उपसर्ग का ।
पणासंतु-नाश करो ।

अर्थ-सङ्कलना—

बीस, पैंतालीस, तीस तथा पचहत्तर जिनेश्वर गण (तीर्थंकरगण) ग्रह भूत, राक्षस और शाकिनी के घोर उपसर्ग का विनाश करो ॥३॥

मूल—

सत्तरि पणतीसा विय, सट्ठी पंचेव जिणगणो एसो ।
वाहि-जल-जलण-हरि-करि-चोरारि महाभयं हरउ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—

सत्तरि-सत्तर ।
पणतीसा-पैंतीस ।
विय-तथा ।
सट्ठी-साठ ।
पंचेव-पाँच ही ।
जिणगणो-जिनेश्वरों का समूह ।
एसो-यह, इस प्रकार ।
वाहि-व्याधि ।
जल-पानी (अथवा) ज्वर ।
जलण-अग्नि ।
हरि-सिंह ।
करि-हाथी ।
चोर-चोर (और) ।
अरि-शत्रु संबंधी ।
महाभयं-घोर भय को ।
हरउ-दूर करो ।

अर्थ-सङ्कलना—

सत्तर, पैंतीस, साठ और पाँच जिनेश्वरों का समूह व्याधि, जल अथवा ज्वर, अग्नि, सिंह, हाथी, चोर और शत्रु संबंधी घोर भय को दूर करो ॥ ४ ॥

मूल—

पणपन्ना य दसेव य, पन्नट्ठी तह य चेव चालीसा ।
रक्खंतु मे सरीरं, देवासुरपणमिआ सिद्धा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—

पणपन्ना य–पचपन (और)।
दसेव य–दस ही (और)।
पन्नट्ठी–पैंसठ।
तह य चेव–तथा और निश्चित रूप से।
चालीसा–चालीस (ये)।
रक्खंतु–रक्षण करो।
मे–मेरे।
शरीरं–शरीर का।
देवासुरपणमिआ–सुर और असुर द्वारा प्रणाम किए गए।
सिद्धा–सिद्ध बने हुए तीर्थंकर।

अर्थ-सङ्कलना—

पचपन, दस, पैंसठ और चालीस सिद्ध बने हुए तीर्थंकर जो देवों और असुरों के द्वारा नमस्कृत हैं। (देवों और असुरों के द्वारा जिन्हे प्रणाम किया गया है) वे मेरे शरीर की रक्षा करें ॥ ५ ॥

मूल—

ॐ ह्र र हुं हः स र सुं सः, ह्र र हुं हः तहय चेव सरसुंसः।
आलिहिय नामगब्भं, चक्कं किर सव्वओभद्दं ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—

ॐ–ॐ (परमेष्ठिवाक्य)।
ह्र र हुं हः–दुरितनाशक सूर्यबीज, पाप दहनकारक अग्निबीज, भूतादि त्रासक क्रोधबीज और आत्मरक्षक कवच तथा सूर्यबीज में संपुटित चार बीजाक्षर हैं। (इन चार अक्षरों से पद्मा, जया, विजया और अपराजिता का भी प्रतिनिधित्व होता है)।
स र सुं सः–सौम्यताकारक चन्द्रबीज, तेजोद्दीपन अग्निबीज, सर्व दुरितशामक बीज और चन्द्रबीजमें संपुटित चार बीज हैं। ये चारों मंत्रबीज उपसर्ग निवारण के लिये हैं।
तह य–तथा और।
चेव–निश्चित् रूपसे।

आलिहिय नाम गब्भं–लिखा है (साधक का) नाम जिसके मध्यमें ऐसा।
चक्कं–यंत्र।
किर–निश्चित् रूपसे।
सव्वओभद्दं–सर्वतोभद्र (है)।

अर्थ-सङ्कलना—

ॐ ह र हुं हः तथा स र सुं सः और पुनः ह र हुं हः तथा स र सुं सः नामक मंत्र के बीजाक्षर सहित मध्य में साधक का नाम लिखा है ऐसा यह सर्वतोभद्र नामक यंत्र होता है ॥ ६ ॥

मूल—

ॐ रोहिणि पन्नत्ति, वज्जसिंखला तह य वज्जअंकुसिआ।
चक्केसरि नरदत्ता, कालि महाकालि तह गोरी ॥ ७ ॥
गंधारी महज्जाला, माणवि वइरुट्ट तह य अच्छुत्ता।
माणसि महमाणसिआ, विज्जादेवीओ रक्खंतु ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—

ॐ–ॐ।
रोहिणि–रोहिणी।
पन्नत्ति–प्रज्ञप्ति।
विज्जसिंखला–वज्रशृंखला।
तहय–तथा।
वज्जअंकुसिआ–वज्रांकुशा।
चक्केसरि–चक्रेश्वरी।
नरदत्ता–नरदत्ता।
कालि–काली।
महाकालि–महाकाली।
तह–तथा।
गोरी–गौरी।
गंधारी–गांधारी।
महज्जाला–महाज्वाला।
माणवि–मानवी।
वइरुट्ट–वैरोट्या।
तह य–तथा।
अच्छुत्ता–अच्युप्ता।
माणसि–मानसी।
महमाणसिआ–महामानसिका।
विज्जादेवीओ–विद्यादेवियाँ।
रक्खंतु–रक्षा करो।

अर्थ-सङ्कलना—

उस यंत्र में ॐ (प्रणवबीज) ह्रीँ (मायाबीज) और श्रीँ (लक्ष्मीबीज) इन तीन मंत्रबीज के साथ सोलह देवियों के नाम इस अनुक्रमसे लिखें :—

(१) रोहिणी, (२) प्रज्ञप्ति, (३) वज्रशृंखला, (४) वज्रांकुशा, (५) चक्रेश्वरी, (६) नरदत्ता, (७) काली, (८) महाकाली, (९) गौरी, (१०) गांधारी, (११) महाज्वाला, (१२) मानवी, (१३) वैरोट्या, (१४) अच्छुप्ता, (१५) मानसी, और (१६) महामानसिका। ये सभी विद्यादेवियाँ रक्षा करो ॥ ७–८ ॥

मूल—

पंचदसकम्मभूमिसु, उप्पन्नं सत्तरि जिणाण सयं ।
विविहरयणाइवन्नो-वसोहिअं हरउ दुरिआइं ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—

पंचदसकम्मभूमिसु—पन्द्रह कर्म भूमियों में।
उप्पन्नं—उत्पन्न।
सत्तरि—सत्तर।
जिणाण—जिनेश्वर।
सयं—एक सौ और।
विविहरयणाइवन्नो—विविधरत्नादि के वर्ण द्वारा।
वसोहिअं—शोभित।
हरउ—हरण करो, दूर करो।
दुरिआइं—पापों का।

अर्थ-सङ्कलना—

(पाँच भरत, पाँच ऐरवत और पाँच महाविदेह—इस प्रकार) पन्द्रह कर्म भूमियाँ हैं। उनमें उत्कृष्ट कालमें (अर्थात् श्री अजितनाथ

के कालमें) एक सौ और सत्तर जिनेश्वर होते हैं। (उनमें एक महा-विदेह की बत्तीस विजय होनेसे पाँच महाविदेह की एक सौ और साठ विजय में एक एक तीर्थंकर होनसे एक सौ साठ तीर्थंकर होते हैं। उनमें पाँच भरत और पाँच ऐरवत के कुल दस मिलने से १७० होते हैं। उन सब की यहाँ स्तुति की गई है।)

अर्थात्—पन्द्रह कर्मभूमियों में उत्पन्न विविध रत्नादि के वर्ण-द्वारा शोभित एक सौ सत्तर जिनेश्वर हमारे दुरितों का—पापों का हरण करो ॥ ९ ॥

मूल—

चउतीसअइसयजुआ, अट्ठमहापाडिहेरकयसोहा ।
तित्थयरा गयमोहा, झाएअव्वा पयत्तेणं ॥ १० ॥

शब्दार्थ—

चउतीस–चौंतीस ।
अइसय–अतिशयों से ।
जुत्ता–युक्त ।
अट्ठ–आठ ।
महापाडिहेर–महाप्रातिहार्य ।
कय सोहा–की है शोभा । जिनकी ऐसे (तथा)
तित्थयरा–तीर्थंकर ।
गयमोहा–गया है मोह जिनका ऐसे ।
झाएअव्वा–ध्यान करने योग्य हैं ।
पयत्तेणं–प्रयत्नपूर्वक ।

अर्थ-सङ्कलना—

चौंतीस अतिशयों से युक्त, अष्ट महाप्रातिहार्यों से शोभित तथा मोहरहित तीर्थंकरगण आदरपूर्वक ध्यान करने योग्य हैं ॥१०॥

मूल—

ॐ वरकणयसंखविद्दुम-मरगयघणसन्निहं विगयमोहं ।
सत्तरिसयं जिणाणं, सव्वामरपूइअं वंदे ॥ ११ ॥ स्वाहा

शब्दार्थ—

वरकणय-श्रेष्ठ स्वर्ण।
संख-शंख।
विद्दुम-विद्रुम, मूँगा।
मरगय-मरकत, नीलम।
घण-मेघ।
सन्निहं-जैसे, समान वर्ण वाले।
विगयमोहं-गया है मोह जिनका। (तथा)।
सत्तरिसयं-एक सौ और सत्तर।
जिणाणं-जिनेश्वरों के।
सव्वामरपूइअं-सर्व देवों से पूजित
वन्दे-मैं वन्दन करता हूँ।

अर्थ-सङ्कलना—

श्रेष्ठ स्वर्ण, शंख, मूँगे, नीलम और मेघ सदृश वर्णवाले, मोह-रहित और सर्व देवों से पूजित एक सौ सत्तर जिनेश्वरों को मैं वन्दन करता हूँ। (यहाँ प्रारंभ में जो 'ओंकार' शब्द लिखा है वह परमेष्ठी-वाचक है। तथा अन्त में जो 'स्वाहा' शब्द लिखा है वह देवों को हवि देने के समय बोला जाता है—ऐसा सर्वत्र समझें) ॥ ११ ॥

मूल—

ॐ भवणवइवाणवंतर-जोइसवासी विमाणवासी अ ।
जे के वि दुट्ठदेवा, ते सव्वे उवसमंतु मम ॥ १२ ॥ स्वाहा

शब्दार्थ—

भवणवइ-भुवनपति।
वाणवंतर-वाण व्यंतर।
जोइसवासी-ज्योतिष्क वासी।
विमाणवासी अ—और विमानवासी।
जे के वि-जो कोई।

दुट्ठदेवा–दुष्ट देव हों।	**उवसमंतु**–उपशांत हों।
ते सव्वे–वे सभी।	**मम**–मेरे प्रति।

अर्थ-सङ्कलना—

भुवनपति, वाणव्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक इन चारों ही देवनिकाय में जो कोई भी दुष्ट अर्थात् शासन के द्वेषी देव हों व सभी मुझ पर उपशांत हों; मुझ पर विघ्न न करें ॥ १२ ॥

मूल—

चन्दणकप्पूरेणं, फलए लिहिऊण खालिअं पीअं ।
एगंतराइगहभूअ-साइणिमुग्गं पणासेइ ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—

चन्दणकप्पूरेणं–चन्दन और कर्पूर द्वारा।	**पीअं**–पीया हो तो वह।
फलए–काष्ट पट्ट पर।	**एगंतराइगहभूअ**—एकांतरिक आदि ज्वर, ग्रह, भूत।
लिहिऊण–यह यंत्र लिखकर।	**साइणिमुग्गं**-शाकिनी और मोगक।
खालिअं–उसे धोकर।	**पणासेइ**–सर्वथा नाश करता है।

अर्थ-सङ्कलना—

चंदन और कर्पूर द्वारा काष्टपट्ट* पर यह यंत्र आलेखित कर फिर उसे जल द्वारा धोकर वह जल पीने से एकांतरिक ज्वर, ग्रह,

---

* यहाँ कुछ का मत यह है कि कांस्य स्थालादि में कर्पूर, गोरोचन, केसर, चंदन और कस्तूरी आदिका कर्दम करके सात बार लेप करें तथा छायामें सुखाएँ फिर उस पर यंत्र लिखकर पुष्प धूपादिद्वारा पूजनकर उसके प्रक्षाल (न्हवनजल) का पान करने से रोग नष्ट होता है

भूत, शाकिनी और मोगक तथा उपलक्षण से अन्य भी रोग और भूतादि के आवेश का सर्वथा नाश होता है ॥ १३ ॥

मूल—

इय सत्तरिसयं जंतं, सम्मं मंतं दुवारि पडिलिहिअं।
दुरिआरि विजयवंतं, निब्भंतं निच्चमच्चेह ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—

इअ–इस प्रकार।
सत्तरिसयंजंतं–एक सो सत्तर जिनेश्वरों का यँत्र।
सम्मं मंतं–सम्यक् मंत्र रूप।
दुवारि–द्वार के बीच।
पडिलिहिअं–आलेखित किया जाए तो वह।
दुरिआरिविजयवंतं–कष्ट और शत्रु का विजयवंत। (विजय प्राप्त करवाने वाला।
निब्भंतं–संदेह रहितपनसे।
निच्चं–निरन्तर, नित्य।
अच्चेह–पूजा करो।

अर्थ-सङ्कलना—

इस प्रकार सम्यक् मंत्ररूप यह पूर्वोक्त एक सौ सत्तर जिनेश्वरों का यंत्र× द्वार के बीच लिखा हो तो वह कष्ट और शत्रु का (विजयवंत+) विनाश करता है। अतः हे भव्यजनो! संदेहरहित होकर आप उसका निरन्तर (नित्य) पूजन करों ॥ १४ ॥

× इसी संबंध में यह भी मत है कि चाँदी या तांबे के पत्र में यंत्र आलेखित कर गृह के मध्य में नित्य उसका पूजन करें फिर आवश्यकतानुसार शुद्ध जल में उसे धोकर वह जल पीलें।

+ यहाँ "दुरिआरि विजयतंतं"–ऐसा पाठांतर है। वहाँ कष्ट और शत्रु का विजय करने वाला यंत्र अर्थात् (एक सौ सत्तर जिनेश्वर के यंत्ररूप) शास्त्र इस प्रकार अर्थ करें।

५९ ५ नमिऊण स्तोत्रम्* [पंचमं स्मरणम्]

मूल—

नमिऊण पणयसुरगण–चूडामणिकिरणरंजिअं मुणिणो।
चलण–जुअलं महाभय–पणासणं संथवं वुच्छं ॥ १ ॥

शब्दार्थ—

नमिऊण–नमस्कार करके।	**मुणिणो**–पार्श्वनाथ मुनि के।
पणय–नमस्कार करते हुए।	**चलणजुअलं**–चरण युगल को।
सुरगण–देवसमूह के।	**महाभय**–घोर भय का।
चूडामणि–मुकुट के।	**पणासणं**–नाश करने वाला।
किरण–किरणों के द्वारा।	**संथवं**–संस्तवन, स्तोत्र।
रंजिअं–रंजित, रंगे हुए।	**वुच्छं**–मैं कहता हूँ।

* इस स्तोत्र के कर्ता बृहद् गच्छीय श्रीमानतुंगाचार्य हैं।

१ मह–उत्सव और अभय–निर्भयता, इन दोनों के संबंध में पणं–अवश्य, असणं–करने योग्य अर्थात् उत्सव और निर्भयता के लिये अवश्य स्मरण करने योग्य संस्तव–ऐसा अर्थ भी होता है। बड़े–घोर भय सोलह बताए गए हैं, परन्तु कई स्थलों पर 'रोगजलजलण'० इत्यादि आठ भयों का भी वर्णन मिलता है। अतः इस स्तोत्र में इस स्तोत्रकर्ता आठ भय निवारण लक्षण प्रभु के अतिशय का वर्णन दो–दो गाथाओं द्वारा करते हैं। प्रथम उद्देश्य और फिर निर्देश होता है। परन्तु ऐसी शैली इन स्तोत्रकार ने नहीं

अर्थ-सङ्कलना—

नमस्कार करते हुए देवसमूह के मुकुटों में लगी हुई मणिओं की किरणों से श्रीपार्श्वनाथ मुनीश्वर के जो दोनों चरण रंजित हैं उन्हें नमस्कार करके महा भयका नाश करने वाला यह स्तोत्र मैं कहता हूँ ॥ १ ॥

रोगभयहर माहात्म्य

मूल—

सडियकरचरणनहमुह निबुड्डनासा विवन्नलायन्ना ।
कुट्ठ महारोगानल-फुलिंग निदड्ढसव्वंगा ॥ २ ॥

शब्दार्थ—

सडिय-सड़ गए हैं।
कर-हाथ।
चरण-पाँव।
नह-नाखून (और)।
मुह-मुख (जिसके)।
निबुड्डनासा-बैठ गए हैं नाक (जिनके)।
विवन्नलायन्ना×-विनष्ट हुआ है। लावण्य जिनका।
कुट्ठमहारोग-कोढ नामक महारोग रूपी।
अनलफुलिंग-अग्नि के कणों द्वारा
निदड्ढ-जल गए हैं।
सव्वंगा-सर्व अंग जिनके ऐसे।

× विवर्णलावण्याः अर्थात् विरूप लावण्यवाले अर्थात् कुरूप भी अर्थ होता है।

रखी। कर्ता ने प्रथम आठ भयनिवारक अतिशयों का वर्णन करके बाद में 'रोगजल॰ इत्यादि गाथा द्वारा अपना उद्देश्य बताया है। भक्तामर स्तोत्र में भी उक्त आचार्य महाराज ने ऐसी ही शैली रखी है।

अर्थ-सङ्कलना—

जिनके हाथ, पाँव, नाखून और मुख सड़ गए हों, जिनकी नासिका बैठ गई हो, जिनका लावण्य नष्ट हो गया हो और जिनके सर्व अंग कोढ नामक महारोग रूपी अग्नि के कणों से जल गए हों ॥ २ ॥

मूल—

ते तुह चलणाराहण-सलिलंजलिसेय बुड्ढियच्छाया*
वणदवदड्ढागिरिपा-यवव्व पत्ता पुणो लच्छिं ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—

ते-वे।
तुह-आपके।
चलणाराहण-चरण की आराधना रूप।
सलिलंजलि-जलकी अंजलि के।
सेय-सिंचनसे।
वुड्ढियच्छाया-वढ़ी है कांति जिनकी।
वणदवदड्ढा-वन के दानावल से जले हुए।
गिरिपायवव्व-पर्वत के वृक्षों की भाँति।
पत्ता-प्राप्त की है।
पुणो-पुनः
लच्छि-लक्ष्मी को-कांति को।

अर्थ-सङ्कलना—

वे मनुष्य हे भगवान्! आपके चरणकमल की सेवा-आराधना रूपी जल अंजलि के सिंचन से अधिक कांतिवाले होकर वन के दावानल से जले हुए पर्वत के वृक्षों की भाँति पुनः आरोग्य-कांति को प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

---

* वड्ढिउच्छाहा (वर्धितोत्साहाः) पाठांतर।

मूल—

दुव्वायखुमियज़लनिहि* उब्भडकल्लोलभीसणारावे ।
संभंतभयविसंठुल-निज्जामयमुक्कवावारे ॥ ४ ॥

अविदलिअजाणवत्ता, खणेण पावंति इच्छियं कूलं ।
पासजिणचलणजुअलं, निच्चं चिअ जे नमंति नरा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—

दुव्वायखुमिय—दुष्टवायु द्वारा क्षुभित ।

जलनिहि—समुद्र में ।

उब्भडकल्लोल—उत्कट तरंगों के द्वारा ।

भीसणारावे—भयंकर शब्दवाले ।

संभंतभयविसंठुल—संभ्रान्त बने हुए और भय से विह्वल बने हुए ।

निज्जामय—चालकों ने ।

मुक्कवावारे—छोड़ दिया है । व्यापार जिसके संबंध में ऐसे ।

अविदलिअ जाणवत्ता—नहीं टूटा है वाहन जिनका ।

खणेण—क्षण भर में ।

पावंति—प्राप्त करते हैं ।

इच्छिअं—इच्छित ।

कूलं—तट ।

पासजिण—श्री पार्श्वनाथ के ।

चलणजुअलं—चरणयुगल को ।

निच्चं—नित्य ।

चिअ—निश्चित् रूपसे ।

जे—जो ।

नमंति—नमस्कार करते हैं ।

नरा—मनुष्य ।

अर्थ-सङ्कलना—

उग्र वायुद्वारा क्षुभित बने हुए, उत्कट तरंगों के द्वारा भयंकर गर्जना करते हुए (समुद्रमें) संभ्रान्त एवं भय से विह्वल बने हुए जिन

* प्राकृतत्वात्सप्तमीलोपः

चालकों ने यान चलाने का व्यापार (कार्य) छोड़ दिया है ऐसे समुद्रमें जो मनुष्य नित्य श्रीपार्श्वनाथ के चरणयुगल को नमस्कार करते हैं। वे अक्षत यान पात्र वाहन सहित क्षणभर में इच्छित समुद्र तट को प्राप्त करते हैं ॥ ४–५ ॥

मूल—

अग्निमय माहात्म्य

खरपवणुद्धूयवणदव,-जालावलिमिलियसयलदुमगहणे।
डज्झंतमुद्धमयवहु-भीसणरवभीसणंमि वणे- ॥६॥
जगगुरुणो *कमजुअलं, निव्वाविअसयलतिहुअणाभोअं।
जे संभरंति मणुआ, न कुणई जलणो भयं तेसिं ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—

खरपवण–प्रचंड वायु द्वारा।	भीसण–भयंकर।
उद्धूय–उद्धत बने हुए अर्थात् विस्तार को प्राप्त किये हुए।	रव–शब्द द्वारा।
	भीसणंमि–भयंकर।
वणदव–वण के दावानल की।	वणे–वन में।
जालावलि–ज्वाला की श्रेणी द्वारा।	जगगुरुणो–जगद्गुरु को।
मिलिय–परस्पर मिल गए हैं।	कमजुअलं–चरण युगल को।
दुमगहणे–वृक्षों के समूह में।	निव्वाविअ–सुखी किया है।
डज्झंत–जलती हुई।	सयल–समग्र।
मुद्धमयवहु–मुग्ध मृग की वधुओं के। (हरिणीयों के)।	तिहुअणाभोअं–त्रिभुवन का विस्तार जिसने ऐसे।

* कं–पानी, अयुग–असमाधि को, अलति–निवारयति इति अलं–निवारण करने वाला।

जे–जो।
संभरंति–स्मरण करते हैं।
मणुआ–मनुष्य।
न कुणई–नहीं करती।
जलणो–अग्नि।
भयं–भय।
तेसिं–उन्हें।

अर्थ-सङ्कलना—

प्रचंड वायु द्वारा सर्वत्र फैले हुए दावानल की ज्वाला की श्रेणी द्वारा परस्पर एक रूप बने हुए वन खंडों में जलती हुई मुग्ध हरिणीयों के शब्द द्वारा अथवा जलतें हुए वन में ज्वाला से आकुल-व्याकुल बनी हुई हरिणीयें के भीषण आक्रन्द से भयानक दिखाई देते हुए वन में आपत्तिरूपी ताप को शांतकरके त्रिभुवन के प्राणियें को जिन जगद्गुरु पार्श्वनाथ ने सुखी किया है उन के चरणयुगल का जो लोग सम्यक् प्रकारसे स्मरण करते हैं उन्हें वैसी अग्नि भी भयभीत नहीं करती ॥ ६–७ ॥

विषभयहर माहात्म्य

मूल—

विलसंतभोगभीसण–फुरिआरुणनयणतरलजीहालं।
उग्गभुअंगं नवजलय–सत्थहं भीसणायारं ॥ ८ ॥
मन्नंति कीडसरिसं दूरपरिच्छूढविसमविसवेगा।
तुहनामक्खरफुडसिद्धमंत*गुरुआ नरा लोए ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—

विलसंत भोग भीसण–सुशोभित फनों से भयंकर।
फुरिआरुणनयण–चंचल–रक्त नेत्र वाले।

* 'गरुआ' पाठांतर है।

तरलजीहालं–चपल जिह्वा वाले ।
उग्गभुअंगं–उग्र सर्प को ।
नवजलयसत्थहं-नवीन मेघ सदृश और ।
भीसणायारं*-भयंकर आकार वाले ।
मन्नंति–मानते हैं ।
कीडसरिसं–कीट समान ।
दूर परिच्छूढ–अत्यन्त सर्वथा नाश किया है ।
विसमविसवेगा–विषम विषका वेग जिन्होंने ऐसे ।
तुह–आपके ।
नामक्खर–नाम के अक्षर द्वारा ।
फुड–प्रगट रूप से ।
सिद्धमंत–सिद्धमंत्र द्वारा ।
गुरुआ–बड़े ।
नरा–लोग ।
लोए–लोक में ।

अर्थ-सङ्कलना—

हे श्री पार्श्वनाथस्वामी ! इस जगतमें जो लोग आपके नामाक्षर का जाप करके उस सिद्ध बने हुए मंत्रद्वारा उग्र सर्प का भी विषम विष के वेग का सर्वथा नाश करते हैं भले ही वह सर्प विकस्वर फनों अथवा शरीर से भयंकर हो, उसके नेत्र चंचल और रक्तवर्ण वाले हों, उसकी जिह्वा चपल हो, नवीन मेघ सदृश वह श्याम हो तथा उसका आकार भयंकर दिखाई देता हो तब भी वे उसे कीट समान समझते हैं ॥ ८–९ ॥

मूल—

अटवीभयहरण माहात्म्य

अडवीसुभिल्लतक्कर–पुलिंदसद्दूलसद्दभीमासु ।
भयविहुरवुन्नकायर–उल्लूरिअ पहिय सत्थासु ॥ १० ॥

* 'भीसणायारं' भयंकर आचार-व्यवहार है जिसका अथवा 'भीषण आ समन्तात् चारो वेल्लनं यस्य स भीषणाचारस्तम्' भयंकर है। चारों ओर भ्रमण जिसका ऐसा उग्र सर्प-इस प्रकार भी अर्थ हो सकता है

अविलुत्तविहवसारा, तुह नाह पणाममत्तवावारा।
ववगय विग्घा सिग्घं, पत्ताहिअइच्छिअं ठाणं ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—

अडवीसु–अटवी में, जंगलों में।
भिल्ल–भील।
तक्कर–तस्कर, चोर।
पुलिंद–पुलिन्द्र जातिके भील।
सद्दूल सद्द–सिंह के शब्दों से।
भीमासु–भयंकर।
भयविहुर–भयसे विह्वल बने हुए।
वुन्न–दुःखित।
कायर–कायर।
उल्लुरिय पहिय सत्थासु–पथिक-समूह को जिसमें लूटा जाता है। ऐसी अटवी में।
अविलुत्त–नहीं लूटा गया।
विहवसारा–वैभव का सार जिनका (तथा)।
तुह–आपके।
नाह–हे नाथ।
पणाममत्तवावारा–मात्र प्रणाम रूप ही व्यापार करने वाले लोग।
ववगय विग्घा–नष्ट हुए हैं। विघ्न जिनके ऐसे होनेसे।
सिग्घं–शीघ्र।
पत्ता–प्राप्त किया है।
हिअइच्छियं–हृदयमें इच्छित।
ठाणं–स्थान।

अर्थ-सङ्कलना—

पल्लीवासी भीलों, चोरों अन्य प्रकार के भीलों. और सिंह के भयंकर शब्दों से तथा भय से विह्वल बने हुए, दुःखित तथा कायर बने हुए पथिकों के समूह जिनमें लूटे गए हैं ऐसी अटवियों (जंगलों) में हे नाथ! मात्र आपको प्रणाम करनेवाले लोग ही वैभव का सार लुटाए बिना विघ्नरहित रूप से शीघ्र ही इच्छित स्थानपर पहुँचे हैं ॥ १०–११ ॥

मूल—

सिंहभयहर माहात्म्य

पज्जलिआनलनयणं, दूर वियारियमुहं महाकायं।
नहकुलिसघायविअलिअ—गइंद कुंभत्थलाभोअं॥१२॥

पयणससंभमपत्थिव-नहमणिमाणिक्कपडिअपडिमस्स।
तुह वयणपहरणधरा, सीहं कुद्धं पि न गणंति॥१३॥

शब्दार्थ—

पज्जलिआनल—प्रज्वलित अग्नि समान।
नयणं-नेत्र हैं जिनके।
दूर-अत्यंत।
वियारिय-चौड़ा किया है।
मुहं-मुख जिसने।
महाकायं-विशाल है काया जिसकी (तथा)।
नहकुलिसघाय-नखरुपी वज्र के प्रहार से।
विअलिअ-विदलित कर डाला है।
गइंद—गजेन्द्र के।
कुंभत्थलाभोअं-कुंभस्थलका विस्तार जिसने ऐसे।
पणयससंभम-नमस्कार करते हुए आदर वाले।
पत्थिव-राजाओं के।
नहमणि माणिक्कपडिअ-पडिमस्स-नखरुप मणि और माणिक्य में जिनके प्रतिबिम्ब पड़े हुए हैं ऐसे।
तुह—आपके।
वयणपहरणधरा-वचन रुपी शस्त्र को धारण करने वाले लोग।
सीहं कुद्धं पि-क्रुद्ध बने हुए सिंह को भी।
न गणंति-नहीं गिनते।

अर्थ-सङ्कलना—

हे पार्श्वनाथ प्रभु! आपके *नखरुपी मणि और माणिक्य में

* प्रभु के नख अत्यन्त कांतिवाले होनेसे उन्हें मणि और माणिक्य की उपमा दी है। नमस्कार करते समय नमस्कार करने वाले का प्रतिबिम्ब

आदरपूर्वक नमस्कार करते हुए राजाओं के प्रतिबिम्ब पड़े हैं ऐसे आपके वचनरूपी शस्त्र को धारण करने वाले मनुष्य प्रज्वलित अग्नि-तुल्य नेत्रवाले, अत्यन्त विस्तीर्ण मुखवाले, विशाल काय, नखरूपी वज्र के प्रहार द्वारा गजेन्द्र के मस्तकों को चीर डालने वाले और क्रुद्ध सिंह को भी नहीं गिनते। ॥ १२-१३ ॥

मूल—

गजेन्द्रभयहर माहात्म्य

ससिधवलदंतमुसलं दीहकरुल्लालवुड्ढिउच्छाहं ।
महुपिंगनयणजुअलं, ससलिलनवजलहरारावं ॥ १४ ॥

भीमं महागइंदं, अच्चासन्नंपि ते न वि गणंति ।
जे तुम्ह चलणजुअलं, मुणिवई तुंगं समल्लीणा ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—

ससिधवल–चंद्र समान उज्ज्वल हैं।	वुड्ढिउच्छाहं–वृद्धि को प्राप्त हुआ है उत्साह जिसका।
दंत मुसलं-दांतरूपी मूसल जिसके।	महुपिंग–मधु जैसे पीले हैं।
दीहकर–लम्बी सूंढ के।	नयणजुअलं–नेत्रयुगल जिसके।
उल्लाल–उछालने से।	

उस नख में गिरता है। यहाँ दूसरा अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है–नमस्कार करने वाले और आदर वाले 'पार्थिव'–इन्द्रों के 'नह' अर्थात् 'नभ' मस्तकों पर रहे हुए मुकुट के मणि माणिक्य में जिन प्रभु का प्रतिबिम्ब पड़ा है ऐसे प्रभु।

जलसलिल–जल वाले।
नव–नवीन।
* **जलहरारावं**–मेघ सदृश शब्द है जिसका ऐसे।
भीमं–भयंकर।
महागइंदं–महान् गजेन्द्र को।
अच्चासन्नंपि–अत्यन्त निकट आए हुए को भी।

ते–वे मनुष्य।
न वि गणंति–गिनते ही नहीं।
जे–जो।
तुम्ह–आपके।
चलणजुअलं–चरण युगल को।
मुणिवई–हे मुनिपति।
तुंगं–उत्कृष्ट ऐसे।
समल्लीणा–आश्रित बने हुए हैं।

अर्थ-सङ्कलना—

हे मुनिपति श्री पार्श्वनाथ स्वामी ! जो आपके उन्नत चरण-युगल में लीन बने हैं वे लोग चन्द्र सदृश उज्वल दंतुशल वाले, लम्बी सूंढ के उछालने से बृद्धिको प्राप्त हुआ है उत्साह जिसका ऐसे मधु सदृश पीले नेत्रवाले और जलसे भरे हुए नवीन मेघ जैसी गर्जना करते हुए और अत्यन्त निकट आए महा भयंकर गजेन्द्र को भी गिनते नहीं अर्थात् उसकी भी परवाह नहीं करते ॥ १४–१५ ॥

मूल—

रणभयहर माहात्म्य

समरंमि तिक्खखग्गा–भिग्घायपविद्धउद्धुयकबंधे ।
कुंतविणिभिन्न करि कलह–मुक्क सिक्कार पउरम्मि ॥ १६ ॥
निज्जिअदप्पुध्धुरिउ–नरिंद निवहा भडा जसं धवलं ।
पावंति पावपसमिण, पासजिण ! तुहप्पभावेण ॥ १७ ॥

* नव जलहरायारं–ऐसा भी है। वहाँ "नवीन मेघ सदृश आकार वाला"–ऐसा अर्थ करें। श्याम और उन्नत होने से यह उपमा घटित होती है।

शब्दार्थ—

समरंमि—युद्ध में।
तिक्खखग्गाभिग्घाय—तीक्ष्ण खड्ग के प्रहार से।
पविद्ध—कटे हुए (और)।
उद्धुय—नाचते हैं।
कबंधे—धड़ जिसमें (तथा)।
कुंतविणिभिन्न—भालों से भिद्ध।
करिकलह—हाथी के बच्चों द्वारा।
मुक्क—रखे हुए, किये हुए।
सिक्कार—चित्कार शब्द द्वारा।
पउरम्मि—प्रचुर, गहन।
निज्जिअ—जीते हैं।
दप्पुध्धुर—अहंकार द्वारा गर्विष्ठ।
रिउनरिंदनिवहा—शत्रु राजाओं के समूह जिनके। ऐसे होने से।
भडा—सुभट।
जसं—यश।
धवलं—उज्ज्वल।
पावंति—प्राप्त करते हैं।
पावपसमिण—पाप का नाश करने वाले।
पासजिण—हे पार्श्वजिन!
तुहप्पभावेण—आपके प्रभाव से।

अर्थ-सङ्कलना—

जिस समरागनमें तीक्ष्ण खड्ग के प्रहार से मस्तक रहित बने हुए धड़ नृत्य करते हों और भालों से भिद्ध हाथी के बच्चों द्वार किये गए चित्कार शब्द से जो व्याप्त है ऐसे रणसंग्राम में पापका नाश करने वाले हे पार्श्व जिन! आपका स्मरण करने वाले सुभट आपके प्रभाव से अहंकार द्वारा गर्विष्ठ बने हुए शत्रुराजाओं को जीत कर उज्ज्वल यश प्राप्त करते हैं॥ १६-१७॥

मूल—

रोगादि अष्टमहाभयहर माहात्म्य

रोग जल जलण विसहर-चोरारिमइंद गयरणभयाइं।
पासजिण नाम संकित्तणेण पसमंति सव्वाइं॥ १८॥

शब्दार्थ—

रोग–रोग।
जल–पानी।
जलण–अग्नि।
विसहर–सर्प।
चोरारि–चोररुपी शत्रु।
मइंद–मृगेन्द्र, सिंह।
गय–हाथी और ।
रण भयाइं–संग्राम संबंधी भय।
पासजिण–पार्श्वजिन के।
नाम संकित्तणेण–नाम का कीर्तन करने से ही।
पसमंति–शांत होते हैं, नष्ट होते हैं।
सव्वाइं–सभी।

अर्थ-सङ्कलना—

श्रीपार्श्वनाथस्वामी का नाममात्र स्मरण करने से रोग, जल, अग्नि, सर्प, चोर, सिंह, हाथी और संग्राम–इन सभी संबंधित भय नष्ट होते हैं। "(ॐ ह्रीँ नमिऊण पास विसहर वसह फुलिंग ह्रीं रोग जल जलण विसहर चोरारि मइंद गयरण भयाइं–पसमंति मम* स्वाहा)" यह महा मंत्र इस स्तवन में अलग अलग अक्षरों से बना हुआ है ॥१८॥

मूल—

उपसंहार–स्तोत्र माहात्म्य

एवं महाभयहरं, पासजिणिंदस्स संथवमुआरं।
भवियजणाणंदयरं, कल्लाणपरंपरनिहाणं ॥ १९ ॥
राजभयजक्खरक्खस–कुसुमिण दुस्सउण रिक्ख पीडासु।
संझासु दोसु पंथे, उवसग्गे तह य रयणीसु ॥ २० ॥

* 'मम' वाय शब्द से पवन बीज छूटक है। 'स्व' आकाश शब्द से आकाश बीज और 'हा' भी छूटक है। 'वसह' भी दूसरी गाथा में व्याप्त है। अन्य अक्षर तो प्रथम और इस गाथा में स्पष्ट हैं।

जो पढइ जो अ निसुणइ, ताणं कइणो य माणतुंगस्स ।
पासो पावं पसमेउ, सयलभुवणच्चियचलणो ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—

एवं-इस प्रकार ।
महाभयहरं-घोर भय का दूर करने वाले ।
पासजिणिंदस्स-श्रीपार्श्वनाथ के ।
संथवं-संस्तव को ।
उआरं-उदार ।
भवियजणाणंदयरं—भव्यजनों को आनंद देने वाला तथा ।
कल्लाण परंपरनिहाणं-कल्याण की परम्परा के निधानरूप ।
रायभय-राजा का भय ।
जक्ख-यक्ष ।
रक्खस-राक्षस ।
कुसुमिण-कुस्वप्न ।
दुस्सउण-अपशकुन (और) ।
रिक्ख-नक्षत्र तथा उपलक्षण से ग्रह राशि आदि की ।
पीडासु-पीडा के समय ।
संझासु-संध्या समय ।
दोसु-दोनों । **पंथे**-विषम मार्ग में ।
उवसग्गे—उपसर्ग के समय ।
तहय-तथा ।
रयणीसु-रात के समय ।
जो-जो व्यक्ति ।
पढइ-पढ़ता है ।
जो अ-तथा जो व्यक्ति ।
निसुणइ-सुनता है ।
ताणं-उसके । **कइणो**- कविके ।
य-तथा ।
माणतुंगस्स--मानसे बड़े अथवा मानतुंग नामक ।
पासो-पार्श्वनाथ ।
पावं-पाप को ।
पसमेउ-शांत करो ।
सयल-समग्र ।
भुवण-भुवन में ।
अच्चियचलणो—पूजे गए हैं । चरण जिनके ऐसे ।

अर्थ-सङ्कलना—

इस प्रकार श्रीपार्श्वनाथ का यह उदार स्तवन महाभयको

हरण करनेवाला, भव्य जनों को आनंद देने वाला और कल्याण की परम्परा का निधानरूप है। राजभय, यक्षभय तथा राक्षसभय, कुस्वप्न-भय तथा दुष्ट शकुनभय और नक्षत्र एवं ग्रह राशि आदि की पीड़ा के समय प्रातः और सायं दोनों संध्या समय, अरण्यादि विषम मार्ग में, उपसर्ग के समय तथा रात्रि में जो व्यक्ति यह स्तवन पढ़ता है तथा सावधान होकर सुनता है उसके तथा मानतुंगनामक कवि के पाप को समग्र जगत् के जीवो द्वारा पूजित हैं चरण जिनके ऐसे श्रीपार्श्वनाथ स्वामी शांत करो—नष्ट करो ॥ १९-२०-२१ ॥

मूल—

श्रीपार्श्वनाथ का माहात्म्य

उवसग्गंते कमठा-सुरम्मि झाणाओ जो न संचलिओ।
सुरनरकिन्नरजुवइहिं, संथुओ जयउ पासजिणो ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—

उवसग्गंते-उपसर्ग करने पर भी।
कमठासुरम्मि-कमठ नामक असुर।
झाणाओ-ध्यान से।
जो-जो प्रभु।
न संचलिओ—चलायमान नहीं हुए।
सुरनरकिन्नरजुवइहिं—देव, मनुष्य और किन्नर की स्त्रियों द्वारा।
संथुओ-स्तुति किये गए।
जयउ-जयवन्त हो।
पासजिणो-श्रीपार्श्वनाथ स्वामी।

अर्थ-सङ्कलना—

कमठासुर ने *उपसर्ग किये तब जो प्रभु ध्यान से चलित

---

* श्रीपार्श्वनाथ के साथ पूर्व के दस भवों से कमठ का वैर था। दसवें भव में कमठ तापस बनकर पंचाग्नि तप करता था। उस समय अग्निमें

नहीं हुए, वे देव, मनुष्य और किन्नर की स्त्रियों द्वारा स्तुति किये हुए श्रीपार्श्वनाथ जिनेश्वर जयवंत हों ॥ २२ ॥

मूल—

मंत्रका माहात्म्य

एअस्स मज्झयारे, अट्ठारसअक्खरेहिं जो मंतो ।
जो जाणइ सो झायइ, परमपयत्थं फुडं पासं ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—

एअस्स-इस स्तवन के ।	**जाणइ**-जानता है ।
मज्झयारे-मध्य में ।	**सो**-वह व्यक्ति ।
अट्ठारस अक्खरेहिं--अठारह अक्षरों का ।	**झायइ**-ध्यान करता है ।
जे- जो । **मंतो**-मंत्र है (उससे) ।	**परम पयत्थं**-मोक्षपद में स्थित ।
जो-जो व्यक्ति ।	**फुडं**-स्फुट रीत से (प्रगट रूप से) ।
	पासं-श्रीपार्श्वनाथ का ।

अर्थ-सङ्कलना--

इस स्तवन के मध्य 'नमिऊण पास विसहर वसह जिन फुलिंग' इन अठारह अक्षरों से बना हुआ चिन्तामणि नामक गुप्त मंत्र रहा हुआ है । उस मंत्र को जो जानता है वह मनुष्य परम पद को प्राप्त

से जलता हुआ काष्ठ बाहर निकलवा कर, उसे चिरवाकर उसमें जलता हुआ सर्प बताकर प्रभुने उसकी अज्ञानता प्रकट की । इससे वह तापस अपना अपमान समझकर मन में प्रभु पर विशेष बैर रखता हुआ घोर अज्ञान तप करके मेघमाली नामक देव बना । उसने पूर्व के बैर के कारण प्रभु जब कायोत्सर्ग ध्यान में थे तब प्रथम धूल की और बादमें मूसलाधार मेघकी की वृष्टि करके प्रभु पर अनेक उपसर्ग किये तब भी प्रभु ध्यान में ही तल्लीन रहे थे.....आदि ।

किए हुए श्रीपार्श्वनाथ का प्रगट रूपसे ध्यान करता है-मंत्र द्वारा प्रभु का ध्यान करता है-ऐसा जाने ॥ २३ ॥

मूल—

पार्श्वनाथके स्मरण का माहात्म्य

पासह समरण जो कुणइ, संतुट्ठे हिययेण ।
अट्ठुत्तरसयवाहिभय, नासइ तस्स दूरेण ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—

पासह—श्री पार्श्वनाथ का।
समरण—स्मरण।
जो-व्यक्ति।
कुणइ—करता है।
संतुट्ठेहिययेण—संतुष्ट हृदय से।
अट्ठुत्तरसय-एक सौ और आठ।
वाहिभय-व्याधि के भय।
नासई—नष्ट होते हैं।
तस्स—उस के।
दूरेण—दूर से ही।

अर्थसङ्कलना—

जो व्यक्ति (संतुष्ट) स्थिर चित्त से श्रीपार्श्वनाथ स्वामी का स्मरण करता है उसके एक सौ और आठ व्याधि के भय दूर से ही नष्ट होते हैं ॥ २४ ॥

६० भक्तामर* स्तोत्रम् [सप्तमं स्मरणम्]

मूल—

भक्तामर प्रणत मौलि मणि प्रभाणा
मुद्योतकं दलितपापतमोवितानम् ।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालंबनं भवजले पततां जनानाम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

भक्तामर—भक्तिवाले देवों के।
प्रणत मौलि—नवाए हुए मुकुटों में जटित।
मणि—मणियों की।
प्रभाणां—कांति को।
उद्द्योतकं—प्रकाशित करने वाले।
दलित—नष्ट कर डाला है।
पाप—पापरूपी।
तमोवितानं—अंधकार का समूह जिन्होंने ऐसे तथा।
सम्यक्—सम्यक् प्रकार से।
प्रणम्य—नमस्कार करके।
जिनपादयुगं—जिनेश्वर के चरण युगल को।
युगादौ× युग की आदि में।
आलंबनं—अवलम्बन रूप (आधार रूप)।
भवजले—संसार रूपी समुद्र में।
पततां—गिरते हुए।
जनानाम्—भव्य जीवों को।

× धर्म प्रवर्तन की आदि में अर्थात् धर्म का विच्छेद होने के पश्चात् पुनः धर्म की प्रवृत्ति हो तो उसे युग का आरंभ समझें अर्थात् तीसरे आरे के अन्त में।

* इस भक्तामर स्तोत्र की रचना लघुशांति के कर्ता श्री मानदेवसूरि

अर्थ-सङ्कलना—

भक्तिवाले देवों के नवाए हुए मुकुटों में जटित मणियों की कांति को प्रकाशित करने वाले और युग की आदि में संसार--समुद्र में गिरते हुए भव्य जीवों के आधारभूत श्री जिनेश्वर के चरणयुगल को सम्यक् प्रकार से अर्थात् श्रद्धापूर्वक नमस्कार कर के ॥ १ ॥

के शिष्य परम्परा में आए हुए श्री मानतुंगसूरि ने की है। इस स्तोत्र की रचना करने का हेतु यह है कि श्री मालवदेश में उज्जयनी नगरी में श्री वृद्ध-भोजराज की सभा में मयूर, बाण आदि पाँच सौ पंडित चौदह विद्या में प्रवीण, न्याय, वेदान्त, मीमांसा, सांख्य, वैशेषिक, पातंजलि आदि षट्शास्त्र के ज्ञाता, देव के सानिध्य वाले और गर्विष्ठ थे। एक दिन मयूर पंडित ने अपनी पुत्री जिसकी बाण पंडित के साथ शादी की थी उसके घर के पास से निकलते समय उस दम्पती का परस्पर कलह सुनकर मर्म की हँसी उड़ाई। इस पर उसकी पुत्री ने उसे शाप दिया। पुत्री के शाप से मयूर कुष्ठी हुआ। तब उसने सौ श्लोक द्वारा सूर्य की स्तुति की और उसे प्रसन्न किया। सूर्य ने प्रत्यक्ष होकर उसका कुष्ठ दूर किया इससे उसकी प्रसिद्धि हुई। उसकी ईर्ष्या से बाण पंडित ने अपने हाथ पैर काटकर सौ श्लोक द्वारा चंडी देवी को प्रसन्न की। चंडी ने प्रत्यक्ष होकर उसके हाथ पर नवीन किये। इससे उसकी भी विशेष ख्याति फैली। ऐसे चमत्कार से लोग शिवधर्म की प्रशंसा करने लगे और जिनधर्म की निंदा करने लगे कि 'जैन मात्र उदरपूर्ति हेतु ही कष्ट क्रिया करते हैं परन्तु कोई चमत्कारी कवि या पंडित उनमें नहीं हैं। एक दिन वृद्ध भोजराज ने श्रावकों को पूछा क्या आप लोगों में कोई ऐसी विद्यावाले है?' श्रावकों ने कहा--' हे स्वामी! श्री मानतुंगसूरि इस समय में महा प्रभावशाली हैं।' यह सुनकर राजा ने सूरि को बुलवाया। वे आए तब उनके प्रवेश महोत्सव के समय ब्राह्मणों ने घीसे भरा हुआ कटोरा एक व्यक्तिके हाथमें देकर सूरि को बताया। यह

मूल—

यः संस्तुतः सकलवाङ्मय तत्त्वबोधा-
दुद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोक नाथैः ।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितय चित्तहरै रुदारैः,
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥ २ ॥

देखकर सूरि ने एक सलाई माँगकर घी के कटोरे में डाली। श्रावक द्वारा इसका कारण पूछे जाने पर गुरुने कहा-' घी से परिपूर्ण कटोरा बताकर ब्राह्मणों ने सूचित किया है कि घी द्वारा परिपूर्ण कटोरे की तरह यह नगरी हम से परिपूर्ण है उसमें तुम्हारे लिये कोई अवकाश नहीं है। उसमें सलाई डालकर हमने भी बता दिया है कि जिस प्रकार इस घी में यह सलाई प्रवेश करती है उसी प्रकार हम भी प्रवेश करेंगे।' इसके बाद राजा पाँच सौ पंडितो के साथ सभा में बैठे थे तब राजाने श्री मानतुंगसूरि को बुलाकर पूछा-' यदि आपमें वक्तृत्व शक्ति हो तो इन पंडितों के साथ शास्त्रार्थ करो।' यह सुनकर सूरि ने उनके साथ जगत् कर्तृत्व संबंधी वाद चलाकर सभी पंडितों को पराजित कर दिया तब राजाने सूरिको कहा-' यदि बाण और मयूर जैसी आपमें दिव्य शक्ति हो तों बताओ।' इस पर सूरि के कहने पर राजा ने उन्हें ताले वाली ४२ (४८) बेडियाँ पहनाई और उन्हें एक कमरेमें बन्दकर दिया। द्वार अच्छी तरह दृढ़तापूर्वक बंद करवाकर उस पर सात ताले लगावा दिये। साथ ही चारो और चोकीदारी के लिये ब्राह्मणों और प्रहरियों को नियुक्त कर दिये। इसके बाद सूरिने इस ' भक्तामर स्तोत्र ' की रचना शुरू की। एक एक श्लोक की रचना के साथ एक एक ताला और एक एक बेडी टूटती गई। अन्तमें द्वार के ताले भी स्वतः खुल गए। यह चमत्कार देखकर राजाने गुरुका सम्मान किया और वह जैनधर्म में प्रीतिवाला बना। वे सूरि श्री वीर प्रभु के बीसवें उत्तराधिकारी हुए हैं।

शब्दार्थ—

यः—जिन जिनेन्द्र की।	**स्तोत्रैः**—स्तोत्रों द्वारा।
संस्तुतः—सम्यक् प्रकारसे स्तुति की गई है।	**जगत्त्रितय**-तीनजगत के जीवों को।
सकल—समग्र।	**चित्तहरैः**—चित्त का हरण करने वाले और।
वाङ्मय—शास्त्र के।	**उदारैः**—उदार (से)।
तत्त्व—तत्त्व के।	**स्तोष्ये**—स्तुति करूँगा।
बोधात्—बोध से (ज्ञान से)।	**किल अहम् अपि**—निश्चित् रूपसे मैं भी।
उद्भुत—उत्पन्न।	**तं**—उन।
बुद्धि—बुद्धि द्वारा।	**प्रथमं**—प्रथम।
पटुभिः—कुशल (से)।	**जिनेन्द्रं**—जिनेश्वर (की)।
सुरलोक नाथैः-देवलोक के इन्द्रों से।	

अर्थ-सङ्कलना—

जिन जिनेश्वर की समग्र शास्त्र के रहस्य के बोध से उत्पन्न हुई बुद्धि से कुशल देवेन्द्रों द्वारा तीन जगत के जीवों के चित्त का हरण करने वाले मनोहर और उदार श्रेष्ठ अर्थ वाले स्तोत्रों से स्तुति की गई है, उन प्रथम जिनेश्वर श्री ऋषभदेव स्वामी की मैं भी स्तुति करूँगा॥ २॥

मूल—

स्तोत्रकर्ता कवि अपनी बुद्धि की लघुता बताते हैं

बुद्धया विनाऽपि विबुधार्चित पादपीठ!
स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम्।
बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्ब-
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम्॥ ३॥

शब्दार्थ—

बुद्धया विनाऽपि-बुद्धि रहित भी।
विबुधार्चितपादपीठ-देवों द्वारा पूजा गया है पादपीठ जिनका ऐसे हे प्रभु !
स्तोतुं-आपकी स्तुति करने के लिये।
समुद्यतमतिः--उद्यमशील है मति जिसकी ऐसा हुआ हूँ जैसे कि।
विगतत्रपः-गई है लज्जा जिसकी ऐसा।
अहं-मैं।
बालं विहाय-बालक बिना-सिवाय
जलसंस्थितं-जल में स्थित।
इन्दुबिम्बं-चन्द्र बिम्ब को।
अन्य-अन्य, और दूसरे।
कः-कौन।
इच्छति-इच्छा करता है ! कोई भी नहीं।
जनः-व्यक्ति।
सहसा-बिना सोचे।
ग्रहीतुं-ग्रहण करने के लिये

अर्थ-सङ्कलना—

देवों अथवा पंडितों द्वारा पूजित है पादपाठ जिनका ऐसे हे प्रभु ! आपकी स्तुति करने के लिये मेरी कुछ भी बुद्धि नहीं फिर भी निर्लज्ज होकर आपकी स्तुति करने के लिये मेरी मति उद्यमशील हुई है। (इस संबंध में दृष्टान्त देते हैं कि) जलमें प्रतिबिम्ब रूपमें पड़े हुए चन्द्र के बिम्ब को सहसा बिना सोचे पकड़ने के लिये बालक के सिवाय अन्य कौन व्यक्ति इच्छा करता है। उसी प्रकार मैं भी बालक की भाँति अशक्त होते हुए भी आपकी स्तुति करने का इच्छुक हूँ ॥ ३ ॥

मूल—

जिनेश्वर की स्तुति करना असंभव है यही बताया गया है—

वक्तुं गुणान् गुणसमुद्र ! शशांककांतान्,
कस्ते क्षमः सुरगुरुप्रतिमोऽपि बुद्धया।

कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रं,
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—

वक्तुं—कहने के लिये।
गुणान्—गुण।
गुणसमुद्र—हे गुण के सागर प्रभु!
शशांककान्तान्—चन्द्र जैसे मनोहर।
कः—कौन व्यक्ति।
ते—आपके।
क्षमः—समर्थ है।
सुरगुरुप्रतिमोऽपि—देवों के गुरु बृहस्पति जैसे भी।
बुद्धया—बुद्धि द्वारा।
कल्पान्तकाल—प्रलय काल के।
पवनोद्धत—वायु द्वारा प्रेरित।
नक्रचक्रं—मगरमच्छ के समूह जिसमें है ऐसे।
कः—कौन व्यक्ति।
वा*—भाँति।
तरीतुं—तैरने में।
अलं—समर्थ है।
अम्बुनिधिं—समुद्र को।
भुजाभ्याम्—दोनों भुजाओं से।

अर्थ-सङ्कलना—

हे गुण के सागर प्रभु! बुद्धि द्वारा बृहस्पति जैसा भी कौन विद्वान् आपके चन्द्र जैसे मनोहर गुणों का वर्णन करने में समर्थ या शक्तिमान् हो सकता है? जैसे कि वायु से मगरमच्छों के समूह जिसमें उछल रहे हों ऐसे महासागरको अपनी दो भुजाओं से कौन व्यक्ति तैर कर पार कर सकता है? जिस प्रकार ऐसे समुद्र में तैरना अशक्य है उसी प्रकार आपके गुणों का वर्णन करना भी अशक्य है ॥ ४ ॥

---

* यहाँ उपमा अर्थ में 'वा' शब्द है।

मूल—

अशक्य होते हुए भी इस स्तोत्र की रचना करने का कारण बताते हैं:—

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश ।
कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः ।
प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगो मृगेन्द्रं,
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—

सोऽहं–वह मैं।
तथापि–तब भी, असमर्थ होते हुए भी।
तव–आपके प्रति।
भक्तिवशात्–भक्तिवश।
मुनीश–हे मुनीश।
कर्तुं–करने के लिये।
स्तवं–आपकी स्तुति।
विगतशक्तिरपि–गई है शक्ति जिसकी ऐसा भी।
प्रवृत्तः–प्रवृत्त हुआ हूँ। (जैसे)
प्रीत्या–मात्र प्रीति के कारण ही।
आत्मवीर्यं–अपने पराक्रम को।
अविचार्य–बिना सोचे।
मृगः–हिरण।
मृगेन्द्रं–सिंह के प्रति।
न अभ्येति–नहीं जाता।
किं–क्या।
निजशिशोः–अपने बच्चे का।
परिपालनार्थं–रक्षण करने हेतु।

अर्थ-सङ्कलना—

तब भी हे मुनीश्वर! मैं शक्ति रहित होते हुए भी आपके प्रति भक्ति के कारण आपकी स्तुति करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। जिस प्रकार मृग अपना बल सोचे बिना ही मात्र बच्चे के प्रति प्रीति के कारण ही उस बच्चे का रक्षण करने के लिये क्या सिंह

के सम्मुख (युद्ध करने) नहीं दौड़ता अर्थात् दौड़ता ही है (जिस प्रकार सिंह की तुलना में मृग का पराक्रम हास्यापद होता है उसी प्रकार मैं भी आपका स्तोत्र करने में हँसी का पात्र हूँ (इस प्रकार कहने से कवि अनुद्धतपन हुआ) तथा जिस प्रकार मृग सिंह के सम्मुख जाने के लिये असमर्थ होते हुए भी अपने बालक के रक्षणार्थ जाने से वह श्लाघा का पात्र है परन्तु मृग के साथ युद्ध करना सिंह के लिये लज्जाकारक है। उसी प्रकार मैं मंदबुद्धि होते हुए भी आपकी भक्ति के कारण ही स्तुति करने के लिये प्रवर्तित हुआ हूँ। अतः मैं श्लाघा का पात्र बनूँगा—यह इस श्लोक का रहस्य है ॥ ५ ॥

मूल—

सामर्थ्य न होने पर भी वाचाल होनेका कारण कहते हैंः—

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चारुचूतकलिकानिकरैकहेतुः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—

अल्पश्रुतं-अल्प ज्ञान वाला।	**माम्**-मुझे।
श्रुतवतां-शास्त्रज्ञों-विद्वानों के मध्य।	**यत्**-जो।
परिहासधाम-हँसी का पात्र।	**कोकिलः**-कोयल।
त्वद्भक्तिरेव-आपकी भक्ति ही।	**किल**-वास्तव में।
मुखरीकुरुते-वाचाल करती है।	**मधौ**-वसन्त ऋतु में (चैत्र माह में)।
बलात्-बलात्कार से।	**मधुरं**-मधुर।

विरौति–शब्द करती है।
तत्–उसमें।
चारु–मनोहर।
चूत–आम्र की।
कलिका–कलियों का (बौर का)।
निकर–समूह ही।
एकहेतुः–एक कारण है। असाधारण कारण है।

अर्थ-सङ्कलना—

हे स्वामी ! मैं अल्पज्ञ अर्थात् ज्ञान रहित हूँ, अतः विद्वानों में मैं हँसी का पात्र हूँ तब भी आपके प्रति भक्ति ही मुझे बलात् आपकी स्तुति करने के लिये वाचाल करती है जो योग्य ही है, क्यों कि बसन्त ऋतु में (चैत्र माह में) कोयल जो मधुर शब्द करती है उसका कारण मात्र मनोहर आम की कलियों (बोर) का समूह ही है। अर्थात् आम्र का बोर खाने से कोयल मधुर स्वरमें बोलती है, उसी प्रकार मैं भी आपको भक्ति के कारण आपकी स्तुति करता हूँ जिससे मेरी स्तुति विद्वानों में प्रशंसापात्र होगी–यह इस श्लोक का रहस्य है ॥ ६ ॥

मूल—

स्तुति करने का गुण बताते हैं।

त्वत्संस्तवेन भवसंततिसन्निबद्धं,
पापं क्षणात् क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु,
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—

त्वत्संस्तवेन–आपकी स्तुतिसे।
भवसंततिसन्निबद्धं–भव की परंपरासे बद्ध अर्थात् करोड़ो जन्मोंमें उपार्जित।
पापं–पाप (आठ प्रकार का कर्म)।
क्षणात्–क्षणभर में।
क्षयं–नाश।
उपैति–पाता है।
शरीरभाजाम्–शरीरधारी प्राणियों का।
आक्रान्तलोकं–आक्रमण किया है लोक जिसने।
अलिनीलं–भ्रमर की तरह काला और।
अशेषं–समग्र।
आशु–शीघ्र (नष्ट होता है)।
सूर्यांशुभिन्नं–सूर्य की किरणों द्वारा भेदित होनेसे।
इव–तरह।
शार्वरं–रात्रि संबंधी।
अन्धकारं–अंधकार।

अर्थ-सङ्कलना—

कोटि भवों से उपार्जित प्राणियों का पापकर्म आपकी स्तुति करने से तत्काल नष्ट होता है (अर्थात् प्रभु के स्वरूप का ध्यान करने से प्राणियों को समता प्राप्त होती है और समता से पापों का क्षय होता है) जिस प्रकार लोक में व्याप्त और भ्रमर सदृश काला कृष्णपक्ष की रात्रि का सम्पूर्ण अंधकार प्रातःकाल में सूर्य की किरणों से भिद कर तत्काल नष्ट हो जाता है अर्थात् जैसे सूर्योदय अंधकार के नाश का कारण है उसी प्रकार जिनेश्वर की स्तुति पाप के नाश का कारण है ॥ ७ ॥

मूल—

स्तुति प्रारंभ करनेका सामर्थ्य दृढ करते हैं:—

मत्वेति नाथ! तव संस्तवनं मयेद-
मारभ्यते तनुधियाऽपि तव प्रभावात्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु,
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—

मत्वा–मानकर।	प्रभावात्–प्रभाव से।
इति–इस प्रकार।	चेतः–चित्त को।
नाथ–हे नाथ।	हरिष्यति–हरेगा।
तव–आपका।	सतां–सत्पुरुषों के।
संस्तवनं–स्तोत्र।	नलिनीदलेषु—कुमुदिनी के पत्तों पर।
मया–मेरे द्वारा।	मुक्ताफलद्युति–मोती की शोभा को।
इदं–यह।	उपैति–प्राप्त करता हैं।
आरभ्यते–आरंभ किया जाता है।	ननु–निश्चित् रूपसे।
तनुधियाऽपि–अल्प बुद्धि वाला होते हुए भी।	उदबिन्दुः–जलबिन्दु।
तव–आपके।	

अर्थ—सङ्कलना-

हे नाथ! (उपर कथनानुसार आपका स्तोत्र करना दुष्कर है तथा सर्व पापों का हरण करने वाला है) ऐसा मानकर आपका यह स्तोत्र मुझ जैसे अल्प बुद्धिवाले द्वारा रचने का आरंभ किया जाता है। वह आपके प्रभाव से सत्पुरुषों के मन का रंजन करेगा, क्यों

कि कुमुदिनी के पत्र पर पड़ा हुआ जलबिन्दु मोती की शोभा प्राप्त करता है ॥ ८ ॥

मूल—

सर्वज्ञ का नाम ही विघ्नहर है-यह बताया गया है:--

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं,
त्वत्संकथाऽपि जगतां दुरितानि हन्ति ।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकाशभाञ्जि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—

आस्तां–दूर रहो।
तव–आपका।
स्तवनं–स्तवन ।
अस्तसमस्तदोषं--नष्ट किया है समग्र दोष जिस ने ऐसा।
त्वत्संकथाऽपि–आपकी इस भव और परभव के चरित्र की कथा ही। अथवा आपका नाम ही।
जगतां–तीनों जगत् के जीवों के।
दुरितानि–पापों को ।
हन्ति–हनन करती है (जैसे)।
दूरे–दूर रहो ।
सहस्रकिरणः–सूर्य तो ।
कुरुते–करता है ।
प्रभैव–उसकी कांति ही।
पद्माकरेषु–सरोवर में रहे हुए।
जलजानि–कमलों का ।
विकाशभांजि–विकस्वर।

अर्थ-सङ्कलना—

हे स्वामिन् ! समग्र दोष का नाश करने वाला आपका स्तवन (स्तोत्र) तो दूर रहो, परन्तु मात्र आपकी इस भव और परभव के चरित्र की कथा अथवा आपका नाम ही तीनों जगत के प्राणियों के पापों

का नाश करती है जिस प्रकार कि सूर्य अत्यन्त दूर होने पर भी मात्र उसकी कांति ही सरोवर के कमलों को विकस्वर करती है ॥ ९ ॥

मूल—

जिनेश्वर की स्तुति का फल कहते हैं:—

नात्यद्भूतं भुवनभूषणभूतनाथ !
भूतैर्गुणैर्भुवि भवंतमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥ १० ॥

शब्दार्थ—

न—नहीं ।
अत्यद्भूतं—अत्यन्त आश्चर्यकारक ।
भुवन भूषणभूत—विश्व के आभूषण समान ।
नाथ—हे नाथ ! ।
भूतैः—सत्य ।
गुणैः—गुणों से ।
भुवि—पृथ्वी पर ।
भवन्तं—आपको ।
अभिष्टुवन्तः—स्तुति करते हुए जन ।
तुल्याः—समान ।
भवन्ति—होते हैं ।
भवतः—आपकी ।
ननु—वास्तव में ।
तेन किं—ऐसे स्वामीसे क्या ? ।
वा—अथवा तो ।
भूत्या—समृद्धि द्वारा ।
आश्रितं—अपने सेवक को ।
यः—जो स्वामी ।
इह—इस जगत में ।
आत्मसमं—अपने समान ।
न करोति—नहीं करता ।

अर्थ—सङ्कलना—

जगत के आभूषण समान हे नाथ ! इस पृथ्वी पर आपके

सत्य गुणों से स्तुति करने वाले प्राणी आप जैसे हो जाते हैं इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं है, क्यों कि इस जगत में जो स्वामी अपने सेवक को समृद्धि द्वारा अपने समान नहीं करते ऐसे स्वामी से क्या ? अथवा आपकी स्तुति करने से मैं भी आप जैसा तीर्थंकर बनूँ ऐसा कवि का आशय है ॥ १० ॥

मूल—

जिनेश्वर का दर्शन का फल कहते हैं:—

दृष्ट्वा भवंतमनिमेषविलोकनीयं,
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः ।
पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः,
क्षारं जलं जलनिधेरशितुं क इच्छेत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—

दृष्ट्वा–देखकर ।
भवन्तं–आपको ।
अनिमेषविलोकनीयं–निमेष रहित देखने योग्य ।
न–नहीं ।
अन्यत्र–और कहीं ।
तोषं–संतोष ।
उपयाति—पाती । (न उपयाति–नहीं पाती) ।
जनस्य–व्यक्ति की ।
चक्षुः–आँख ।
पीत्वा–पीकर ।
पयः–जल ।
शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः—चन्द्र की किरणों जैसी कांति वाले उज्ज्वल क्षीर समुद्र का ।
क्षारं–खारा ।
जलं–पानी ।
जलनिधेः–लवणसमुद्र का ।
कः–कौन व्यक्ति ।
इच्छेत्–इच्छा करे ।

अर्थसङ्कलना—

हे प्रभु ! अनिमेष दृष्टि से निरन्तर दर्शन करने योग्य आपको (एक बार) देखने पर मनुष्य की आँख अन्यत्र संतुष्ट नहीं होती। चन्द्र की किरणों के समान कांतिमय (उज्ज्वल) क्षीर समुद्र का जल पीकर फिर लवणसमुद्र का खारा पानी पीने की कौन इच्छा करे? (अर्थात् तीर्थंकर का दर्शन क्षीरसागर के जल समान है जब कि अन्य देवों का दर्शन लवणसमुद्र के जल समान है ॥ ११ ॥

मूल—

भगवानके रूप का वर्णन करते हैं:—

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ! ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—

यैः—जो।
शान्तरागरुचिभिः—शांत हो गई है रागद्वेष की कांति जिनसे अथवा शान्त नामक नौवें रस के भाव की कांति है जिसकी ऐसे।
परमाणुभिः—परमाणुओं द्वारा।
त्वं—आप।
निर्मापितः—उत्पन्न, निर्मित हुए हो।
त्रिभुवनैकललामभूत !—हे त्रिभुवनके अद्वितीय ललामतुल्य।
तावन्त एव—उतने ही।
खलु—वास्तव में।
तेऽपि—वे भी।
अणवः—परमाणु।
पृथिव्यां पृथ्वी पर।

यत्-क्यों कि।	**अपरं**-अन्य।
ते-आप के।	**न हि अस्ति**-नहीं है।
समानं-सदृश।	**रूपं**-रूप।

अर्थ-सङ्कलना--

त्रिभुवन के अद्वितीय (ललाम*) अलंकार तुल्य हे प्रभु! (राग द्वेष की कांति को शांत करने वाले) शांत रस की कांतिवाले जिन परमाणुओं द्वारा आप निर्मित, उत्पन्न हुए हैं (आपका शरीर बना है) वे परमाणु इस विश्व में उतने ही थे, क्यों कि आपके समान दूसरा रूप (अन्य किसी का रूप) दिखाई नहीं देता ॥ १२ ॥

मूल—

प्रभु के मुख का वर्णनः—

वक्त्रं क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि,
निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम्।
बिम्बं कलङ्कमलिनं क्व निशाकरस्य,
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—

वक्त्रं-मुख।	**निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम्**-समग्र रूप से जीती है त्रिभुवन की उपमा जिससे ऐसा।
क्व-कहाँ! (और)।	**बिम्बं**-बिम्ब।
ते-आपका।	**कलङ्कमलिनं**-कलंक से मलीन।
सुरनरोरगनेत्रहारि-देव, मनुष्य और उरग-नागकुमार के नेत्र को हरने वाला (तथा)।	**क्व**-कहाँ।

* मस्तक पर रखी हुई पुष्प की माला को ललाम कहते हैं।

निशाकरस्य–चन्द्र का।
यत्–जो चन्द्र बिम्ब।
वासरे–दिन में।
भवति–होता है।
पाण्डुपलाशकल्पम्–पीले फीके पलास के पत्ते जैसा।

अर्थ-सङ्कलना—

हे प्रभु! देव, मानव और नागकुमार के नेत्रों को हरने वाला मनोहर तथा त्रिजगत में रही हुई सभी उपमाओं को जीतने वाला आपका मुख कहाँ? और कलंक से मलीन बना हुआ चन्द्र का बिम्ब कहाँ? जो चन्द्र बिम्ब प्रातः पलास के पत्ते की तरह फीका पीला हो जाता है ॥ १३ ॥

मूल—

प्रभु के गुण की व्याप्ति कहते हैं:—

संपूर्णमण्डल शशाङ्ककलाकलाप–
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति।
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वर! नाथमेकं,
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—

संपूर्णमण्डल–संपूर्ण मण्डल वाले पूर्णिमा के।
शशाङ्क–चन्द्र की।
कला कलाप–कला के समूह जैसे।
शुभ्राः–उज्ज्वल।
गुणाः–गुण।
त्रिभुवनं–त्रिभुवन के।
तव–आपके
लङ्घयन्ति–लाँघ जाते हैं क्यों कि।
ये–जो।
संश्रिताः–आश्रित होकर रहे हों।
त्रिजगदीश्वर–तीन जगत के ईश्वर।

नाथं–नाथ को।
एकं–एक अद्वितीय।
कः–कौन।
तान्–उन्हें।
निवारयति–रोके, निषेध करे।
संचरतः–विचरण, करते हुए फिरते हुए।
यथेष्टम्–इच्छानुसार।

अर्थ-सङ्कलना—

हे नाथ! पूर्णिमा के चन्द्र की सम्पूर्ण कला के समूह जैसे उज्ज्वल आपके गुण त्रिभुवन को लाँघ जाते हैं (तीनों जगत में व्याप्त हो जाते हैं) जो तीनों जगत् के एक ही नाथ को आश्रय माने हुए हों उन्हें स्वेच्छापूर्वक विचरण करने से कौन रोक सकता है? (अर्थात् कोई नहीं) ॥ १४ ॥

मूल—

भगवान का वीतरागपन बताते हैं:—

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि-
र्नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम्।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—

चित्रं–आश्चर्य।
किं–क्या?
अत्र–इस में।
यदि–यदि।
ते–आपका।
त्रिदशाङ्गनाभिः—देवांगनाओं द्वारा।
नीतं–प्राप्त किया गया।
मनागपि–जरा भी।
मनः–मन।

न–नहीं ।
विकारमार्गम्–विकारमार्ग को ।
कल्पान्तकालमरुता–प्रलयकाल की वायु द्वारा ।
चलिताचलेन–कम्पायमान किये हैं पर्वत जिन्होंने ऐसे ।
किं–क्या ।
मन्दराद्रिशिखरं–मंदराचल (मेरु पर्वत का शिखर ।
चलितं—चलायमान किया है, कम्पायमान किया है । (नहीं)
कदाचित्–कदापि ।

अर्थ-सङ्कलना—

हे निर्विकार प्रभु ! यदि देवांगनाओं द्वारा आपका मन जरा भी विकारमार्ग पर नहीं ले जायागया तो इसमें आश्चर्य क्या है ? जिस प्रलयकाल की वायु ने पर्वतों को कम्पायमान किया है उसने मेरु पर्वत के शिखर को कम्पायमान—चलित किया है क्या ? अर्थात् नहीं किया ! (कहने का तात्पर्य यह है कि प्रलयकाल में सारेही पर्वत चलायमान हो जाते हैं परन्तु मेरुपर्वत चलित नहीं होता । उसी प्रकार देवांगनाएँ हरिहरादि देवों के मन में विकार उत्पन्न कर सकती हैं परन्तु प्रभु के मन में विकार उत्पन्न करने में असफल रहती हैं ॥१५॥

मूल—

भगवान को दीपक की उपमाकी अयोग्यता:-

निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ ! जगत्प्रकाशः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—

निर्धूमवर्ति–द्वेष रूपी धुँए और कामरूपी बत्ती रहित। (तथा)
अपवर्जिततैलपूरः–त्याग किया है स्नेहरूपी तेल का भरना जिसने ऐसे आप।
कृत्स्नं–समग्र।
जगत्त्रयं–तीन जगत को।
इदं–यह।
प्रकटीकरोषि–प्रकट, प्रकाशित करते हो। (तथा)
नगम्यः–प्राप्त करने योग्य नहीं ऐसे (तथा)।

जातु–कदापि।
मरुतां–वायु को।
चलिताचलानां–कम्पायमान किये हैं पर्वत जिसने ऐसे।
दीपः–दीपकरूप।
अपरः–अन्य (अलौकिक)।
त्वं–आप।
असि–हैं।
नाथ–हे नाथ।
जगत्प्रकाशः–जगत में प्रसिद्ध (अथवा जगत में ज्ञानालोक है जिनका ऐसे)।

अर्थ-सङ्कलना—

हे नाथ! आप (अन्य) लोकोत्तर दीपक सदृश हैं क्यों कि लौकिक दीपक तो धुँए, बत्ती और तेल के भरने आदि सहित होता है जब कि आप द्वेष रूपी धुँएसे रहित *कामदशा रूपी बत्ती रहित और स्नेह (राग) रूपी तेल की पूर्ति से रहित हैं और (लौकिक दीपक मात्र एक घरको ही प्रकाशित करता है जब कि आप तो

* काम की दस अवस्थाएँ इस प्रकार हैं:–१ काम की इच्छा, २ प्राप्त करने की चिन्ता, ३. स्मरण, ४. गुणकीर्तन, ५. नहीं प्राप्त होने से उद्वेग, ६. प्रलाप, जैसे तैसे असंबद्ध बोलना, ७. उन्माद, ८. अंगदाह आदि व्याधि, ९. जड़ता और १० मरण (काम की प्राप्ति न होने से मरण हो अथवा मरने के लिये तैयार होना)।

सम्पूर्ण जगतको-पंचास्तिकायात्मक त्रिजगत को केवलज्ञान द्वारा प्रकट (प्रत्यक्ष करते हैं)। लौकिक दीपक वायु से बुझ जाता है परन्तु आपको तो पर्वतों को भी कम्पायमान करने वाली वायु भी कुछ नहीं कर सकती। (अर्थात् परिषह और उपसर्ग के समय जिन मरुत देवों ने अचला (पृथ्वी) को कम्पायमान–चलित किया है वे आपका पराभव नहीं कर सकते) इससे जगत में प्रसिद्ध और चारों ओर केवलज्ञान द्वारा प्रकाशित लोकोत्तर दीपक के समान आप है ॥१६॥

मूल—

प्रभु को सूर्य की उपमा का निषेध करते हैं:—

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः,
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति ।
नाम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः ।
सूर्यातिशायि महिमाऽसि मुनीन्द्र ! लोके ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

अस्तं–अस्त को समय को।
कदाचित्–कभी भी।
न उपयासि–प्राप्त नहीं करते।
(तथा)
न–नहीं।
राहुगम्यः–राहुद्वारा ग्रहण करने योग्य।
स्पष्टीकरोषि–प्रगट करते हो।
(तथा)

सहसा–तत्काल।
युगपत्–एक ही समय, तत्काल।
जगन्ति–त्रिजगत को।
न–नहीं जिससे।
अम्भोधरोदर–मेघ के मध्य भाग द्वारा।
निरुद्धमहाप्रभावः–रुका है महा प्रभाव जिसका ऐसे भी आप॥

सूर्यातिशायिमहिमा—सूर्य से अधिक है महाप्रभाव जिनका ऐसे।	**अस्ति**—आप है। **मुनीन्द्र**—हे मुनीश्वर!। **लोके**—जगत में।

अर्थ-सङ्कलना—

हे मुनीन्द्र! इस विश्वमें आपकी महिमा सूर्य से भी अधिक है। सूर्यतो मात्र दिन में ही उदित होता है जब कि आपतो रात और दिन सर्वदा केवलज्ञान के कारण उदित हैं। सूर्य को राहु ग्रहण करता है परन्तु आप दुष्कृतरूपी राहु से ग्रहण नहीं होते। सूर्य परिमित (अल्प) क्षेत्र को अनुक्रम से प्रकट करता है जब कि आप तत्काल एक साथ सम्पूर्ण त्रिजगत को ज्ञानालोक द्वारा (केवलज्ञान से) प्रकट करते हैं। सूर्य का प्रभाव मेघ से अवरुद्ध हो जाता है परन्तु आपका प्रभाव (१ मतिज्ञानावरण, २ श्रुतज्ञानावरण, ३ अवधि-ज्ञानावरण, ४ मनः पर्यवज्ञानावरण, ५ केवलज्ञानावरण) कर्मरूपी मेघ से अवरुद्ध नहीं होता। इसलिये आपको सूर्य की उपमा देना भी उपयुक्त नहीं है॥ १७॥

मूल—

पुनः विशेष रूप से चन्द्रकी उपमाकी अयोग्यता बताते हैं:—

नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारं,
गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम्।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति,
विद्योतयज्जगदपूर्वशशाङ्कबिम्बम्॥ १८॥

शब्दार्थ—

नित्योदयं--निरन्तर उदित होता हुआ। अथवा निरन्तर उल्लसित होता हुआ।

दलितमोहमहान्धकारं-नष्ट किया है मोह रूपी अँधकार जिसने।

न गम्यं-प्राप्त करने योग्य।

राहुवदनस्य-राहु के मुख को न प्राप्त करने योग्य।

वारिदानां-मेघ को भी।

विभ्राजते-शोभा प्राप्त करता है।

तव-आपका।

मुखाब्ज-मुख कमल।

अनल्पकान्ति-अधिक कान्ति वाला।

विद्योतयत्-प्रकाशित करता हुआ।

जगत्-समग्र जगत को।

अपूर्वशशाङ्कबिम्बं-अपूर्व (अलौकिक) चंद्रबिम्ब।

अर्थ-सङ्कलना—

हे भगवान्! आपका मुख कमल अलौकिक चंद्रबिम्ब की तरह शोभित है, क्योंकि वह निरन्तर उदित है। (निरन्तर शुभ भाग्य वाला है जबकि चंद्र तो प्रातः काल में अस्त हो जाता है।) आपका मुख मोहनीय कर्मरूपी महा अंधकार का नाश करता है। (चन्द्र तो अल्प अंधकार का नाश करने में भी समर्थ नहीं) राहु जैसे दुष्ट वादियों के वाद आपके मुख का पराभव नहीं कर सकते (राहु चन्द्रको तो निगल जाता है) आपका मुख मेघ समान दुष्ट अष्टकर्म के अधीन नहीं है। (चन्द्र को तो मेघ आच्छादित कर देता है) आपका मुख अत्यन्त कांतिमय है। (चन्द्र का बिम्ब तो अल्प कांतिवाला है क्योंकि कृष्ण पक्ष में उसका क्षय हो जाता है) तथा आपका मुख जगत को प्रकाशित करता है। जब कि चन्द्र तो पृथ्वी के अल्प प्रदेश को भी प्रकाशित करने में समर्थ नहीं है ॥ १८ ॥

मूल—

> किं शर्वरीषु शशिनाऽह्नि विवस्वता वा,
> युष्मन्मुखेन्दु दलितेषु तमस्सु नाथ ?
> निष्पन्न-शालि-वन शालिनि जीव-लोके,
> कार्यं कियज्जलधरैर्जल-भार-नम्रैः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—

किं–क्या फल है ? जैसे।
शर्वरीषु–रात्रि में।
शशिना–चंद्र द्वारा।
अह्नि–दिन में।
विवस्वता–सूर्य द्वारा।
वा–अथवा।
युष्मन्मुखेन्दु—आपके मुखरूपी चन्द्र द्वारा।
दलितेषु–नष्ट होने से।
तमस्सु–अंधकार। (पाप)
नाथ !–हे नाथ।
निष्पन्नशालि—पके हुए शालिके (धान्य के)।
वनशालिनि–वन द्वारा शोभित।
जीवलोके—जीवलोक में (मृत्युलोकमें)।
कार्यं–कार्य हैं ! (कुछ नहीं)।
कियत्–कितना–क्या ?
जलधरैः–मेघ द्वारा।
जलभार नम्रैः–जलके बोझसे नम्र-बने हुए।

अर्थ-सङ्कलना—

हे नाथ ! आपके मुखचंद्र द्वारा समस्त अंधकार (पाप) का नाश होता है तब रात्रि में चन्द्र के उदय का क्या प्रयोजन ? अथवा दिन में सूर्योदय का क्या अर्थ ? जैसे पके हुए शालि (धान्य) के वनद्वारा पृथ्वी शोभित होने के बाद पानी के बोझ से नम्र हुए बादलों-

मेघ का क्या काम है ? (अर्थात् जैसे तृण, लता और धान्यादि पक जाने के बाद मेघ मात्र कीचड़ और सर्दी आदि क्लेश–कष्ट का कारण होने से निष्फल है, उसी प्रकार आपके मुखचन्द्र द्वारा पाप-रूपी अंधकार नष्ट होनेके बाद चन्द्र और सूर्य मात्र शीतलता और उष्णता के कारण होने से निष्फल हैं) उनका फिर क्या प्रयोजन है अर्थात् कुछ भी नहीं ॥ १९ ॥

मूल—

ज्ञान द्वारा अन्य देवों की अपेक्षा प्रभु की उत्कृष्टता बताते हैं:—

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरि–हरादिषु नायकेषु ।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काचशकले किरणा–कुलेऽपि ॥ २० ॥

शब्दार्थ—

ज्ञानं–ज्ञान (केवलज्ञान)।
यथा–जिस प्रकार।
त्वयि–आप में।
विभाति–शोभित होता है।
कृतावकाशं—अनन्त पर्यायवाली वस्तु को प्रकाशित करने वाला।
नैवं–ऐसा शोभित नहीं होता।
तथा–उस प्रकार से।
हरिहरादिषु–हरिहर आदि।
नायकेषु–नायकों में (देवोंमें)।
तेजः–प्रभाव, प्रकाश।
स्फुरन्मणिषु–देदिप्यमान मणियोंमें
याति–पाता है।
यथा–जिस प्रकार।
महत्त्वं–महत्व, बड़प्पन, महत्त्व।
न–नहीं।
एवं तु–उस तरह।
काचशकले–काँच के टुकड़े में।
किरणाकुलेऽपि––किरणों द्वारा व्याप्त भी।

अर्थ-सङ्कलना—

हे प्रभु ! अनंत पर्याय वाली वस्तुओं में प्रकाश करने वाला ज्ञान (केवलज्ञान) जैसा आपके पास शोभित होता है वैसा हरि (विष्णु) हर (महादेव) तथा ब्रह्मा-बुद्ध आदि देवों शोभित नहीं होता। (वे कदाचित् भयादि दिखाकर अपना नायकत्व बताते हैं तब भी वे विभंगज्ञानी ही हैं) इसलिये उनके शास्त्रों में पूर्वापर का विरोध स्पष्ट रूपसे देखने को मिलता है जैसे चाहे जैसा तेजस्वी काँच का टुकडा हो परन्तु देदीप्यमान (वज्र, वैडूर्य, पद्मराग और इन्द्र-नील आदि) मणिओं के प्रकाश की तुलना में उसका कुछ भी गौरव नहीं होता, उसी प्रकार आपके ज्ञान की तुलना में उनके ज्ञान का कुछ भी गौरव नहीं है ॥ २० ॥

मूल—

स्तुतिमिश्रित प्रभु की उत्कृष्टता बताते हैं:--

मन्ये वरं हरि-हरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदयं-त्वयि तोषमेति।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः,
कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तेरऽपि ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—

मन्ये–मैं मानता हूँ।
वरं–उत्तमा हुआ।
हरिहरादया एव–हरिहरादि देवों को ही।
दृष्टाः–मैं प्रथम देखो जो।
दृष्टेषु–देखने से।
ये–जिन्हें।
हृदयं–मेरा मन।

त्वयि-आप के प्रति ।	**येन**-जिससे ।
तोषं-संतोष ।	**अन्य**-अन्य ।
एति-प्राप्त करता है ।	**कश्चित्**-कोई भी देव ।
किं-क्या फल है? (कि) ।	**मनः**-मेरे मन को ।
वीक्षितेन-देखने से ।	**न हरति**-नहीं हरता ।
भवता-आप द्वारा ।	**नाथ !**-हे नाथ !
भुवि-इस पृथ्वी पर ।	**भवान्तरेऽपि**-अन्य भव में भी ।

अर्थ--सङ्कलना-

हे नाथ ! आपका दर्शन करने से पूर्व मैंने हरिहरादि देवों के दर्शन करके अच्छा ही किया--ऐसा मैं मानता हूँ, क्योंकि इन देवों को देखने से ही मेरा मन आपमें सन्तुष्ट होता है। आपके दर्शन से मुझे यह लाभ हुआ कि अब इस जगत में अन्य जन्म में भी कोई अन्य देव मेरे मन को नहीं हर सकेगा। (आपको देखकर अन्य देवों में असारता लगी--ऐसा अर्थ होनेसे आपकी स्तुति हो गई और प्रथम रागादि दोष वाले देवों को देख कर बाद में सर्व गुण के स्थान रूप आपको (वीतराग देव को) देखने से आपकी सर्वोत्तमता मैंने जानी जिससे अब वे देव मेरे मन का हरण नहीं कर सकेंगे--ऐसा तात्पर्य है ॥ २१ ॥

मूल—

माता की स्तुति द्वारा प्रभु की स्तुतिः—

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिम्,
प्राच्येव दिग् जनयति स्फुरदंशु-जालम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—

स्त्रीणां-स्त्रियों के।	**जननी**-माता।
शतानि-सैकड़ों। (बहुवचन से)	**न प्रसूता**-जन्म नहीं दिया।
'कोटि कोट्यः'-कोटाकोटी अर्थात् करोड़ों समझें।	**सर्वा**-सर्व।
शतशः-सैकड़ों (बहुवचन से करोड़ों समझें।	**दिशः**-दिशाएँ।
जनयंति-जन्म देती हैं।	**दधति**-धारण करती हैं।
पुत्रान्-पुत्रों को।	**भानि**-नक्षत्रों को।
अन्या-अन्य।	**सहस्ररश्मिं**-सूर्य को।
सुतं-पुत्र को।	**प्राची एव**-पूर्व (दिशा) ही।
त्वदुपमं-आपके समान।	**दिग्**-दिशा।
	जनयति-उत्पन्न करती है।
	स्फुरदंशुजालम्—दैदीप्यमान हैं किरणों का समूह जिनका ऐसे।

अर्थ-सङ्कलना—

हे नाथ! इस जगत में सैकड़ों करोड़ों स्त्रियाँ सैकड़ों करोड़ों पुत्रों को जन्म देती हैं परन्तु आपकी माता मरुदेवा जैसी माताएँ ही आप जैसे तीर्थंकर पुत्र को जन्म देती हैं। अन्य किसी स्त्री ने आप जैसे पुत्र को जन्म नहीं दिया। वास्तव में सभी दिशाएँ नक्षत्रों को धारण करती हैं परन्तु दैदीप्यमान किरणों के समूह वाले सूर्य को तो एक मात्र पूर्व दिशा ही उत्पन्न करती है—जन्म देती है ॥ २२ ॥

मूल—

प्रभु की परमपुरुष के रूप में स्तुति करते हैं:-

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस,
मादित्य—वर्णममलं तमसः परस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिव—पदस्य मुनीन्द्र ! पन्थाः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—

त्वां–आपको ।	**सम्यक्**–अच्छी तरह ।
आम्मनन्ति–मानते हैं, कहते हैं । (तथा)	**उपलभ्य**–प्राप्त कर ।
	जयन्ति–जीतते हैं ।
मुनयः–मुनिजन ।	**मृत्युं**–मृत्यु को ।
परमं–उत्कृष्ट ।	**न**–कोई भी नहीं (आप ही हैं ।)
पुमांसं–पुरुषरूप ।	**अन्यः**–दूसरा ।
आदित्यवर्ण–सूर्य जैसी कांतिवाले ।	**शिवः**–उपद्रव रहित । (कल्याणकारी)
अमलं–निर्मल और ।	**शिवपदस्य**–मोक्षपद का ।
तमसः–अन्धकार से ।	**मुनीन्द्र**–हे मुनीन्द्र ।
परस्तात्–आगे, दूरस्थ ।	**पन्थाः**–मार्ग ।
त्वामेव–आपको ही ।	

अर्थ-सङ्कलना—

हे मुनीश्वर ! मुनिजन आपको परम पुरुष कहते हैं (अर्थात् मिथ्यात्वी जीव बाह्यात्मा कहलाते हैं । सकर्मा सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरात्मा कहलाते हैं और कर्मरहित परमात्मा कहलाते हैं वे परमात्मा आप हैं । सूर्य सदृश स्वयं तेजस्वी हैं और अमल अर्थात्

रागद्वेषरूपी मल से रहित हैं तथा पापरूपी अँधकार से दूर हैं। आपको अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा प्राप्तकर सभी प्राणी (मानव) मृत्यु पर विजय प्राप्त करते हैं (सिद्ध होते हैं) ऐसा प्रशस्त (उपद्रव रहित) मोक्षस्थान प्राप्त करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है ॥ २३ ॥

मूल—

सर्व देव के नाम से जिनेश्वर की ही स्तुति करते हैं:—

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यम-सङ्ख्यमाद्यं,
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्ग-केतुम् ।
योगीश्वरं विदित-योगमनेकमेकं,
ज्ञान-स्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—

त्वां—आपको।
अव्ययं—अव्यय (नाश रहित)।
विभुं—समर्थ।
अचिन्त्यं—चिन्तन करने के लिये अशक्य।
असङ्ख्यं—असंख्य गुण वाले।
आद्यं—प्रथम।
ब्रह्माणं—परमानंद स्वरूप।
ईश्वरं—ईश्वर रूप।
अनन्तं—अनन्त।
अनङ्गकेतुम्—कामदेव का नाश करने के लिये केतु (पुच्छल तारे के) समान।
योगीश्वरं—योगीजनों के ईश्वर।
विदितयोगं—योग को जाननेवाले।
अनेकं—पर्यायरूप अनेक।
एकं—अद्वितीय।
ज्ञानस्वरूपं—ज्ञानस्वरूप (और)।
अमलं—पापरूपी मलरहित।
प्रवदन्ति—कहते हैं।
सन्त—सन्त लोग। सत्पुरुष।

अर्थ-सङ्कलना—

हे भगवन् ! संतजन आपको भिन्न २ नामों से संबोधित करते हैं जैसेः—(१) अव्यय, (२) विभु, (३) अचिंत्य, (४) असंख्य, (५) आदि पुरुष, (६) ब्रह्मा, (७) ईश्वर, (८) अनंत, (९) अनंग-केतु कामदेव विजेता, (१०) योगीश्वर, (११) विदितयोग, (१२) अनेक, (१३) एक, (१४) ज्ञानमय, (१५) निर्मल आदि ॥ २४ ॥

अरिहंत के पर्याय वाचक नामों के अर्थ निम्न प्रकार से बताए हैं:—

(१) **अव्यय**—सर्व काल में (एक) स्थिर स्वभाव वाले होने से हानि वृद्धि रहित हैं।

(२) **विभु**—परम ऐश्वर्य से सुशोभित (अथवा विभवति कर्मोन्मूलेन समर्थो भवति विभुः कर्म का नाश करने में समर्थ) हैं।

(३) **अचिन्त्य**—महान् योगीजन भी आपका पूर्णतः चिन्तन करने में असमर्थ हैं।

(४) **असंख्य**—आपके गुण संख्या रहित हैं। अर्थात् अनन्त हैं अथवा असंख्य हृदयों में विराजमान होने के कारण असंख्य नाम सार्थक है; अथवा गुणों से और काल से प्रभु की संख्या नहीं हो सकती अतः असंख्य हैं।

(५) **आद्य**—लोक व्यवहार की आदि में होने से आद्य हैं अथवा पंच परमेष्ठी में प्रथम होने से आद्य हैं अथवा (चौबीस तीर्थकरों में प्रथम होने से आद्य हैं); सभी तीर्थंकर स्व २ तीर्थ की आदि करने वाले होने से आद्य हैं।

(६) **ब्रह्मा**–हे भगवन् ! आप ब्रह्मा कहलाते हैं। प्रभु धर्म सृष्टि की रचना करते हैं अथवा प्रभु अनंत आनंद से वृद्धि पाने वाले हैं। (बृंहति अनन्तानन्देन वर्धते इति ब्रह्मा)।

(७) **ईश्वर**–प्रभु तीनों ही लोकों से पूज्य हैं तथा ज्ञानादि ऐश्वय धारण करने वाले हैं और सर्व देवों के स्वामी हैं।

(८) **अनंत**–प्रभु अनंत ज्ञान–दर्शनमय (अनंत चतुष्क युक्त हैं तथा अंत (मृत्यु) से रहित हैं। अनंत बल का साहचर्य प्राप्त होने से भी अनन्त नाम के योग्य हैं।

(९) **अनंगकेतु**–कामदेव का नाश करनेमें केतु समान अर्थात् जैसे उदित केतु का तारा जगत् का क्षय करता हैं उसी प्रकार भगवान कामदेव का क्षय करने वाले हैं। (अथवा (१) औदारिक, (२) वैक्रिय, (३) आहारक, (४) तेजस्, (५) कार्मण ये पाँचों-अंग शरीर केचिह्न (केतु) रहित होने से अनंगकेतु हैं।

(१०) **योगीश्वर**–प्रभु मन, वचन और काया के विजेता, योगीजनों के–चार ज्ञानवालों के अथवा ध्यानी के ईश्वर अथवा सयोगी केवली मान्य होने से ईश्वर हैं। (श्री जिनभद्रगणि क्षमा-श्रमण ने ध्यानशतक के प्रारंभ में श्री महावीर प्रभु की योगीश्वर के रूप में स्तुति की है।)

(११) **विदितयोग**–योग के ज्ञाता ! प्रभु सम्यग् दर्शन ज्ञान–चारित्र्य-रूपी योग को जानने वाले अथवा ध्यानीजनो ने जिनसे योग जाना है ऐसे अथवा विशेष करके दितः–नाश किया हैं, योगः–जीव के साथ क्षीरनीर के न्याय से रहा हुआ कर्मबंध जिसके ऐसे) हैं।

(१२) **अनेक**–ज्ञान के कारण सर्व में रहे हुए होने से अनेक अथवा गुण और पर्याय अनेक होने से अनेक अथवा ऋषभादि अनेक

व्यक्ति होने से अनेक अथवा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव-रूप में होने से अनेक हैं !

(१३) **एक**–अद्वितीय (उत्तम) अथवा एक जीव की अपेक्षा से एक हैं।

(१४) **ज्ञानस्वरूप**–(ज्ञानमय) केवलज्ञान के स्वरूप वाले हैं।

(१५) **अमल**–(निर्मल) अठारह दोषरूपी मलरहित हैं–इस प्रकार सत्पुरुष आपको कहते हैं।

मूल—

भगवान की सर्व देवमय स्तुति करते हैं:-

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित ! बुद्धि–बोधात्,
त्वं शङ्करोऽसि भुवन–त्रय–शंकरत्वात्।
धाताऽसि धीर ! शिव–मार्ग–विधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—

बुद्धः–बुद्ध नामक देव हो।
त्वमेव–आप ही।
विबुधार्चित–देवोंसे पूजित हे प्रभु।
बुद्धिबोधात–पदार्थों में बुद्धिक प्रकाश करने से।
त्वं–आप ही।
शङ्कर–शंकर।
असि–हो।
भुवनत्रयशंकरत्वात्–त्रिभुवन के प्राणियों को सुखी करने वाले होने से।
धाता–धाता, सृजक, विधाता।
असि–आप ही हो। (तथा)
धीर–हे धीर।
शिवमार्गविधेः–मोक्षमार्ग की विधि के।

विधानात्–करनेसे, बताने से।	**भगवन्**–हे भगवान्।
व्यक्तं–प्रकट रूप से।	**पुरुषोत्तमोऽसि**–पुरुषोत्तम हैं–पुरुषों में उत्तम हैं।
त्वमेव–आप ही।	

अर्थ–सङ्कलना—

इन्द्रादि देवों से पूजित हे प्रभु ! पदार्थों में आपकी ही मति का प्रकाश होने से (सच्चे) बुद्ध आप ही हैं अथवा विबुध (पंडितों) गणधरों द्वारा अर्चित (पूजित) जो तीर्थंकर हैं उनकी बुद्धि (केवल-ज्ञान) द्वारा (बोधात्) वस्तुसमूह का ज्ञान होनेसे आप ही बुद्ध हैं तथा त्रिजगत के जीवों को सुखी करने वाले होने से आप ही बुद्ध (सच्चे) शंकर हैं तथा हे धीर ! रत्नत्रय रूपी मोक्षमार्ग का विधान करने से आप ही धाता (ब्रह्मा) हैं; तथा हे भगवन् ! आप सर्व पुरुषों में उत्तम हैं। इसीलिये स्पष्ट रूप से पुरुषोत्तम (विष्णु) आप ही हैं। (अर्थात् बुद्ध, शंकर, ब्रह्मा और विष्णु अपने नाम के अनुसार गुण वाले नहीं हैं। बुद्ध केवलज्ञान रहित हैं, शंकर संहार करने वाले हैं, ब्रह्मा हिंसक वेद के उपदेशकर्ता हैं और विष्णु माया कपटयुक्त हैं) अतः वे नामों के यथार्थ गुण तो आप में ही हैं ॥२५॥

मूल—

जिनेश्वर को नमस्कार करते हैं:—

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ।
तुभ्यं नमः क्षिति–तलामल भूषणाय।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय,
तुभ्यं नमो जिन ! भवोदधिशोषणाय ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—

तुभ्यं–आपको।	**तुभ्यं**–आपको।
नमः–नमस्कार हो।	**नमः**–नमस्कार हो।
त्रिभुवनार्तिहराय-त्रिभुवन के जीवों की पीड़ा का हरण करने वाले।	**त्रिजगतः**–त्रिजगत के।
	परमेश्वराय-परमेश्वर को।
नाथ–हे नाथ!	**तुभ्यं**–आपको।
तुभ्यं–आपको।	**नमः**–नमस्कार हो।
नमः–नमस्कार हो।	**जिनः**–हे जिनेश्वर।
क्षितितलामलभूषणाय–पृथ्वीतल के निर्मल आभूषण रूप।	**भवोदधिशोषणाय**—संसाररूपी समुद्र का शोषण करने वालों के।

अर्थ-सङ्कलना—

हे नाथ! आप अंतःकरण द्वारा त्रिभुवन के प्राणियों की पीड़ा हरने वाले हैं इसलिये मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप क्षिति (पृथ्वी) तल (पाताल) और अमल (स्वर्ग) इस प्रकार त्रिभुवन के अलंकार रूप हैं अतः मैं आपको नमस्कार करता हूँ तथा आप त्रिजगत के उत्कृष्ट ईश्वर स्वामी हैं अतः मैं आपको नमस्कार करता हूँ तथा हे जिन—राग द्वेष को जीतने वाले आप संसार समुद्र का शोषण करने वाले हैं अतः मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ २६ ॥

मूल—

युक्तिपूर्वक पुनः प्रभु के गुणों की स्तुति करते हैं:—

को विस्मयोऽत्र ? यदि नाम गुणैरशेषै-
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश ! !
दोषैरुपात्त-विबुधाश्रय-जात-गर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—

कः–क्या ?
विस्मय-आश्चर्य है। कुछभी आश्चर्य नहीं है।
अत्र–इस में (इस विषय में)।
यदि–यदि।
नाम–कोमलामंत्रण में है।
गुणैः–गुणों से।
अशेषैः–समग्र।
त्वं–आप।
संश्रितः–आश्रय किये गए हो।
निरवकाशतया–निरन्तर रूपसे।
मुनीश–हे मुनियों के ईश।
दोषैः–रागादि दोषों से।
उपात्त विविधाश्रय जातगर्वैः–प्राप्त, विविध प्रकार के आश्रय से उत्पन्न हुआ है गर्व जिन्हें।
स्वप्नांतरेऽपि–स्वप्न में भी।
कदाचिदपि–किसी भी समय।
न ईक्षितोऽसि-आप देखे नहीं गए।

अर्थ-सङ्कलना—

हे मुनीन्द्र ! यदि कदाचित् समग्र गुणों ने निरन्तर रूपसे* आपका ही आश्रय किया है, तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि अन्य (देवादिरूप) विविध प्रकार का आश्रय प्राप्त होने से गर्विष्ठ (रागादि) समग्र दोषों ने कदापि स्वप्न में भी आपको देखा नहीं ॥२७॥

मूल—

अशोक वृक्षरूपी प्रातिहार्य के वर्णन द्वारा प्रभुकी स्तुति करते हैंः–

उच्चैरशोक-तरु-संश्रितमुन्मयूख-
माभाति रुपममलं भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं,
बिम्बं रवेरिव पयोधर पार्श्ववर्ति॥ २८॥

---

* जिस प्रकार पंचास्तिकाय द्वारा सम्पूर्ण लोक अन्तर रहित व्याप्त है, उसी प्रकार गुण अन्य व्यक्ति में नहीं रहने से आप गुणों द्वारा निरन्तर सर्व अंग में व्याप्त हैं।

शब्दार्थ—

उच्चैरशोकतरुसंश्रितं—ऊँचे अशोक वृक्ष के आश्रय पर रहा हुआ, (जिनेश्वर के शरीर से बारह गुना ऊँचा अशोक वृक्ष होता है)।

उन्मयूखं—ऊँची अथवा अधिक हैं किरणें जिनकी ऐसा। (और)

आभाति—शोभित होता है।

रूपं—रूप, शरीर।

अमलं—निर्मल।

भवतः—आपका।

नितान्तं—अत्यंत।

स्पष्टोल्लसत्किरणं—स्पष्ट रूप से देदीप्यमान हैं किरणें जिसकी।

अस्ततमो वितानं—नाश किया है अंधकार का समूह जिसने ऐसा। (तथा)

बिम्बं—बिम्ब।

रवेः—सूर्य का।

इव—भाँति।

पयोधर पार्श्ववर्ति—बादलों के पास रहा हुआ।

अर्थ-सङ्कलना—

हे जिनेश्वर! विकस्वर किरणों वाला और स्वेदादि मल रहित आपका शरीर ऊँचे अशोक वृक्ष के नीचे रहा हुआ है जिससे वह विकस्वर किरणों वाले और अँधकार का नाश करने वाले बादलों के पास रहे हुए सूर्य-बिम्ब की तरह शोभित होता है। (यहाँ प्रभु के शरीर की सूर्य-बिम्ब और अशोक की बादल के साथ समानता है ॥२८॥

मूल—

सिंहासनरुप प्रातिहार्य के वर्णन द्वारा प्रभु स्तुतिः—

सिंहासने मणि-मयूख-शिखा-विचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्।
बिम्बं वियद्विलसदंशु-लता-वितानं,
तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्र-रश्मेः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—

सिंहासने–सिंहासन पर।
मणिमयूखशिखाविचित्रे-रत्न की कांतिके समूहसे चित्र विचित्र।
विभ्राजते–शोभित होता है।
तव–आपका।
वपुः–शरीर।
कनकावदातं-स्वर्ण की तरह उज्ज्वल।
बिम्बं–बिम्ब–मंडल।
वियद्विलसदंशुलतावितानं— आकाश में विलास करती हुई देदीप्यमान किरणों रूपी लता मंडप है जिनसे ऐसा (तथा)
तुङ्गोदयाद्रिशिरसि–ऊँचे उदयाचल पर्वत के शिखर पर स्थित।
इव–भाँति शोभित होता है वैसे।
सहस्ररश्मेः–सूर्य का।

अर्थ-सङ्कलना—

हे तीर्थपति! विविध रत्नों की कांति के समूह द्वारा चित्र विचित्र सिंहासन पर स्वर्ण सदृश उज्ज्वल आपका शरीर स्थित है, जो आकाश में देदीप्यमान किरणों के लतामंडप जैसा दिखाई देता है (अथवा जिसकी किरणों की माला का विस्तार आकाश में दैदीप्यमान दिखाई देता है) वह ऊँचे उदयाचल पर्वत के शिखर पर स्थित सूर्य के बिम्ब की भाँति शोभित होता है। (यहाँ किरणों जैसी मणि की कांति उदयाचल जैसा सिंहासन और सूर्य बिम्ब जैसा भगवान का शरीर समझें।॥ २९ ॥

मूल—

चँवर रूपी प्रातिहार्य के वर्णन द्वारा प्रभु स्तुतिः—

कुन्दावदात–चल–चामर–चारुशोभं,
विभ्राजते तव वपुः कल–धौतकान्तम्।
उद्यच्छशाङ्कशुचि–निर्झर–वारि–धार–
मुच्चैस्तटं सुर-गिरेरिव शात-कौम्भम्॥ ३०॥

शब्दार्थ—

कुन्दावदात—मोगरे के पुष्प जैसे उज्ज्वल। (और)
चल—इन्द्रादि द्वारा चालित।
चामर—दो चँवरों द्वारा।
चारुशोभं—मनोहर शोभा वाला।
विभ्राजते—शोभित होता है।
तव—आपका।
वपुः—शरीर।
कलधौतकान्तम्-स्वर्ण समान सुंदर।
उद्यच्छशाङ्क—उदित होते हुए चंद्र के जैसे।
शुचि—उज्ज्वल पवित्र।
निर्झरवारिधारं—झरने के जलकी दो धाराएँ हैं जिसके।
उच्चैस्तटं—ऊँचा शिखर।
सुरगिरेः—मेरुगिरी का।
इव—भाँति शोभित होता हैं।
शातकौम्भम्—स्वर्णमय।

अर्थ-सङ्कलना—

स्वर्ण तुल्य मनोहर भगवान के शरीर के दोनों ओर इन्द्रादि देव मोगरे के पुष्प सदृश उज्ज्वल चँवर डुलाते हैं जिनकी शोभा मनोहर दिखाई देती है मानो स्वर्णमय मेरु पर्वत के ऊँचे शिखर के दोनों ओर उदित होते हुए चन्द्र के समान उज्ज्वल झरने की जल-धाराएँ गिरती हों, उस शोभा की तरह प्रभु का शरीर शोभित होता है। (यहाँ मेरु शिखर जैसा प्रभुका शरीर और उज्ज्वल जलधारा जैसे चँवर समझें) ॥ ३० ॥

मूल—

त्रिछत्ररूप प्रातिहार्य के वर्णन द्वारा प्रभु स्तुति—
छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त-
मुच्चैः स्थितं-स्थगित-भानुकर-प्रतापम्।
मुक्ताफल-प्रकरजाल-विवृद्धशोभं,
प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

छत्रत्रयं–तीन छत्र।
तव–आपका।
विभाति–शोभित होता है।
शशाङ्ककान्तं–चन्द्र जैसा मनोहर (अथवा उज्ज्वल)।
उच्चैः स्थितं–ऊपर स्थित। (आपके मस्तक पर स्थित)
स्थगित भानुकरप्रतापं–ढाँक दिया है सूर्यकी किरणों का प्रभाव जिन्होंने।
मुक्ताफल प्रकरजाल–मुक्ताफल के समूह की रचना से।
विवृद्धशोभं–वृद्धि को प्राप्त हुई है शोभा जिसकी ऐसा।
प्रख्यापयत्–प्रसिद्ध करता हुआ।
त्रिजगतः–तीन जगत के।
परमेश्वरत्वं–परमेश्वर पन को।

अर्थ-सङ्कलना—

हे प्रभु! चन्द्र सदृश मनोहर-उज्ज्वल आपके मस्तक पर ऊँचे एक दूसरे के ऊपर धारण किये हुए सूर्य की किरणों के प्रभाव को (गर्मी अथवा प्रकाशको) आच्छादित करने वाले, मोती के समूह से कृतरचना से विशेषरूपसे शोभित होते हुए और आपका त्रिजगत् का स्वामित्व सूचित करते हुए आपके तीन छत्र शोभित होते हैं।

(यहाँ प्रातिहार्य के वर्णन का प्रस्ताव होते हुए भी पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, भामंडल और देवदुंदुभि—इन चार प्रातिहार्यों का वर्णन ग्रंथकार महाराजने नहीं किया तब भी अपनी बुद्धिसे समझ लें)* ॥ ३१ ॥

* कुछ का कथन है कि चार प्रतिहार्य के वर्णन वाले चार काव्य स्तुतिकार ने बनाए थे, परन्तु उनमें वर्णित स्तुति से चक्रेश्वरी देवी का आसन कम्पायमान होता था, इसलिये उन्होंने चार काव्य गुप्त रखे हैं। उनके स्थान पर दिगम्बरों ने 'गम्भीरतारखपूरितदिग्विभाग'–इत्यादि चार काव्य नए बनाकर जोड़े हैं।

मूल—

अतिशय द्वारा प्रभु स्तुति—

**उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ती*
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र ! धत्तः,
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥ ३२ ॥**

शब्दार्थ—

उन्निद्र–विकस्वर ।	**पदानि**–कदमों को अर्थात् गमन के स्थान को ।
हेमनवपङ्कजपुञ्ज–स्वर्ण के नवीन कमलों के समूह जैसी है ।	**तव**–आपके । **यत्र**–जहाँ ।
कान्ती–कांति जिनकी ऐसे । (तथा)	**जिनेन्द्र** !–हे जिनेन्द्र ! ।
पर्युल्लसत्–चारों और प्रसरित होते हुए ।	**धत्तः**–धारण करते हैं ।
नखमयूख–नख के किरणों की ।	**पद्मानि**–कमलों को ।
शिखाभिरामौ–श्रेणियों से मनोहर ।	**तत्र**–वहाँ । विबुधाः–देवतागण ।
पादौ–दो चरण।	**परिकल्पयन्ति**–रचना करते हैं ।

* यहाँ 'कान्ति' शब्द का इकार ह्रस्व रखकर कमल के समूह की कांति द्वारा चारों ओर प्रसरित होते हुए नख की किरणों की श्रेणि द्वारा मनोहर आपके चरण '–इस प्रकार समग्र एक पद रखकर अर्थ करना उपयुक्त नहीं लगता क्यों कि देवताओं द्वारा रचित कमलों पर रहे हुए पाद का यह विशेषण हो तो वह अर्थ उपयुक्त होता है परन्तु यह स्वरूप विशेषण है अर्थात् स्वाभाविक रूप से ही ऐसे विशेषण वाले पाद कहने हैं । ऐसे चरणों को प्रभु जब पृथ्वी पर रखते हैं तब देवता उनके नीचे कमलों की रचना करते हैं–ऐसा अर्थ यहाँ करने का है ।

अर्थ-सङ्कलना—

हे जिनेश्वर ! विकस्वर स्वर्ण के नवीन कमलों के समूह जैसी कांति वाले और चारों ओर प्रसरित होती हुई नख की किरणों की श्रेणी से मनोहर आपके दोनों चरण जहाँ जहाँ पाद निक्षेप करते हैं— कदम रखते हैं, वहाँ वहाँ देवतागण कमलों की रचना करते हैं।*॥३२॥

मूल—

अतिशय का संक्षिप्त वर्णन—

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र !
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।
यादृक् प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा,
तादृक् कुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—

इत्थं–इस प्रकार (पूर्वकथनानुसार) ।	**विभूतिः**–अतिशयरूप ।
यथा–जैसी ।	**अभूत्**–थी । (हैं)
तव–आपकी ।	**जिनेन्द्र !**–हे जिनेन्द्र ! ।

* तीर्थंकर जहाँ २ विचरण करते हैं वहाँ २ उनके चरण कमल के नीचे देवतागण स्वर्ण के नौ कमल पुनः २ परावर्तन करके रचते रहते हैं। उनमें दो कमल दोनों चरणों के नीचे रहते हैं और शेष सात कमल पीछे रहते हैं— जैसे २ भगवान अपने चरण आगे २ स्थापित करते हैं वैसे २ देव पीछे के कमलों को आगे २ चरणों के नीचे चलाते जाते हैं। कमल तो वे ही होते हैं, परन्तु देवतागण उनका परावर्तन करते हैं जिससे वे नवीन दिखाई देते हैं। यहाँ स्वर्ण कमल का वर्ण पीला और नख की कांति रक्त होने से इन दोनों के मिश्रण से चरणकमल का वर्ण भी विचित्र हो जाता है।

धर्मोपदेशनविधौ–धर्म के उपदेश की विधि में। (धर्मोपदेश के समय)
न–नहीं होती। (नहीं, क्योंकि)
तथा–वैसी।
परस्य–अन्य हरिहरादि देवों की।
यादृक्–जिस प्रकार की होती है।
प्रभा–कांति।
दिनकृतः–सूर्य की।
प्रहतान्धकारा–हनन किया है अंधकार का जिसने ऐसी।
तादृक्–वैसी कांति।
कुतो–कहाँ से हो? अर्थात् नहीं हो सकती।
ग्रहगणस्य–ग्रहों के समूह की।
विकाशिनोऽपि–विकस्वर भी।

अर्थ-सङ्कलना–

हे जिनेन्द्र! पूर्व कथनानुसार धर्मोपदेश के समय* आपकी विभूति जैसी होती है वैसी अन्य देवों की नहीं होती× क्योंकि सूर्य की कांति जिस प्रकार अंधकार का नाश करती है उसी प्रकार विकस्वर ग्रहों का समूह भी अंधकार का नाश कहाँ से कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता ॥ ३३ ॥

मूल–

गजभयभंजक तीर्थंकर की स्तुति–

श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल-
मत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम्।
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तं
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥ ३४ ॥

---

* दुर्गति में गिरते हुए जीवों को धारणकर सद्गति में स्थापित करे वह धर्म कहलाता है।

× अन्य देव सरागी होने से उनके चौंतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्य आदि कुछ भी नहीं होता।

शब्दार्थ—

श्च्योतन्मदाविल–निर्झरित होते हुए मद से व्याप्त और।
विलोल–चपल तथा।
कपोलमूल–गंडस्थल में।
मत्तभ्रमद्–मदोन्मत्त होकर मँडराते हुए।
भ्रमर–भ्रमरो के।
नाद–झंकार-शब्द से।
विवृद्धकोपम्–बढ़ा है कोप जिसका तथा।
ऐरावताभं—ऐरावत हाथी सदृश विशाल।
इभं–हाथी को।
उद्धतं–उद्धत्त और।
आपतन्तं–सम्मुख आते हुए।
दृष्ट्वा–देखकर।
भयं–भय।
नो भवति–नहीं होता।
भवदाश्रितानाम्–आपके आश्रित जनों को।

अर्थ-सङ्कलना—

* निर्झरित होते हुए मद से व्याप्त बने हुए, चपल और गंडस्थल में मदोन्मत्त होकर मंडराते हुए (घुमते हुए) भ्रमरों के झंकार शब्द से अत्यन्त कुपित बने हुए ऐरावत हाथी जैसे विशाल और उद्धत्तता-से सम्मुख आते हुए हाथी को देखकर आपके आश्रितों को (भक्तजनों को) लेशमात्र भी भय नहीं होता ॥ ३४ ॥

---

* दो गंडस्थल, दो नेत्र, सूंढ, लिंग और गुदा–इन सात स्थलों से हाथी के मद झरता है।

मूल—

सिंह भयहर तीर्थंकर की स्तुति—

भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्त-
मुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः।
बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि
नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—

भिन्नेभकुम्भ–भिदे हुए, विदारित हाथी के कुंभस्थल में से।
गलदुज्ज्वल–गिरते हुए उज्ज्वल और।
शोणिताक्त–रुधिर से रंजित।
मुक्ताफलप्रकर–मोती के समूह से।
भूषितभूमिभागः—शोभायमान किया है पृथ्वी का विभाग जिन्होंने तथा।
बद्धक्रमः–चौकड़ी भरने, आक्रमण करने के लिये। बांधे है—एकत्रित किये हैं पाँव जिसने।*
क्रमगतं–छलांग-चौकड़ी में प्राप्त हो तब भी उसे।
हरिणाधिपोऽपि–सिंह भी।
न आक्रामति–आक्रमण नहीं करता, मार नहीं सकता।
क्रमयुगाचलसंश्रितं—पादयुगल रूपी पर्वत का आश्रय लिया हुआ व्यक्ति।
ते–आपके।

अर्थ-सङ्कलना—

भेदे हुए—फाड़े हुए हाथी के कुंभस्थल से गिरे हुए रुधिर

* छलांग भरते समय आगे और पीछे के दोनों पाँव पास २ रखे जाते हैं अथवा आपके आश्रय के कारण बँध गए हैं पाँव जिसके (पराक्रम जिसका) ऐसा अर्थ भी हो सकता है।

में सने हुए उज्ज्वल मोती के समूह से पृथ्वी की शोभा बढ़ाने वाले और छलाँग भरने के लिये पाँवों को एकत्रित कर छिपकर तैयार बना हुआ सिंह भी अपनी छलाँग में आने पर भी आपके चरणाश्रित सेवक को मार नहीं सकता। (अर्थात् सिंह भी पराभव नहीं कर सकता तो अन्य हिंसक प्राणी कहाँसे कर सकते हैं?) ॥ ३५ ॥

मूल—

अग्निभयहर तीर्थंकर की स्तुति—

कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं,
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्फुलिंगम् ।
विश्वं जिघत्सुमिव संमुखमापतन्तं,
त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—

कल्पान्तकाल–प्रलयकाल के।
पवनोद्धत–वायु से उद्धत्त बने हुए।
वह्निकल्पं–अग्नि जैसे।
दावानलं–दावानल को।
ज्वलितं–जाज्वल्यमान।
उज्ज्वलं–ऊँची ज्वाला वाले।
उत्फुलिंगं–उड़ते हैं अंगारे जिसके।
विश्वं जिघत्सुमिव–सम्पूर्ण जगतको मानो निगलना चाहता हो ऐसा।
संमुखं आपतन्तं–सम्मुख आते हुए तथा।
त्वन्नामकीर्तनजलं–आपके नामका कीर्तनरूपी जल।
शमयति–शांत कर देता है।
अशेषं–वज्राग्नि, बिजली आदि समग्र प्रकार के।

अर्थ-सङ्कलना—

हे नाथ प्रभु—आपका नाम मात्र ही ग्रहण करने से वज्राग्नि, बिजली आदि सभी प्रकार का दावानल शांत हो जाता है। वह दावानल प्रलयकाल की वायु द्वारा उद्धत्त बनी हुई अग्नि जैसा हो, देदीप्यमान हो, उसकी ज्वाला ऊँचे आकाशतक पहुँचती हो, उसके अंगारे चारों ओर फैलते हों, मानो सम्पूर्ण विश्व को निगल जाना चाहता हो तथा सम्मुख आता हो तब भी ऐसे दावानल को भी आपका नाम ही तुरन्त शांत कर देता है॥ ३६॥

मूल—

सर्पभयहर द्वारा तीर्थंकर की स्तुति—

रक्तेक्षणं समदकोकिलकण्ठनीलं,
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम्।
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशङ्क-
स्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः॥ ३७॥

शब्दार्थ—

रक्तेक्षणं—रक्त नेत्रवाला।
समदकोकिलकण्ठनीलं—मदोन्मत्त कोयल के कण्ठ जैसा श्याम वर्ण वाला।
क्रोधोद्धतं—क्रोध से उद्धत्त बने हुए।
फणिनं—सर्प को।
उत्फणं—उन्नत फन वाले। (और)
आपतन्तं—सम्मुख आते हुए।
आक्रामति—अतिक्रमण कर जाता है। लाँघ जाता है।
क्रमयुगेन—अपने दोनों पाँवों से।
निरस्तशङ्कः—शंका रहित होकर।
त्वन्नामनागदमनी—आपकी नाम रूपी नागदमनी।
हृदि—हृदय में।
यस्य—जिसके।
पुंसः—पुरुष के।

अर्थ-सङ्कलना—

जिस पुरुष (व्यक्ति) के हृदय में आपकी नामरूपी नागदमनी* रही हुई होती है वह व्यक्ति रक्त नेत्रवाले और मन्दोमत्त कोयल के कंठ जैसे श्यामवर्ण वाले, क्रोध से उद्धत्त बने हुए, उन्नत फन वाले तथा सम्मुख आते हुए सर्प को भी शंकारहित होकर अपने दोनों पाँवों से (ऊपर होकर) लाँघ जाता है ॥ ३७ ॥

मूल—

संग्रामभयहर द्वारा प्रभु स्तुति—

वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनाद,
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम्—
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं,
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—

वल्गत्तुरङ्ग—दौड़ते हुए घोड़े। और
गजगर्जित—हाथियों के गर्जारव। तथा।
भीमनाद—योद्धाओं के भयंकर। सिंहनाद-शब्द हैं जिसमें ऐसा।
आजौ—युद्ध में।
बलं-सैन्य।
बलवतामपि—बलवान भी।
भूपतीनाम्—राजाओं का।
उद्यद्दिवाकर—उदित होते हुए सूर्य के।
मयूख—किरणों के।
शिखापविद्धं—अग्रभाग द्वारा भिदे हुए।

---

* विषहरण करने वाली औषधि अथवा जांगुलि मंत्र।

त्वत्कीर्तनात्—आपके नाम का स्मरण करने से ही।
तम इव—अंधकार की तरह।
आशु—शीघ्रतासे।
भिदां—भेद का। (नाश के)
उपैति—पाता है।

अर्थ-सङ्कलना—

युद्ध में दौड़ते हुए घोड़े और हाथियों के गर्जारव तथा योद्धाओ के भयंकर सिंहनाद शब्द हैं जिसमें अथवा युद्ध करते हुए घोड़ों और हाथियों की गर्जन से जिसमें भयंकर शब्द होते हैं ऐसे बलवान राजाओं का सैन्य मात्र आपका नाम--स्मरण करने से ही उदित होते हुए सूर्य की किरणों के अग्रभाग द्वारा अथवा समूह द्वारा भिदे हुए अंधकार की तरह तत्काल नष्ट होता है ॥ ३८ ॥

तथा

मूल—

कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाह-
वेगावतारतरणातुरयोधभीमे ।
युद्धे जयं विजितदुर्जयजेयपक्षा+
स्त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणो लभन्ते ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—

कुन्ताग्रभिन्न—भाले के अग्र भाग द्वारा भिदे हुए।
गज—हाथी के।
शोणित—रुधिररूपी।
वारिवाह—जल प्रवाह में।
वेगावतार—शीघ्रतापूर्वक। उतरने से (प्रवेश करने से)।
तरण—तैरने में।

+ जेय—जीतने योग्य अर्थात् शत्रु।

आतुर–व्याकुल।
योध–योद्धाओं द्वारा।
भीमे–भयंकर।
युद्धे–युद्ध में।
जयं–जय को।
विजित–जीता है।
दुर्जय–कठिनाई से जीता जा सके ऐसा।
जेयपक्षाः–शत्रु।
त्वत्पादपंकजवनाश्रयिणः-आपके चरण कमलरूपी वन का आश्रय करने वाले मनुष्य।
लभन्ते–प्राप्त करते हैं।

अर्थ-सङ्कलना—

भाले के अग्रभाग से भिदे हुए हाथियों के रुधिररूपी जल प्रवाह में वेग से प्रवेश कर उसे पार करने के लिये व्याकुल बने हुए वीरों के द्वारा भयंकर दिखाई देते हुए युद्ध में आपके चरण कमलरूपी वन का आश्रय करने वाले मनुष्य दुर्जय शत्रुओं को पराजित कर विजयी होते हैं ॥ ३९ ॥

मूल—

जलभयहर द्वारा प्रभु स्तुति—

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्र-
पाठीनपीठभयदोल्बणवाडवाग्नौ ।
रङ्गत्तरङ्गशिखरस्थितयानपात्रा-
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—

अम्भोनिधौ–समुद्र में।
क्षुभित–क्षुब्ध बने हुए।
भीषणनक्रचक्र–भयंकर मगरमच्छ के समूह।

पाठीन पीठ—पाठीन और पीठ जाति के मत्स्य।

भयदोल्बणवाडवाग्नौ—भयंकर देदीप्यमान बड़वानल जिसमें है ऐसे।

रङ्गत्तरङ्गशिखर—उछलती हुई लहरों के शिखर पर।

स्थितयानपात्राः—रहे हैं जहाज के लोग।

त्रासं-भय।

विहाय-त्याग करके।

भवतः-आपके।

स्मरणात्-स्मरण से।

व्रजन्ति-इच्छित स्थान पर जाते हैं। (पहुँचते हैं)।

अर्थ-सङ्कलना—

हे स्वामिन्! क्षुभित बने हुए भयंकर मगरमच्छों के समूह और पाठीन तथा पीठ जाति के मत्स्य व भयंकर बड़वानल अग्नि जिसमें है ऐसे समुद्र में जिनके जहाज लहरों के अग्रभाग पर स्थित हैं ऐसे जहाज वाले लोग आपका मात्र स्मरण करने से ही भयरहित होकर निर्विघ्नरूप से इच्छित स्थान पर पहुँचते हैं ॥ ४० ॥

मूल—

रोगभयहर द्वारा प्रभु स्तुति—

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः
शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः ।
त्वत्पादपङ्कजरजोमृतदिग्धदेहाः
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—

उद्भूत-उत्पन्न।

भीषण-भयंकर।

जलोदर-जलोदर के।

भार-बोझ से।

भुग्ना–झुके हुए।	रजोऽमृत–रज रूपी अमृत द्वारा।
शोच्यां–शोक करने योग्य।	दिग्धदेहाः–लिप्त हुए हैं शरीर जिनके ऐसे।
दशां–अवस्था को।	
उपगताः–प्राप्त किये हुए। (तथा)	मर्त्याः–मनुष्य।
च्युत–नष्ट हुई है।	
जीविताशाः–जीने की आशा जिनकी ऐसे।	भवन्ति–होते हैं।
त्वत्पादपङ्कज–आपके चरण कमल की।	मकरध्वजतुल्यरूपाः–काम देव-तुल्य रूप है जिनका ऐसे।

अर्थ–सङ्कलना–

उत्पन्न हुए भयंकर जलोदर* के बोझ से झुके हुए; शोक करने योग्य अवस्था को प्राप्त किये हुए और जीने की आशा नष्ट हो चुकी है जिनकी ऐसे लोग भी आपके चरण कमल की रज रूपी अमृत को अपने शरीर पर लगाने से कामदेव जैसे रूपवान् बनते हैं अर्थात् व्याधिरहित होकर मनोहर रूपवाले बनते हैं ॥ ४१ ॥

मूल–

बन्धनभयहर द्वारा प्रभुस्तुति–

आपादकण्ठमुरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गा,
गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः।
त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगतबंधभया भवन्ति ॥ ४२ ॥

---

* जिस रोग से पेट में पानी भरता जाता है और जिसके कारण पेट बढ़ता जाता है तथा अन्य अवयव गलते जाते हैं उसे जलोदर रोग कहते हैं। वह बड़ा ही कष्टसाध्य महारोग है।

शब्दार्थ—

आपादकण्ठ—पाँवसे लगाकर कंठ पर्यन्त।

उरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गाः—बड़ी २ जंजीरों से जकड़ा गया है शरीर जिनका। (तथा)

गाढं—अत्यन्त।

बृहन्निगडकोटि—मोटी २ बेड़ियों के अग्र भाग द्वारा।

निघृष्टजङ्घाः—घिसती हैं जंघाएँ जिनकी ऐसे।

त्वन्नाममन्त्रं—आपके नामरूपी मंत्र का।

अनिशं-निरन्तर।

मनुजाः—मनुष्य।

स्मरन्तः-स्मरण करने से।

सद्यः-तत्काल।

स्वयं—स्वतः ही।

विगतबन्धभयाः—गया है बंधन का भय जिनका ऐसे।

भवन्ति—होते हैं।

अर्थ-सङ्कलना—

जिनके शरीर पाँव से मस्तक तक मोटी २ तथा बड़ी २ जंजीरों से बँधे हुए हों और जिनकी जाँघे बेड़ियों के अग्र भाग द्वारा बुरी तरह घिसती हों ऐसे मनुष्य भी हे स्वामी! निरन्तर आपके नामरूपी मंत्र का (ॐ ऋषभाय नमः) स्मरण करने से तत्काल स्वतः ही बंधन के भय से रहित हो जाता हैं ॥ ४२ ॥

मूल—

आठो ही भयों के नाशकारक प्रभु की स्तुति—

मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहि-
सङ्ग्रामवारिधिमहोदरबंधनोत्थम् ।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—

मत्तद्विपेन्द्र—मदोन्मत हाथी।	**नाशं**—नाश।
मृगराज—सिंह।	**उपयाति**—पाते हैं।
दवानल—दावानल।	**भयं**—भय।
अहि—सर्प।	**भियेव**—मानो स्वयं ही भयभीत हुए हों।
संग्राम—युद्ध।	**यः**—जो।
वारिधि—समुद्र।	**तावकं**—आपका।
महोदर—जलोदर। (और)	**स्तवं**—स्तोत्र।
बन्धन—बन्धन। (इन आठसे)	**इमं**—यह।
उत्थं—उत्पन्न।	**मतिमान्**—बुद्धिमान् लोग।
तस्य—उसका।	**अधीते**—पढते हैं।
आशु—शीघ्र।	

अर्थ-सङ्कलना—

जो बुद्धिमान् लोग आपके इस स्तोत्र का निरन्तर पाठ करते हैं, उनका (१) मदोन्मत्त हाथी, (२) सिंह, (३) दावानल, (४) सर्प, (५) युद्ध, (६) समुद्र, (७) जलोदर और (८) बंधन इन आठ से (जिनका पूर्वोक्त आठ श्लोकों में पृथक् २ रूप से वर्णन किया गया है) उत्पन्न भय स्वतः ही मानो भय से दूर भाग जाता हो, नष्ट हो जाता हो, उसी प्रकार शीघ्र नष्ट हो जाता है। (अर्थात् आपके स्तोत्र का ध्यान करने वाले व्यक्ति से भयभी भयभीत होता है। यहाँ भयका नाश करनेवाले होने से तीर्थंकर भी अन्य देव की तरह इस भव संबंधी सुख को देने वाले हैं ऐसे नहीं मान ले परन्तु भगवान के स्मरण से अन्य देव सन्तुष्ट होकर प्राणियों के मनोरथ सिद्ध करते हैं।

हैं) क्योंकि भगवान के ध्यान का मुख्य फल तो मोक्ष ही है। (इसके सिवाय अन्य फल गौण है) ॥ ४३ ॥

मूल—

स्तोत्रकी महिमा का सर्वस्वकथनपूर्वक स्तोत्रकी समाप्ति—

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र ! गुणैर्निबद्धां,
भक्तया मया रुचिरवर्णविचित्रपुष्पाम्।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं,
तं मानतुङ्गमवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—

स्तोत्रस्रजं–स्तोत्ररूपी माला को।
तव–आपकी।
जिनेन्द्र !–हे जिनेन्द्र !
गुणैः–पूर्व वर्णित ज्ञानादि गुणोंसे।
निबद्धां–रचित। (तथा)
भक्त्या–भक्ति से।
मया—मेरे द्वारा। (मानतुंग सूरि द्वारा)
रुचिरवर्णविचित्रपुष्पां—मनोहर अकारादि अक्षररूपी विचित्र पुष्पवाली यह।
धत्ते–धारण करते हैं।
जनः–लोग।
यः–जो।
इह–इस जगत में।
कण्ठगतां–कंठमें रही हुई वह।
अजस्रं–निरन्तर।
तं–वह।
मानतुङ्ग-चित्तकी उन्नति वाले व्यक्ति को। (अथवा मानतुंग सूरिको)
अवशा–पराधीन बनी हुई, उसके वशीभूत बनी हुई।
समुपैति–प्राप्त होती है।
लक्ष्मीः—राज्य और मोक्ष संबंधी लक्ष्मी।

अर्थ-सङ्कलना—

हे जिनेश्वर ! मेरे द्वारा (मानतुंगसूरी द्वारा) भक्ति पूर्वक पूर्वोक्त ज्ञानादि गुणों से रचित तथा मनोहर (अकारादि) अक्षर रूपी विचित्र पुष्प वाली आपकी इस स्तोत्रमाला को जगत् में जो मनुष्य निरन्तर कंठमें धारण करता है (अर्थात् मुखपाठ करता है) उस चित्त की उन्नति वाले व्यक्ति को (अथवा मानतुंगसूरि को) उसके गुण से वशीभूत बनी हुई (राज्य, स्वर्ग और) मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ ४४ ॥

६१ श्रीकल्याणमन्दिरस्तोत्रम्*
[अष्टमं स्मरणम्]

मूल—

प्रथम मंगल तथा अभिधेय दो श्लोक द्वारा कहते हैं—

कल्याणमन्दिरमुदारमवद्यभेदि,
भीताभयप्रदमनिन्दितमङ्घ्रिपद्मम्।
संसारसागरनिमज्जदशेषजन्तु–
पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य ॥ १ ॥

---

* यह कल्यामन्दिर स्तोत्र सिद्धसेन दिवाकर सूरि द्वारा रचित है। इसकी उत्पत्ति इस प्रकार है—उज्जयिनी नगरी में विक्रम राजा के पुरोहित के मुकुन्द नामक पुत्र था। उसकी माता का नाम देवसिका था। वह मुकुंद पंडित एक दिन वाद करने के लिये भरुच जा रहा था। मार्ग में उसे वृद्धवादी सूरि मिले। उनके साथ ग्वालों की मध्यस्थता में वाद किया जिसमें मुकुंद पराजित हुआ। तब सूरि उसे राज्यसभा में ले गए। वहाँ भी वाद में सूरि ने उसे पराजित किया। इसलिये वह मुकुंद अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उन सूरिजी का ही शिष्य बना। उस समय गुरुने उनका कुमुदचंद्र नाम

रखा। फिर अनुक्रम से उन्हें जब सूरिपद दिया तब उनका नाम सिद्धसेन दिवाकर रखा। एक दिन उनके साथ वाद करने के लिये आए हुए भट्ट को बुलाने के लिये नवकार के स्थान पर 'नमोऽर्हत्‌सिद्धाचार्योपाध्यायसर्व-साधुभ्यः' इस प्रकार चौदह पूर्व में कथित संस्कृत वाक्य कहा। इसी प्रकार एक दिन उन सिद्धसेनसूरि ने अपने गुरु को कहा कि 'ये सभी आगम प्राकृत में हैं इन्हें मैं संस्कृत में बनालूँ।' तब गुरुने उन्हें कहा कि 'बाल, स्त्री, मंद बुद्धि वाले और मूर्खजनों–जो चारित्र लेने के इच्छुक हो–उनके लिये तत्त्वज्ञानियों ने सिद्धान्त ग्रन्थ–आगम प्राकृत में रचे हैं जो उपयुक्त हैं, फिर भी तुमने ऐसा विचार किया इससे तुम्हें बड़ी आशातना लगी है जिसका प्रायश्चित भी बड़ा भारी लगा हैं–ऐसा कहकर उन्हें गच्छ से बहिष्कृत किया। यह सुनकर संघ ने एकत्रित होकर गुरुको विज्ञप्ति की कि सिद्धसेन सूरि शासन के बड़े प्रभावक हैं, इन्हें गच्छ से वहिष्कृत करना उपयुक्त नहीं है। इस प्रकार संघ ने बड़ा आग्रह किया तब गुरु ने कहा–' जब यह अठारह राजाओं को प्रतिबोधित कर उन्हें जैन बनाएगा तब यह गच्छ में आने योग्य बनेगा'। इस प्रकार गुरुकी आज्ञा अंगीकार कर सिद्धसेन सूरि उज्जयिनी नगरी में गए। वहाँ राजा विक्रम अश्वक्रीडा करने जा रहे थे। उन्होने सूरि को देख कर उनका परिचय पूछा। सूरि ने अपना परिचय देते हुए कहा 'मैं सर्वज्ञपुत्र हूँ'। यह सुनकर उनकी परीक्षा करने के लिये राजा ने उन्हें मन ही मन नमस्कार किया, जिस पर सूरि ने हाथ ऊँचा करके राजा को धर्मलाभ का आशीर्वाद दिया। राजाने पूछा–' किसे धर्मलाभ दे रहे हो ? सूरि बोले–' जिसने हमें मन ही मन नम-स्कार किया है उन्हें हमने धर्मलाभ दिया है।' यह सुनकर प्रसन्न हुए राजा ने सूरि को एक करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ भेंट की। सूरि ने उन्हें स्वीकार न कर धर्मकार्य में उसका उपयोग करवाया। इसके कुछ समय बाद सूरि चार श्लोक बनाकर राजद्वार गए। वहाँ उन्होंने राजा को पुछवाया कि 'आपको मिलने के लिये एक भिक्षु चार श्लोक हाथमें रखकर आया है वह आए या जाए ?' राजा ने कहलाया 'दस लाख स्वर्ण मुद्राएँ और चौदह हाथी मैं उन्हें अर्पण करता हूँ अब उसे आना हो तो आए और

जाना हो तो जाए।' फिर सूरि ने राजा के पास जाकर अनुक्रम से चार श्लोक बोले। उन्हें सुनकर राजा ने एक २ श्लोक के लिये एक २ दिशा का राज्य देने का संकल्प किया, परन्तु आचार्य ने उसे स्वीकार न कर इतनी ही माँग की कि 'जब भी मैं आऊँ आप मेरा धर्मोपदेश सुनें।' राजा ने यह बात स्वीकार की। एक दिन वे सूरि महाकाल के मंदिर में जाकर शिवलिंग पर पाँव रखकर सो गए। यह देखकर अनेक शिव भक्त बन क्रुद्ध हुए और उन्हें वहाँ से उठाने के लिये बहुत प्रयत्न करने लगे परन्तु सूरि तो वहाँ से नहीं उठे। अंत में भक्तजनों ने जाकर राजा को निवेदन किया। यह सुनकर राजा ने उन्हें बलपूर्वक भी मन्दिर से बाहर निकालने का आदेश दिया। राजाज्ञा प्राप्त कर राजसेवक उनके पास पहुँचे परन्तु उनके कहने पर भी सूरि वहाँ से नहीं उठे। तब राजसेवक उन्हें कोड़ों से पीटने लगे। परन्तु वे प्रहार सूरि को न लगकर राजा की रानियों को लगने लगे। इससे अन्तःपुर में बड़ा कोलाहल हुआ। यह जानकर राजा आश्चर्यचकित होकर महाकाल के मन्दिर में गया। वहाँ सूरि को पहिचान कर राजा ने कहा–'यह महादेव तो पूज्य हैं फिर भी आप उन पर पाँव क्यों रखे हुए हैं!' सूरि बोले–'यह महादेव नहीं हैं, महादेव तो अन्य ही हैं अतः ये देव मेरे द्वारा कृत स्तुति को सहन नहीं कर सकेंगे।' राजा ने कहा–'तब भी आप इसकी स्तुति करें।' तब सूरि बोले–'तो ठीक है, मैं स्तुति करता हूँ। आप सावधान होकर सुनें।' यह कहकर सूरि ने कल्याण मन्दिर स्तोत्र की रचना शुरु की। इसमें ग्यारहवाँ श्लोक बोले कि पृथ्वी कम्पायमान हुई, धुँआ निकला और शिवलिंग फटकर उसमें से धरणेन्द्र सहित पार्श्वनाथ स्वामी की महा तेजस्वी प्रतिमा प्रकट हुई। आचार्य ने स्तोत्र सम्पूर्ण कर राजा को कहा–'यहाँ भद्रा सेठानी का पुत्र अवंति सुकुमाल अनशन करके कायोत्सर्ग में रहकर, कालधर्म को प्राप्त कर नलिनीगुल्म विमान में उत्पन्न हुआ था। इस स्थान पर उसकी स्मृति में उसके पुत्रने महाकाल नामक यह नवीन चैत्य बनाकर उसमें पार्श्वप्रभु की प्रतिष्ठा की थी। कुछ समय पश्चात् मिथ्यादृष्टियों ने उस पर शिवलिंग स्थापित कर प्रतिमा को ढँक दिया था। वह मेरी स्तुति से प्रकट हुई है।' यह सुनकर राजा ने हर्षित होकर उस मन्दिर के खर्चे हेतु एक सौ गाँव

मूल—

यस्य स्वयं सुरगुरुर्गरिमाम्बुराशेः
स्तोत्रं सुविस्तृतमति र्न विभुर्विधातुम् ।
तीर्थेश्वरस्य कमठस्मयधूमकेतो
स्तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये ॥ २ ॥ युग्मम् ॥

दिये और स्वयं ने सम्यक्त्व अंगीकार किया। तत्पश्चात् सिद्धसेन सूरिने विक्रम राजा के अनुयायी अन्य अठारह राजाओं को प्रतिबोधित कर सम्यक्त्वधारी बनाए। उनके गुण से प्रसन्न होकर विक्रम राजा ने सूरि के बैठने के लिये सुखासन भेंट किया। उसमें बैठकर सूरि सदैव राजसभा में जाने लगे। इस बात का पता इनके गुरु वृद्धवादी को लगा। इस पर उन्हें प्रतिबोध देने के लिये वृद्धवादि गुरु उज्जयिनी में पहुँचे। वहाँ सूरि निरन्तर अत्यन्त व्यस्त रहते थे अतः गुरुको उनके पास पहुँचने का अवसर नहीं मिला। तब वे गुरु कहार बनकर उपाश्रय के द्वार पर खड़े रहे। जब सिद्धसेनसूरि सुखासन में बैठकर राजद्वार जाने के लिये निकले तब वृद्धवादी ने एक कहार का स्थान ग्रहणकर पालखी उठाई परन्तु वे बहुत ही वृद्ध थे इसलिये उनकी चाल मंद थी। यह देखकर सिद्धसेन बोले–'भूरिभारभराक्रान्तः स्कन्धः किं तव बाधति ?' (हे वृद्ध ! अत्यन्त बोझ के समूह से बोझिल तेरा स्कन्ध क्या तुझे पीड़ा पहुँचा रहा है ?) यहाँ 'बाधते' आत्मनेपद का रूप बोलना चाहिये जिसके बजाय 'बाधति' परस्मैपद का अशुद्ध रूप सिद्धसेन दिवाकर सूरिजी बोले ! उसे उद्दिष्ट कर वृद्धवादी सूरि बोले–'न तथा बाधते स्कन्धो यथा बाधति बाधते'–(हे सूरि ! तुम्हारे द्वारा प्रयुक्त बाधति का प्रयोग जितना पीड़ा पहुँचाता है–उतना यह मेरा स्कंध पीड़ा नहीं पहुँचाता) यह सुनकर अपनी गल्ती जानकर सिद्धसेन दिवाकर सूरिजी चौंके और गलती निकालने वाले उनके गुरु ही हैं ऐसा जानकर वे तुरन्त पालखी में से नीचे उतरे और गुरु के चरणों में गिरे। गुरु ने उन्हें प्रतिबोध देकर गच्छ में शामिल किया। ये सिद्धसेन दिवाकर सूरिजी महाकवि हुए हैं।

शब्दार्थ—

कल्याणमन्दिर-कल्याणका घर।
उदारं-उदार।
अघभेदि—पाप का भेदन करने वाला।
भीताभयप्रदं-भयभीत बने हुओ को अभयदान देने वाले।
अनिन्दितं-निंदा-दोष रहित अर्थात् प्रशस्य। (तथा)
अङ्घ्रिपद्मं-चरण कमल को।
संसारसागर-संसार रूपी सागर में।
निमज्जत्-डूबते हुए।
अशेष-सभी।
जन्तु-प्राणियों के लिये।
पोतायमान-नाव समान।
अभिनम्य-नमस्कार करके।
जिनेश्वरस्य-जिनेश्वर के।
यस्य-जिन पार्श्व प्रभु को। -
स्वयं-स्वयं।
सुरगुरुः-बृहस्पति भी।
गरिमाम्बुराशेः-महिमा के महासागर रूप।
स्तोत्रं-स्तोत्र को।
सुविस्तृतमतिः—अत्यन्त विस्तार वाली है बुद्धि जिसकी ऐसा।
न विभुः-समर्थ नहीं।
विधातुं-करने के लिये।
तीर्थेश्वरस्य-तीर्थंकर की।
कमठस्मयधूमकेतोः—कमठासुर के गर्व का नाश करने में धूमकेतु सदृश।
तस्य-उनकी।
अहं-मैं।
एष-यह।
किल-वास्तव में।
संस्तवनं-स्तुति।
करिष्ये-करूँगा (करता हूँ)।

अर्थ-सङ्कलना—

कल्याण के निवास गृह, उदार अर्थात् अत्यन्त देदीप्यमान (अथवा भव्य प्राणियों को वांछित देने से उदार—दातार), पाप का क्षय करने वाले, भयग्रस्त को अभय देने वाले अथवा संसारसे त्रस्त जीवों को मोक्ष देने वाले, लेशमात्र भी दोष न होने से अनिन्दित-

प्रशस्य, तथा संसार के सागर में डूबते हुए सभी प्राणियों के लिये नौका समान तीर्थंकर के चरण कमल को नमस्कार करके महिमा के समुद्ररूप जिन पार्श्वनाथ की स्तुति करने के लिये अति तीक्ष्ण बुद्धि-वाला बृहस्पति स्वयं भी समर्थ नहीं। जो पार्श्वनाथ कमठ नामक असुर के गर्व का नाश करने में धूमकेतु–(पुच्छल) तारें रूप है, उनकी स्तुति करने के लिये मैं तैयार हुआ हूँ। (जिनकी स्तुति करने में बृहस्पति भी असमर्थ है उनकी स्तुति मैं करता हूँ-इस प्रकार कहकर स्तुतिकार ने स्तुति करने में अपनी सर्वथा अशक्यता प्रकट की है।) ॥ १–२ ॥

मूल—

विशेष प्रकार की स्तुति की तो बात ही नहीं, परंतु सामान्य स्तुति भी मुझ से नहीं हो सकती–ऐसा वे बताते हैं--

सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूप–
मस्मादृशाः कथमधीश ! भवन्त्यधीशाः ।
धृष्टोऽपि कौशिकशिशुर्यदि वा दिवान्धो,
रूपं प्ररूपयति किं किल घर्मरश्मेः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—

सामान्यतोऽपि–सामान्य से भी।	**अधीश !**–हे स्वामी ! ।
तव–आपका।	**भवन्ति**–हो।
वर्णयितुं–वर्णन करने को।	**अधीशाः**–समर्थ।
स्वरूपं–स्वरूप।	**धृष्टोऽपि**–धृष्ट हो तव भी वह।
अस्मादृशाः–हम जैसे।	**कौशिकशिशुः**–उल्लू का बच्चा।
कथं–कैसे।	**यदि वा**–अथवा तो।

दिवान्धः–दिन में अंधा।	**किं**–क्या।
रूपं–स्वरूप को।	**किल**–निश्चित् रूप से।
प्ररूपयति–कह सके।	**घर्मरश्मेः**–सूर्य के।

अर्थ-सङ्कलना—

हे स्वामी! सामान्यतः भी आपका स्वरूप कहने के लिये मुझ जैसे मंदबुद्धि वाले कैसे समर्थ हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते। जिस प्रकार निरन्तर दिन में अंधा होने वाला उल्लू का बच्चा चाहे जितना धृष्ट (अर्थात् बड़े प्रयत्न से प्रगल्भ) हो तब भी वह किस प्रकार सूर्य का स्वरूप कह सकता है? अर्थात् नहीं कह सकता। (कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे उल्लू का बच्चा चाहे जितना वाचाल और चतुर हो तब भी सदा दिन में अंधा हो जाने के कारण वह सूर्य के स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकता) उसी प्रकार मैं भी मंद बुद्धि वाला होने से प्रभु का स्वरूप वर्णन करने में असमर्थ हूँ ॥ ३ ॥

मूल—

मैं तो आपका वर्णन न कर सकूँ परन्तु केवली जो कि सब कुछ जान सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं वे भी आपके सभी गुण नहीं कह सकते–ऐसा वे कहते हैं—

मोहक्षयादनुभवन्नपि नाथ! मर्त्यो,
नूनं गुणान् गणयितुं न तव क्षमेत।
कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्मान्–
मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशिः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—

मोहक्षयात्–मोहनीय कर्म के क्षय के कारण।
अनुभवन्नपि-अनुभव करते हुए भी।
नाथ !–हे नाथ !
मर्त्यः–मनुष्य।
नूनं–निश्चित् रूप से।
गुणान्–गुणों को।
गणयितुं–गिनने में।
न–नहीं।
तव–आपके।
क्षमेत–समर्थ।
कल्पान्तवान्तपयसः-कल्पान्त काल में उछला पानी जिसने ऐसे।
प्रकटोऽपि–प्रकटित भी।
यस्मात्–क्यों कि।
मीयेत–मापा जा सके।
केन–किसके द्वारा।
जलधेः–समुद्र का।
ननु–निश्चित् रूप से।
रत्नराशिः–रत्न का समूह।

अर्थ-सङ्कलना—

हे नाथ ! कोई व्यक्ति मोहनीय कर्म के क्षय के कारण केवलज्ञान उत्पन्न होने से आपके गुणों का अनुभव करता है और वह जानता भी है तब भी वह गुणों की गणना करने में समर्थ नहीं।* जिस प्रकार कल्पान्त काल में समुद्र का पानी उछलने से–दूर होने से उसमें निहित रत्नों का समूह प्रगट रूप से दिखाई दे तब भी किसी के द्वारा उसकी थाह नहीं ली जा सकती–उसकी गिनती नहीं की जा सकती ॥ ४ ॥

---

* आयुष्य की अल्पता होने से सर्व गुणों की गणना करना संभव नहीं।

सूत्र—

शक्ति न होते हुए भी भक्ति के कारण स्तोत्र करने में प्रवृत्ति दिखाते हैं—

अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ ! जडाशयोऽपि,
कर्तुं स्तवं लसदसंख्यगुणाकरस्य ।
बालोऽपि किं न निजबाहुयुगं वितत्य,
विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—

अभ्युद्यतोऽस्मि-उद्यमशील हुआ हूँ।	**बालोऽपि**-बालक भी।
तव-आपका।	**किं**-क्या ?
नाथ !-हे नाथ !	**निजबाहुयुगं**-अपने दो हाथ।
जडाशयोऽपि-जड़ बुद्धिवाला।	**वितत्य**-लम्बे करके।
कर्तुं-करने हेतु।	**विस्तीर्णतां**-विस्तार को।
स्तवं-स्तोत्र।	**न कथयति**-नहीं कहता ?
लसदसंख्यगुणाकरस्य--देदीप्यमान असंख्य गुणों के स्थानरूप।	**स्वधिया**-अपनी बुद्धि से।
	अम्बुराशेः-समुद्र के।

अर्थ-सङ्कलना—

हे नाथ ! मैं जड़ बुद्धिवाला होते हुए भी देदीप्यमान असंख्य गुणों के स्थान रूप आपका स्तोत्र करने के लिये उद्यमवंत हुआ हूँ। क्यों कि बालक भी अपनी बुद्धि से अपने दो हाथ चौड़े करके क्या समुद्र की विशालता नहीं बताता ? अर्थात् बताता ही है) जैसे बालक अपने दोनों हाथ फैलाकर ऐसा बड़ा समुद्र है इस प्रकार कहकर समुद्र का विस्तार बताता है उसी प्रकार मैं भी अपनी शक्ति

के अनुसार स्तुति करने के लिये उद्यमशील हुआ हूँ जो उपयुक्त ही है ॥ ५ ॥

मूल—

उपरोक्त दो श्लोकों के अर्थ को दृढ करते हुए हैं—

ये योगिनामपि न यान्ति गुणास्तवेश !
वक्तुं कथं भवति तेषु ममावकाशः ।
जाता तदेवमसमीक्षितकारितेयं,
जल्पन्ति वा निजगिरा ननु पक्षिणोऽपि ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—

ये–जो।
योगिनामपि–योगियों के भी।
न यान्ति–नहीं पाते।
गुणाः–गुण।
तव–आपके।
ईश !–हे स्वामी !
वक्तुं–कहने के लिये!
कथं–कैसे ?
भवति–हो।
तेषु–उन गुणों के संबंध में।
मम–मेरी।
अवकाशः–शक्ति।
जाता–हुआ है।
तत्–उसके कारण।
एवं–इस प्रकार।
असमीक्षितकारिता—मेरे द्वारा बिना सोचे किया जाना।
इयं–यह।
जल्पन्ति–बोलते हैं।
वा–अथवा।
निजगिरा–अपनी वाणी द्वारा।
ननु–वास्तव में।
पक्षिणोऽपि–पक्षीगण भी।

अर्थ-सङ्कलना—

हे स्वामी ! आपके जिन गुणों का वर्णन करने में योगीयो भी असमर्थ हैं उन गुणों का वर्णन करने के लिये मुझ में शक्ति—सामर्थ्य

कहाँ से हो? इस लिये इस प्रकार मैंने जो यह स्तुति करने का प्रयास किया है वह बिना सोचे किया है अथवा पक्षीगण भी अपनी भाषा में बोलते ही हैं। अर्थात् जिस प्रकार पक्षीगण मनुष्य की भाँति सुन्दर रीति से बोले नहीं सकते, फिर भी उन्हें जो बोलना होता है वह वे अपनी २ भाषा में बोलते हैं. उसी प्रकार मैं भी मुझे जैसा आता है वैसा ही बोलता हूँ—इसमें कुछ अनुपयुक्त नहीं कहलाएगा ॥ ६ ॥

मूल—

अब स्तुति का प्रारंभ करते हुए प्रभु के नाम ग्रहण का माहात्म्य बताते हैं—

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन ! संस्तवस्ते,
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।
तीव्रातपोपहतपान्थजनान्निदाघे
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—

आस्तां—दूर रहो ।
अचिन्त्यमहिमा—अचिन्त्य महिमा वाला ।
जिन !—हे जिनेश्वर !
संस्तवः—स्तोत्र ।
ते—आपका ।
नामापि—नाम मात्र भी ।
पाति—रक्षा करता है ।
भवतः—आपका ।
भवतः—संसार से ।
जगन्ति—त्रिजगत के प्राणियों की ।
तीव्रातपोपहत—तीक्ष्ण गर्मी से। तप्त—व्याकुल बने हुए ।
पान्थजनान्—पथिकजनों को ।
निदाघे—ग्रीष्मऋतु में।
प्रीणाति—प्रसन्न करता है ।
पद्मसरसः—पद्मसरोवर का ।
सरसः—जलकणमय (आर्द्र) ।

अर्थ-सङ्कलना—

हे जिनेश्वर ! आपके स्तोत्र की महिमा अचिन्त्य है वह तो दूर रहो परन्तु मात्र आपका नाम ही त्रिजगत के प्राणियों की भव-भ्रमण से रक्षा करता है : जैसे कि ग्रीष्मऋतु में तीव्र गर्मी से व्याकुल बने हुए पथिक जनों को पद्मसरोवर का (आर्द्र) शीतल समीर अत्यन्त प्रसन्न करता है। (तब सरोवर का जल और उसमें उत्पन्न कमल प्रसन्न करें इसमें क्या आश्चर्य है ? उसी प्रकार नाममात्र ग्रहण करने से ही प्राणियों का भवभ्रमण दूर होता है तो आपकी स्तुति करने से भवभ्रमण दूर हो तो इसमें आश्चर्य क्या है ? ॥ ७ ॥

मूल—

प्रभु के ध्यान का माहात्म्य बताते हैं—

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति,
जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्मबंधाः ।
सद्यो भुजङ्गमया इव मध्यभाग,
मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—

हृद्वर्तिनि–हृदय में स्थित।
त्वयि–आप।
विभो !–हे विभु ! ।
शिथिलीभवन्ति–शिथिल हो जाते हैं।
जन्तोः–प्राणियों के।
क्षणेन–क्षण भर में।
निबिडा अपि–दृढ भी।
कर्मबन्धाः–कर्म के बन्धन।
सद्यः–तत्काल।

भुजङ्गमया इव-सर्पमय बंधनों की भाँति।	**अभ्यागते**-आने पर।
मध्यभागं-वन के मध्य भाग में।	**वनशिखण्डिनि**-वन का मोर।
	चन्दनस्य-चन्दन वृक्ष के।

अर्थ-सङ्कलना—

हे विभु ! जिस प्रकार वन का मोर जब वन के मध्य भाग में आता है तब चंदन वृक्ष के सर्पमय बंधन तत्काल शिथिल हो जाते हैं उसी प्रकार आप जब हृदय में स्थितआसीन होते हैं तब प्राणियों के दृढ से दृढ कर्म बन्धन भी तत्काल शिथिल हो जाते हैं॥ ८॥

मूल—

प्रभु के दर्शन का माहात्म्य—

मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र !
रौद्रैरुपद्रवशतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि।
गोस्वामिनि स्फुरिततेजसि दृष्टमात्रे,
चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः॥ ९॥

शब्दार्थ—

मुच्यन्त एव-मुक्त होते ही हैं।	**उपद्रवशतैः**-सैकड़ों उपद्रवों से।
मनुजाः-मनुष्य।	**त्वयि**-आप द्वारा।
सहसा-तत्काल।	**वीक्षितेऽपि**-दर्शन किये जाने पर भी।
जिनेन्द्र !-हे जिनेश्वर !	**गोस्वामिनि+**-सूर्य, राजा, ग्वाला।
रौद्रैः-भयंकर।	

+ गो अर्थात् किरणों का स्वामी सूर्य, गो अर्थात् पृथ्वी का स्वामी राजा और गो अर्थात् गायों का स्वामी ग्वाला-इस प्रकार तीनों अर्थ होते हैं। वे तीनों ही अर्थ यहाँ संभव हैं। अतः तीनों प्रकार से अर्थ करें। तथा

स्फुरिततेजसि-स्फुरित प्रकाशवान् ।	**इव**–भाँति ।
दृष्टमात्रे–मात्र दिखाई देने पर ।	**आशु**–तत्काल ।
	पशवः–पशुगण ।
चौरैः–चोरों के द्वारा ।	**प्रपलायमानैः**–भागते हुए ।

अर्थ-सङ्कलना—

हे जिनेश्वर ! मात्र आपका दर्शन करने से ही मनुष्य गण सैंकड़ों भयंकर उपद्रवों से तत्काल मुक्त होते हैं । जिस प्रकार स्फुरित प्रकाशवान् सूर्य दिखाई देने पर तुरन्त भागते हुए चोरों से पशुगण तत्काल मुक्त होते हैं उसी प्रकार आपके दर्शन मात्र से मनुष्य उपद्रवों से मुक्त होते हैं ॥ ९ ॥

मूल—

प्रभु के ध्यान का माहात्म्य पुनः बताते हैं—

त्वं तारको जिन ! कथं भविनां त एव,
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः ।
यद्वादृतिस्तरति यज्जलमेप नून-
मन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः ॥ १० ॥

शब्दार्थ—

त्वं–आप ।	**कथं**–किस प्रकार ।
तारकः–पार उतारने वाले ।	**भविनां**–भव्य प्राणियो के ।
जिन !–जिनेश्वर ! ।	**त एव**–वे भव्य प्राणी ही ।

' स्फुरिततेजसि ' विशेषण है । उसका अर्थ इस प्रकार करें–' प्रातः काल में जगत को प्रकाशित करने से देदीप्यमान प्रकाश वाला सूर्य, अखंडित प्रभुत्व वाला राजा और स्फुरायमान् अर्थात् बलवान गोपाल ।

त्वां–आपको।	**यत्**–जो।
उद्वहन्ति–वहन–धारण करते हैं।	**जलं**–जलको।
हृदयेन–अपने हृदय से।	**एष**–यह।
यत्-क्यों कि।	**नूनं**–वास्तव में।
उत्तरन्तः–उतरते हुए।	**अन्तर्गतस्य**–अंदर रही हुई।
यद्वा–अथवा तो।	**मरुतः**–वायु का।
दृति–मशक।	**स**–वह।
तरति–तिरती है। (पार उतरती है।)	**किल**–निश्चित् रूप से।
	अनुभावः–प्रभाव है।

अर्थ–सङ्कलना—

हे जिनेश्वर ! आप भव्य प्राणियों को तिराने वाले कहलाते हैं वह कैसे ? क्यों कि उल्टे संसार समुद्र को पार करते हुए वे ही आपको हृदय में वहन* (धारण) करते हैं अथवा तो वह युक्त ही है क्यों कि जैसे चमड़े की मशक जल में तिरती है। वह उसके अंदर रही हुई वायु का ही प्रभाव हैं ॥ १० ॥

* संसार समुद्र से पार उतरने के उच्छुक प्राणी आपको अपने हृदयमें धारण करते हैं (वहन करते हैं) इससे आप उनके तारक कैसे बन सकते हैं। क्योंकि जो वहन करने वाला होता है वह वाहक कहलाता है और जो वस्तु वहन की जाती हो वह वाह्य कहलाती है अर्थात् जो वाहन है वह वाहक है और उसमें रहे हुए मनुष्यादि वाह्य कहलाते हैं। इसमें वाहक जो वाहन होता है वह उसमें रहे हुए मनुष्यादि वाह्य को तिराने वाला कहलाता हैं, उसी प्रकार यहाँ भी भव्य प्राणी वाहक और आप वाह्य हैं अतः आपको तिराने वाले भव्य प्राणी कहे जा सकते हैं परन्तु आप उनके तिराने वाले कैसे कहलाते हैं ! इस प्रकार शंका करके स्तोत्रकार स्वयं ही उसका समाधान करते हैं–जैसे चमड़े की मशक में रही हुई वायु ही उस मशक को तिराने वाली है,

मूल—

अब तीन श्लोकों के द्वारा प्रभु का रागद्वेषरहितपन बताते हैं—

यस्मिन् हरप्रभृतयोऽपि हतप्रभावाः
सोऽपि त्वया रतिपतिः क्षपितः क्षणेन ।
विध्यापिता हुतभुजः पयसाऽथ येन,
पीतं न किं तदपि दुर्धरवाडवेन ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—

यस्मिन्—जिस में (कामदेव में)।	**विध्यापिता**—बुझाई हैं।
हरप्रभृतयोऽपि—महादेव आदि देव भी।	**हुतभुजः**—सभी प्रकार की अग्नियाँ।
हतप्रभावाः—प्रभाव शून्य हुए है।	**पयसा**—जल द्वारा।
सोऽपि—वह भी।	**अथ**—जैसे कि।
त्वया—आप द्वारा।	**येन**—जो।
रतिपतिः—कामदेव।	**न पीतं**—नहीं पीया।
क्षपितः—क्षीण किया गया है।	**किं**—क्या ?
क्षणेन—पल भर में।	**तदपि**—वह जल भी।
	दुर्धरवाडेवन—दुःसह वडबानल।

अर्थ-सङ्कलना—

हरि, हर, ब्रह्मा आदि सभी देव जिस कामदेव के सामने प्रभाव रहित हुए हैं वह कामदेव भी हे प्रभु ! आपके द्वारा क्षण भर में क्षीण (पराजित) हुआ है। जिस प्रकार जिस पानी के द्वारा सब

उसी प्रकार प्राणियों के हृदय में बसे हुए आप उनके तारक हैं अर्थात् आपका ध्यान करने से ही प्राणी संसार सागर से पार उतर सकते हैं।

प्रकार की अग्नियाँ बुझती हैं वह जल भी क्या दुर्धर वडवानल अग्नि ने नहीं पिया ? यहाँ सभी देवों को सर्व अग्नि की उपमा दी है और प्रभु को वडवानल तथा कामदेव को जलसमान बताया है ॥ ११ ॥

मूल—

स्वामिन्ननल्पगरिमाणमपि प्रपन्ना
स्त्वां जन्तवः कथमहो हृदये दधानाः ।
जन्मोदधिं लघु तरन्त्यतिलाघवेन,
चिन्त्यो न हन्त महतां यदि वा प्रभावः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—

स्वामिन्—हे स्वामी ।
अनल्पगरिमाणमपि—अति महान् भी ।
प्रपन्नाः—(आपके) आश्रित बने हुए ।
त्वां—आपको ।
जन्तवः—प्राणीसमूह ।
कथं—कैसे ?
अहो—आश्चर्य है कि ।
हृदये—हृदय में ।
दधानाः—धारण करने पर भी ।
जन्मोदधिं—संसार समुद्र को ।
लघु—शीघ्रता से ।
तरन्ति—तिर जाते हैं ।
अतिलाघवेन—अत्यंत हल्के हो कर ।
न चिन्त्यः—अचिन्त्यो ।
हन्त—सचमुच ।
महतां—महा पुरुषों का ।
यदि वा—अथवा तो ।
प्रभावः—प्रभाव (बडप्पन) ।

अर्थ-सङ्कलना—

हे स्वामिन् ! अत्यन्त महान् ऐसे आपका आश्रय लिये हुए प्राणीसमूह आपको हृदय में धारण करके शीघ्र ही अत्यन्त हल्के होकर भवसागर से पार उतर जाते हैं—यह आश्चर्य है ? समचुच यह

उपयुक्त ही है कि महापुरुषों का प्रभाव अचिन्त्य होता है। (सामान्य व्यक्ति उसकी कल्पना नहीं कर सकता) ॥ १२ ॥

मूल—

> क्रोधस्त्वया यदि विभो! प्रथमं निरस्तो,
> ध्वस्तास्तदा बत कथं किल कर्मचौराः।
> प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिराऽपि लोके,
> नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—

क्रोधः—क्रोध को।
त्वया—आप द्वारा।
यदि—यदि।
विभो!—हे प्रभु!
प्रथमं—प्रथम से ही।
निरस्तः—नाश किया गया है। (दूर किया गया है)।
ध्वस्ताः—ध्वंस किया? (पराभवकिया)
तदा—तो।
बत—निश्चित् रूप से।
कथं—कैसे?
किल—वास्तव में।
कर्मचौराः—कर्मरूप चोरो।
न प्लोषति—नहीं जलाता? अर्थात् जलाता ही है।
अमुत्र—इस जगत में।
यदि वा—अथवा तो।
शिशिराऽपि—शीतल भी।
लोके—लोक में।
नीलद्रुमाणि—हरे वृक्षों वाले।
विपिनानि—वनों को।
किं—क्या?
हिमानी—बर्फ का समूह।

अर्थ-सङ्कलना—

हे प्रभु! यदि आपने प्रथम से ही क्रोध का नाश किया है, तो उस क्रोध के बिना कर्मरूपी चोरों का आपने कैसे पराभव किया?

--यह एक बड़ा आश्चर्य है। इस प्रकार शंका करके उसका समाधान करते हैं कि अथवा तो इस जगत में शीतल भी हिम का समूह क्या हरे वृक्षों वाले वनों को नहीं जलाता है? अर्थात् जिस प्रकार हिम वनों को जलाता है, उसी प्रकार आपने भी क्रोध रहित होते हुए भी कर्म रूपी चोरों का जो नाश किया है वह युक्त ही है ॥१३॥

मूल—

योगीजनों के ध्यान करने योग्य जिनेश्वर का स्वरूप—

त्वां योगिनो जिन! सदा परमात्मरूप-
मन्वेषयन्ति हृदयाम्बुजकोशदेशे।
पूतस्य निर्मल रुचेर्यदि वा किमन्य-
दक्षस्य सम्भवि पदं ननु कर्णिकायाः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—

त्वां—आपको।
योगिनः—योगीजन।
जिन!—हे जिनेश्वर!
सदा—निरन्तर।
परमात्मरूपं—परमात्मरूप।
अन्वेषयन्ति—खोजते हैं।
हृदयाम्बुजकोशदेशे—हृदय कमल के (कोश) मध्य भागमें।
पूतस्य—पवित्र और।
निर्मलरुचेः—निर्मल कांति वाले।
यदि वा—अथवा तो वह योग्य ही है।
किं—क्या?
अन्यत्—दूसरा।
अक्षस्य—कमल के बीज का।
संभवि—संभव है।
पदं—स्थान।
ननु—निश्चित् रूपसे।
कर्णिकायाः—कर्णिका से।

अर्थ--सङ्कलना—

हे जिनेन्द्र! योगीजन परमात्मस्वरूप अर्थात् सिद्धस्वरूप

आपको निरन्तर अपने हृदय कमल की कर्णिका में ही खोजते हैं— ज्ञानचक्षु द्वारा आपको देखते हैं वह योग्य ही है, क्यों कि पवित्र और निर्मल कांतिवाले कमल के बीज का स्थान कर्णिका के सिवाय अन्यत्र संभव नहीं है। वह कमल के मध्यभाग रूप कर्णिका में ही होता है। आप भी कर्मकल के नाश से पवित्र हैं तथा आत्मस्वरूप प्रकट होनेसे निर्मल कांतिवाले हैं ॥ १४ ॥

मूल—

भगवान का ध्यान करने से भगवान के समान ही बनते हैं—

ध्यानाज्जिनेश ! भवतो भविनः क्षणेन,
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति ।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके,
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—

ध्यानात्—ध्यान से ।
जिनेश !—हे जिनेश्वर !
भवतः—आपके ।
भविनः—भव्य प्राणीओं ।
क्षणेन—पलभर में ।
देहं—शरीर का ।
विहाय—त्याग करके ।
परमात्मदशां—परमात्मदशा को सिद्ध स्वरूप को ।
व्रजन्ति—प्राप्त करते हैं ।
तीव्रानलात्—तीव्र अग्नि से ।
उपलभावं—पत्थरत्व का ।
अपास्य—त्याग करके ।
लोके—लोक में ।
चामीकरत्वं—स्वर्णत्व को (प्राप्त करता है, उस प्रकार) ।
अचिरात्—शीघ्र ही ।
इव—भाँति ।
धातुभेदाः—धातु* के प्रकार ।

---

* पाषाण और मिट्टी मिश्रित धातु ।

अर्थ-सङ्कलना—

हे जिनेश्वर ! कीट भ्रमर के न्याय से अर्थात् भ्रमर का ध्यान करने से पिल्लू जैसे भ्रमर बन जाता है उसी प्रकार भव्य प्राणीओं आपका ध्यान करने से तत्काल औदारिक आदि सर्व शरीर का त्याग करके सिद्धस्वरूप को प्राप्त करते हैं। इसका दृष्टान्त यह है कि जिस प्रकार धातु के प्रकार तीव्र अग्नि के संयोग से पाषाणत्व का त्याग करके तत्काल स्वर्णत्व को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार सिद्धस्वरूप आपके ध्यान से सिद्ध बना जाता है ॥ १५ ॥

मूल—

विरोधाभास द्वारा प्रभु का माहात्म्य—

अन्तः सदैव जिन ! यस्य विभाव्यसे त्वं,
भव्यैः कथं तदपि नाशयसे शरीरम् ।
एतत्स्वरूपमथ मध्यविवर्तिनो हि,
यद्विग्रहं प्रशमयन्ति महानुभावाः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—

अन्तः-अंदर।	**कथं**-क्यों।
सदैव-निरन्तर।	**तदपि**-वह भी।
जिन !-हे जिनेश्वर !	**नाशयसे**-नष्ट करते हो।
यस्य-जिस शरीर की।	**शरीरं**-शरीर को।
विभाव्यसे-चिन्तन किये जाते हो।	**एतत्**-यही।
त्वं-आप।	**स्वरूपं**-स्वरूप-स्वभाव होता है।
भव्यैः-भव्य प्राणीओं द्वारा।	**अथ**-अथवा।

मध्यविवर्तिनः–मध्य में वर्तन करने वाले का।
हि–निश्चित रूप से।
यत्–क्यों कि।
विग्रहं–कलह को तथा शरीर को।
प्रशमयन्ति–शांत करते हैं।
महानुभावाः––महा प्रभाव वाले व्यक्ति।

अर्थ-सङ्कलना––

हे जिनेश्वर! भव्य प्राणीओं अपने जिस शरीर में आपका निरन्तर ध्यान करते हैं उनके उसी शरीर को आप क्यों नष्ट करते हैं? (अर्थात् उन्हें मोक्ष प्राप्त करवाकर देह रहित करते हैं) जिस स्थान में भव्य आपका चिन्तन करते हैं उसी स्थान का नाश करना आपके लिये उपयुक्त नहीं है। (यहाँ विरोधाभास अलंकार हुआ। इसमें 'विग्रह' शब्द के 'शरीर' और 'कलह' दो अर्थ होने से आचार्य महाराज उस विरोध का परिहार करते हैं। अथवा तो वह योग्य ही हैं क्यों कि जो मध्य में (बीच में–मध्यस्थ) होते हैं उनका स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे महात्मा विग्रह (शरीर और जीव का पारस्परिक अनादिकाल का विग्रह) का दो के बीच कलह का नाश करते ही हैं उसी प्रकार यहाँ आप विग्रह का अर्थात् जीवको मोक्ष देने से शरीर का नाश करते हैं क्यों कि आप भी शरीर के मध्य (मध्यस्थ) रहे हुए हैं ॥ १६ ॥

मूल—

आत्मा और परमात्मा का अभेद––

आत्मा मनीषिभिरयं त्वदभेदबुद्धया,
ध्यातो जिनेन्द्र! भवतीह भवत्प्रभावः।
पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं,
किं नाम नो विषविकारमपाकरोति? ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—

आत्मा–(अपनी) आत्मा।
मनीषिभिः–पंडितों द्वारा।
अयं–यह।
त्वद्‌भेदबुद्धया–आप से अभिन्नता की बुद्धि से।
ध्यातः–ध्यान करते है।
जिनेन्द्र !–हे जिनेन्द्र !
भवति–होता है। (जैसे)।
इह–इस जगत में।
भवत्प्रभावः–आपके समान ही प्रभाव वाला।
पानीयमपि–पानी भी।
अमृतं–अमृत है।
इति–इस प्रकार।
अनुचिन्त्यमानं–चिन्तन करने पर।
किं नाम–क्या ?
विषविकारं–विष के विकार को।
नो अपाकरोति–दूर नहीं करता ? करता ही है।

अर्थ-सङ्कलना—

हे जिनेन्द्र ! इस जगत में जो पंडित अपनी आत्मा का आपकी आत्मारूप (आप से अभिन्नताकी बुद्धि से) अर्थात् परमात्म रूप मानकर ध्यान करते हैं, वे आपके समान ही प्रभाव वाले होते हैं। जैसे पानी के संबंध में अमृत को भावना करके (अथवा मंत्र से अमृत रूप कीया) हो तो वह पानी विष के विकार को दूर करता है उसी प्रकार आत्मा का परमात्मा के रूप में चिंतन करने से परमात्मरूप ही बनते हैं ॥ १७ ॥

मूल—

अन्यदर्शनी भी दूसरे देव के नाम से आपका ही ध्यान करते हैं–

त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि,
नूनं विभो ! हरिहरादिधिया प्रपन्नाः।
किं काचकामलिभिरीश ! सितोऽपि शङ्खो,
नो गृह्यते विविधवर्णविपर्ययेण ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—

त्वामेव-आपको ही।
वीततमसं—रागद्वेषादि तमोगुण रहित।
परवादिनोऽपि-अन्य मतावलम्बी भी।
नूनं-वास्तव में।
विभो !-हे प्रभो !
हरिहरादिधिया--विष्णु, महादेव आदि की बुद्धि से।
प्रपन्नाः-आश्रय लिये हुए हैं।(जैसे)
किं-क्या !
काचकामलिभिः-काचकामलि की व्याधि वाले जनो द्वारा।
ईश !-हे स्वामी !
सितोऽपि-श्वेत भी।
शङ्खः-शंख।
नो गृह्यते-ग्रहण नहीं किया जाता। अर्थात्-किया जाता है।
विविधवर्णविपर्ययेण-विविध रंग के विपर्यास द्वारा।

अर्थ-सङ्कलना—

हे विभु ! अन्य दर्शनों के अनुयायी ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि की बुद्धि से वीतराग जैसे आपको ही अंगीकार करते हैं ब्रह्मादि के रूप में आपका ही ध्यान करते हैं जो उपयुक्त ही हैं; क्यों कि शंख का वर्ण श्वेत है तब भी काचकमली के रोगी जन तो उस शंख को लाल, पीला आदि भिन्न २ वर्ण वाला देखते हैं ॥१८॥

मूल—

अब आठ श्लोकों के द्वारा आठ प्रातिहार्यों का वर्णन करते हुए प्रथम अशोक वृक्ष रूप प्रातिहार्य का वर्णन करते हैं—

धर्मोपदेशसमये सविधानुभावा-
दास्तां जनो भवति ते तरुरप्यशोकः।
अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि,
किं वा विबोधमुपयाति न जीवलोकः ? ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

धर्मोपदेशसमये—धर्मोपदेश के समय।
सविधानुभावात्—सामीप्य के प्रभाव से।
आस्तां—दूर रहो, परन्तु।
जनः—मनुष्य तो।
भवति—होता है।
ते—आपके।
तरुरपि—वृक्ष भी।
अशोकः—अशोक, शोक रहित।
अभ्युद्गते—उदित होता है तब।
दिनपतौ—सूर्य।
समहीरुहोऽपि—वृक्ष सहित भी।
किं—क्या ?
वा—अथवा।
विबोधं—प्रबोध को।
न उपयाति—प्राप्त नहीं करता ? करता ही है।
जीवलोकः—जीवलोक।

अर्थ-सङ्कलना—

हे जिनेश्वर ! जिस समय आप धर्मोपदेश करते हैं उस समय मात्र आपके सामीप्य के प्रभाव से ही वृक्ष भी अशोक बनता है तब फिर मनुष्य अशोक बने तो इसमें आश्चर्य क्या ? (क्यों कि प्रभु के समवसरण में अशोक नामक वृक्ष होता है और मनुष्य धर्मोपदेश श्रवण से अशोक—शोकरहित होते हैं) अथवा यह योग्य ही है कि सूर्य का जब उदय होता है तब (एकेन्द्रिय) वृक्षादि सहित समग्र जीवलोक प्रबोधविकास प्राप्त करता है तब सूर्य रूप प्रभु की धर्मदेशना से मनुष्य और वृक्ष भी अशोक हो तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? ॥१९॥

मूल—

सुर पुष्पवृष्टिरूप द्वितीय प्रातिहार्य का वर्णन—

चित्रं विभो ! कथमवाङ्मुखवृन्तमेव,
विष्वक् पतत्यविरलासुरपुष्पवृष्टिः ? ।
त्वद्गोचरे सुमनसां यदि वा मुनीश !
गच्छन्ति नूनमध एव हि बन्धनानि ॥ २० ॥

शब्दार्थ—

चित्रं–आश्चर्य है कि।
विभो !–हे प्रभु !
कथं–क्यों ?
अवाङ्मुखवृन्तमेव–नीचे मुखवाले कंद हो उस तरह।
विष्वक्–चारों ओर।
पतति–गिरता है।
अविरला–अविरल (गाढ)।
सुरपुष्पवृष्टिः–देवताओं द्वारा कृत पुष्प की वृष्टि।
त्वद्गोचरे–आप प्रत्यक्ष होते हुए भी।
सुमनसां–अच्छे चित्तवाले भव्य प्राणियों अथवा देवों के।
यदि वा–अथवा तो।
मुनीश !–हे मुनीश्वर !
गच्छन्ति–जाते हैं।
नूनं–निश्चित रूप से।
अध एव हि–नीचे ही।
बन्धनानि–निगड़ादिबाह्य और कर्मरूप अभ्यंतर बन्धन।

अर्थ-सङ्कलना—

हे प्रभु ! आपकी विहार भूमि में देवतागण चारों ओर गाढ पंच वर्णीय पुष्पों की वृष्टि करते हैं उनमें सभी पुष्पों के कंद नीचे रहते हैं और पंखुडियाँ ऊपर होती हैं। इस प्रकार उनके गिरनेमें आश्चर्य है अथवा तो वह उपयुक्त ही है कि आपके प्रत्यक्ष होनेसे सुमनसा (अच्छे मन वाले) भव्य प्राणियों के (अथवा देवों के) निगडादि बाह्य बन्धन और कर्म रूपी अभ्यंतर बंधन नीचे की ओर ही जाते हैं। (सुमनस पुष्प भी होते हैं) अतः पुष्पों के बंधन (कंद) नीचे होते हैं तो वह उचित ही है—ऐसा समझें ॥ २० ॥

मूल—

दिव्यध्वनि नामक तृतीय प्रातिहार्य का वर्णन—

> स्थाने गभीरहृदयोदधिसम्भवायाः,
> पीयूषतां तव गिरः समुदीरयन्ति।
> पीत्वा यतः परमसम्मदसङ्गभाजो,
> भव्या व्रजन्ति तरसाऽप्यजरामरत्वम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—

स्थाने–योग्य ही है।
गभीरहृदयोदधिसंभवायाः—गम्भीर हृदय रूपी समुद्रसे उत्पन्न।
पीयूषतां–अमृतरूप।
तव–आपकी।
गिरः–वाणी को।
समुदीरयन्ति–कहते हैं, उस।
पीत्वा–वाणीरूपी अमृत का पान करके।
यतः-क्यों कि।
परमसंमदसङ्गभाजः–परमानंद के संग का अनुभव करते हुए।
भव्याः–भव्य प्राणी।
व्रजन्ति–प्राप्त करते हैं।
तरसाऽपि–शीघ्रता से ही।
अजरामरत्वं–अजरता और अमरता को।

अर्थ-सङ्कलना—

हे स्वामिन्! गंभीर हृदय रूपी समुद्र से उत्पन्न हुई आपकी वाणी को पंडित अमृतरूप कहते हैं। आपकी वाणी अमृत ही है ऐसा कहते हैं—वह योग्य ही हैं क्यों कि भव्य प्राणी आपकी उस वाणी का पान करके अर्थात् श्रोत्र द्वारा श्रवण करके परमानंद का अनुभव प्राप्त कर शीघ्रता से अजरामर होता है। इसी प्रकार आपकी

वाणी का पान करने वाले प्राणी चिदानंद का अनुभव करके **सिद्धि पद को प्राप्त करते हैं**) ॥ २१ ॥

मूल—

चँवर रूप चतुर्थ प्रातिहार्य का वर्णन—

स्वामिन् ! सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो,
मन्ये वदन्ति शुचयः सुरचामरौघाः।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनिपुङ्गवाय,
ते नूनमूर्ध्वगतयः खलु शुद्धभावाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—

स्वामिन्!–हे स्वामी !
सुदूरं–अत्यन्त दूर तक ।
अवनम्य–नीचे झुककर फिर ।
समुत्पतन्तः–ऊँचे उछलते हुए ।
मन्ये–मैं मानता हूँ कि ।
वदन्ति–कहते **हैं** कि ।
शुचयः–पवित्र ।
सुरचामरौघाः–देवताओं द्वारा डुलाए जाते हुए चँवरों के समूह ।
ये–जो भव्य प्राणी।
अस्मै–इन्हें प्रत्यक्ष (प्रभु को)
नतिं–नमस्कार ।
विदधते–करते हैं ।
मुनिपुङ्गवाय-श्रेष्ठ मुनि श्री पार्श्वनाथ को।
ते–वे ।
नूनं–निश्चित रूप से ।
ऊर्ध्वगतयः-ऊँची गति वाले होते हैं।
खलु–यह शब्द वाक्य की शोभा हेतु है ।
शुद्धभावाः-शुद्धभाव वाले ।

अर्थ-सङ्कलना—

हे स्वामिन् ! मैं मानता हूँ कि देवताओं द्वारा डुलाए जाते हुए पवित्र–उज्ज्वल चँवरों के समूह अत्यन्त दूर तक नीचे झुक कर ऊँचे

उछलते हैं। वे मानो ऐसा कह रहे हैं कि जो प्राणी इन श्रेष्ठ मुनि श्री पार्श्वनाथ प्रभु को नमस्कार करते हैं वे शुद्ध भाव वाले होकर ऊर्ध्वगति वाले बनते हैं। (अर्थात् चँवर कहते हैं कि हम नीचे झुककर फिर ऊँचे उठते हैं उसी प्रकार जो प्रभु को नमन करते हैं वे ऊँचे-मोक्षमें जाते हैं) ॥ २२ ॥

मूल--

सिंहासन नामक पाँचवे प्रातिहार्य का वर्णन—

श्यामं गभीरगिरमुज्ज्वलहेमरत्न-
सिंहासनस्थमिह भव्यशिखण्डिनस्त्वाम् ।
आलोकयन्ति रभसेन नदन्तमुच्चै-
श्चामीकराद्रिशिरसीव नवाम्बुवाहम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—

श्यामं–श्याम वर्ण वाले।

गभीरगिरं–गंभीर वाणी वाले।

उज्ज्वलहेमरत्नसिंहासनस्थं–देदीप्यमान स्वर्ण और रत्न के सिंहासन पर आसीन।

इह–यहाँ।

भव्यशिखण्डिनः--भव्य प्राणीरूप मयूर।

त्वां–आपको।

आलोकन्ति–देखते हैं।

रभसेन–उत्सुकता से।

नदन्तं–गर्जारव करते हुए।

उच्चैः–ऊँचे आसन पर।

चामीकराद्रिशिरसि–मेरु पर्वत के शिखर पर स्थित।

इव–भाँति।

नवाम्बुवाहं–नवीन मेघ को।

अर्थ-सङ्कलना—

हे नाथ ! यहाँ समवसरण पर उज्ज्वल-देदीप्यमान रत्नजटित

स्वर्ण के सिंहासन पर आसीन, श्याम वर्ण वाले और गंभीर वाणी वाले आपको भव्य प्राणीरूपी मोर मेरु पर्वत के शिखरपर स्थित, गर्जना करते हुए, ऊँचे और नवीन मेघ की तरह उत्सुकता से देखते हैं। (यहाँ सिंहासन को मेरु की, गंभीर वाणी को गर्जना की भगवान को मेघ की तथा भव्य प्राणियों को मोर की उपमा दी गई है) ॥२३॥

मूल—

भामंडल नामक छठे प्रातिहार्य का वर्णन—

उद्गच्छता तव शितिद्युतिमण्डलेन,
लुप्तच्छदच्छविरशोकतरुर्बभूव ।
सान्निध्यतोऽपि यदि वा तव वीतराग !
नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि ? ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—

उद्गच्छता—ऊँचा प्रसरित होता हुआ।
तव—आपका।
शितिद्युतिमण्डलेन—श्याम कांति के मंडल द्वारा। (भामंडल द्वारा)
लुप्तच्छदच्छविः—नष्ट हुई है पत्तों की कांति जिसकी ऐसा।
अशोकतरुः—अशोक वृक्ष।
बभूव—हो गया।
सान्निध्यतोऽपि—समीपता के कारण भी।
यदि वा—अथवा तो।
तव—आपके।
वीतराग !—हे वीतराग !।
नीरागतां—राग रहितता को।
न व्रजति—नहीं प्राप्त करे ?
कः—कौन प्राणी।
सचेतनोऽपि—चेतन सहित भी।

अर्थ-सङ्कलना—

हे प्रभु ! ऊँचे प्रसरित होते हुए आपके श्याम कांति के समूह द्वारा (मंडल—भामंडल द्वारा) अशोक वृक्ष पत्तों की कांति नष्ट हो गई

हो ऐसा हो गया है। अथवा तो हे वीतराग! आपके सामीप्य से चेतना युक्त ऐसा कौन सा प्राणी है जो रागरहितता को प्राप्त नहीं कर सकता हो? (अर्थात् हे वीतराग! आपके वचन श्रवण और दर्शन तो दूर रहो परन्तु आपके सामीप्य से ही सभी प्राणी रागरहित हो जाते हैं।) ॥ २४ ॥

मूल—

देवदुंदुभि नामक सातवें प्रातिहार्य का वर्णन—

भो भो! प्रमादमवधूय भजध्वमेन-
मागत्य निर्वृतिपुरीं प्रति सार्थवाहम्।
एतन्निवेदयति देव! जगत्त्रयाय,
मन्ये नदन्नभिनभः सुरदुन्दुभिस्ते ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—

भो भोः—हे हे भव्य प्राणियो।
प्रमादं—प्रमाद को।
अवधूय—त्यागकर।
भजध्वं—आप भजो, सेवा करो।
एनं—इन प्रभु को।
आगत्य—आकर।
निर्वृतिपुरीं—मोक्षरूप नगरी।
प्रति—प्रति।
सार्थवाहं—सार्थवाहरूप।
एतत्—इस प्रकार।
निवेदयति—निवेदन करता है, कहता है।
देव!—हे देव!।
जगत्त्रयाय—त्रिजगतके लोगों को।
मन्ये—मैं मानता हूँ।
नदन्—शब्द करता हुआ।
अभिनभः—आकाश पर्यन्त।
सुरदुन्दुभिः—देव दुंदुभि।
ते—आपका।

अर्थ-सङ्कलना—

हे देव ! मैं मानता हूँ कि आकाश में शब्द करता हुआ यह आपका देवदुंदुभि त्रिजगत् के लोगों को कहता है कि हे भव्य प्राणियो ! प्रमाद का त्याग करके यहाँ आकर मुक्ति नगरी के सार्थवाहरूप इन भगवान को तुम भजो—इनकी सेवा करो। (इन प्रभु का तुम आश्रय लो) ॥ २५ ॥

मूल—

छत्रत्रय नामक आठवें प्रातिहार्य का वर्णन—

उद्योतितेषु भवता भुवनेषु नाथ !
तारान्वितो विधुरयं विहताधिकारः।
मुक्ताकलापकलितोच्छ्वसितातपत्र-
व्याजात् त्रिधा धृततनुर्ध्रुवमभ्युपेतः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—

उद्योतितेषु-प्रकाशित करने पर भी।
भवता-आप।
भुवनेषु-त्रिभुवन में।
नाथ !-हे नाथ !।
तारान्वितो-तारों सहित।
विधु-चंद्र।
अयं-यह।
विहताधिकारः-प्रकाश करने का अधिकार जिसका छीना जाता है।
मुक्ताकलापकलित-मोती के समूह सहित्।
उच्छ्वसित-उल्लसित होता हुआ।
आतपत्रव्याजात्-तीन छत्र के बहाने।
त्रिधा-तीन प्रकार से।
धृततनुः-धारण किया है शरीर जिसने ऐसा।
अभ्युपेतः-आपके पास आया हुआ है।

अर्थ-सङ्कलना—

हे नाथ ! आपने तीनों जगत प्रकाशित किए इससे प्रकाश करने का अधिकार जिसका नष्ट हुआ है ऐसे ये तारा सहित चंद्र मोती के समूह से सहित और उल्लसित होते हुए छत्रत्रय के बहाने मानों तीनों ही शरीर धारणकर आपकी सेवा करने के लिए आए हों—ऐसा लगता है ॥ २६ ॥

मूल—

अब रत्नादि से निर्मित तीन गढ के मध्य रहने के अतिशय का वर्णन करते हैं—

स्वेन प्रपूरितजगतत्त्रयपिण्डितेन,
कान्ति-प्रताप-यशसामिव सञ्चयेन ।
माणिक्य-हेम-रजत प्रविनिर्मितेन,
सालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—

स्वेन—अपने ।

प्रपूरितजगत्त्रयपिण्डितेन—तीन जगत को पूर्ण करने से पिंडरूप बने हुए ।

कन्तिप्रतापयशसां—कांति, प्रभाव और यश के ।

इव—मानो बनाए हों ऐसे ।

सञ्चयेन—समूह द्वारा ।

माणिक्यहेमरजतप्रविनिर्मितेन—माणिक्य, स्वर्ण और चांदी से निर्मित ।

सालत्रयेण—तीन गढ द्वारा ।

भगवन् !—हे भगवान् ! ।

अभितः—चारों ओर से ।

विभासि—आप शोभित होते हैं ।

अर्थ-सङ्कलना—

हे भगवान् ! तीन जगत को पूर्ण करने से पिंडरूप बने हुए आपके कांति, प्रभाव और यश के समूह द्वारा मानो बनाए हों ऐसे माणिक्य—नीलमणि, स्वर्ण और चाँदी के निर्मित तीन गढ द्वारा चारों ओर से आप शोभित होते हैं। आपकी कांति, यश और प्रभाव त्रिजगत में नहीं समाने से ये तीनों एक ही स्थलपर पिंडरूप हुए हैं जो ये तीन गढ के रूप में शोभित होते हैं। इनमें भगवान की कांति नील वर्ण होने से नील रत्न का गढ समझें. प्रताप—प्रभाव अग्नि ६मान है अतः उसे स्वर्णका गढ समझें, और यश उज्ज्वल है अतः ससका प्रतीक चाँदी का गढ समझें ॥ २७ ॥

मूल—

प्रभु देवेन्द्रों द्वारा वंद्य हैं-यह अतिशय बताते हैं—

दिव्यस्रजो जिन ! नमत्त्रिदशाधिपाना–
मुत्सृज्य रत्नरचितानपि मौलिबन्धान् ।
पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वा परत्र,
त्वत्संगमे सुमनसो न रमन्त एव ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—

दिव्यस्रज–दिव्य पुष्प की मालाएं।
जिन !–हे जिनेश्वर !।
नमत्त्रिदशाधिपानां -- नमस्कार करते हुए देवेन्द्रों की।
उत्सृज्य–छोड़कर।
रत्नरचितानपि–वैडूर्य आदि रत्नों से रचित भी।
मौलिबन्धान्–(उनके) मुकुटों को।

पादौ–दो चरणों का।
श्रयन्ति–आश्रय लेते हैं।
भवतः–आपके।
यदि वा–अथवा तो–वह उचित ही है क्यों कि।
परत्र–अन्यत्र।
त्वत्सङ्गमे–आपका समागम होने पर।
सुमनसः–पंडित और देव।
न रमन्त एव–रमण करते ही नहीं।

अर्थ-सङ्कलना—

हे जिनेश्वर! आपको नमस्कार करते हुए देवेन्द्रों की दिव्य पुष्प की मालाएँ वैडूर्य रत्नादि से रचित मुकुटों का भी त्याग करके आपके चरणों का ही आश्रय ग्रहण करती हैं–जो उपयुक्त ही हैं; क्यों कि आपका संगम होने से सुमनस अर्थात् पंडित और देव अन्यत्र रमण करते ही नहीं। (पुष्प भी सुमनस कहलाते हैं अतः उन्हें भी आपके चरण का आश्रय उपयुक्त ही है) ॥ २८ ॥

मूल—

जिनेश्वर अपने आश्रितों को संसार सागर से पार उतारते हैं—

त्वं नाथ! जन्मजलधेर्विपराङ्मुखोऽपि,
यत्तारयस्यसुमतो निजपृष्ठलग्नान्।
युक्तं हि पार्थिवनिपस्य सतस्तवैव,
चित्रं विभो! यदसि कर्मविपाकशून्यः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—

त्वं–आप।
नाथ!–हे नाथ!।
जन्मजलधेः–संसार समुद्र से।
विपराङ्मुखोऽपि–अत्यन्त पराङ्मुख होते हुए भी।
यत्–जो।

तारयसि–पार उतारते हो, वह ।
असुमतः–प्राणियों को ।
निजपृष्ठलग्नान्–अपने पीछे लगे हुओं को ।
युक्तं हि–योग्य ही है (परन्तु) ।
पार्थिवनिपस्य–पार्थिव निप रुप *
सतः–सदृश ।
तवैव–आपके ही ।
चित्रं–आश्चर्य यही है ।
विभो !–हे विभु !
यत्–क्यों कि ।
असि—हे । (पार्थिवनिप– अर्थात् मिट्टी का घड़ा वैसा नहीं)
कर्मविपाकशून्यः–आप कर्म के विपाक से रहित हैं ।

अर्थ-सङ्कलना—

हे नाथ ! आप भव समुद्र से पराङ्मुख होते हुए भी अपने पीछे लगे हुए प्राणियों को उक्त समुद्र से पार उतारते हो (अर्थात् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य के मार्ग पर चलने वाले प्राणियों को आप भवसागर से पार उतारते हो । यह योग्य ही है क्यों कि आप पार्थिव-निप (अर्थात् मिट्टी के घड़े की तरह) हैं ! जिस प्रकार मिट्टी का घड़ा उल्टा रखकर उसे पकड़ने से वह तैरने में सहायक होता है, परन्तु आश्चर्य यह है कि आप कर्म विपाकसे रहित हैं जब कि पार्थिवनिप (मिट्टी का घड़ा) वैसा नहीं होता । (इससे विरोधाभास हुआ । उसके परिहार हेतु इस प्रकार अर्थ करें–पार्थिव अर्थात् राजा और निप अर्थात् पालनकर्ता ऐसे आपका प्राणियों को तारना योग्य ही है तथा आप ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के विपाक से रहित हैं) ॥ २९ ॥

* पार्थिव–पृथ्वी की मिट्टी संबंधी ; निप–घड़ा

मूल—

विरोधाभास अलंकार द्वारा जिनेश्वर का स्वरूप—

विश्वेश्वरोऽपि जनपालक ! दुर्गतस्त्वं,
किं वाऽक्षरप्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश ! ।
अज्ञानवत्यपि सदैव कथञ्चिदेव,
ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्वविकाशहेतुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—

विश्वेश्वरोऽपि—विश्व के स्वामी होते हुए भी।

जनपालक !—हे लोक के पालक ! ।

दुर्गतः—दुर्गत अर्थात् दरिद्र हो। (इस अर्थ में विरोध है। इसे दूर करने के लिये दुर्गत अर्थात् दुःख से प्राप्त किये जा सकें, जाने जा सकें—ऐसे हो इस प्रकार अर्थ करें। अथवा 'जनपालकदुर्गतः' —इस पद का अर्थ इस प्रकार करें 'जनप' हे लोक रक्षक ! 'अलक-दुर्गतः'। केश से दरिद्र अर्थात् रहित हो। अर्थात् दिक्षा ग्रहण के पश्चात् आपके केश नहीं बढ़ते।)

त्वं—आप।

किं—कैसे हो ? (जो अक्षर की प्रकृति वाले होते हैं वे लिपि रहित नहीं हो सकते अतः इस अर्थ में विरोध हुआ, वह इस प्रकार है—अक्षर—स्थिर, प्रकृति—स्वभाव है जिसका (अर्थात् शाश्वत् स्वरुपवाले— अथवा अक्षर—मोक्षरुपी प्रकृति—स्वभाव है जिसका अर्थात् मोक्ष के स्वरुप वाले और अलिपि—कर्म के लेप से रहित आप हैं तथा।

वा—अथवा।

अक्षरप्रकृतिरपि—स्वर व्यंजन रूप अक्षर की प्रकृति वाले—स्वभाव वाले होते हुए भी।

अलिपिः—ब्राह्मी आदि लिपिरहित।

त्वं—आप।

ईश !—हे ईश ! ।

अज्ञानवत्यपि—अज्ञानवाले भी।

सदैव—सर्वदा।

कथञ्चिदेव–किसी भी प्रकार।
ज्ञानं–केवलज्ञान।
त्वयि–आपके संबंध में।
स्फुरति–देदीप्यमान लगता है। (यहाँ अज्ञान वाले होते हुए भी ज्ञानवाले कहने से विरोध हुआ। उसे दूर करने के विरोध लिये इस प्रकार अर्थ करें–अज्ञान्–अज्ञानी जनों को अवति–रक्षण करते हुए त्वयि–आप में केवलज्ञान शोभित होता है। (इस अर्थ में कुछभी विरोध नहीं।
विश्वविकासहेतुः–विश्व को प्रकाशित करने के हेतुरूप।

अर्थ–सङ्कलना—

१) सर्व जगत के प्राणियों के रक्षक हे जिनेश्वर ! आप विश्व के स्वामी होते हुए भी दुर्गत–दरिद्र हैं। यहाँ विश्व के स्वामी होते हुए दरिद्र बताने में विरोधभास है। इसे दूर करने के लिये दुर्गत–का अर्थ 'कष्टपूर्वक जाने जा सकने योग्य हैं'–किया जाए।

२) इस प्रकार हे ईश ! आप अक्षर के स्वभाव वाले होते हुए भी अलिपि–लिपिरहित अर्थात् अक्षररहित हैं। इस अर्थ में भी विरोध है। इसे दूर करने के लिये अक्षर अर्थात् मोक्ष के स्वभाव वाले और अलिपि अर्थात् कर्म के लेपसे रहित आप हैं–ऐसा अर्थ किया जाए।

३) आप अज्ञान वाले होते हुए भी आपमें विश्व को प्रकाशित करने के कारण रूप केवलज्ञान के दर्शन होते हैं। इस अर्थ में भी विरोध है। उसे दूर करने के लिये अज्ञान्–अज्ञानी जनों को और अवति अर्थात् रक्षण करने वाले आपमें केवलज्ञान के दर्शन होते हैं–ऐसा अर्थ किया जाए ॥ ३० ॥

मूल—

जिनेश्वर की अवज्ञा करने वाले को अनर्थ प्राप्ति—

प्राग्भारसंभृतनभांसि रजांसि रोषा-
दुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि ।
छायाऽपि तैस्तव न नाथ ! हताशो,
ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—

प्राग्भारसंभृतनभांसि-समग्ररूप से भर दिया है आकाश जिसने ऐसी।
रजांसि-रज, धूल।
रोषात्-क्रोध से।
उत्थापितानि-उड़ाई।
कमठेन-कमठ नामक असुर ने।
शठेन-शठ, शैतान।
यानि-जो।
छायाऽपि-शरीर की छाया अथवा कांति।
तैः-उस रज के द्वारा।
तव-आपकी।
नाथ !-हे नाथ !।
न हता-हरण नहीं की गई।
हताशः-जिसकी आशा पर पानी फिर गया है।
ग्रस्तः-लिप्त, व्याप्त हुआ।
अमीभिः-उस रज के द्वारा अर्थात् कर्म रज द्वारा।
अयमेव-यही।
परं-परंतु।
दुरात्मा-दुष्ट आत्मा वाला असुर।

अर्थ-सङ्कलना—

हे नाथ ! मूर्ख कमठासुर ने क्रोध से समग्र आकाश भर जाए उतनी जो रज (धूल) आप पर बरसाई उसके द्वारा आपके शरीर की परछाई या कांति का कुछ भी नहीं बिगड़ा परन्तु भग्न

हुई है आशा जिसकी ऐसा वह दुष्ट आत्मावाला असुर स्वयं ही उस रज (धूल) द्वारा अर्थात् कर्मरज द्वारा लिप्त—व्याप्त हुआ था ॥ ३१ ॥

मूल—

> यद्गर्जदूर्जितघनौघमदभ्रभीमं,
> भ्रश्यत्तडिन्मुसलमांसलघोरधारम् ।
> दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दध्रे,
> तेनैव तस्य जिन ! दुस्तरवारिकृत्यम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—

यत्—जो ।
गर्जदुर्जितघनोघं—गर्जना कर रहे हैं बड़े मेघ के समूह जिसमें ।
अदभ्रभीमं—अत्यन्त भयंकर ।
भ्रश्यत्तडित्—गिरती है बिजली जिसमें और ।
मुसलमांसलघोरधारं-मूसल जैसी पुष्ट-मोटी घोर धारा है जिसकी ।
दैत्येन—उस कमठासुर के द्वारा ।
मुक्तं—छोड़ा गया है ।
अथ—उसके बाद ।
दुस्तरवारि—दुःखपूर्वक तैरा जा सके ऐसा पानी ।
दध्रे—किया ।
तेनैव—उसी पानी ने ।
तस्य—उस असुर का ।
जिन !—हे जिनेश्वर ! ।
दुस्तरवारिकृत्यं—कठिनाई से तैरने का काम ।

अर्थ-सङ्कलना—

हे जिनेश्वर ! रज (धूल) की वृष्टि करने के पश्चात् उस कमठासुर ने गर्जना करते हुए विशाल मेघ के समूह वाला, अति भयंकर, आकाश से गिरती हुई बिजली वाला मूसल जैसी पुष्ट और

घोर धारवाला तथा तैर कर पार न किया जा सके ऐसा जो जल छोड़ा उसी जल ने उस असुर पर दुष्ट तलवार का कार्य किया ! जैसे दुष्ट तलवार स्वयं का ही छेदन भेदन करती है, उसी प्रकार जल की इस वृष्टि ने कमठासुर के लिये ही छेदन भेदन रूप होकर उसके संसार में वृद्धि की ॥ ३२ ॥

मूल—

ध्वस्तोर्ध्वकेशविकृताकृतिमर्त्यमुण्ड–
प्रालंबभृद्भयदवक्त्रविनिर्यदग्निः ।
प्रेतव्रजः प्रतिभवंतमपीरितो यः,
सोऽस्याभवत्प्रतिभवं भवदुःखहेतुः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—

ध्वस्तोर्ध्वकेश–नीचे बिखरे हैं केश जिसके इसी कारण से।

विकृताकृति—विरूप है आकृति जिसकी ऐसे।

मर्त्यमुण्ड–मनुष्य के मस्तकों की।

प्रालंबभृद्–माला को धारण किया हुआ तथा।

भयदवक्त्र–भयंकर मुखमें से।

विनिर्यदग्निः—निकलती है अग्नि जिसके ऐसा।

प्रेतव्रजः–प्रेत का समूह।

भवन्तमपि प्रति–आपके प्रति भी।

इरितः–उस कमठासुर ने भेजा।

यः–जो।

सः–वह प्रेत का समूह।

अस्य–इस कमठासुर के लिये।

अभवत्–हुआ।

प्रतिभवं–भव–भव के प्रति।

भवदुःखहेतुः–संसार के दुःख का कारण रूप।

अर्थ—सङ्कलना—

हे स्वामी ! उसके बाद उस कमठासुर ने केश बिखरे हुए होने से जिसकी आकृति विरूप-भयंकर दिखाई देती थी ऐसे मनुष्य के मस्तकों की माला को कंठमें धारण किया हुआ तथा जिसके भयंकर मुख में से अग्नि निकली थी ऐसा जो प्रेत का समूह उपद्रव करने हेतु आपकी ओर भेजा वही प्रेत का समूह इस कमठासुर के लिए ही भव—भवमें संसार के दुःख का कारणरूप बना ॥ ३३ ॥

मूल—

जिनेश्वर की आराधना करने वाले की प्रशंसा—

धन्यास्त एव भुवनाधिप ! ये त्रिसन्ध्य-
माराधयन्ति विधिवद्विधुतान्यकृत्याः ।
भक्त्योल्लसत्पुलकपक्ष्मलदेहदेशाः,
पादद्वयं तव विभो ! भुवि जन्मभाजः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—

धन्याः—धन्य हैं।
त एव—वे ही प्राणी।
भुवनाधिप !-हे त्रिभुवन के स्वामी !।
ये—जो।
त्रिसन्ध्यं—त्रिकाल।
आराधयन्ति—आराधना करते हैं।
विधिवत्—विधि के अनुसार।
विधुतान्यकृत्याः—जिन्होंने अन्य कार्यों का त्याग कर रखा है।
भक्त्योल्लसत्पुलकपक्ष्मलदेहदेशाः—भक्ति द्वारा उल्लसित होते हुए रोमांचों से व्याप्त हैं शरीर के भाग जिन के ऐसे।
पादद्वयं—दो चरणों को।
तव—आपके।
विभो !—हे विभु !
भुवि—इस पृथ्वी पर।
जन्मभाजः—प्राणीगण।

अर्थ-सङ्कलना—

हे त्रिजगताधिपति ! हे प्रभु ! अन्य सभी कृत्यों का त्याग करके आपके प्रति भक्ति से उत्पन्न होते हुए रोमांच को शरीर पर धारण करते हुए जो मनुष्य इस धरती पर तीनों ही काल विधि के अनुसार आपके चरणकमल की आराधना करते हैं वे ही धन्य हैं उन्हीं का जन्म सार्थक है ॥ ३४ ॥

मूल—

अब आठ श्लोकों के द्वारा स्तोत्रकार विज्ञप्ति करते हैं—

अस्मिन्नपारभववारिनिधौ मुनीश !
मन्ये न मे श्रवणगोचरतां गतोऽसि ।
आकर्णिते तु तव गोत्रपवित्रमंत्रे,
किं वा विपद्विषधरी सविधं समेति ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—

अस्मिन्-इस ।
अपारभववारिनिधौ-अपार संसार रूपी समुद्र में आप ।
मुनीश !-हे मुनीश्वर !
मन्ये-मैं मानता हूँ कि ।
मे-मेरे ।
श्रवण गोचरतां-श्रवण के विषय को ।
न गतोऽसि-पाया नहीं ।
आकर्णिते तु-सुनने पर भी ।
तव-आपके ।
गोत्र-नाम रूपी ।
पवित्रमंत्रे-पवित्र मंत्र ।
किं-क्या ?
वा-अथवा तो ।
विपद्विषधरी-आपत्तिरूपी सर्पिणी ।
सविधं-समीप ।
समेति-आ सके ? नहीं आ सकती ।

अर्थ-सङ्कलना—

हे मुनीश्वर ! मैं मानता हूँ कि इस अपार संसार रूपी समुद्र में भ्रमण करते हुए मैंने कदापि आपके नाम का श्रवण नहीं किया होगा, क्यों कि यदि आपका नामरूप पवित्रमंत्र सुनने में आए, तो क्या विपत्ति रूपी सर्पिणी कदापि पास आ सकती है ? अर्थात् नहीं आ सकती। (हे प्रभु ! अभी तक मेरी सांसारिक आपत्तियों का नाश नहीं हुआ है इससे मैं सोचता हूँ कि आपका नाम अब-तक मैंने किसी भी भव में नहीं सुना होगा। यदि सुना होता तो संसारभ्रमणरूप यह आपत्ति मुझे नहीं घेरती) ॥ ३५ ॥

मूल—

जन्मान्तरेऽपि तव पादयुगं न देव !
मन्ये मया महितमीहितदानदक्षम् ।
तेनेह जन्मनि मुनीश ! पराभवानां,
जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—

जन्मान्तरेऽपि–जन्मान्तरमें भी।	तेन–इसलिये।
तव–आपके।	इह जन्मनि–इस जन्म में।
पादयुगं–दो चरण को।	मुनीश !–हे मुनीश्वर !
देव !–हे देव !	पराभवानां–पराभवों का।
मन्ये–मैं मानता हूँ।	जातः–हुआ हूँ।
मया–मेरे द्वारा।	निकेतनं–स्थानरूप।
न महितं–पूजे नहीं गए।	अहं–मैं।
ईहितदानदक्षं—इष्ट वस्तु देने में चतुर।	मथिताशयानां—चित्त को पीड़ा पहुँचाने वाले।

अर्थ-सङ्कलना—

हे देव ! मैं मानता हूँ कि भक्त जनों को वांछित फल देने में निपुण आपके चरणकमल का पूजन मैंने किसी भी जन्मान्तर में नहीं किया। इसलिये हे मुनीश्वर ! इस जन्म में मैं चित्त को पीड़ा पहुँचाने वाले पराभवों का स्थान बना हूँ। (यदि आपके चरण-कमल की सेवा की होती तो मैं पराभव का पात्र नही बनता अर्थात् आपके चरण की पूजा करने वाला प्राणी कदापि पराभव का शिकार नहीं बनता है ॥ ३६ ॥

मूल—

नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन,
पूर्वं विभो ! सकृदपि प्रविलोकितोऽसि ।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः
प्रोद्यत्प्रबंधगतयः कथमन्यथैते ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—

नूनं—निश्चित् रूप से।
मोहतिमिरावृतलोचनेन—मोह-रूपी अंधकार से ढँके हैं लोचन जिसके ऐसे मेरे द्वारा।
पूर्वं—पहिले।
विभो !—हे विभु !
सकृदपि—एक बार भी।
न प्रविलोकितोऽसि—आप नहीं देखे गए।
मर्माविधो—मर्मस्थान को भेदने वाले तथा।
विधुरयन्ति हि—पीड़ा करे।
मां—मुझे।
अनर्थाः—अनर्थो।
प्रोद्यत्प्रबंधगतयः—प्रकर्ष से प्राप्त हुई है सविस्तार कर्मबंध की प्रवृत्ति जिसे।
कथं—क्यों ?
अन्यथा—नहीं तो अर्थात् देखे होते तो।
एते—ये।

अर्थ-सङ्कलना—

हे विभु ! मेरे नेत्र मोहरूपी अंधकार से आच्छादित होने के कारण मैंने इससे पूर्व कभी भी—एक बार भी आपके दर्शन नहीं किये अन्यथा यदि कदाचित् दर्शन किये होते तो मर्मस्थान को भेदने वाले और कर्म बन्ध की प्रवृत्ति को प्राप्त किये हुए ये कष्ट मुझे क्यों पीडा पहुँचाते ? अर्थात् कदापि नहीं पहुँचाते ! (कहने का तात्पर्य यह है कि आपका दर्शन करने वाले को अनर्थों की प्राप्ति नहीं होती है ॥ ३७ ॥

मूल—

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव ! दुःखपात्रं,
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—

आकर्णितोऽपि—आपको सुना फिर भी ।
महितोऽपि—पूजा की फिर भी ।
निरीक्षितोऽपि—देखे फिर भी ।
नूनं—निश्चित् रूप से ।
चेतसि—चित्त में ।
मया—मैंने किसी भी भव में ।
न विधृतोसि—धारण नहीं किया ।
भक्त्या—भक्ति द्वारा ।
जातोऽस्मि—मैं हुआ हूँ ।
तेन—उससे ।
जनबान्धव !—हे लोकहितकर ।
दुःखपात्रं—दुःख का पात्र ।
यस्मात्—जिस कारण से ।
क्रियाः—क्रियाएँ ।
न प्रतिफलन्ति—फलदायक नहीं होतीं ।
भावशून्याः—भावरहित ।

अर्थ-सङ्कलना—

हे लोक बंधु ! (लोक के हितकर्ता) मैंने इससे पूर्व किसी भी आपको सुने भी हैं, पूजे भी हैं और देखे भी हैं, परन्तु भक्ति द्वारा चित्त में धारण तो किये ही नहीं। इसीलिये मैं दुःख का पात्र बना हूँ; क्यों कि सुनने, पूजा करने और देखने आदि की सभी क्रियाएँ भाव रहित हों तो वे फलदायक होती ही नहीं। इसीलिये मेरी सभी क्रियाएँ निष्फल रही हैं ॥ ३८ ॥

मूल—

त्वं नाथ ! दुःखिजनवत्सल ! हे शरण्य !
कारुण्यपुण्यवसते ! वशिनां वरेण्य !
भक्त्या न ते मयि महेश ! दयां विधाय,
दुःखाङ्कुरोद्दलन तत्परतां विधेहि ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—

त्वं-आप।
नाथ !-हे नाथ !।
दुःखिजनवत्सल !-दुःखी जनों के प्रति वात्सल्य रखने वाले दयालु !।
हे शरण्य !-हे शरण करने योग्य !।
कारुण्यपुण्यवसते !—हे दया के पवित्र स्थान !।
वशिनां-जितेन्द्रियों में।
वरेण्य !-हे श्रेष्ठ !।
भक्त्या-भक्ति द्वारा।
नते-नमन किये हुए।
मयि-मुझपर।
महेश !-हे महान् ईश !।
दयां-दया।
विधाय-करके।
दुःखाङ्कुरोद्दलनतत्परतां--दुःख के अंकुरों का नाश करने में तत्परता।
विधेहि-करो।

अर्थ-सङ्कलना—

हे नाथ ! आप दुःखीजनों के प्रति वत्सल—दयालु हैं ! शरण्य (शरण में आए हुए प्राणियों के लिये) हितकर्ता हैं, दया के पवित्र स्थान हैं, सर्व जितेन्द्रियों में आप श्रेष्ठ हैं ! अतः मुझ पर दया करके मेरे (दुःख के कारणों का) दुःख के अंकुरो का विनाश करने के लिये आप तत्पर बनें। (इस श्लोक में जिनेश्वर की केवल स्तुति ही की गई है) ॥ ३९ ॥

मूल—

निःसङ्ख्यसारशरणं शरणं शरण्य-
मासाद्य सादितरिपु प्रथितावदातम् ।
त्वत्पादपङ्कजमपि प्रणिधानवंध्यो,
वध्योऽस्मि चेद्भुवनपावन ! हा हतोऽस्मि ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—

निःसङ्ख्यसारशरणं-असंख्य बल के घर रूप।

शरणं-शरण।

शरण्यं-शरण करने योग्य।

आसाद्य-प्राप्त कर।

सादितरिपु-नाश किये हैं रागादि शत्रु जिन्होंने ऐसे तथा।

प्रथितावदातम्-प्रसिद्ध है प्रभाव जिनका ऐसे।

त्वत्पादपङ्कजमपि—आपके चरण कमल का भी।

प्रणिधानवन्ध्यः—ध्यान से रहित ऐसा मैं।

वध्योऽस्मि—रागादिशत्रुद्वारा वध करने योग्य हूँ।

चेत्-यदि।

भुवनपावन !-हे त्रिभुवन को पवित्र करने वाले प्रभु !।

हा-खेद की बात है कि।

हतोऽस्मि-मैं दुर्दैव से मारा गया हूँ।

अर्थ-सङ्कलना—

त्रिभुवन को पवित्र करने वाले हे स्वामी ! आपका चरणकमल असंख्यबल का घर है, शरण करने योग्य है, रागादि शत्रुका नाश करने वाला है तथा प्रसिद्ध प्रभाव वाला है। उसकी (आपके चरण युगलका) शरण लेने पर भी यदि मैं ध्यानरहित होकर रागादि शत्रु द्वारा वध करने योग्य बनूँ तो यह खेद की बात है कि मैं दुर्दैव से मारा गया हूँ ! (मेरे भाग्य ही बुरा है—ऐसा मैं मानता हूँ ॥४०॥

मूल—

देवेन्द्रवन्द्य ! विदिताखिलवस्तुसार !,
संसारतारक ! विभो ! भुवनाधिनाथ !
त्रायस्व देव ! करुणाहृद ! मां पुनीहि,
सीदन्तमद्य भयदव्यसनाम्बुराशेः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—

देवेन्द्रवंद्य ! — हे देवेन्द्रोंद्वारा वंदनीय ! ।
विदिताखिलवस्तुसार !-हे जाना है समग्र वस्तु का सार जिसने ऐसे ! ।
संसारतारक !-हे संसार के तारक !।
विभो !-हे विभु ! ।
भुवनाधिनाथ !-हे त्रिभुवन के नाथ ! ।
त्रायस्व-रक्षा करो और।
देव !-हे देव ! ।
करुणाहृद !—हे दया के हृद ! । (द्रह)
मां—मुझे ।
पुनीहि—पवित्र करो ।
सीदन्तं—दुःखी होते हुए ।
अद्य—आज ।
भयदव्यसनाम्बुराशेः — भयंकर कष्ट रूपी समुद्र से ।

अर्थ-सङ्कलना—

हे देवेन्द्रों के वंदनीय! समग्र वस्तु के सार को जानने वाले! संसार समुद्र से पार उतारने वाले विभु! केवलज्ञान द्वारा जगत में व्याप्त होकर रहे हुए! त्रिभुवन के नाथ! देव—देदीप्यमान! और दया के सागर हे जिनेश्वर! आज मुझ दुःखियारे का इस भयंकर कष्टरूपी संसारसागर से रक्षण करो और मेरे पापों का नाश करके मुझे पवित्र करो ।। ४१ ।।

मूल—

> यद्यस्ति नाथ! भवदङ्घ्रिसरोरुहाणां,
> भक्तेः फलं किमपि संतति संचितायाः।
> तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य! भूयाः,
> स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—

यदि—यदि।
अस्ति—है।
नाथ!—हे नाथ!।
भवदङ्घ्रिसरोरुहाणां — आपके चरणकमल की।
भक्तेः—भक्ति का।
फलं—फल।
किमपि—कुछभी।
संततिसंचितायाः — परम्परा के संचय को करने वाली।
तत्—ते!।
मे—मेरे।
त्वदेकशरणस्य— आपकाही एक शरण है जिसे।
शरण्य!—हे शरण करने योग्य!।
भूयाः—हों।
स्वामी—स्वामी।
त्वमेव—आपही।
भुवने—लोक में और।
अत्र—इस।
भवान्तरेऽपि—अन्य भव में भी।

अर्थ-सङ्कलना—

हे नाथ ! यदि परम्परा का-(समूह का) संचय करने वाली आपके चरणकमल की भक्ति का कुछ भी फल हो तो हे शरण करने योग्य प्रभु ! मात्र एक आपकी ही शरण वाले मेरे इस भव में और अन्यभवों में (भवांतर में) भी आप ही स्वामी बनें। (इतना ही फल मैं माँगता हूँ ॥ ४२ ॥

मूल—

इत्थं समाहितधियो विधिवज्जिनेन्द्र !
सान्द्रोल्लसत्पुलककञ्चुकिताङ्गभागाः ।
त्वद्बिम्बनिर्मलमुखाम्बुजबद्धलक्ष्या,
ये संस्तवं तव विभो ! रचयन्ति भव्याः ॥ ४३ ॥
जननयनकुमुदचन्द्र !* प्रभास्वराः स्वर्गसम्पदो भुक्त्वा ।
ते विगलितमलनिचया, अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते ॥ ४४ ॥
॥ युग्मम् ॥

शब्दार्थ—

इत्थं-इस प्रकार।
समाहितधियः-समाधिमय निश्चल है बुद्धि जिसकी ऐसे।
विधिवत्-विधिपूर्वक।
जिनेन्द्र !-हे जिनेन्द्र !।
सान्द्रोल्लसत्पुलककञ्चुकिताङ्ग-भागाः-अत्यन्त विकस्वर रोमांच द्वारा व्याप्त है शरीर के भाग जिनके ऐसे तथा।

* यहां कुमुदचंद्र कहकर स्तोत्रकार श्री सिद्धसेन दिवाकराचार्य ने अपना दीक्षा के समय गुरु द्वारा प्रदत्त नाम का परिचय दिया है।

त्वद्बिम्बविर्मलमुखाम्बुजबद्ध-लक्ष्याः—आपके बिंब के निर्मल मुख कमल के प्रति बाँधा है लक्ष्य जिसने ऐसे।
ये—जे।
संस्तवं—स्तवन को।
तव—आपके।
विभो !—हे विभु !।
रचयन्ति—रचना करते हैं।
भव्याः—भव्य प्राणी।
जननयनकुमुदचन्द्र !—लोगों के नेत्ररूपी कुमुद को विकस्वर करने में चन्द्रसमान हे प्रभु !
प्रभास्वराः—देदीप्यमान।
स्वर्गसंपदः—स्वर्ग की संपदाओं को।
भुक्त्वा—भोगकर।
ते—वे।
विगलितमलनिचयाः—क्षीण हुए हैं कर्म मल के समूह जिनके ऐसे।
अचिरात्—शीघ्र ही।
मोक्षं—मोक्ष को।
प्रपद्यन्ते—प्राप्त करते हैं।

अर्थ-सङ्कलना—

हे जिनेश्वर ! हे विभु ! लोगों के नेत्ररूपी कमल को विकस्वर करने में चंद्र समान हे प्रभु ! स्थिर बुद्धि वाले, अत्यन्त विकस्वर रोमांचित शरीर वाले और आपके बिम्ब के निर्मल मुखकमल के प्रति लक्ष्य रखने वाले जो भव्य प्राणी उपरोक्तानुसार विधिपूर्वक आपके स्तोत्र की (कल्याण मंदिर स्तोत्र की) रचना करते हैं—स्मरण करते हैं वे देदीप्यमान स्वर्ग की संपत्ति का उपभोग कर शीघ्र ही समग्र कर्म मल का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥ ४३—४४ ॥

६२ पाक्षिकादि-अतिचार।

मूल—

नाणम्मि दंसणम्मि अ, चरणम्मि तवम्मि तह य वीरियम्मि।
आयरणं आयारो, इअ एसो पंचहा भणिओ ॥ १ ॥

ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार ए पंचविध आचारमांहि* जे कोइ अतिचार पक्ष दिवसमांहि सूक्ष्म बादर जाणतां अजाणतां हुओ होय, ते सविहु मने, वचने, कायाए करी मिच्छा मि दुक्कडं ॥ १ ॥

तत्र ज्ञानाचारे आठ अतिचार—

काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तह अनिण्हवणे।
वंजण-अत्थ-तदुभये, अट्ठविहो नाणमायारो ॥ १ ॥

ज्ञान काळ-वेळाए भण्यो-गुण्यो नहीं, अकाले भण्यो, विनय-हीन, बहुमान-हीन, योग-उपधान-हीन, अनेरा कन्हे भणी अनेरो गुरु कह्यो।

देव-गुरु-वांदणे, पडिक्कमणे; सज्झाय करतां, भणतां-गुणतां कूडो अक्षर काने मात्राए अधिको-ओछो भण्यो, सूत्र कूडुं कह्युं, अर्थ कूडो कह्यो, तदुभय कूडां कह्यां, भणीने विसार्यां।

साधु-तणे धर्मे काजो अणउद्धर्यें; दांडो अणपडिलेहे, वसति

---

* यहां 'अनेरो' ऐसा अधिक देखने में आता है, किन्तु वह अर्थकी दृष्टिसे जरूर नहीं है।

अणशोधे, अणपवेसे; असज्झाय-अणो (ण) ज्झाय-मांहे श्रीदशवैकालिक-प्रमुख सिद्धांत भण्यो-गुण्यो, श्रावक--तणे धर्मे स्थविरावली, पडिक्कमण, उपदेशमाळा-प्रमुख सिद्धांत भण्यो-गुण्यो; काल-वेळाए काजो अणउद्धर्ये पढयो ।

ज्ञानोपगरण पाटी, पोथी, ठवणी, कवली, नोकारवाली, सापडा, सापडी, दस्तरी, वही ओलिया-प्रमुख प्रत्ये पग लाग्यो, थूंके करी अक्षर मांज्यो, ओशीसे धर्यो, कन्हे छतां आहार-नीहार कीधो।

ज्ञान-द्रव्य भक्षतां उपेक्षा कीधी, प्रज्ञापराधे विणास्यो, विणसतो उवेख्यो. छती शक्तिए सार-संभाल न कीधी ।

ज्ञानवंत प्रत्ये द्वेष-मत्सर चिंतव्यो, अवज्ञा-आशातना कीधी, कोई प्रत्ये भणतां-गणतां अंतराय कीधो; आपणा जाणपणा-तणो गर्व चिंतव्यो, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, ए पंचविध ज्ञान-तणी असद्दहणा कीधी ।

कोई तोतडो, बोबडो [देखी] हस्यो, वितर्क्यो, अन्यथा प्ररूपणा कीधी ।

ज्ञानाचार-विषइओ अनेरो जे कोई अतिचार पक्ष-दिवसमांहि सूक्ष्म, बादर जाणतां, अजाणतां, हुओ होय, ते सविहु मने, वचने, कायाए करी मिच्छा मि दुक्कडं ॥ १ ॥

दर्शनाचारे आठ अतिचार—

निस्संकिय निकंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी अ ।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ ॥ १ ॥

देव–गुरु–धर्म–तणे विषे निःशंकपणुं न कीधुं, तथा एकान्त निश्चय न कीधो, धर्म–सम्बन्धीयां, फलतणे विषे निःसन्देह बुद्धि धरी नहीं, साधु–साध्वीनां मल–मलिन गात्र देखी दुगंछा नीपजावी, कुचारित्रीया देखी चारित्रीया ऊपर अभाव हुओ, मिथ्यात्वी–तणी पूजा–प्रभावना देखी मूढदृष्टिपणुं कीधुं ।

तथा संघमांहे गुणवंत–तणी अनुपबृंहणा कीधी; अस्थिरीकरण, अवात्सल्य, अप्रीति, अभक्ति नीपजावी, अबहुमान कीधुं ।

तथा देवद्रव्य, गुरुद्रव्य, ज्ञानद्रव्य, साधारणद्रव्य, भक्षित, उपेक्षित, प्रज्ञापराधे विणास्यां, विणसतां उवेख्यां, छती शक्तिए सार–संभाल न कीधी; तथा साधर्मिक साथे कलह–कर्म–बंध कीधो ।

अधोती, अष्टपड मुखकोश–पाखे देव–पूजा कीधी; बिंब–प्रत्ये वासकूंपी, धूपधाणुं, कलश–तणो ठबको लाग्यो, बिंब हाथ–थकी पाडयुं, ऊसास–नीसास लाग्यो ।

देहरे उपाश्रये मल–श्लेष्मादिक लोह्युं, देहरामांहे हास्य, खेल, केलि, कुतूहल, आहार-नीहार कीधां, पान, सोपारी, निवेदीयां खाधां ।

ठवणायरिय हाथ–थकी पाड्या, पडिलेहवा विसार्या ।

जिन–भवने चोराशी आशातना, गुरु–गुरुणी प्रत्ये तेत्रीस आशातना कीधी, गुरु–वचन ' तह त्ति ' करी पडिवज्युं नहीं ।

दर्शनाचार–विषइओ अनेरो जे कोई अतिचार पक्ष–दिवस-मांहि० ॥ १ ॥

चारित्राचारे आठ अतिचार—

पणिहाण-जोग जुत्तो, पंचहिं समिईहिं तीहिं गुत्तीहिं ।
एस चरित्तायारो, अट्ठविहो होइ नायव्वो ॥ १ ॥

ईर्या—समिति ते अणजोये हींड्या, भाषा समिति ते सावद्य वचन बोल्या, एषणा—समिति ते तृण, डगल, अन्नपाणी, असूजतुं लीधुं, आदान—भंडमत्त—निक्खेवणा—समिति ते आसन, शयन, उपकरण, मातरुं प्रमुख अणपुंजी जीवाकुल भूमिकाए मूक्युं, लीधुं, पारिष्ठापनिका—समिति ते मलमूत्र, श्लेष्मादिक अणपुंजी जीवाकुल भूमिकाए परठव्युं ।

मनो—गुप्ति—मनमां आर्त्त—रौद्रध्यान ध्यायां, वचन—गुप्ति—सावद्य वचन बोल्यां; काय—गुप्ति—शरीर अणपडिलेह्युं हलाव्युं अणपुंजे बेठा ।

ए अष्ट प्रवचन—माता साधु—तणे धर्मे सदैव अने श्रावक—तणे धर्मे सामायिक पोसह लीधे रूडी पेरे पाल्यां नहीं, खंडणा—विराधना हुई ।

चारित्राचार—विषइओ अनेरो जे कोई अतिचार पक्ष—दिवस—मांहि० ॥ १ ॥

विशेषतः श्रावक-तणे धर्मे श्रीसम्यक्त्व-मूल बार व्रत [तेमां] सम्यक्त्व—तणा पांच अतीचार—

'संकाकंखविगिच्छा०' ॥

शंका—श्रीअरिहंत-तणां बल, अतिशय, ज्ञानलक्ष्मी, गांभीर्यादिक गुण शाश्वती प्रतिमा, चारित्रीयानां चारित्र, श्रीजिनवचन-तणो संदेह कीधो ।

आकांक्षा—ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, क्षेत्रपाल, गोगो, आसपाल, पादर—देवता, गोत्र—देवता, ग्रह—पूजा, विनायक, हनुमंत, सुग्रीव, वालीनाह इत्येवमादिक देश, नगर, ग्राम, गोत्र, नगरी, जूजूआ देव—देहराना प्रभाव देखी, रोग—आतंक—कष्ट आव्ये इहलोक परलोकार्थे पूज्या—मान्या, सिद्ध—विनायक जीराउलाने मान्युं, इच्छयुं. बौद्ध, सांख्यादिक, संन्यासी, भरडा, भगत, लिंगिया, जोगिया, जोगी, दरवेश, अनेरा दर्शनीया—तणो कष्ट, मंत्र, चमत्कार देखी परमार्थ जाण्या विना भूलाया, मोह्या, कुशास्त्र शीख्यां, सांभल्यां ।

श्राद्ध, संवत्सरी, होली, बलेव, माही—पूनम, अजा—पडवो, प्रेत—बीज, गौरी—त्रीज, विनायक—चोथ, नाग-पंचमी, झीलणा-छट्ठी, शील (शीतल)—सातमी, ध्रुव—आठमी, नौली नवमी, अहवा-दशमी, व्रत—अग्यारशी, वच्छ—बारशी, धन—तेरशी, अनंत—चउदशी, अमावास्या, आदित्यवार, उत्तरायण नैवेद्य कीधां ।

नवोदक, याग, भोग, उतारणां कीधां, कराव्यां अनुमोद्यां, पींपले पाणी घाल्यां—घलाव्यां, घर—बाहिर—क्षेत्र—खले कूवे, तलावे, नदीए, द्रहे, वाविए, कुंडे, पुण्यहेतु स्नान कीधां, कराव्यां, अनुमोद्यां, दान दीधां, ग्रहण, शनैश्चर, माहमासे नवरात्रि न्हाया, अजाणतां थाप्यां, अनेराई व्रतोळां कीधां—कराव्यां ।

विचिकित्सा—धर्म—संबंधीयां फलतणे विषे संदेह कीधो, जिन अरिहंत, धर्मना आगर, विश्वोपकार सागर, मोक्षमार्गना दातार, इस्या गुण भणी न मान्या, न पूज्या, महासती महात्मानी इहलोक परलोक संबंधीया भोग—वांछित पूजा कीधी ।

रोग, आतंक, कष्ट आव्ये खीण वचन भोग मान्या, महात्माना भात, पाणी, मल, शोभा—तणी निंदा कीधी, कुचारित्रीया देखी चारित्रीया उपर कुभाव हुओ, मिथ्यात्वी—तणी पूजा—प्रभावना देखी प्रशंसा कीधी, प्रीति मांडी, दाक्षिण्य—लगे तेहनो धर्म मान्यो, कीधो। श्रीसम्यक्त्व—विषइओ अनेरो जे कोई अतिचार पक्ष—दिवसमांहि० ॥ १ ॥

पहेले स्थूल प्राणातिपात—विरमण—व्रते पांच अतिचार——

वह—बंध—छविच्छेए० ॥

द्विपद, चतुष्पद प्रत्ये रीस—वशे गाढो घाव घाल्यो, गाढे बंधने बांध्यो, अधिक भार घाल्यो, निर्लांछन-कर्म कीधां, चारा-पाणी-तणी वेलाए सार—संभाल न कीधी, लेहणे—देहणे किणही प्रत्ये लंघाव्यो, तेणे भूख्ये आपणे जम्या, कन्हे रही मराव्यो, बंदीखाने घलाव्यो ।

सल्यां धान्य तडके नांख्यां, दलाव्यां, भरडाव्यां, शोधी न वावर्यां; ईंधण—छाणां अणशोध्यां बाळ्यां, तेमांहि साप, विंछी, खजूरा, सरवला, मांकड, जूआ, गींगोडा, साहतां मुआ, दुहव्या, रूडे स्थानके न मूक्या, कीडी—मंकोडीनां इंडां विछोह्यां, लीख फोडी, उद्देही, कीडी, मंकोडी, धीमेल, कातरा, चूडेल, पतंगीयां, देडकां, अलसीयां, ईयल, कुंतां, डांस, मसा, बगतरा, माखी, तीड—प्रमुख जीव विणह्या; माळा हलावतां, चलावतां, पंखी, चकला, काग—तणां इंडां फोड्यां ।

अनेरा एकेन्द्रियादिक, जीव विणास्या, चांप्या, दुहव्या, कांइ हलावतां, चलावतां, पाणी छांटतां, अंनेरा कांइ काम—काज करतां निर्ध्वंसपणुं कीधुं, जीव-रक्षा रूडी न कीधी, संखारो सूकव्यो, रुडुं गलणुं न कीधुं, अणगल पाणी वावर्युं, रूडी जयणा न कीधी, अणगल पाणीए झील्या, लुगडां धोयां, खाटला तडके नाख्या, झाटक्या, जीवाकुल भूमि लिंपी, वाशी गार राखी, दलणे, खांडणे, लिंपणे रूडी जयणा न कीधी, आठम, चउदसना नियम मांग्यां, धूणी करावी।

पहेले स्थूल-प्राणातिपात-विरमण व्रत-विषइओ अनेरो जे कोई अतिचार पक्ष—दिवसमांहि० ॥ १ ॥

बीजे स्थूल—मृषावाद—विरमण व्रते पांच अतिचार—

सहसा—रहस्स—दारे ॥

सहसात्कारे कुणह प्रत्ये अजगतुं आल—अभ्याख्यान दीधुं, स्वदारा—मंत्रभेद कीधो, अनेरा कुणहनो मंत्र, आलोच, मर्म प्रकाश्यो, कुणहने अनर्थ पाडवा कूडी बुद्धि दीधी, कूडो लेख लख्यो, कूडी साख भरी, थापण—मोसो कीधो।

कन्या, गौ, ढोर, भूमि—संबंधी लेहणे—देहणे व्यवसाये वाद-वढवाड करतां मोटकुं जूठुं बोल्या, हाथ पगतणी गाली दीधी, कडकडा मोड्या, मर्मवचन बोल्या।

बीजे स्थूल—मृषावाद—विरमण व्रत—विषइओ अनेरो जे कोई अतिचार पक्ष—दिवसमांहि० ॥ २ ॥

त्रीजे स्थूल–अदत्तादान–विरमण व्रते पांच अतिचार—

तेनाहडप्पओगे० ॥

घर–बाहिर क्षेत्र खले पराई वस्तु अणमोकली लीधी, वापरी, चोराई वस्तु वहोरी, चोर-धाड-प्रत्ये संकेत कीधो, तेहने संबल दीधुं, तेहनी वस्तु लीधी, विरुद्ध राज्यातिक्रम कीधी, नवा, पुराणा, सरस, विरस, सजीव, निर्जीव वस्तुना भेल–संभेल कीधा, कूडे काटले, तोले, माने, मापे, वहोर्या, दाण–चोरी कीधी, कुणहने लेखे वरांस्यो, साटे लांच लीधी, कूडो करहो काढयो, विश्वासघात कीधो, पर–वंचना कीधी, पासंग कूडां कीधां, दांडी चडावी, लहके–त्रहके कूडां काटलां, मान, मापां कीधां ।

माता, पिता, पुत्र, मित्र, कलत्र वंची कुणहिने दीधुं, जुदी गांठ कीधी, थापण ओळवी, कुणहिने लेखे–पलेखे भूलव्युं, पडी वस्तु ओळवी लीधी ।

त्रीजे स्थूल–अदत्तादान–विरमण व्रत–विषईओ अनेरो जे कोई अतिचार पक्ष–दिवसमांहि० ॥ ३ ॥

चोथे स्वदारासंतोष-परस्त्रीगमन–विरमण व्रते पांच अतिचार—

अपरिग्गहिया–इत्तर०—

अपरिगृहीता–गमन, इत्वर–परिगृहीता–गमन कीधुं, विधवा, वेश्या, परस्त्री, कुलांगना, स्वदारा शोक (क्य)-तणे विशे दृष्टि-विपर्यास कीधो, सराग वचन बोल्यां, आठम चोदश अनेरी पर्वतिथिना नियम लई भांग्या, घरघरणां कीधां कराव्यां, वर–वहू वखाण्यां, कुविकल्प

चिंतव्यो, अनंग—क्रीडा कीधी, स्त्रीनां अंगोपांग नीरख्यां, पराया विवाह जोड्या, ढींगला—ढींगली परणाव्या, काम—भोग तणे विषे तीव्र अभिलाष कीधो ।

अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार, सुहणे-स्वप्नान्तरे हुआ, कुस्वप्न लाध्यां, नट, विट, स्त्रीशुं हांसुं कीधुं ।

चोथे स्वदारा-संतोष० व्रत-बिषइओ अनेरो जे कोई अतिचार पक्ष—दिवसमांहि० ॥ ४ ॥

पांचमे परिग्रह—परिमाण—व्रते—पांच अतिचार—

धण—धन्न—खित्त—वत्थू० ॥

धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु, रूप्य, सुवर्ण, कुप्य, द्विपद, चतुष्पद ए नवविध परिग्रह—तणा नियम उपरांत वृद्धी देखी मूर्छा—लगे संक्षेप न कीधो, माता, पिता, पुत्र, स्त्री-तणे लेखे कीधो, परिग्रह-परिमाण लीधुं नहीं, लइने पढीयुं नही, पढवुं विसार्युं, अलीधुं मेल्युं, नियम विसर्या ।

पांचमे परिग्रह-परिमाण-व्रत-बिषइओ अनेरो जे कोई अतिचार पक्ष—दिवसमांहि० ॥ ५ ॥

छट्ठे दिक्—परिमाण—व्रते पांच अतिचार—

गमणस्स य परिमाणे० ॥

उर्ध्वदिशि, अधोदिशि, तिर्यग्-दिशिए जावा आववा-तणा-नियम लई भांग्या, अनाभोगे विस्मृति लगे अधिक भूमि गया, पाठवणी

आधी-पाछी मोकली, वहाण-व्यवसाय कीधो, वर्षाकाले गामतरुं कीधुं, भूमिका एकगमा संक्षेपी, बीजी गमा वधारी ।

छट्ठे दिक्-परिमाण-व्रत-विषइओ अनेरो जे कोई अतिचार पक्ष-दिवसमांहि०

सातमे भोगोपभोग-विरमण-व्रते भोजन आश्री पांच अतिचार अने कर्म-हुंती पंदर अतिचार, एवं बीश अतिचार--

सचित्ते पडिबद्धे० ॥

सचित्त-नियम लीधे अधिक सचित्त लीधुं; अपक्वाहार, दुप्पक्वाहार, तुच्छौषधि-तणुं भक्षण कीधुं, ओला, उंबी, पोंक, पापडी खाधां।

सचित्त[1]-दव्व[2]-विगइ[3]-वाणह[4]-तंबोल[5]-वत्थ[6]-कुसुमेसु[7] ।
वाहण[8]-सयण[9]-विलेवण[10]-बंभ[11]-दिसि[12]-न्हाण[13]-भत्तेसु[14] ॥

ए चौद नियम दिनगत रात्रिगत लीधा नहीं, लइने भांग्या, बावीश अभक्ष्य, बत्रीश अनन्तकायमांहि आदु, मूला, गाजर, पिंड, पिंडालु, कचूरो, सुरण, कुलि आंबली, गलो, वाघरडां खाधां ।

वासी कठोळ, पोली रोटली, त्रण दिवसनुं ओदन लीधुं; मधु, महुडां, माखण, माटी, वेंगण, पीलु, पीचु, पंपोटा, विष, हिम, करहा, घोलवडां, अजाण्यां, फल, टिंबरु, गुंदां, महोर, अथाणुं, आंबलबोर, काचुं मीठुं, तिल, खसखस, कोठिंबडां खाधां, रात्री-भोजन कीधां, लगभग-वेलाए वालु कीधुं, दिवस विण, ऊगे शीराव्या ।

तथा कर्मतः पन्नर कर्मादान-इंगाल-कम्मे, वण-कम्मे, साडी-कम्मे, भाडी-कम्मे, फोडी-कम्मे, ए पांच कर्म; दंत-वाणिज्जे, लक्ख-

वाणिज्जे, रस—वाणिज्जे, केस—वाणिज्जे, विस—वाणिज्जे, ए पांच वाणिज्य; जन्त—पिल्लणकम्मे, निल्लंणकम्मे, दवग्गि—दावणया, सर-दह-तलाय—सोसणया, असई-पोसणया; ए पांच कर्म, पांच वाणिज्य, पांच सामान्य; एवं पन्नर कर्मादान बहु सावद्य-महारंभ, रांगण-लिहाला* कराव्या, इंट—निभाडा पकाव्या, धाणी, चणा, पक्वान्न करी वेच्या, वाशी माखण तवाव्यां, तिल वहोर्या, फागण मास उपरान्त राख्या, दलीदो कीधो, अंगीठा कराव्या, श्वान, बिलाडा, सूडा, सालही पोष्या।

अनेरा जे कांई बहु-सावद्य खरकर्मादिक, समाचर्या, वाशी गार राखी, लिंपणे—गुंपणे महारंभ कीधो, अणशोध्या चूला संधूक्या, घी, तेल, गोल, छाश-तणां भाजन उघाडां मूक्यां, तेमांहि माखी, कुंती, उंदर, गीरोली पडी, कीडी चडी, तेनी जयणा न कीधी।

सातमे भोगोपभोग—विरमण—व्रत—विषइओ अनेरो जे कोई अतिचार पक्ष—दिवसमांहि० ॥ ७ ॥

आठमे अनर्थदंड—विरमण—व्रते पांच अतिचार—

कंदप्पे कुक्कुइए० ॥

कंदर्प—लगे विट-चेष्टा, हास्य, खेल, [केलि] कुतूहल कीधां, पुरुष—स्त्रीना हाव-भाव, रूप, शृंगार, विषय-रस वखाण्या, राजकथा, भक्त—कथा, देश—कथा, स्त्री—कथा कीधी, पराई तांत कीधी, तथा पैशून्यपणुं कीधुं, आर्त—रौद्र ध्यान ध्यायां।

खांडां, कटार, कोश, कुहाडा, रथ, ऊखल, मुसल, अग्नि,

---

* मूलमें 'बहुरंगिणी लिहला आंगरणि' ऐसा पाठ है।

घरंटी, निशाह, (सार), दातरडां प्रमुख, अधिकरण मेली—दाक्षिण्य-लगे मांग्यां आप्यां, पापोपदेश दीधो, अष्टमी, चतुदर्शीए खांडवा-दलवा-तणा नियम भांग्या, मुखरपणा-लगे असंबद्ध वाक्य बोल्या, प्रमादाचरण सेव्यां ।

अंघोले, न्हाणे, दातणे, पग-धोअणे, खेल, पाणी, तेल छांट्यां, झीलणे झील्या, जुवटे रम्या, हिंचोळे हिंच्या, नाटक-प्रेक्षणक जोयां, कण, कुवस्तु, ढोर लेवराव्यां, कर्कश वचन बोल्या; आक्रोश कीधा, अबोला लीधा, करकडा मोड्या, मच्छर धर्यो, संमेडा लगाड्या, शाप दीधा ।

भेंसा, सांढ, हुड्ड, कूकडा, श्वानादिक झूझार्या, झूझता जोया, खादीलगे अदेखाइ चिंतवी, माटी, मीठुं, कण, कपाशिया, काज विण चांप्या, ते पर बेठा, आली वनस्पति खुंदी, सूई-शस्त्रादिक नीपजाव्या, घणी निद्रा कीधी; राग-द्वेष लगे एकने ऋद्धि-परिवार वांछीं; एकने मृत्यु-हानि वांछी ।

आठमे अनर्थदण्ड-विरमण-व्रत-विशइओ अनेरो जे कोई अति-चार पक्ष-दिवसमांहि० ॥ ८ ॥

नवमे सामायिक-व्रते पांच अतिचार—

तिविहे दुप्पणिहाणे० ॥

सामायिक लीधे मने आहट्ट-दोहट्ट चिंतव्युं; सावद्य वचन बोल्या, शरीर अणपडिलेह्युं हलाव्युं; छती वेलाए सामायिक न लीधुं, सामायिक लई उघाडे मुखे बोल्या, उंघ आवी, वात-विकथा घर तणी चिंता कीधी, वीज दीवा-तणी उज्जेही हुई, कण, कपाशीया, माटी, मीठुं;

खडी, घावडी, अरणेट्टो, पाषाण प्रमुख चांप्या, पाणी, नीक, फूली, सेवाल, हरिकाय, बीज-काय इत्यादिक आभड्यां, स्त्री-तिर्यंच-तणा निरंतर परंपर संघट्ट हुआ, मुहपत्तिओ संघट्टी, सामायिक अणपूर्युं पार्यु, पारवुं विसार्यु ।

नवमे सामायिक-व्रत-विषइओ अनेरो जे कोई अतिचार पक्ष-दिवसमांहि० ॥ ९ ॥

दशमे देशावकाशिक-व्रते पांच अतिचार—

आणवणे पेसवणे० ॥

आणवणे-प्पयोगे, पेसवण-प्पयोगे, सद्दाणुवाई, रुवाणुवाई, बहिया-पुग्गल-पक्खेवे, नियमित-भूमिकामांहि बाहेरथी कांइ अणाव्युं, आपण कन्हे थकी बाहेर कांई मोकल्युं, अथवा रूप देखाडी, कांकरो नाखी, साद करी आपणपणुं छतुं जणाव्युं ।

दशमे देशावकाशिक-व्रत-विषइओ अनेरो जे कोई अतिचार पक्ष-दिवसमांहि० ॥ १० ॥

अग्यारमे पौषधोपवास-व्रते पांच अतिचार—

संथारुच्चारविही० ॥

अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय, सिज्जा-संथारए, अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय, उच्चार-पावसण-भूमि पोसह लीधे संथारा-तणी भूमि न पुंजी ।

बाहिरलां लहुडां वडां स्थंडिल दिवसे शोध्यां नहीं, पडिलेह्यां नहीं, मातरूं अणपुंज्युं हलाव्युं, अणपुंजी भूमिकाए परठव्युं, परठवतां,

' अणुजाणह जस्सुग्गहो ' न कह्यो, परठव्यां पुंठे वार त्रण ' वोसिरे वोसिरे ' न कह्यो ।

पोसहशालामांहि पेसतां ' निसीहि ' निसरतां ' आवस्सहि ' वार त्रण भणी नहीं ।

पुढवी, अप्, तेउ वाउ, वनस्पति, त्रसकाय-तणा संघट्ट, परि-ताप, उपद्रव हुआ ।

संथारा-पोरिसी-तणो विधि भणवो विसार्यो, पोरिसी-मांहि उंघ्या, अविधे संथारो पाथर्यो, पारणादिक-तणी चिंता कीधी, काल-वेलाए देव न वांद्या, पडिक्कमणुं न कीधुं, पोसह असूरो लीधो सवेरो पार्यो, पर्व-तिथे पोसह लियो नहीं ।

अग्यारमे पौषधोपवास-व्रत-विषइओ अनेरो जे कोई अतिचार पक्ष-दिवसमांहि० ॥ ११ ॥

बारमे अतिथि संविभाग-व्रते पांच अतिचार——

सचित्ते निक्खिवणे०॥

सचित्त वस्तु हेठ उपर छतां महात्मा महासती प्रत्ये असुझतुं दान दीधुं, देवानी वुद्धे असुझतुं फेडी सुझतुं कीधुं, परायुं फेडी आपणुं कीधुं, अणदेवानी बुद्धे सुझतुं फेडी असुझतुं कीधुं, आपणुं फेडी परायुं कीधुं, वहोरवा वेला टली रह्या, असूर करी महात्मा तेड्या, मत्सर धरी दान दीधुं, गुणवंत आव्ये भक्ति न साचवी, छती शक्ते साहम्मि-वच्छल (साधर्मि-वात्सल्य) न कीधुं, अनेरां धर्मक्षेत्र सीदातां छती शक्तिए उद्धर्या नहीं, दीन, क्षीण प्रत्ये अनुकंपदान न दीधुं ।

बारमे अतिथि-संविभाग-व्रत-विषइओ अनेरो जे कोई अतिचार पक्ष-दिवसमांहि० ॥ १२ ॥

संलेखणा तणा पांच अतिचार—

इह लोए परलोए० ॥

इहलोगासंस-प्पओगे, परलोगासंस-प्पओगे, जीविआसंस-प्पओगे, मरणासंस-प्पओगे, कामभोगासंस-प्पओगे ।

इह लोके धर्मना प्रभाव-लगे राज-ऋद्धि, सुख, सौभाग्य, परिवार वांछया; परलोके देव, देवेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्तीतणी पदवी वांछी, सुख आव्ये जीवितव्य वांछयुं, दुःख आव्ये मरण वांछयुं, काम-भोग-तणी वांछा कीधी ।

संलेखणा विषइओ अनेरो जे कोई अतिचार पक्ष-दिवसमांहि० ॥१३॥

तपाचार बार भेद-छ बाह्य, छ अभ्यन्तर—

अणसणमूणोअरिआ० ॥

अणसण भणी उपवास-विशेष पर्वतिथे छती शक्तिए कीधो नहीं, ऊणोदरी व्रत ते कोलिआ पांच सात ऊणा रह्या नहीं, वृत्तिसंक्षेप ते द्रव्य भणी सर्व वस्तुनो संक्षेप कीधो नहीं, रस-त्याग ते विगय-त्याग न कीधो, काय-क्लेश लोचादिक कष्ट सह्यां नहीं, संलीनता अंगोपांग संकोची राख्यां नहीं, पच्चक्खाण भांग्यां, पाटलो डगडगतो फेड्यो नहीं, गंठसी, पोरिसी, पुरिमड्ढ एकासणुं, बेआसणुं, नीवि, आंबिल-प्रमुख पच्चक्खाण पारवुं विसार्युं, बेसतां नवकार न भ(ग)ण्यो, उठतां पच्च-क्खाण करवुं विसार्युं, गंठसीयुं भांग्युं, नीवि आंबिल उपवासादि तप करी काचुं पाणी पीधुं, वमन हुओ ।

बाह्यतप-विषइओ अनेरो जे कोई अतिचार पक्ष-दिवसमांहि० ॥ १४ ॥

अभ्यंतर तप—

पायच्छित्तं विणओ० ॥

मन-शुद्धे गुरु-कन्हे आलोअण लीधी नहीं; गुरु-दत्त प्रायश्चित्त-तप लेखा शुद्धे पहुंचाडयो नहीं, देव, गुरु, संघ, साहम्मी प्रत्ये विनय साचव्यो नहीं; बाल, वृद्ध, ग्लान, तपस्वी-प्रमुखनुं वेयावच्च न कीधुं, वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा, धर्मकथा-लक्षण पंचविध स्वाध्याय न कीधो, धर्मध्यान, शुक्लध्यान न ध्यायां, आर्तध्यान, रौद्रध्यान ध्यायां, कर्मक्षय-निमित्ते लोगस्स दश-वीशनो काउस्सग्ग न कीधो।

अभ्यंतर तप-विषइओ अनेरो जे कोई अतिचार पक्ष-दिवस-मांहि० ॥ १५ ॥

वीर्याचारना त्रण अतिचार—

अणिगूहिअ–बल–वीरिओ० ॥

पढवे, गुणवे, विनय, वेयावच्च, देव-पूजा, सामायिक, पोसह, दान, शील, तप, भावनादिक धर्म-कृत्यने विषे मन, वचन, काया-तणुं छतुं वीर्य गोपव्युं।

रूडां पंचांग खमासमण न दीधां, वांदणा-आवर्त्तविधि साचव्या नहीं, अन्यचित्त निरादर पणे बेठा, उतावलुं देव-वंदन पडिक्कमणुं कीधुं।

वीर्याचार-विषइओ अनेरो जे कोई अतिचार पक्ष-दिवसमांहि०॥ १६॥

नाणाइ—अट्ठ पइवय, सम्मसंलेहण—पण—पन्नर—कम्मेसु ।
बारस—तव—वीरिअ—तिगं, चउवीस—सयं अइआरा ॥

पडिसिद्धाणं करणे०

प्रतिषेध अभक्ष्य, अनंतकाय, बहुबीज-भक्षण, महारंभ-परिग्रहादिक कीधां, जीवाजीवादिक सूक्ष्म-विचार सद्दह्या नहीं, आपणी कुमति लगे उत्सूत्र-प्ररूपणा कीधी ।

तथा प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथून, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, रति, अरति, पर-परिवाद, माया-मृषावाद, मिथ्यात्वशल्य ए अढार पापस्थान कीधां, कराव्यां, अनुमोद्यां होय ।

दिनकृत्य, प्रतिक्रमण, विनय, वेयावच्च न कीधां, अनेरुं जे कांई वीतरागनी आज्ञा-विरुद्ध कीधुं कराव्युं, अनुमोद्युं होय ।

ए चिहुं प्रकारमांहे अनेरो जे कोई अतिचार पक्ष-दिवसमांहि सूक्ष्म-बादर जाणतां-अजाणतां हुओ होय, ते सविहु मने, वचने कायाए करी मिच्छा मि दुक्कडं ॥ १७ ॥

एवंकारे श्रावकतणे धर्मे श्रीसम्यक्त्व मूल बार व्रत एकसो चोवीश अतिचारमांहि जे कोई अतिचार पक्ष-दिवसमांहि सूक्ष्म-बादर जाणतां अजाणतां हुओ होय, ते सविहु मने, वचने, कायाए करी मिच्छा मि दुक्कडं ॥

॥ इति अतिचार ॥

शब्दार्थ—

इस सूत्रमें जो शब्द नवीन तथा कठिन हैं, उनके अर्थ यहाँ दिये जाते हैं।

नाणम्मि – भणिओ० ॥ इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र २८ गाथा १।

सविहु–सब ही।

काले विणए-नाणमायारो ॥ इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र २८ गाथा २।

काल-वेलाए–पढनेके समय।

भण्यो गुण्यो नहीं–पढा नही और पढ़े हुएकी पुनरावृत्ति भी नहीं की।

कूडो–झूँठा, असत्य।

तदुभय–सूत्र और अर्थ।

काजो–कचरा, निरर्थक वस्तु। देश्य **कज्जल** शब्दसे बना हुआ है।

अणउद्धर्ये–निकाले बिना।

दांडो–साधुके रखने योग्य दण्ड।

अणपडिलेहे–पडिलेहण किये बिना।

वसति–उपाश्रयके चारों ओर सौ-सौ कदम दूर तकका स्थान।

अणशोध्ये – शोधन किये बिना, उसके अन्तर्गत अशुद्धिमय पदार्थ को दूर किये बिना।

अणपवेसे–योगोद्वहनादि क्रियाद्वारा सिद्धान्त पढ़नेमें प्रवेश किये बिना।

असज्झाय – अणो (ण) ज्झाय-मांहे–अस्वाध्याय और अनध्यायके समयमें।

जो संयोग पढ़नेके लिये अयोग्य हो, वह अस्वाध्याय कहलाता है और जो दिन पढ़नेके लिये अयोग्य हो वह अनध्याय-दिवस कहलाता है।

प्रमुख–इत्यादि, वगैरः।

पहले काजो उद्धरना चाहिये, फिर दण्ड यथाविधि पडिलेहना चाहिये, तदनन्तर वसतिका बराबर शोधन करना चाहिये और क्रियापूर्वक स्वाध्यायमें प्रवेश करना चाहिये। यदि अस्वाध्यायका काल हो अथवा अनध्यायका दिन हो, तो उस समय सूत्र पढ़नेसे दोष लगता है। जैसे साधु धर्ममें दशवैकालिक आदि सूत्रोंके पढ़नेका नियम है वैसे ही श्रावक-धर्ममें भी स्थविरावलि आदि सूत्रों

के पढ़नेका नियम है। विधिका पालन न किया जाय तो दोष लगे।

ज्ञानोपगरण—ज्ञानके उपकरण, ज्ञानके साधन।

पाटी—लकड़ीकी पट्टी।

पोथी—हस्तलिखित ग्रन्थ अथवा पुस्तक।

ठवणी—स्थापनिका।

कवली—बाँसकी सलाइयोंका पुस्तक पर लपेटनेका साधन। पाठान्तरमें **कमली** शब्द है।

दस्तरी—छुट्टे कागज रखनेके लिये पुट्ठेका साधन, सम्पुटिका।

वही—कोरे कागजोंकी किताब, बही, चोपड़े।

ओळियुं—लिखे हुए कागजोंका टिप्पण अथवा रेखा खींचनेकी पट्टी।

मांज्यो—साफ किया, मिटाया।

ओशीसे धर्यो—मस्तकके नीचे तकिया दिया। मूलमें '**सीसह दीधउं**' ऐसा पाठ है!

कन्हे—पासमें।

नीहार—मल-विसर्जन।

प्रज्ञापराधे विनास्यो—मन्द बुद्धिके कारण नष्ट किया।

विणसतो उवेख्यो—कोई नष्ट करता हो, तो भी उपेक्षा की हो।

असद्दहणा कीधी—अश्रद्धा की हो, श्रद्धा न रखी हो।

तोतडो—तुतलाता हुआ बोला। रुकते-रुकते अक्षर बोलने को तोतड़ा-तोतला कहते हैं।

बोबडो—अस्पष्ट गुनगुनाकर बोला।

हस्यो—हँस-हँस कर बोला।

वितर्क्यो—मिथ्या तर्क किया हो।

अन्यथा प्ररूपणा कीधी—शास्त्रके मूल भावका त्याग कर दूसरी तरह प्रतिपादन किया हो।

विषइओ—विषयक, सम्बन्धी।

अनेरो—अन्य।

निःसंकिय...अट्ठ॥ इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र २८ गाथा ३।

संबंधीया—सम्बन्धी।

मल-मलिन—मैलसे युक्त, मलिन।

दुगंछा नीपजावी—जुगुप्सा की।

कुचारित्रीया—कुत्सित चारित्रवाले।

अभाव-हुओ—अप्रीति हुई।

अनुपबृंहणा कीधी—उपबृंहणा न की, समर्थन न किया हो।

अस्थिरीकरण–स्थिरीकरण न किया हो, धर्मीको गिरते देख धर्म मार्गमें स्थिर न किया हो।

देव-द्रव्य–देव निमित्तका द्रव्य, देवके लिये कल्पित द्रव्य।

गुरु-द्रव्य—गुरु-निमित्तका द्रव्य, गुरुके लिये कल्पित द्रव्य।

ज्ञान-द्रव्य–श्रुतज्ञानके निमित्तक द्रव्य।

साधारण-द्रव्य–जो द्रव्य जिन-बिम्ब, जिन-चैत्य, जिनागम, साधु, साध्वी श्रावक और श्राविका इन सातों क्षेत्रमें वापरने योग्य हो; वह साधारण द्रव्य।

भक्षित-उपेक्षित–भक्षण करते समय उपेक्षा की हो। किसीके द्वारा उक्त द्रव्यका भक्षण होता हो तो उसको रोकनेका अपना उत्तर-दायित्व पूरा न किया हो।

अधोति–धोती बिना।

अट्टपड-मुखकोश-पाखे--आठ पडवाले मुखकोश बिना।

बिंब प्रत्ये–बिम्ब के प्रति, मूर्तिके प्रति।

वासकुंपी–वासक्षेप रखनेका पात्र।

धूपधाणुं–धूपदानी।

केलि–क्रीडा।

निवेदियां–नैवेद्य।

ठवणायरिय–स्थापनाचार्य।

पडिवज्जुं नहीं--अङ्गीकार नहीं किया।

पणिहाण जोग-जुत्तो नायव्वो॥ इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र २८, गाथा ४।

ईर्या-समिति–ईर्या-समिति सम्बन्धी अतिचार।

अन्य समिति और गुप्तियोंके जहाँ नाम आये वहाँ भी ऐसा ही अर्थ समझना।

डगल–अचित्त मिट्टीके ढेले आदि।

जीवाकुल-भूमिकाए—जीवसे व्याप्त भूमिपर।

विशेषतः–खास कर।

ज्ञानाचार, दर्शनाचार और चारित्राचार इन तीन आचारोंका पालन प्रथम सामान्य रीतिसे किया, कारण कि इन तीनों अति-चारोंकी बात साधु और श्रावकोंके लिये प्रायः समान ही लागू होती है। अब श्रावकके योग्य अति-चारका वर्णन करनेका आरम्भ होनेसे विशेषतः ऐसा शब्द प्रयोग किया है।

संका-कंख-विगिच्छा ॥ इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र ३२ गाथा ६।
क्षेत्रपाल-लौकिक देव जो कुछ क्षेत्रोंकी रक्षा करते हैं।
गोगो-नागदेव।
आसपाल-आशा-दिशाके पालने-वाले इन्द्रादिक दिक्पाल देव।
पादर-देवता-गाँव-पादरके देव-देवी।
गोत्र-देवता-गोत्रके देव-देवी।
ग्रह-पूजा-ग्रहोंकी शान्तिके लिये की जानेवाली पूजा।
विनायक-गणेश, गणपति।
हनुमंत-हनुमान।
सुग्रीव-प्रसिद्ध राम-सेवक।
वालीनाह-एक क्षेत्रपालका नाम है। (आबू तीर्थकी स्थापनामें मन्त्रीश्वर विमलके कार्यमें जिसने विघ्न किया, और बादमें वश हुआ।)
जूजुआ-पृथक् पृथक्।
आतंक-सन्ताप, रोग, भय।
सिद्ध-लोकमें 'सिद्ध' के रूपमें प्रसिद्ध।
जीराउला-मिथ्यात्वी देव (तीर्थ) विशेष।
भरडा-एक प्रकारके साधु। [शिव भक्तोंकी एक जाति। जिसकी मूढ़ताके सम्बन्धमें 'भरटक-द्वात्रिंशिका' आदि में कथाएँ हैं]
भगत-देवीको माननेवाले अथवा लोकमें इस नामसे प्रसिद्ध व्यक्ति। पाठान्तरमें 'भगवंत' शब्द है।
लिंगिया-साधुका वेष धारण करनेवाले।
जोगीया-जोगीके नामसे प्रसिद्ध साधु।
जोगी-योगकी साधना करनेवाले।
दरवेश-मुसलमान फकीर। पाठान्तरमें 'दूरवेश' शब्द है।
भूलाव्या-भुलाया।
संवच्छ(त्स)री-मरे हुएकी वार्षिक तिथिके दिन ब्राह्मणआदिको भोजन कराना।
माही-पूनम-माघमासकी पूर्णिमा। इस दिन विशिष्ट विधिसे स्नान किया जाता है।
अजा-पडवो-(आवो पडवो)-आश्विन मासके शुक्ल पक्षकी प्रतिपदाका दिन। जिस दिन आवो अर्थात् माता-महका श्राद्ध किया जाता है।

प्रेतबीज–कार्तिक मासके शुक्ल पक्षकी द्वितीया, जो यमद्वितीया भी कहलाती है।

गौरी-त्रीज–चैत्र शुक्ल तृतीया जब पुत्रकी इच्छावाली स्त्रियाँ गौरीव्रत करती है।

विनायक-चोथ—भाद्रपद शुक्ला चतुर्थीका दिन, जब विनायक अर्थात् गणपतिकी मुख्य पूजा होती है, उसको गणपति चोथ भी कहते हैं।

नाग-पंचमी–श्रावण शुक्ला पञ्चमी-का दिन कि जब नाग–सर्पकी खास तौर पर पूजा की जाती है। कुछ श्रावण कृष्णापञ्चमी को भी नागपञ्चमी कहते हैं।

झीलणा-छट्ठी–श्रावण कृष्णा षष्ठी, जिसे राँधन छठ भी कहते हैं।

शील-सातमी—श्रावण शुक्ला (कृष्णा) सप्तमीका दिन, जब कि ठण्डा भोजन किया जाता है, तथा शीतलादेवीकी पूजा की जाती है। कुछ प्रान्तोमें चैत्र कृष्णा सप्तमीको भी यह पर्व मनाते हैं।

धुव-आठमी-भाद्रपद शुक्लाअष्टमी, जिस दिन स्त्रियाँ गौरी–पूजा आदि करती हैं।

नौली-नोमी—(नकुल–नवमी)–श्रावण शुक्ला नवमीका दिन।

अहवा-दसमी–अथवा (अथवा) दशमी।

व्रत-अग्यारसी–एकादशीके व्रत।

वच्छ-बारसी—आश्विन कृष्णा द्वादशी।

धन-तेरसी–आश्विन कृष्णा त्रयो-दशीका दिन। जिस दिन धन (रुपयों) को स्नान करा कर उसकी पूजा की जाती है।

अनन्त-चउदसी-भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशीका दिन।

आदित्यवार–रविवार, ग्रह पीडादि दूर करनेके लिये कुछ रविवारोंके एकाशन अथवा उपवास करना।

उत्तरायण–मकर सङ्क्रान्तिका दिन मानना।

नवोदक–वर्षाका नया पानी आये, तब उसकी खुशीमें मनाया जानेवाला पर्व।

जाग–यज्ञ कराना।

भोग–ठाकुरजीको भोग-नैवेद्य धरना।

उतारणां कीधां–उतार कराया।

ग्रहण–सूर्यग्रहण अथवा चन्द्र ग्रहणका दिन।

शनश्चर–शनिवारका दिन (शनिवारका व्रत करना)।

अजाणतां थाप्यां–अनजान मनुष्योंद्वारा स्थापित।

अनेराइ–दूसरे भी।

व्रत–व्रतोलां–छोटे–बडे व्रत।

आगर–खान, जत्था–समूह।

ईस्या–ऐसे।

भोग–वांछित–भोगकी इच्छासे।

खीण–वचन–दीनतापूर्ण वचन बोलकर।

दाक्षिण्य–लगे–दाक्षिण्यसे, विवेकसे, लोक–लज्जाके कारण।

वह–बंध–छविच्छेए० ॥ इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र ३२, गाथा १०।

गाढो घाव घाल्यो–गहरा घाव किया हो, बहुत पीटा हो।

तावडे–धूपमें।

खजूरा–कानखजूरा।

सरवला–जन्तुविशेष।

साहतां–पकड़ते हुए।

विणट्ठा–नष्ट हुए हों।

निर्ध्वंसपणुं–निर्दयता।

झील्या–नहाये।

सहस्सा रहस्सदारे० ॥ इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र ३२, गाथा १२।

कुणह प्रत्ये–किसीके प्रति।

मंत्र–मन्त्रणा, विचार–विमर्श।

आलोच–आलोचना–विचारणा।

अनर्थ पाडवा–कष्टमें डालना।

थापण मोसो कीधो — धरोहरके बारेमें झूँठ बोला हो।

कडकडा मोड्या — तिरस्कारसे कडाके किये।

तेनाहडप्पओगे० ॥ इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र ३२ गाथा १४।

अणमोकली–मालिकके भेजे बिना।

वहोरी–खरीद की।

संबल–कलेवा, मार्गमें खाने योग्य सामान।

विरुद्ध–राज्यातिक्रम कीधो— राज्य नियमसे विरुद्ध वर्तन किया।

लेखे वरांस्यो — लेखेमें ठगा, हिसाबमें खोटा गिनाया।

साटे लांच लीधी–अदला–बदली करनेमें रिश्वत ली।

कूडो करहो काढ्यो–झूँठा बटाव (कटौती) लिया।

पासंग कूडां कीधां–झूँठा धड़ा किया।

पालंग-अर्थात् वजन करनेके लिये एक ओर रखा जानेवाला माप, धड़ा।

अपरिग्गहिया इत्तर० ॥ इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र ३२, गाथा १६।

शोक्यतणे विषे-सौतके सम्बधमें।

दृष्टि-विपर्यास कीधो—अनुचित दृष्टि डाली।

घरघरणां—नाता-गन्धर्व विवाह।

सुहणे-स्वप्नमें।

नट-नृत्य करनेवाला, वेष बनानेवाला (बहुरूपिया)।

विट—वेश्याका अनुचर, यार, कामुक।

हांसुं कीधुं-हँसी की।

धण-धन्न-खित्त-वत्थू० ॥ इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र ३२, गाथा १८।

मूर्च्छा लगे-मूर्च्छा आनेसे, मोह होनेसे।

गमणस्स य परिमाणे० ॥ इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र ३२, गाथा १९।

पाठवणी-प्रस्थानके लिये रखनेकी-भेजनेकी वस्तु।

एकगमा-एक ओर।

कुंती-सम्बन्धी।

सच्चित्ते-पडिबद्धे० ॥ इस गाथा के अर्थके लिये देखो सूत्र ३२, गाथा २१।

ओला-सिके हुए हरे चने, होले।

उंबी—गेहूँ, बाजरी, जव आदि धान्यके सिके हुए डूँडिये।

पोंक-जुवार, बाजरी आदिके कच्चे धान्यको सेक कर या भुनकर निकाले हुए कण।

पापडी—वालकी फली, वालोरकी फली।

सचित्त-दव्व-विगई० ॥ इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र ३२, गाथा २८ का अर्थ विस्तार।

वाघरडां-सर्वथा नरम ककड़ी।

वासी-एक दिन पूर्व बनाया हुआ, बासी।

अधिक समय रहनेसे बिगड़ा हुआ पर्युषित अन्न। बासित शब्दसे वासी शब्द बना है। यह विशेषण-कठोल, पूरणपूरी और रोटी इन तीनोंको उद्देश करके कहा गया है।

ओदन-राँधे हुए चाँवल।

करहा-ओले, बरसाती बर्फके टुकडे।

महोर-आम आदिकी मञ्जरी।

आँवला बोर–बड़े बेर।

अगमण वेला–सूर्य अस्त होनेके समय।

वालू–साँझका भोजन।

शीराव्या–कलेवा किया, प्रातः कालका नाश्ता किया।

रांगण–रङ्गका काम कराया।

लिहाला कराव्या–कोल्हे बनवाये।

दलीदो कीधो–तिल, गुड़ और धानी एक साथ कूट कर खाद्य सामग्री बनायी।

अंगीठा–सिगडी, भट्ठी, चूल्हा आदि।

सालही–वनके तोता-मैना।

खरकर्मादिक–बहुत उग्र हिंसा हो ऐसे कार्य।

संधूक्या–फूँक कर जलाया।

कंदप्पे कुक्कुइए०–इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र ३२, गाथा २६।

कंदर्प लगे–काम-वासनासे।

विट-चेष्टा–अधम कोटिकी शृङ्गार-चेष्टा।

तांत–निन्दा (दूसरेकी पञ्चायत)। चिकना तार ताँत कहलाता है। उसी परसे जो बात खूब बार-बार छान-बीन कर फिर कही जाय, उसे भी ताँत कहते हैं।

सिलाट (ट)–चटनी आदि पीसने की शिला।

दाक्षिण्य लगे–दाक्षिण्यसे, लज्जासे।

अंघोले–सामान्य स्नान करनेसे।

न्हाणे–विधि-पूर्वक स्नान करनेसे।

दातणे–दतौन – दन्तधावन करते समय।

पग धोवणे–पाँव धोनेके समय।

खेल–नाक साफ करते समय।

झीलणे झील्या–तालाबमें नहाये।

संमेडा लगाड्या–परस्पर झगड़ा करवाया।

डुडु–मेंढ।

झूझार्या–लड़ाये।

खादी लगे–हार जानेसे।

आली–गीली।

तिविहे दुप्पणिहाणे० ॥ — इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र ३२, गाथा २७।

आहट्ट दोहट्ट—आर्त-रौद्र प्रकारका। चाहे जैसा अनुचित।

उज्जेही–प्रकाश।

आभड्यां–स्पर्श किया।

अणपूर्गु–पूर्ण हुये बिना।

आणवणे पेसवणे० ॥ — इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र ३२, गाथा २८।

छतुं–प्रकट।

संथारुच्चारविहि० ॥ इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र ३२, गाथा २९।

बाहिरला–बाहरके।

लहुडां वडां स्थण्डिल— लघु नीति और बडी नीति मलमूत्र करनेकी भूमि।

'अणुजाणह जस्सुग्गहो'-जिनके अवग्रहमें जगह हो, वे मुझे उपयोगमें लेनेकी आज्ञा दें।

वोसिरे–त्याग करता हूँ।

पोरिसीमांहि-रात्रिके पहले प्रहरमें।

असूरो लीधो— विलम्बसे ग्रहण किया।

सवेरो–जल्दी, समयसे पूर्व।

सचित्ते निक्खिवणे० ॥ इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र ३२, गाथा ३०।

बुद्धे–बुद्धिसे।

टली–दूसरे काम पर गया (निवृत्त हुआ।)

क्षीण–दुःखी।

अनुकंपा-दान – दयाकी भावनासे प्रेरित होकर दान देना।

इहलोए परलोए० ॥ इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र ३२, गाथा ३३।

अणसणमूणोअरिआ० ॥ इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र २८, गाथा ६।

फेडयो नहि–रोका नहि।

काचुं पाणी—तीन उफान नहि आया हुआ गरम पानी अथवा अचित्त नही किया हुआ पानी।

पायच्छित्तं विणओ० ॥ इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र २८, गाथा ७।

लेखां शुद्धे–पूरी गिनतीपूर्वक।

अणिगूहिअ - बल - वीरिओ० ॥ इस गाथाके अर्थके लिये देखो सूत्र २८, गाथा ८।

निरादरपणे–आदरविना, बहुमान-विना।

नाणाइ-अट्ठ–ज्ञानादिक आठ। अर्थात् ज्ञानाचार, दर्शनाचार और चारित्राचार इन प्रत्येकके आठ आठ कुल चोवीस।

पइवय— प्रतिव्रत, प्रत्येक व्रतके, स्थूल प्राणातिपात–विरमण आदि बारह व्रतोंके।

सम्म - संलेहण— सम्यक्त्व तथा संलेखनाके।

पण–पांच।

बारह व्रत, सम्यकत्व और

संलेखना इन प्रत्येकके पांच पांच, इस तरह कुल सत्तर।
पन्नर सकम्मेसु–पन्द्रह कर्मादानके पन्द्रह।
बारस-तव–बारह प्रकारके तपके बारह।
वीरियतिगं–वीर्याचारके तीन।
चउवीस-सयं अइयारा—इस प्रकार सब मिलाकर एकसौ चोबीस अतिचार।
२४+७०+१५+१२+३=१२४।
प्रतिषेध–निषेध किये हुए।
कुमति लगे–मिथ्या बुद्धिसे।
चिहुं–चार।

अर्थ-सङ्कलना—

स्पष्ट है।

सूत्रपरिचय—

इस सूत्रमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व, बारह व्रत, संलेखना, तप और वीर्यके अतिचारोंका विस्तारसें वर्णन किया है।

श्री ऋषभदेव से श्री वासुपूज्यस्वामी तक
अर्हत् भगवान के लांछन।

श्री विमलनाथ से श्री महावीरस्वामी तक
अर्हत् भगवान के लांछन ।

अपमान किया। देवद्रव्य, ज्ञानद्रव्य, साधारण द्रव्य की हानि होते हुए उपेक्षा की। शक्ति होने पर भी भली प्रकार सार-संभाल न की। साधर्मी से कलह-क्लेश करके कर्मबंधन किया। मुखकोश बांधे विना वीतराग देव की पूजा की। धूपदानी, खसकूची, कलश आदिक से प्रतिमा जी को ठपका लगाया, जिन-बिंब हाथ से गिरा। श्वासोच्छ्वास लेते हुए आसातना हुई। जिन-मंदिर तथा पौषधशाला में थूका, तथा मल-श्लेष्म किया, हँसी मस्करी की, कुतूहल किया। जिन-मन्दिर संबंधी चौरासी आसातनाओं में से और गुरु महाराज संबंधी तेतीस आसातनाओं में से कोई आसातना हुई हो! स्थापना-चार्य हाथ से गिरे हों या उन की पडिलेहणा न की हो। गुरु के वचन को मान न दिया हो इत्यादि दर्शनाचार संबंधी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते, अजानते लगा हो वह सब मन-वचन-काया से मिच्छामिं दुक्कडं।

चारित्राचार के आठ अतिचार—

"पणिहाणजोगजुत्तो; पंचहिं समिईहिं तीहीं गुत्तीहिं।
एस चरित्तायारो; अट्ठविहो होइ नायव्वो" ॥ ४ ॥

ईर्या-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदान-भंडमत्त-निक्षेपणा-समिति और पारिष्ठा-पनिका-समिति, मनोगुप्ति, वचन-गुप्ति, और काया-गुप्ति, ये आठ प्रवचन-माता सामायिक पौषधादिक में अच्छी तरह पाली नहीं। चारित्राचार संबंधी जो कोई अतिचार पक्ष दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते अजानते लगा हो वह सब मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं ॥

भूमि पर रखा। ज्ञान के उपकरण तख्ती, पोथी, ठवणी, कवली, माला, पुस्तक रखने की रील, कागज़, कलम, दवात, आदि के पैर लगा, थूक लगा, अथवा थूक से अक्षर मिटाया, ज्ञान के उपकरण को मस्तक के नीचे रखा, अथवा पास में लिए हुए आहार, निहार किया, ज्ञान-द्रव्य भक्षण करने वाले की उपेक्षा की, ज्ञान-द्रव्य की सार-संभाल न की, उल्टा नुकसान किया, ज्ञानवान के ऊपर द्वेष किया, ईर्ष्या की तथा अवज्ञा, आसातना की, किसी के पढ़ने-गुणने में विघ्न डाला, अपने जानपने का मान किया। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान, इन पांचो ज्ञानों में श्रद्धा न की। गूंगे, तातले की हँसी की। ज्ञान में कुतर्क किया, ज्ञान के विपरीत प्ररूपणा की। इत्यादि ज्ञानाचार संबंधी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते, अजानते लगा हो वह सब मन बचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं।

दर्शनाचार के आठ अतिचार—

' निस्संकिय निक्कंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी अ।
उववूह थिरीकरणे, वच्छल्ल पभावणे अट्ठ ॥ ३ ॥

देव-गुरु-धर्म में निःशंक न हुआ। एकांत निश्चय न किया। धर्मसंबंधी फल में संदेह किया। साधु-साध्वी की जुगुप्सा-निंदा की। मिथ्यात्वियों की पूजा प्रभावना देख कर मूढ-दृष्टिपना किया। कुचारित्री को देखकर चारित्रवान पर भी अश्रद्धा की। संघ में गुणवान् की प्रशंसा न की। धर्म पतित होते हुए जीव को स्थिर न किया। साधर्मी का हित न चाहा। भक्ति न की।

हिन्दी पाक्षिक–अतिचार

नाणम्मि दंसणम्मि अ, चरणम्मि तवम्मि तह य वीरियम्मि ।
आयरणं आयारो, इअ एसो पंचहा भणिओ ॥ १ ॥

ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार, इन पांचो आचारों में जो कोई अतिचार पक्ष, दिवस में* सूक्ष्म या बादर जानते, अजानते लगा हो वह सब मन, वचन, कायासे मिच्छामि दुक्कडं ।

तत्र ज्ञानाचार के आठ अतिचार—

" काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तह अनिण्हवणे ।
वंजण-अत्थ-तदुभये अट्ठ-विहो नाणमायारो " ॥ २ ॥

ज्ञान नियमित समय में पढ़ा नहीं। अकाल समय में पढ़ा। विनय रहित, बहुमान रहित योगोपधानरहित पढ़ा। ज्ञान जिस से पढ़ा उससे अतिरिक्त को गुरु माना या कहा। देववंदन करते हुए तथा प्रतिक्रमण, सज्झाय पढ़ते या गुणते अशुद्ध अक्षर कहा। काना मात्रा न्यूनाधिक कही, सूत्र असत्य कहा। अर्थ अशुद्ध किया। अथवा सूत्र और अर्थ दोनों असत्य कहे। पढ़कर भूला। असज्झाय के समय में थविरावली, प्रतिक्रमण, उपदेशमाला आदि सिद्धांत पढ़ा। अपवित्र स्थान में पढ़ा या बिना साफ की हुई घृणित (खराब)

---

* चउमासी प्रतिक्रमण में इन पाचों आचारों में जो कोई अतिचार चउमासीअ दिवस में सूक्ष्म आदि, संवच्छरीअ प्रतिक्रमण में इन पांचों आचारों में जो कोई अतिचार संवच्छरीअ दिवस में सूक्ष्म आदि पढ़ना चाहिये ।

विशेषतः श्रावक-धर्म संबंधी श्री-सम्यक्त्व मूल बारह व्रत। सम्यक्त्व के पाँच अतिचार—"संका कंख विगिच्छा" शंकाः—श्री अरिहंत प्रभु के बल अतिशय ज्ञान, लक्ष्मी, गांभीर्यादि-गुण शाश्वती-प्रतिमा चारित्रवान् के चारित्र में तथा जिनेश्वर देव के वचन में संदेह किया। आकांक्षाः-ब्रह्मा, विष्णु, महेश, क्षेत्रपाल, गरुड, गूगा, दिक्पाल, गोत्रदेवता, नव-ग्रह पूजा, गणेश, हनुमान, सुग्रीव, वाली, माता मसानी, आदिक तथा देश, नगर, ग्राम, गोत्र के अलग अलग देवादिकों का प्रभाव देखकर, शरीर में रोगांतिक कष्टादि आने पर इहलोक परलोक के लिए पूजा मानता की। बौद्ध, सांख्यादिक संन्यासी, भगत, लिंगिये, जोगी, फ़कीर, पीर इत्यादि अन्य दर्शनियों के मन्त्र, तन्त्र,यन्त्र के चमत्कार देखकर परमार्थ जाने बिना मोहित हुआ। कुशास्त्र पढ़ा, सुना। श्राद्ध संवत्सरी, होली, राखडी पूनम (राखी), अजा-एकम, प्रेत दूज, गौरी तीज, गणेश चोथ, नागपंचमी, स्कंद षष्ठ, झीलणा छठ, शील सप्तमी, दुर्गाष्टमी, रामनौमी, विजया-दशमी, एकादशी-व्रत, वामन-द्वादशी, वत्स-द्वादशी, धन-तेरस, अनंत-चौदस, शिव-रात्री, काली-चौदस, अमावास्या, आदित्यवार, उत्तरायण याग-भोगादि किये, कराये, करते हुए को भला माना। पीपल में पानी डाला, डलवाया। कुआँ, तालाव, नदी, द्रह, बावड़ी, समुद्र, कुंड ऊपर पुण्य निमित्त स्नान तथा दान किया। कराया, या अनुमोदन किया। ग्रहण, शनिश्चर, माघ मास, नव-रात्रि व्रत किया। अज्ञानियों के माने हुए व्रतादि किये, कराये। वितिगिच्छाः—धर्म संबंधी फल में संदेह किया। जिन वीतराग अरिहंत भगवान् धर्म के

आगार विश्वोपकार-सागर, मोक्षमार्ग दातार इत्यादि गुणयुक्त जान कर पूजा न की। इह-लोक परलोक सम्बन्धी भोग-वांच्छा के लिए पूजा की। रोगांतिक कष्ट के आने पर क्षीण वचन बोला। मानता मानी। महात्मा, महासती के आहार पानी आदि की निंदा की। मिथ्यादृष्टि की पूजा-प्रभावना देख कर प्रशंसा तथा प्रीति की। दाक्षिण्यता से उसका धर्म माना। मिथ्यात्व को धर्म कहा। इत्यादि श्री-सम्यक्त्व व्रत सम्बन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते, अजानते लगा हो, वह मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं।

पहले स्थूल-प्राणातिपात-विरमण-व्रत के पाँच अतिचार—" वह बंध छविच्छेए " द्विपद, चतुष्पद आदि जीव को क्रोध-वश ताडन किया, घाव लगाया, जकड़ कर बांधा। अधिक बोझ लादा। निर्लांच्छन-कर्म, नासिका छिदवायी, कर्ण छेदन करवाया, खस्सी किया। दाना घास पानी की समय पर सार-संभाल न की, लेन देन में किसी को भूखा रखा, पास खडा होकर मरवाया, कैद करवाया। सड़े हुए धान को बिना सोधे काम में लिया, तथा अनाज बिना शोधे पिसवाया, धूप में सुखाया। पानी यतना से न छाना। ईन्धन, लकड़ी, उपले, गोहे आदि बिना देखे जलाये उनमें सर्प, बिच्छू, कानखजूरा, कीड़ी, मकौड़ी, सरोला, मांकड, जुआ, गिंगोड़ा, आदि जीवों का नाश हुआ। किसी जीव को दबाया, दुःख दिया। दुःखी जीव को अच्छी जगह पर न रखा। चूंटी (कोड़ी) मकोड़ी के अंडे नाश किये लीख, फोडा, दीमक, कीड़ी, मकोड़ी, घीमेल, कातरा,

चूडेल, पतंगिआ, देडका, अलसियां, ईअल, कूंदा, डांस, मसा, मगतरां, माखी, टिड्डी प्रमुख जीव का नाश किया। चील, काग, कबूतर आदि के रहने की जगह का नाश किया। घौंसले तोड़े। चलते फिरते या अन्य कुछ काम काज करते निर्दयपना किया। भली प्रकार जीव रक्षा न की। बिना छाने पानी से स्नानादि काम-काज किया, कपड़े धोये। यतना-पूर्वक काम-काज न किया। चारपाई, खटोला, पीढ़ा, पीढ़ी, आदि धूप में रखे। डंडे आदि से झटकाये। जीवाकुल (जीव संसक्त) जमीन को लीपा। दलते, कूटते, लीपते या अन्य कुछ काम-काज करते यतना न की। अष्टमी, चौदस, आदि तिथि का नियम तोड़ा। धूनी करवाई, इत्यादि पहले स्थूल-प्राणाति-पात-विरमण-व्रत सम्बन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते, अजानते लगा हो, वह सब मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं।

दूसरे स्थूल-मृषावाद-विरमण-व्रत के पाँच अतिचार—

"सहसा रहस्सदारे" सहसाकार—विना विचारे एक दम किसी को अयोग्य आल कलंक दिया। स्व-स्त्री सम्बन्धी गुप्त बात प्रगट की, अथवा अन्य किसी का मंत्र-भेद, मर्म प्रकट किया। किसी को दुःखी करने के लिए खोटी सलाह दी, झूटा लेख लिखा, झूटी साक्षी दी। अनामत ते खयानत की। किसी की धरोहर रखी हुई वस्तु वापिस न दी। कन्या, गौ, भूमि सम्बन्धी लेन-देन में लड़ते-झगड़ते, वाद-विवाद में मोटा झूट बोला। हाथ-पैर आदि की

गाली दी। मर्म वचन बोला। इत्यादि दूसरे स्थूल-मृषावाद-विरमण-व्रत सम्बन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते, अजानते लगा हो वह सब मन वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं ॥

तीसरे स्थूल-अदत्तादान-विरमण-व्रत के पाँच अतिचार—

"तेनाहडप्पओगे०" घर, बाहिर, खेत खला में बिना मालिक के भेजे वस्तु ग्रहण की, अथवा आज्ञा बिना अपने काम में ली। चोरी की वस्तु ली। चोर को सहायता दी। राज्य-विरुद्ध कर्म किया। अच्छी, बुरी, सजीव, निर्जीव नई पुरानी वस्तु का मेल संमेल किया। जकात की चोरी की, लेते देते तराजू की डंडी चढ़ाई। अथवा देते हुए कमती दिया, लेते हुए अधिक लिया, रिश्वत खाई। विश्वास-घात किया, ठगी की, हिसाब-किताब में किसी को धोका दिया। माता, पिता, पुत्र, मित्र, स्त्री आदिकों के साथ ठगी कर किसी को दिया, अथवा पूंजी अलहदा रखी। अनामत रखी हुई वस्तु से इन्कार किया। पड़ी हुई चीज उठाई, इत्यादि तीसरे स्थूल अदत्तादान विरमण-व्रत सम्बन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते, या अजानते लगा हो, वह सब मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं ॥

चौथे स्वदारा-संतोष-परस्त्री-गमन-विरमण-व्रत के पाँच अतिचार—

"अप्परिगहिया इत्तर" परस्त्री गमन किया। अविवाहिता, कुमारी, विधवा, वेश्यादिक से गमन किया। अनंगक्रीड़ा, की। काम

आदि की विशेष जागृति की अभिलाषा से सराग वचन कहा। अष्टमी, चौदस आदि पर्वतिथि का नियम तोड़ा। स्त्री के अंगोपांग देखे, तीव्र अभिलाषा की। कुविकल्प चिंतन किया। पराये नाते जोड़े। गुड्डे-गुड्डियो (ढींगला ढींगली) का विवाह किया या कराया। अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार, स्वप्न, स्वप्नांतर हुआ। कुस्वप्न आया। स्त्री, नट, विट, भांड, वेश्यादिक से हास्य किया। स्वस्त्री में सन्तोष न किया, इत्यादि चौथे स्वदारासंतोष-परस्त्री-गमन-विरमण-व्रत सम्बन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते अजानते लगा हो, वह सब मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं।

पाँचवें स्थूल-परिग्रह-परिमाण-व्रत के पांच अतिचार—

"धण-धन्न-खित्त-वत्थू०" धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु, सोना, चांदी, बर्तन आदि द्विपद-दास, दासी,-चतुष्पद-गौ, बैल, घोड़ा आदि, नव प्रकार के परिग्रह का नियम न लिया, लेकर बढ़ाया। अथवा अधिक देखकर मूर्च्छा-वश माता, पिता, पुत्र, स्त्री के नाम किया। परिग्रह का परिमाण नहीं किया। करके भुलाया। याद न किया। इत्यादि पांचवें स्थूल-परिग्रह-परिमाण-व्रत सम्बन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते लगा हो, वह सब मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं॥

छट्ठे दिक्-परिमाण-व्रत-के पांच अतिचार—

"गमणस्स उ परिमाणे०" ऊर्ध्व-दिशि, अधो-दिशि, तिर्यग्-

दिशि, जाने-आने के नियमित परिमाण उपरांत भूल से गया। नियम तोड़ा। परिमाण उपरान्त सांसारिक कार्य के लिये अन्य देश से वस्तु मँगवाई। अपने पास से वहाँ भेजी। नौका-जहाज आदि द्वारा व्यापार किया। वर्षाकाल में एक ग्राम से दूसरे ग्राम में गया। एक दिशा से परिमाण को कम करके दूसरी दिशा में अधिक गया। इत्यादि छट्ठे दिक्-परिमाण व्रत सम्बन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते, अजानते लगा हो, वह सब मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं।

सातवें भोगोपभोग-व्रत के भोजन आश्रित पांच अतिचार और कर्म आश्रित पंद्रह अतिचार—

"सच्चित्ते पडिबद्धे०" सचित्त, खान-पान की वस्तु नियम से अधिक स्वीकार की। सचित्त से मिली हुई वस्तु खाई। तुच्छ औषधि का भक्षण किया। अपक्व आहार, दुपक्व आहार किया। कोमल इमली, बूँट,* भुट्टे, फलियां आदि वस्तु खाईं। सचित्त[1]-दव्व[2]-विगई,[3]-वाणह[4]-तंबोल[5]-वत्थ[6]—कुसुमेसु[7]। वाहण[8]-सयण[9]-विलेवण,[10]-बंभ[11]-दिसि[12]-ण्हाण[13]-भत्तेसु[14] ॥ १ ॥ ये चौदह नियम लिये नहीं, ले कर भुलाये। वड़,[1] पीपल,[2] पिलंखण[3] कठुंबर,[4] गूलर,[5] ये पाँच फल, मदिरा,[6] मांस,[7], शहद,[8] मक्खन,[9] ये चार महाविगई, बरफ,[10] ओले[11] कच्ची मिट्टी, (विष)[12] रात्रि-भोजन,[13] बहु-बीजा-फल,[14] अचार,[15] घोलवडे,[16] द्विदल,[17] बेंगण,[18] तुच्छफल,

---

* हरे चने।

[१९] अजाना-फल, [२०] चलित-रस, [२१] अनंतकाय, [२२] ये बाईस अभक्ष्य। सूरन-जिमीकंद, कच्ची-हलदी, सतावरी, कच्चा नरकचूर, अदरक, कुवांरपाठा, थोर, गिलोय, लसुन, गाजर, गठा-प्याज, गोंगुल, कोमल-फल-फूल-पत्र, थेगो, हरा मोत्था, अमृत वेल, मूली, पदबहेडा, आलू, कचालू, रतालू, पिंडालू, आदि अनंतकाय का भक्षण किया। दिवस अस्त होने पर भोजन किया। सूर्योदय से पहले भोजन किया। तथा कर्मतः पंद्रह—कर्मादानः—इंगाल-कम्मे, वण-कम्मे, साडि-कम्मे, भाडी-कम्मे फोडी-कम्मे, ये पांच कर्म। दंत-वाणिज्ज, लक्ख-वाणिज्ज, रस-वाणिज्ज, केस-वाणिज्ज, विस-वाणिज्ज, ये पांच वाणिज्ज। जंत पिल्लण-कम्म, निलंछन-कम्म, दवग्गिदावणिया, सर-दह-तलाय-सोसणया, असइ पोसणया ये पांच सामान्य, कुल पंद्रह कर्मादान महा आरम्भ किये कराये करते हुए को अच्छा समझा। श्वान बिल्ली आदि पोषे पाले महासावद्य पापकारी कठोर काम किया। इत्यादि सातवें भोगोप-भोग व्रत सम्बन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते अजानते लगा हो वह सब मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं।

आठवें अनर्थदंड के पांच अतिचार—

"कंदप्पे कुक्कुइए०" कंदर्पः—कामाधीन होकर नट, विट, वेश्या आदि से हास्य खेल क्रीडा कुतूहल किया। स्त्री पुरुष के हाव, भाव, रूप, शृङ्गार संबंधी वार्ता की। विषय-रस-पोषक कथा की, स्त्री-कथा, देश-कथा, भक्त-कथा, राज-कथा, ये चार विकथाएँ कीं।

पराई मांजगढ़ की। किसी की चुगल खोरी की। आर्त्त-ध्यान, रौद्र-ध्यान ध्याया। खांडा, कटार, कशि, कुल्हाड़ी, रथ, ऊखल, मूसल, अग्नि, चक्की आदि वस्तुएँ दाक्षिण्यता-वश किसी को मांगी दी। पापोपदेश दिया। अष्टमी चतुदर्शी के दिन दलने-पीसने आदि का नियम तोड़ा। मूर्खता से असंबद्ध वाक्य बोला। प्रमादाचरण सेवन किया। घी, तैल, दूध, दही, गुड़, छाछ आदि का भाजन खुला रखा, उसमें जीवादि का नाश हुआ। बासी मक्खन रखा और तपाया। नहाते-धोते दातुन करते जीव आकुलित मोरी में पानी डाला। झूले में झूला। जुआ खेला। नाटक आदि देखा। ढोर (डंगर) खरीदवाये। कर्कश वचन कहा। किचकिची ली। ताडना-तर्जना की। मत्सरता धारण की। शाप दिया। भैंसा, साँढ, मेंढा, मुरगा, कुत्ते, आदि लड़-वाये या इनकी लड़ाई देखी। ऋद्धिमान् की ऋद्धि देख ईर्षा की। मिट्टी, नमक, धान, बिनोले बिना कारण मसले। हरी वनस्पति खूंदी। शस्त्रादि बनवाये। रागद्वेष के वश से एक का भला चाहा एक को बुरा चाहा। मृत्यु की वांछा की। मैना, तोते, कबूतर, बटेर, चकोर आदि पक्षियों को पिंजरे में डाला। इत्यादि आठवें अनर्थ-दंड-विरमण-व्रत संबंधी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते, अजानते लगा हो, वह, सब मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं॥

नवमें सामायिक-व्रत के पांच अतिचार—

"तिविहे दुप्पणिहाणे०" सामायिक में संकल्प विकल्प किया। चित्त स्थिर न रखा। सावद्य वचन बोला। प्रमार्जन किये बिना

शरीर हिलाया; इधर उधर किया। शक्ति होने पर भी सामायिक न किया। सामयिक में खुले मुंह बोला। नींद ली। विकथा की। घर संबंधी विचार किया। दीपक या बिजली का प्रकाश शरीर पर पड़ा। सचित्त वस्तु का संघट्टन हुआ। मुहपत्ति संघट्टी। सामायिक अधूरा पारा, बिना पारे उठा। इत्यादि नवमें सामायिक व्रत संबंधी जो कोई अतिचार पक्ष दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते अजानते लगा हो वह सब मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं ॥

दसवें देशावकाशिक-व्रत के पांच अतिचार—

"आणवणे पेसवणे०" आणवण-प्पओगे, पेसवण-प्पओगे, सद्दाणुवाई, रूवाणुवाई बहिया-पुग्गल-पक्खेवे। नियमित भूमि में बाहिर से वस्तु मंगवाई। अपने पास से अन्यत्र भिजवाई। खुंखारा आदि शब्द करके, रूप दिखाके या कंकर आदि फेंक कर अपना होना मालूम कराया। इत्यादि दसवें देशावकाशिक व्रत संबंधी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस सूक्ष्म या बादर जानते, अजानते लगा हो वह सब मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं।

ग्यारहवें पौषधोपवास-व्रत के पांच अतिचार—

"संथारुच्चार विहीं०" अप्पडिलेहिअ, दुप्पडि-लेहिअ, सिज्जा-संथारए। अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय उच्चार पावसण भूमि। पौषध लेकर सोने की जगह बिना पूंजे-प्रमार्जे सोया। स्थंडिल आदि की भूमि भली प्रकार शोधी नहीं। लघु-नीति बड़ी-नीति करने या परठने

के समय " अणुजाणह जस्सुग्गहो " न कहा। परठे बाद तीन बार 'वोसिरे' न कहा। जिनमंदिर और उपाश्रय में प्रवेश करते हुए 'निसीहि' और बाहिर निकलते हुए 'आवस्सही' तीन बार न कही। वस्त्र आदि उपधि की पडिलेहणा न की। पृथ्वीकाय; अपकाय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय का संघट्टन हुआ। संथारा पोरिसी पढ़नी भुलाई। बिना संथारे ज़मीन पर सोया। पोरिसी में नींद ली, पारना आदि की चिंता की। समय पर देववंदन न किया, प्रतिक्रमण न किया। पौषध देरी से लिया और जल्दी पारा; पर्व-तिथि को पोसह न लिया। इत्यादि ग्यारहवें पौषध व्रत संबंधी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते, अजानते लगा हो वह सब मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं ॥

बारहवें अतिथि-संविभाग-व्रत के पांच अतिचार—

" सचित्ते निक्खिवणे०" सचित्त वस्तु के संघट्टे वाला अकल्पनीय आहार पानी साधु-साध्वी को दिया। देने की इच्छा से सदोष वस्तु को निर्दोष कही। देने की इच्छा से पराई वस्तु को अपनी कही। न देने की इच्छा से अपनी वस्तु को पराई कही। गोचरी के समय इधर-उधर हो गया। गोचरी का समय टाला। बेवक्त साधु महाराज से प्रार्थना की। आये हुए गुणवान् की भक्ति न की शक्ति के होते हुए स्वामीवात्सल्य न किया। अन्य किसी धर्मक्षेत्र को पड़ता देख कर मदद न की। दीन-दुःखी पर अनुकंपा न की। इत्यादि बारहवें अतिथि-संविभाग-व्रत संबंधी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में

सूक्ष्म या बादर जानते, अजानते लगा हो वह सब मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं ॥

संलेषणा के पांच अतिचार—

"इहलोए परलोए०" इहलोगासंसप्पओगे परलोगासंसप्पओगे। जीविआसंसप्पओगे। मरणासप्पओगे। कामभोगासंसप्पओगे। धर्मके प्रभाव से इह लोक सम्बन्धी राजऋद्धि भोगादि की वांछा की। परलोक में देव, देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदवी की इच्छा की। सुखी अवस्था में जीने की इच्छा की। दुःख आने पर मरने की वांच्छा की। इत्यादि संलेखणा-व्रत सम्बन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते, अजानते लगा हो वह सब मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं ॥

तपाचार के बारह भेद—छः बाह्य छः अभ्यंतर—

"अणसणमूणोअरिया०" अनशनः—शक्ति के होते हुए पर्वतिथि को उपवास आदि तप न किया। ऊनोदरीः—दो चार ग्रास कम न खाये। वृत्तिसंक्षेपः—द्रव्य-खाने की वस्तुओं का संक्षेप न किया। रस-विगय त्याग न किया। कायक्लेश—लोच आदि कष्ट न किया। संलीनता-अंगोपांग का संकोच न किया। पच्चक्खाण तोड़ा। भोजन करते समय एकासणा, आयंबिल, प्रमुख में चौकी, पटड़ा, अखला आदि हिलता ठीक न किया। पच्चक्खाण पारना भुलाया, बैठते नवकार न पढ़ा। उठते पच्चक्खाण न किया। निवि, आयंबिल, उपवास आदि तप में कच्चा पानी पीया। वमन हुआ।

इत्यादि बाह्य तप सम्बन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते, अजानते लगा हो, वह सब मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं ॥

अभ्यंतर तप—

पायछित्तं विणओ०" शुद्ध अंतःकरण पूर्वक गुरु महाराज से आलोचना न ली। गुरु की दी हुई आलोचना संपूर्ण न कि। देव, गुरु, संघ, साधर्मी का विनय न किया। बाल, वृद्ध, ग्लान, तपस्वी आदि को वेयावच्च (सेवा) न की। वाचना, पृच्छना, परावर्त्तना, अनुप्रेक्षा, धर्मकथा रूप पांच प्रकार का स्वाध्याय न किया। धर्म-ध्यान, शुक्ल-ध्यान ध्याया नहीं। आर्त्त-ध्यान, रौद्र-ध्यान ध्याया। दुःख-क्षय, कर्म-क्षय निमित्त दस बीस लोगस्स का काउस्सग्ग न किया। इत्यादि अभ्यंतर (भीतरी) तप संबंधी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते, अजानते लगा हो, वह सब मन वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं ॥

वीर्याचार के तीन अतिचार—

"अणिगूहिअ बल-वीरिओ०" पढ़ते, गुणते, विनय वेयावच्च, देवपूजा, सामायिक पौषध, दान, शील, तप, भावनादिक धर्म-कृत्य में, मन, वचन, काया का बल-वीर्य पराक्रम फोरा नहीं। विधिपूर्वक पंचाग खमासमण न दिया। द्वादशावर्त्त वंदन की विधि भली प्रकार न की। अन्य चित्त निरादर से बैठा। देव वंदन, प्रतिक्रमण में जल्दी की, इत्यादि वीर्याचार्य संबंधी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म

या बादर जानते, अजानते लगा हो, वह सब मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं ॥

" नाणाई अट्ठ पइवय, समसंलेहण पण पन्नर कम्मेसु ।
बारस तव विरिअ तिगं, चउव्वीसं सय अइयारा ॥ "

" पडिसिद्धाणं करणे०" प्रतिषेध-अभक्ष्य अनंतकाय बहुबीज भक्षण, महारंभ, परिग्रहादि किया। देवपूजन आदि षट्कर्म, सामायिकादि छह आवश्यक, विनयादिक, अरिहंत की भक्ति प्रमुख करणीय कार्य किये नहीं। जीवाजीवादि सूक्ष्म विचार की सद्दहणा न की। अपनी कुमति से उत्सुत्र प्ररूपणा की तथा प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादानं, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, रति-अरति, परपरिवाद, माया-मृषावाद, मिथ्यात्व-शल्य, अठारह पाप-स्थान किये, कराये, अनुमोदे। दिनकृत्य प्रतिक्रमण, विनय, वैयावृत्य न किया। और भी जो कुछ वीतराग की आज्ञा से विरुद्ध किया, कराया या अनुमोदन किया। इन चार प्रकार के अतिचारों में जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते, अजानते लगा हो, वह सब मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं ॥

एवंकारे श्रावकधर्म सम्यक्त्व मूल बारह व्रत संबंधी एक सौ चौबीस अतिचारों में से जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते, अजानते लगा हो वह सब मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं ॥

उपयोगी विषयोंका सङ्ग्रह

[१]

मुहपत्तीके पचास बोल

मुहपत्ती पडिलेहणके सम्बन्धमें अधोलिखित पचास बोल विचारे जाते हैं :—

सूत्र, अर्थ, तत्त्व करी सद्दहूँ।	१
सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय परिहरूँ।	३
कामराग, स्नेहराग, दृष्टिराग परिहरूँ।	३
सुदेव, सुगुरु, सुधर्म, आदरूँ।	३
कुदेव, कुगुरु, कुधर्म परिहरूँ।	३
ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदरूँ।	३
ज्ञान-विराधना, दर्शन-विराधना, चारित्र-विराधना परिहरूँ।	३
मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति आदरूँ।	३
मनो-दण्ड, वचन-दण्ड, काय-दण्ड परिहरूँ।	३
	२५
हास्य, रति, अरति परिहरूँ।	३
भय, शोक, जुगुप्सा परिहरूँ।	३
कृष्ण-लेश्या, नील-लेश्या, कापोत-लेश्या परिहरूँ।	३
रसगारव, ऋद्धिगारव, सातागारव परिहरूँ।	३
मायाशल्य, नियाणशल्य, मिथ्यात्वशल्य परिहरूँ।	३
क्रोध, मान परिहरूँ।	२
माया, लोभ परिहरूँ।	२
पृथ्वीकाय, अप्‌काय, तेउकायकी रक्षा करूँ।	३
वायुकाय, वनस्पतिकाय त्रसकायकी जयणा करूँ।	३
	५०

वृद्धसम्प्रदायके अनुसार ये 'बोल' मनमें बोले जाते हैं और इनका अर्थ विचारा जाता है। इसमें 'उपादेय' और 'हेय' वस्तुओंका विवेक अत्यन्त बुद्धिमानीसे किया गया है। जैसे कि-प्रवचन यह तीर्थस्वरूप है, इसलिये प्रथम इसके अङ्गरूप 'सूत्र और अर्थकी तत्त्वपूर्वक श्रद्धा करनी' अर्थात् सूत्र और अर्थ दोनोंका तत्त्वरूप-सत्यरूप मानकर उसमें श्रद्धा रखनी चाहिये और उस श्रद्धामें अन्तरायरूप "सम्यक्त्व-मोहनीय, मिश्र-मोहनीय और मिथ्यात्व-मोहनीय" ये तीन प्रकारके मोहनीय कर्म होनेसे इनका त्याग करनेकी भावना करनी चाहिये। मोहनीय कर्ममें भी राग मुख्यरूपेण परिहरणीय है। उसमें प्रथम 'कामराग, फिर स्नेहराग और अन्तमें दृष्टिरागको छोड़ना चाहिये; क्योंकि उक्त प्रकारका राग दूर हुए बिना सुदेव, सुगुरु और सुधर्मका आदर नहीं हो सकता। यहाँ सुदेव, सुगुरु और सुधर्मकी महत्ताका विचार करके उनका आदर करनेकी भावना करनी चाहिये। तथा कुदेव, कुगुरु और कुधर्मको परिहरनेका दृढ सङ्कल्प करना चाहिये। यदि इतना हो तो ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी आराधना जिसका कि दूसरा नाम 'सामायिक' है, उसकी साधना यथार्थरूपमें हो सके। ऐसी आराधना करनेके लिये 'ज्ञान-विराधना, दर्शन-विराधना और चारित्र-विराधनाका परिहरण आवश्यक है। संक्षेपमें 'मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति' आदरणीय अर्थात् उपादेय है और 'मनोदण्ड, वचनदण्ड एवं कायदण्ड' परिहरणीय हैं।

इस प्रकार 'उपादेय' और 'हेय' के सम्बन्धमें भावना करके फिर जो वस्तुएँ खास तौरपर त्याज्य हैं तथा जिनके बारेमें यतना करनेकी खास आवश्यकता है, उसका विचार 'शरीरकी पडिलेहणा' के प्रसङ्गपर करना चाहिये, वह इस प्रकार—

"हास्य, रति, अरति परिहरूँ", तथा "भय, शोक, जुगुप्सा परिहरूँ" अर्थात् हास्यादि षट्क जो चारित्र मोहनीय-कषाय-प्रकृतिसे उत्पन्न होता है, उसका त्याग करूँ; जिससे मेरा चारित्र सर्वांशमें निर्मल बने।

"कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या परिहरूँ" क्योंकि इन तीनों लेश्याओंमें अशुभ अध्यवसायोंकी प्रधानता है और उसका फल आध्यात्मिक पतन है।

"रसगारव, ऋद्धिगारव और सातागारव परिहरूँ" क्योंकी इसका फल भी साधनामें विक्षेप और आध्यात्मिक पतन है।

इसके साथ "मायाशल्य, नियाणशल्य और मिथ्यात्वशल्य भी परिहरूँ" क्यों कि ये धर्मकरणीके अमूल्य फलका नाश करनेवाले हैं।

इन सबका उपसंहार करते हुए मैं ऐसी भावना रखता हूं कि 'क्रोध और मान तथा माया और लोभ; परिहरूँ' जो कि क्रमशः राग और द्वेषके स्वरूप हैं। और सामायिक साधनाको सफल बनानेवाली जो मैत्री-भावना है, उसको मैं यथाशक्य प्रयोगमें लाकर 'पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय, इन छः कायोंके जीवोंकी यतना करूँ।' यदि इतना करूं तो यह मुहपत्तीरूपी साधुताका प्रतीक जो मैंने हाथमें लिया है, वह सफल हुआ गिना जाय।

मुहपत्ती तथा अङ्गकी पडिलेहणा करते समय ये बोल नीचे लिखे अनुसार बोलने चाहिये :—

मुहपत्ती पडिलेहते समय विचारने योग्य बोल :—

(१) प्रथम घुटानोंके बल बैठो, दोनों हाथ दोनों पाँवोंके बीचमें रखो, मुहपत्तीकी घडी खोलो, दोनों हाथोंसे उसके दोनों कोने पकड़ो और मुहपत्तीके सामने दृष्टि रखो। फिर मनमें बोलो कि (नीचे जो बडे अक्षर दिये हैं वे मनमें बोलने के हैं और उनका अर्थ विचारना चाहिये)।

सूत्र

[इस समय मुहपत्तीके एक भागकी प्रतिलेखना होती है अर्थात् उसके एक ओरके भागका बराबर निरीक्षण किया जाता है।]

२. फिर उसको बाँये हाथपर रखकर बाँये हाथमें पकड़ा हुआ कोना दाँये हाथमें पकड़ो और दाँये हाथमें पकड़ा हुआ कोना बाँये हाथमें पकड़कर फिर सामने लाकर मनमें बोलो कि :—

अर्थ, तत्त्व करी सद्दहुं।

[सूत्र और अर्थ दोनोंको तत्त्वरूप अर्थात् सत्यस्वरूप समझूँ और उसकी प्रतीति करके उसपर श्रद्धा करूँ। उस समय मुहपत्तीके दूसरे भागकी प्रतिलेखना होती है अर्थात् मुहपत्तीके दूसरे भागका बराबर निरीक्षण किया जाता है।]

३. फिर मुहपत्तीका बाँये हाथकी ओरका भाग तीन बार हिलाओ, उस समय मनमें धीरेसे बोलो कि :—

सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय परिहरूँ।

[दर्शनमोहनीय-कर्मकी तीन प्रकृतियाँ दूर करने योग्य हैं, अर्थात् मुहपत्ती यहाँ तीन बार हिलायी जाती है।]

४. फिर बाँये हाथपर मुहपत्ती रख, पलटकर, दाँये हाथकी ओरका भाग तीन बार हिलाओ। उस समय मनमें बोलो कि—

कामराग, स्नेहराग, दृष्टिराग परिहरूँ।

[तीनों प्रकारके राग दूर करने योग्य हैं अर्थात् मुहपत्ती यहाँ तीन बार हिलायी जाती है]

५. मुहपत्तीका मध्य भाग बाँये हाथपर डालकर बीचका आवरण पकड़कर उसे दुहरी करो। [यहाँसे मुहपत्तीका समेटना आरम्भ होता है।]

६. फिर दाँये हाथकी चार अँगुलियोंके तीनों मध्यभागमें मुहपत्तीको भरो।

७. फिर बाँये हाथकी हथेलीका स्पर्श न हो इस तरह तीन बार कोनी तक लाओ और प्रत्येक बार बोलो कि—

सुदेव, सुगुरु, सुधर्म आदरूँ।

[सुदेव, सुगुरु और सुधर्म सम्बन्धी श्रद्धा अपनेमें प्रविष्ट हो ऐसी इच्छा है। अतः मुहपत्तीको अँगुलियोंके अग्रभागसे अन्दर लानेकी क्रिया की

जाती है। उसमें पहली बार मुहपत्ती प्रायः अँगुलीके मूल तक लानी चाहिये और उस समय '**सुदेव**' बोलना चाहिये। फिर दूसरी बार मुहपत्तीको हथेलीके मध्यभाग तक लानी चाहिये और उस समय '**सुगुरु**' बोलना चाहिये। तथा तीसरी बारमें मुहपत्ती हाथकी कोनी तक लानी चाहिये और उस समय '**सुधर्म आदरूँ**' इतने शब्द बोलने चाहिये।]

८. अब ऊपरकी रीतिसे विपरीत मुहपत्तीको तीन बार कोनीसे अँगुलीके अगले पर्व तक ले जाओ और कुछ निकाल देते हों उस तरह बोलो कि—

कुदेव, कुगुरु, कुधर्म, परिहरूँ।

[यह एक प्रकारकी प्रमार्जन-विधि हुई। इसलिये इसकी क्रिया भी ऐसी ही रखी गयी है।]

९. इसी प्रकार तीन बार हथेलीसे कोनी तक मुहपत्तीको उपर रखकर अन्दर लो और बोलो कि :—

ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदरूँ।

[ये तीनों वस्तुएँ अपने अन्दर लानेके लिये इसका व्यापक न्यास किया जाता है।]

१०. अब ऊपरकी क्रियासे विपरीत तीन बार कोनीसे हाथकी अँगुली तक मुहपत्ती ले जाओ और बोलो कि—

ज्ञान-विराधना, दर्शन-विराधना, चारित्र-विराधना परिहरूँ।

[ये तीन वस्तुएँ बाहर निकालनेकी हैं, तदर्थ उसका घिसकर प्रमार्जन किया जाता है।]

११. अब मुहपत्तीको तीन बार अन्दर लो और बोलो कि—

मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति आदरूँ।

[ये तीनों वस्तुएँ अपने अन्दर लानेके लिये इसका व्यापक न्यास किया जाता है]

११. अब तीन बार मुहपत्तीको कोनीसे हाथकी अँगुली तक ले जाओ और बोलो कि—

मनो-दण्ड, वचन-दण्ड, काय-दण्ड परिहरूँ।

[ये तीनों वस्तुएँ बाहर निकालनेकी हैं इसलिये इनका प्रमार्जन किया जाता है।

शरीरका पडिलेहन करते समय विचारनेके २५ बोल।

[इन बोलोंके समय अभ्यन्तर प्रमार्जन करना आवश्यक होनेसे हर समय प्रमार्जनकी क्रिया की जाती है।]

१. अब अँगुलीमें भरी हुई मुहपत्ती प्रदक्षिणाकारसे अर्थात् दाँये हाथपर दोनों तरफ तथा नीचे इस तरह तीन बार प्रमार्जन करो और बोलो कि—

हास्य, रति, अरति परिहरूँ।

२. इसी प्रकार बाँये हाथकी अंगुलियोंके मध्यमें मुहपत्ती रखकर दाँये हाथमें प्रदक्षिणाकारसे बीचमें और दोनों तरफ प्रमार्जना करो और मनमें बोलो कि—

भय, शोक, जुगुप्सा परिहरूँ।

३. फिर अँगुलीके मध्य भागसे मुहपत्ती निकालकर दुहरी ही लेकर, मुहपत्तीके दोनों भाग दोनों हाथोंसे पकड़कर मस्तकपर बीचमें और दाँये-बाँये दोनों भागोंपर तीन बार प्रमार्जना करते हुए अनुक्रमसे मनमें बोलो कि—

कृष्ण-लेश्या, नील-लेश्या, कापोत-लेश्या परिहरूँ।

४. फिर बीचमें और दाँये-बाँये दोनों भागोंमें तीन बार मुखपर प्रमार्जना करो और मनमें बोलो कि—

रसगारव, ऋद्धिगारव, सातागारव परिहरूँ।

५. ऐसे ही बीचमें और दाँये बाँये दोनों भागोंमें छातीपर तीन बार प्रमार्जना करो और क्रमशः मनमें बोलो कि—

मायाशल्य, निदानशल्य, मिथ्यात्वशल्य परिहरूँ।

६. अब मुहपत्ती दोनों हाथमें चौड़ी पकड़कर दाँये कन्धेपर प्रमार्जना करो और बोलो कि—

क्रोध परिहरूँ।

७. इसी प्रकार मुहपत्ती बाँये हाथमें रखकर बाँये कन्धेपर प्रमार्जन करो और बोलो कि—

मान परिहरूँ।

८. इसी तरह मुहपत्ती बाँयें हाथमें रखकर दाँयी कोखमें प्रमार्जना करो और बोलो कि—

माया परिहरूँ।

९. फिर मुहपत्ती दाँये हाथमें पकड़कर बाँयी कोखमें प्रमार्जन करते हुए बोलो कि—

लोभ परिहरूँ।

१०. फिर दाँये पैरके बीचमें और दोनों भागोंमें चरवलेसे तीन बार प्रमार्जना करते हुए बोलो कि—

पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकायकी रक्षा करूँ।

११. इसी प्रकार बाँये पैरके बीचमें और दोनों भागोंमें प्रमार्जना करते हुए बोलो कि—

वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकायकी जयणा करूँ।

सूचना

(१) 'मुहपत्तीका पडिलेहण' वस्तुतः अनुभवी व्यक्तिके पाससे सीखना चाहिये। यहाँ तो दिग्दर्शन मात्र कराया है।

(२) दसवें नियममें दाँया पैर बतलाया है, वहाँ बाँया पैर और ग्यारहवें नियममें बाँया पैर बतलाया है, वहाँ दाँया पैर, ऐसा विधिभेद अन्य ग्रन्थोंमें मिलता है।

(३) साध्वीजी को छातीकी ३ और कन्धे तथा कोंखकी ४ प्रमार्जना मिलकर कुछ ७ नहीं होती और शेष १८ होती हैं। स्त्रियोंको मस्तककी तीन भी नहीं होती हैं अतः कुल १५ होती है।

ध्यान रहे कि मुहपत्ती पडिलेहणकी इस विधिका सामायिक करते समय तथा पूर्ण करते समय बराबर उपयोग हो।

[२]

प्रतिक्रमण सम्बन्धी उपयोगी सूचनाएँ

१ – समय

दैवसिक प्रतिक्रमण दिनके अन्तिम भागमें अर्थात् सूर्यास्त समयमें करना चाहिये। शास्त्रोंमें कहा है कि—

"अद्धनिबुड्डे बिंबे, सुत्तं कड्ढंति गीयत्था।
इअ वयण-पमाणेणं, देवसियावस्सए कालो"

सूर्यबिम्बका अर्धभाग अस्त हो तब गीतार्थ प्रतिक्रमण-सूत्र कहते हैं। इस वचन-प्रमाणसे दैवसिक-प्रतिक्रमणका समय जानना। तात्पर्य यह है कि प्रतिक्रमण सूर्यास्तके समय करना चाहिये।

शास्त्रमें '**उभओ-कालमावस्सयं करेइ**' ऐसा जो पाठ आता है, वह भी प्रतिक्रमण सन्ध्या-समयमें करनेका सूचन करता है।

अपवाद-मार्गमें दैवसिक-प्रतिक्रमण दिनके तीसरे प्रहरसे मध्यरात्रि होनेसे पूर्व तक हो सकता है और योगशास्त्रवृत्तिके अभिप्रायानुसार मध्याह्नसे अर्धरात्रि पर्यन्त हो सकता है।

रात्रिक-प्रतिक्रमण मध्यरात्रिसे मध्याह्न तक हो सकता है-कहा है कि-

'उग्घाडपोरिसिं जा, राइअमावस्सयस्स चुण्णीए।
ववहाराभिप्पाया, भणंति जाव पुरिमड्ढं॥'

आवश्यक चूर्णिके अभिप्रायसे रात्रिक-प्रतिक्रमण उग्घाड-पोरिसी तक अर्थात् सूत्र-पोरिसी पूरी हो वहाँ तक और व्यवहार-सूत्रके अभिप्रायसे मध्याह्न तक कर सकते हैं।

पाक्षिक-प्रतिक्रमण पक्षके अन्तमें अर्थात् चतुर्दशीके दिन किया जाता है। चातुर्मासिक-प्रतिक्रमण चातुर्मासके अन्तमें अर्थात् कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी, फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी और आषाढ शुक्ला चतुर्दशीके दिन किया जाता है तथा सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण संवत्सरके अन्तमें अर्थात् भाद्रपद शुक्ला चतुर्थीके दिन किया जाता है।

२ – स्थान

गुरु महाराजका योग हो तो प्रतिक्रमण उनके साथ करना, अन्यथा उपाश्रयमें या अपने घरपर करना। आ. चू. में कहा है कि– "**असइ-साहु-चेइयाणं पोसहसालाए वा सगिहे वा सामाइयं वा आवस्सयं वा करेइ।**" साधु और चैत्यका योग न हो तो श्रावक पोषधशालामें अथवा अपने घरपर भी सामायिक अथवा आवश्यक (प्रतिक्रमण) करे।" चिरन्तनाचार्यकृत प्रतिक्रमण-विधिकी गाथामें कहा है कि—

"**पंचविहायार-विसुद्धि-हेउमिह साहु सावगो वा वि।**
पडिक्कमणं सह गुरुणा, गुरु-विरहे कुणइ इक्को वि॥

साधु और श्रावक पाँच प्रकारके आचारकी विशुद्धिके लिये गुरुके साथ प्रतिक्रमण करे और वैसा योग न हो तो अकेला भी करे।" (परन्तु उस समय गुरुकी स्थापना अवश्य करे। स्थापनाचार्यकी विधि पहले बतला चुके हैं।

३ – शुद्धि

शुद्धिपूर्वक की हुई क्रिया अत्यन्त फलदायक होती है, इसलिये प्रतिक्रमण करनेवालेको शरीर, वस्त्र, और उपकरणकी शुद्धिका ध्यान रखना चाहिये। *

---

* उपकरणोंकि बारेमें देखो-प्रबोधटीका भाग १ ला, परिशिष्ट पाँचवाँ।

४ – भूमि-प्रमार्जन

प्रतिक्रमणके लिये कटासन बिछानेसे पूर्व चरवलेसे भूमिका प्रमार्जन करना चाहिये।

५ – अधिकार

प्रतिक्रमण साधु और श्रावकको प्रातः और सायं नियमित करना चाहिये। उसमें जो श्रावक व्रतधारी न हो उसको भी प्रतिक्रमण करना चाहियें, क्योंकि वह तृतीय वैद्यके ओषधके समान अत्यन्त हितकारी है। एक राजाके पास तीन वैद्य आये। उनमें पहले वैद्यके पास ऐसा रसायन था कि जो व्याधि हो तो उसको मिटा दे और न हो तो नवीन रोग उत्पन्न कर दे। दूसरे वैद्यके पास ऐसी औषधि थी कि जिससे व्याधि हो तो मिट जाय और न हो तो नयी उत्पन्न न करे। और तीसरे वैद्यके पास ऐसी ओषधि थी कि जिससे व्याधि हो तो मिट जाय और न हो तो सर्व अंगोंकी पुष्टिकर भविष्यमें होनेवाले रोगोंको भी रोक दे। ऐसे ही प्रतिक्रमण भी अतिचार लगें हों तो उनकी शुद्धि करता है और न लगें हों तो चारित्रधर्मकी पुष्टि करता है। ×

६ – प्रकीर्ण सूचना

प्रतिक्रमण समुदायके साथ बैठकर किया जाता हो, तब अपनेसे बड़ोंका यथोचित विनय करना, शान्ति और शिष्टताका पालन करना तथा अपनेको आदेश मिला हो उस सूत्रके बोलनेमें सावधान रहना।

सूत्र संहिता-पूर्वक बोलना और उस समय अर्थका भी ध्यान रखना।

जहाँ-जहाँ जिस-जिस प्रकारकी मुद्राएँ करनेके लिये कहा हो, वहाँ-वहाँ उस-उस प्रकारकी मुद्राएँ करनी।

प्रतिक्रमणकी विधिके हेतुओंको बराबर समझकर उनके अनुसार लक्ष्य रखकर वर्तन करनेका प्रयत्न करना।

× प्रतिक्रमणका परमार्थ समझनेके लिये देखो– "प्रबोधटीका" भाग–२, परिशिष्ट तीसराः 'प्रतिक्रमण अथवा पापमोचनकी पवित्र क्रिया'।

आन्तरिक उल्लास-पूर्वक किया हुआ प्रतिक्रमण कर्मके कठिन बन्धनोंको शीघ्र काट डालता है, यह लक्ष्यमें रखना चाहिये ।

रात्रिका प्रतिक्रमण अत्यन्त मन्द स्वरसे करना ।

सङ्केत

खमा० प्रणि० = खमासमण बोलकर प्रणिपात करके ।

इच्छा० = इच्छाकारेण संदिसह भगवन् !

[३]

दैवसिक प्रतिक्रमणकी विधि

(१) सामायिक

प्रथम सामायिक लेना ।

(२) दिवस-चरिम-प्रत्याख्यान

फिर पानी पिया हो तो खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० मुहपत्ती पडिलेहूं ?' ऐसा कहकर मुहपत्ती पडिलेहनकी आज्ञा माँगनी और आज्ञा मिलनेपर 'इच्छं' कहकर मुहपत्तीकी पडिलेहणा करनी ।

यदि आहार किया हो तो मुहपत्तीका पडिलेहण करनेके पश्चात् दो बार 'सुगुरु-वंदण' सुत्त बोलकर द्वादशावर्त्त वन्दन करना । दूसरी बार सूत्र बोलते समय 'आवस्सियाए' यह पद नहीं कहना ।

फिर अवग्रहमें खड़े रहकर 'इच्छकारी भगवन् ! पसाय करी पच्चक्खाणनो आदेश देशोजी' ऐसा कहना अर्थात् उस समय गुरु हो तो वे अथवा ज्येष्ठ व्यक्ति हों तो वे 'दिवस चरिमं' का पाठ बोलकर पच्चक्खाण कराएँ ।

यदि वैसा योग न हो तो स्वयं ही 'दिवस-चरिमं' पाठ बोलकर यथाशक्ति पच्चक्खाण करे और अवग्रहसे बाहर निकले ।

(३) चैत्यवन्दनादि

तदनन्तर खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० चेइयवंदणं करेमि?' ऐसा कहकर गुरुके समक्ष चैत्यवन्दन करनेकी आज्ञा माँगनी। गुरु कहें— 'करेह' तब 'इच्छं' कहकर ज्येष्ठ व्यक्ति अथवा स्वयं नीचे लिखे अनुसार पाठ बोलकर चैत्यवन्दन करे।

प्रथम योगमुद्रासे मङ्गलरूप आद्य स्तुति (चैत्यवन्दन) करनी। फिर 'जं किंचि' सूत्र तथा 'नमो त्थु णं' सूत्रके पाठ क्रमशः बोलकर खड़े होकर 'अरिहंत चेइआणं' सूत्र तथा 'अन्नत्थ' सूत्रके पाठ बोलने। बादमें एक नमस्कारका कायोत्सर्ग करना और उसको यथाविधि पूर्णकर 'नमोऽर्हत्०' का पाठ बोलकर 'कल्लाणकंदं' थुइकी प्रथम गाथा बोलनी।*

फिर 'लोगस्स०' सूत्रका पाठ बोलकर, 'सव्वलोए अरिहंत-चेइआणं करेमि काउस्सग्गं' सूत्र कहकर, 'अन्नत्थ०' सूत्र बोलकर; एक नमस्कारका काउस्सग्ग करके 'कल्लाणकंदं' थुइकी दूसरी गाथा बोलनी।

तदनन्तर 'पुक्खरवरदीवड्ढे' सूत्र बोलकर 'सुअस्स भगवओ करेमि काउसग्गं, वंदणवत्तियाए' व 'अन्नत्थ०' सूत्र कहकर, एक नमस्कारका काउस्सग्ग कर, उसे पूर्णकर 'कल्लाणकंदं' थुइकी तीसरी गाथा बोलनी।

बादमें 'सिद्धाणं बुद्धाणं' सूत्र कहकर 'वेयावच्चगराणं' सूत्र कहकर; फिर 'अन्नत्थ' सूत्र कहकर एक नमस्कारका काउसग्ग करके तथा उसे पूर्ण करके 'नमोऽर्हत्०' कहकर 'कल्लाणकंदं' थुइकी चौथी गाथा बोलनी।

फिर योगमुद्रासे बैठकर 'नमो त्थु णं' सूत्रका पाठ बोलना तथा 'भगवदादिवंदन' सूत्रका पाठ बोलकर चार खमा० प्रणि० करके भगवान्, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओंके लिये 'थोभवंदन' करना।

फिर 'इच्छकारी समस्त श्रावकको वन्दन करता हूं' ऐसे कहना।

---

* यहाँ दूसरी भी थोय बोल सकते हैं।

(४) प्रतिक्रमणकी स्थापना

फिर ‘ इच्छा० देवसिअ–पडिक्कमणे ठाउं ! ’ ऐसा कहकर प्रति-क्रमणकी स्थापनाके सम्बन्धमें आज्ञा माँगनी और गुरु ‘ ठाएह ’ ऐसा कहें, तब ‘ इच्छं ’ कहकर दाहिना हाथ चरवलेपर अथवा कटासनपर रखकर तथा मस्तक नीचा झुकाकर ‘ सव्वस्स वि ’ सूत्र बोलना।

(५) प्रथम और द्वितीय आवश्यक
(सामायिक और चतुर्विंशति–स्तव)

फिर खड़े होकर ‘ करेमि भंते ’ सूत्र तथा ‘ अइआरालोअण ’ सूत्र अर्थात् ‘ इच्छामि ठामि काउस्सग्गं, जो मे देवसिओ ’ सूत्र ‘ तस्स उत्तरी ’ सुत्र तथा ‘ अन्नत्थ ’ सुत्र बोलकर ‘ अइयार–वियारण–गाहा ’ (अतिचार विचार करनेकी गाथाओं) का काउस्सग्ग करना। यहाँ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचारमें लगे हुए अतिचारोंका चिन्तन करके वे अतिचार याद रखने चाहिये। ये गाथाएँ नहीं आती हों उसको आठ नमस्कारका काउस्सग्ग करना चाहिये। यह काउस्सग्ग पूर्ण करके ‘ लोगस्स ’ सूत्र प्रकट रीतिसे बोलना।

(६) तीसरा आवश्यक (गुरु–वन्दन)

इसके पश्चात् बैठकर तीसरे आवश्यककी मुहपत्ती पडिलेहना और द्वादशावर्त्त–वन्दन करना। उसमें दूसरी बार सुत्र बोलकर अवग्रहसे बाहर नहीं निकलना।

(७) चौथा आवश्यक (प्रतिक्रमण)

फिर ‘ इच्छा० देवसिअं आलेउं ’ कहकर दैवसिक अतिचारोंकी आलेचना करनेकी अनुज्ञा माँगनी। गुरु कहें– ‘ आलोएह ’ तब ‘ इच्छं ’ कहकर ‘ अइआरालोअण ’ – सुत्तका पाठ बोलना।

बादमें ‘ सात लाख ’ और ‘ अठारह पापस्थानक ’ का पाठ बोलना।

इसके पश्चात् ‘ सव्वस्स वि देवसिअ दुच्चिंतिअ, दुब्भासिअ, दुच्चिट्ठिअ इच्छा० ’ कहना और (गुरु कहें– ‘ पडिक्कमेह ’ तब बोलना कि) ‘ इच्छं,

तस्स मिच्छामि दुक्कडं ' फिर वीरासनसे बैठना और न आता हो तो दाँया घुटना ऊँचा रखना। फिर एक नमस्कार, 'करेमि भंते' सूत्र तथा 'अइ-आरालोअण' सुत्तके पाठ-पूर्वक 'सावग-पडिक्कमण'-सुत्त ('वंदित्तु' सूत्र) बोलना। उसमें 'तस्स धम्मस्स केवलि-पन्नत्तस्स अब्भुट्ठिओ मि' यह पद बोलते हुए खड़ा होना और अवग्रहसे बाहर निकलकर सूत्र पूरा करना।

फिर द्वादशावर्त्त वन्दन करना। उसमें दूसरे वन्दनके समय अवग्रहमें खड़े हों, तब 'इच्छा० अब्भुट्ठिओ मि अब्भिंतर देवसिअं खामेउं ?' कहकर 'गुरुको खमानेकी आज्ञा माँगनी। गुरु कहें-'खामेह' तब 'इच्छं' कहकर 'खामेमि देवसिअं' कहकर दाहिना हाथ० चरवलेपर रखकर 'जं किंचि अपत्तिअं' आदि पाठ बोलकर गुरुको खमाना।

फिर अवग्रहसे बाहर निकलकर द्वादशावर्त्त-वन्दन करना और दूसरी बारका पाठ पूरा हो तब वहीं खड़े रहकर 'आयरिय-उवज्झाए' सूत्र बोलना और अवग्रहसे बाहर निकलना।

(८) पाँचवाँ आवश्यक (कायोत्सर्ग)

तदनन्तर 'करेमि भंते' सूत्र 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं जो मे देवसिओ०' सूत्र 'तस्स उत्तरी' सूत्र तथा 'अन्नत्थ' सूत्र बोलकर दो लोगस्सका अथवा आठ नमस्कारका काउस्सग्ग करना।

बादमें काउसग्ग पूर्णकर 'लोगस्स' तथा 'सव्वलोए अरिहंत-चेइआणं' का पाठ बोलना और एक लोगस्स अथवा चार नमस्कारका काउस्सग्ग करना।

फिर वह काउस्सग्ग पूर्णकर 'पुक्खरवर-दीवड्ढे' सूत्र बोलकर 'सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं वंदण०' कहकर, एक लोगस्स अथव चार नमस्कारका काउस्सग्ग करना।

यह काउस्सग्ग पूर्ण करके 'सिद्धाणं बुद्धाणं' सूत्र बोलना।

फिर 'सुअदेवयाए करेमि काउस्सग्गं' तथा 'अन्नत्थ०' सूत्र बोलकर एक नमस्कारका कायोत्सर्ग करना और वह पूरा करके

'नमोऽर्हत्०' कहकर पुरुषको 'सुअदेवया' की थोय (स्तुति) बोलनी और स्त्रीको 'कमलदल०' स्तुति बोलनी चाहिये।

तदनन्तर 'खित्तदेवयाए करेमि काउस्सग्गं' तथा 'काउस्सग्ग' सुत्त कहकर एक नमस्कारका काउस्सग्ग पूर्ण करके, 'नमोऽर्हत्०' कहकर, पुरुषको 'जीसे खित्ते साहू' की थोय बोलनी और स्त्रीको 'यस्याः क्षेत्रं समाश्रित्य' की थोय बोलनी चाहिये।

(९) छट्ठा आवश्यक (प्रत्याख्यान)

इसके बाद नवकार गिनकर, बैठकर मुहपत्ती पडिलेहनी, तथा द्वादशावर्त-वन्दन करना और अवग्रहमें खडे-खड़े ही 'सामायिक, चउवी-सत्थओ, वंदण, पडिक्कमण, काउस्सग्ग, पच्चक्खाण किया है,' ऐसा बोलना।

(१०) स्तुति-मङ्गल

बादमें 'इच्छामो अणुसट्ठिं' ऐसा कहकर, बैठकर, 'नमो खमासमणाणं, नमोऽर्हत्०' इत्यादि पाठ कहकर 'वर्धमान-स्तुति' अर्थात् 'नमोऽस्तु वर्धमानाय' सूत्र बोलना। यहाँ स्त्रीको 'संसार-दावानल०' स्तुतिकी तीन गाथाएँ बोलनी चाहिये।

फिर 'नमो त्थु णं' सूत्र बोलकर स्तवन कहना। यह स्तवन पूर्वाचार्य-रचित कमसे-कम पाँच गाथाओंका होना चाहिये।

इसके अनन्तर 'सप्तति-शत-जिनवन्दन' ('वरकनक-' स्तुति) बोलकर पहलेकी तरह भगवान् आदि चारको चार खमा० प्रणि० द्वारा थोभवंदन करना।

फिर दाहिना हाथ चरवलेपर अथवा भूमिपर रखकर 'अड्ढाईज्जेसु' सूत्र कहना।

(११) प्रायश्चित्त-विशुद्धिका कायोत्सर्ग

फिर खड़े होकर 'इच्छा० देवसिअ-पायच्छित्त-विसोहणत्थं काउस्सग्गं करूं?' ऐसा बोलकर काउस्सग्गकी आज्ञा माँगनी और वह मिले तब

'इच्छं' कहकर, 'देवसिय-पायच्छित्त-विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं' तथा 'अन्नत्थ०' सूत्र कहकर, चार 'लोगस्स' अथवा सोलह नमस्कारका काउस्सग्ग पूर्णकर, प्रकट 'लोगस्स', बोलना।

(१२) सज्झाय (स्वाध्याय)

इसके पश्चात् खमा० प्रणि० द्वारा वन्दन करके 'इच्छा० सज्झाय संदिसाहुं?' इस प्रकार कहकर सज्झायका आदेश माँगना। तथा यह आदेश मिलनेपर 'इच्छं' कहकर खमा० प्रणि० कहकर 'इच्छा० सज्झाय करूं?' ऐसी इच्छा प्रकट करनी और उसकी अनुज्ञा मिलनेपर 'इच्छं' कहकर, बैठकर, एक नमस्कार गिनकर गुरु अथवा उनके आदेशसे किसी भी साधुको और साधुकी अनुपस्थितिमें स्वयंको सज्झाय बोलनी चाहिये।

(१३) दुःख-क्षय तथा कर्म-क्षयका कायोत्सर्ग

फिर एक नमस्कार गिनकर खड़े होकर खमा० प्रणि० कहकर 'इच्छा० दुक्खक्खय-कम्मक्खय-निमित्तं करेमि काउस्सग्गं?' ऐसा कहकर आज्ञा मिलनेपर 'इच्छं' कहकर 'अन्नत्थ०' सूत्र बोलना और सम्पूर्ण चार 'लोगस्स' का अथवा सोलह नमस्कारका काउस्सग्ग कर, 'नमोऽर्हत्' कहकर 'शान्तिस्तव (लघु-शान्ति)' बोलना। अन्य सब काउस्सग्गमें रहकर उसका श्रवण करें। फिर काउस्सग्ग पूरा करके, 'लोगस्स' बोलकर, खमा० प्रणि० करके अविधि-आशातनाके बारेमें 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहना।

(१४) सामायिक पारनेकी विधि

खमा० प्रणि० करके 'इरियावही' सूत्र 'तस्स उत्तरी०' सूत्र तथा 'अन्नत्थ०' सूत्र बोलकर एक 'लोगस्स' अथवा चार नमस्कारका काउस्सग्ग कर, पूर्णकर, 'लोगस्स' का पाठ बोल्ना।

फिर बैठकर 'चउक्कसाय' सूत्र 'जं किंचि' सूत्र 'नमो त्थु णं' सूत्र, 'जावंति चेइयाइं' सूत्र बोलकर, खमा० प्रणि० करके, 'जावंत के वि साहू' सूत्र, नमोऽर्हत्' सूत्र तथा 'उवसग्गहरं' का पाठ बोलकर दोनों हाथ मस्तकपर जोड़कर 'जय वीयराय' सूत्र बोल्ना।

फिर खमा० प्रणिपात करके 'इच्छा० मुहपत्ती पडिलेहुं?' 'इच्छं' कहकर मुहपत्ती-पडिलेहनी।

फिर खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० समायिक पारुं?' ऐसा कहकर सामायिक पारनेका आदेश मांगना और गुरु कहें 'पुणो वि कायव्वं'[1] तब यथाशक्ति कहकर 'इच्छा० सामायिक पार्युं,' ऐसा कहना और गुरु कहें कि-'आयारो न मोत्तव्वो ÷' तब 'तह त्ति' कहकर सामायिक पारनेकी विधिके अनुसार 'सामाइय-पारण-गाहा,' (सामाइयवय-जुत्तो') तक सर्व कहना। फिर स्थापना स्थापी हो तो वह उठा लेनेके लिये उत्थापनी मुद्रासे (दाहिना हाथ सीधा रखकर) एक नमस्कार गिनना। इति।

[४]

रात्रिक प्रतिक्रमणकी विधि

(१) सामायिक

सामायिक लेना।

(२) कुस्वप्न-दुःस्वप्नके निमित्त काउस्सग्ग

फिर खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० कुसुमिण-दुसुमिण-उड्डावणियं राइअ-पायच्छित्त-विसोहणत्थं काउस्सग्गं करूं' कहकर काउस्सग्गकी आज्ञा माँगनी और आज्ञा मिलनेपर 'इच्छं' कहकर 'कुसुमिण-दुसुमिण उड्डावणियं राइअ-पायच्छित्त-विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं' ऐसा कहना। बादमें 'काउस्सग्गं' सुत्त बोलकर उस रात्रिमें काम-भोगादिकके दुःस्वप्न आये हों, तो 'सागरवर-गंभीरा' तक और अन्य दुःस्वप्न आये हों या न आये हों तो भी 'चंदेसु निम्मलयरा' तक चार 'लोगस्स' का अथवा सोलह नमस्कारका काउस्सग्ग करके, पार कर, प्रकट 'लोगस्स' कहना।

(३) चैत्यवन्दनादि

फिर खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० चेइयवंदणं करेमि' ऐसा कहकर चैत्यवन्दन करनेकी आज्ञा माँगनी और आज्ञा मिलनेपर 'इच्छं' कहकर

---

१ फिरसे भी (सामायिक) करने योग्य है।

÷ (सामायिक) का आचार छोडने जैसा नहीं है।

बैठकर 'जगचिंतामणि' सुत्त, 'जं किंचि' सुत्त आदि 'जय वीयराय' सूत्र तक बोलना।

फिर 'भगवदादि-वन्दन' सूत्र बोलकर चार खमा० प्रणि० करके भगवान्, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुको थोभवंदन करना।

(४) सज्झाय-स्वाध्याय

फिर खड़े होकर खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० सज्झाय करूँ!' ऐसी इच्छा प्रकट करनी और अनुज्ञा मिलनेपर 'इच्छं' कहकर, बैठकर, एक नमस्कार गिनकर 'भरहेसर०' की सज्झाय बोलनी और बादमें एक नमस्कार गिनना।

(५) रात्रिक प्रतिक्रमणकी स्थापना

इसके पश्चात् 'इच्छकार सुहराइ सुखतप०' का पाठ बोलना। फिर 'इच्छा० राइअ-पडिक्कमणे ठाउं?' ऐसा कहकर प्रतिक्रमणकी स्थापना करनेकी आज्ञा माँगनी और आज्ञा मिलनेपर 'इच्छं' कहकर, दाहिना हाथ चरवले पर अथवा कटासणाके ऊपर रखकर 'सव्वस्स वि राइअ-दुच्चिंतिय०' का पाठ बोलना।

(६) देव-वन्दन

फिर 'नमो त्थु णं' सूत्रका पाठ बोलना।

(७) पहला और दूसरा आवश्यक

(सामायिक और चउविंशति-स्तव)

तदनन्तर खड़े होकर 'करेमि भंते' सूत्र, 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं, जो मे राइओ०' 'तस्स उत्तरी०' सूत्र और 'अन्नत्थ०' सूत्र बोलकर एक 'लोगस्स' अथवा चार नमस्कार का काउस्सग्ग करना।

फिर 'लोगस्स, सव्वलोए अरिहंत-चेइआणं० तथा काउस्सग्ग'-सुत्तके पाठ बोलकर एक लोगस्स अथवा चार नमस्कारका काउस्सग्ग करना।

फिर 'पुक्खरवर-दीवड्ढे०, सुअस्स भगवओ, वंदण०, अन्नत्थ०' कहकर काउस्सग्गमें 'अइयार-वियारण-गाहा' विचारनी ये गाथाएँ न याद हों तो आठ नमस्कारका काउस्सग्ग करना।

फिर 'सिद्धाणं बुद्धाणं' सूत्र बोलना।

(८) तीसरा आवश्यक (वन्दन)

फिर बैठ कर तीसरे आवश्यककी मुहपत्ती पडिलेहनी और खडे होकर द्वादशावर्त-वन्दन करना।

(९) चौथा आवश्यक (प्रतिक्रमण)

फिर 'इच्छा० राइअं आलोउं?' ऐसा कह कर रात्रिमें हुए पापोंकी आलोचना करनेकी अनुज्ञा माँगनी और वह मिलनेपर 'इच्छं' कहकर, 'आलोएमि जो मे राइओ०' पाठ बोलना।

फिर 'सात लाख,' 'अढार पापस्थानक' और 'सव्वस्स वि राइअ०' का पाठ बोलना।

फिर वीरासनसे बैठकर अथवा वह नहीं आता हो तो दाँया घुटना खडा रखकर 'नमस्कार,' 'करेमि भंते!,' 'इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे राइओ०' बोलकर 'सावग-पडिक्कमिउं जो मे राइओ०' बोलकर 'सावग-पडिक्कमण'- सुत्त ('वंदित्तु' सूत्र बोलना। उसमें ४३ वीं गाथामें 'अब्भुट्ठिओ मि' पद कहते हुए खडे होकर सूत्र पूरा करना।

फिर द्वादशावर्त्त-वन्दन करना और अवग्रहमें खडे रहकर, आदेश माँग करके 'अब्भुट्ठिओ०' सूत्र बोलकर गुरुको खमाना और अवग्रहसे बाहर निकलकर पुनः द्वादशावर्त्त-वन्दन करना। तत्पश्चात् 'आयरिय-उवज्झाए' सूत्र बोलना। फिर अवग्रहसे बाहर निकलना।

(१०) पाँचवाँ आवश्यक (कायोत्सर्ग)

तदनन्तर 'करेमि भंते' सूत्र, 'इच्छामि ठामि०', 'तस्स उत्तरी' सूत्र 'अन्नत्थ' सूत्र बोलकर तपका चिन्तन करना और वह नहीं आता हो

तो सोलह नमस्कारका काउस्सग्ग कर, उसे पूर्ण कर 'लोगस्स' का पाठ बोलना ॥

(११) छठा आवश्यक (प्रत्याख्यान)

इसके बाद बैठकर छठे आवश्यकको मुहपत्ती पडिलेहनी और द्वादशावर्त्त-वन्दन करना तथा अवग्रहमें रहकर ही 'सकलतीर्थ-वन्दना' सूत्र बोलना। फिर पच्चक्खाणका आदेश लेकर यथाशक्ति पच्चक्खाण करके, दैवसिक प्रतिक्रमणकी तरह छः आवश्यक याद करना।

(१२) मङ्गल स्तुति

फिर 'इच्छामो अणुसट्ठिं' ऐसा कहकर, बैठकर 'नमो खमासमणाणं 'नमोऽर्हत्०' इत्यादि पाठ कहकर 'विशाल-लोचन-दलं' सूत्र बोलना।

(१३) देव-वन्दन

फिर 'नमो त्थु णं' सूत्र कहकर खडे होकर 'अरिहंत चेइआणं' सूत्र और 'अन्नत्थ' सूत्र कहकर, एक नमस्कार का काउस्सग्ग करके, पार कर, 'नमोऽर्हत्' कहकर कल्लाणकंदं' थुइकी पहली गाथा बोलनी, और चौथी गाथा तककी सम्पूर्ण विधि दैवसिक प्रतिक्रमणकी तरह करनी।

फिर बैठकर 'नमो त्थु णं' सूत्रका पाठ बोलकर चार खमा० प्रणि० पूर्वक भगवान् आदि चारको थोभवंदन करना।

फिर दाहिना हाथ चरवला अथवा कटासणाके ऊपर रखकर 'अड्ढाइज्जेसु' सूत्र बोलना।

(१४) श्रीसीमधन्र स्वामीका चैत्यवन्दन

फिर दोनों घुटने भूमिपर रखकर ईशान कोणकी ओर बैठकर अथवा दिशाका मनमें चिन्तन कर खमा० प्रणि० करके श्रीसीमन्धर स्वामीका चैत्यवन्दन तथा स्तवन बोलकर सब विधि थोय-पर्यन्त करनी। उसमें 'अरिहंत चेइआणं' सूत्रसे खडा होना।

(१५) श्रीसिद्धाचलजीका चैत्यवन्दन

इसी प्रकार खमा० प्रणि० करके श्रीसिद्धाचलजीका चैत्यवन्दन श्रीसिद्धाचलजीकी दिशाके सम्मुख अथवा उस दिशाकी मनमें कल्पना करके स्थापनाजी सम्मुख करना। उसमें चैत्यवन्दन, स्तवन और स्तुति श्रीसिद्धाचलजीकी कहनी।

(१६) सामायिक पारना

फिर सामायिक पारनेकी विधिके अनुसार सामायिक पारना। इति।

[५]

पाक्षिक प्रतिक्रमणकी विधि

(१) प्रथम दैवसिक प्रतिक्रमणमें 'सावग-पडिक्कमण-सुत्त' बोलने तककी जो विधि है, वह करनी। परन्तु उसमें चैत्यवन्दन 'सकलार्हत्-स्तोत्र' का करना और स्तुति 'स्नातस्या' की बोलनी।

(२) फिर खमा० प्रणि० करके 'देवसिअ आलोइअ पडिक्कंता इच्छा० पक्खि-मुहपत्ती पडिलेहुं ?' ऐसा कहकर पाक्षिक प्रतिक्रमणकी मुहपत्ती पडिलेहनेका आदेश माँगना और वह मिलने पर 'इच्छं' कहकर मुहपत्ती पडिलेहनी। फिर द्वादशावर्त्त-वन्दन करना। इसके बाद 'इच्छा० अब्भुट्ठिओ हं संबुद्धा खामणेणं अब्भिंतर पक्खिअं खामेउं ?' ऐसे कहना० गुरु कहें—'खामेह' तब इच्छं खामेमि पक्खिअं, एक (अंतो) पक्खस्स पन्नरस राइआणं, पन्नरस दिवसाणं जं किंचि आपत्तिअं०' आदि पाठ बोलना।

(३) फिर 'इच्छा० पक्खिअं आलाऊं ?' कहकर पाक्षिक आलोचनाका आदेश माँगना और गुरु कहें-'आलोएह' तब 'इच्छं' कह पक्खी (पाक्षिक) अतिचार बोलना। (मण्डलीमें एक बोले और अन्य उसका चिन्तन करें। अतिचार न आता होतो 'सावग-पडिक्कमण-सुत्त' बोलना।)

(४) फिर 'सव्वस्स वि पक्खिअ दुच्चिंतिअ, दुब्भासिअ, दुच्चिट्ठिअ इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! इच्छं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं' ऐसा कहना।

(५) बादमें 'इच्छकारी भगवन्! पसायकरी पक्खि-तप प्रसाद करनाजी' ऐसा कहना। तब गुरु अथवा कोई बड़ा व्यक्ति इस प्रकार कहे:- 'पक्खी लेखे एक उपवास, दो आयंबिल, तीन निव्वी, चार एकाशन, आठ बियाशन, या दो हजार सज्झाय, यथाशक्ति तप करके पहुँचाना।' इस समय तप पूर्ण किया हो तो 'पइट्ठिओ' कहना और यदि ऐसा तप निकटमें ही कर देना हो तो 'तह त्ति' कहना।

(६) फिर द्वादशावर्त्त-वन्दन करना और 'इच्छा० अब्भुट्ठिओ हं पत्तेअ-खामणेणं अब्भितर-पक्खिअं खामेउं?' बोलकर आज्ञा मिल जानेपर 'इच्छं' कहकर 'खामेमि पक्खिअं, एक (अंतो) पक्खस्स पन्नरस-राइआणं-दिवसाणं जं किंचि अपत्तिअं०' आदि पाठ बोलकर द्वादशावर्त्त-वन्दन करना

(७) फिर 'देवसिअ आलोइअ पडिक्कंता इच्छा० पक्खिअं पडिक्कमावेह?' कहकर आदेश माँगना और गुरु कहें-'सम्मं पडिक्कमेह' फिर इच्छं' कहकर 'करेमि भंते' सूत्र तथा 'इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे पक्खिओ०' आदि पाठ बोलना। फिर खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० पक्खि० सूत्र कढूं' ऐसा कहकर साधु होतो 'पक्खि-सुत्र' कहें और साधु न हो तो श्रावक खड़े होकर तीन नमस्कार-पूर्वक 'सावग-पडिक्कमण-सुत्त' (वंदित्तु-सूत्र) कहें।

(८) फिर 'सुय-देवया'की थोय कहनी।

(९) इसके पश्चात् नीचे बैठकर दाँया घुटना खड़ा रखकर, एक नमस्कार 'करेमि भंते' सूत्र तथा 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं जो मे पक्खिओ०' बोलकर 'सावग-पडिक्कमण-सुत्त' कहना।

(१०) फिर 'करेमि भंते' सूत्र, 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं जो मे पक्खिओ०' 'तस्स उत्तरी' सूत्र, 'अन्नत्थ' सूत्र, बोलकर बारह 'लोगस्स'का काउस्सग्ग करना। ये लोगस्स 'चंदेसु निम्मलयरा' तक गिनना। अथवा अड़तालीस नमस्कारका काउस्सग्ग करके पारना। बादमें 'लोगस्स' सूत्रका पाठ बोलना और मुहपत्तीका पडिलेहण करके द्वादशावर्त्त-वन्दन करना।

(११) फिर 'इच्छा० अब्भुट्ठिओ हं संमत्त-खामणेणं अब्भिंतर पक्खिअं खामेउं?' ऐसा कहकर गुरुकी आज्ञा मिलनेपर 'इच्छं' बोलकर, 'खामेमि पक्खिअं एक (अंतो) पक्खस्स, पन्नरस राइआणं, पन्नरस दिवसाणं जं किंचि अपत्तिअं०' आदि पाठ बोलकर खमा० प्रणि० करके 'इच्छा०' पक्खिअ-खामणां खामुं?' ऐसा कहकर चार खामणां खामना। मुनिराज हों तो खामणां कहना और मुनिराज न हों तो, खमा० प्रणि० करके 'इच्छामि खमासमणो!' कहकर दाहिना हाथ उपधिपर रखकर, एक 'नमस्कार' कह 'सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि' कहना। केवल तीसरे खामणां के अन्तमें तस्स मिच्छा मि दुक्कडं' कहना। फिर 'पक्खिअं समत्तं, देवसिअं पडिक्कमामि' ऐसा कहना।

(१२) फिर दैवसिक प्रतिक्रमणमें 'सावग-पडिक्कमण-सुत्त' कहनेके बाद द्वादशावर्त्त-वन्दन किया जाता है, वहाँसे सामायिक पारने तककी सब विधि करनी। किन्तु 'सुयदेवया' की थोयके स्थानपर भुवनदेवताका काउस्सग्ग करना, और ज्ञानादि० थोय कहनी। तथा क्षेत्रदेवताके काउस्सग्गमें 'यस्याः क्षेत्रं' स्तुति बोलनी। स्तवनमें 'अजिय-संति-थओ' बोलना। सज्झायके स्थानपर 'नमस्कार', 'उवसग्गहरं' स्तोत्र तथा 'संसार-दावानल' स्तुतिकी चार गाथाएँ बोलनी। उसमें चौथी स्तुतिके अन्तिम तीन चरण सकल सङ्घ एक साथ उच्च स्वरसे कहें और 'शान्ति-स्तव (लघु शान्ति)' के स्थानपर 'बृहच्छान्ति' कहनी।

[६]

चातुर्मासिक-प्रतिक्रमणकी विधि

चातुर्मासिक-प्रतिक्रमणकी विधि पाक्षिक-प्रतिक्रमणके जैसी ही है परन्तु उसमें विशेषता इतनी है कि बारह लोगस्सके काउस्सग्गके स्थानपर बीस लोगस्सका अथवा अस्सी नमस्कारका काउस्सग्ग करना। 'पक्खी' के स्थानपर 'चउमासी' शब्द बोलना और तपकी जगह 'छट्ठेणं दो उपवास, चार

आयंबिल, छ निव्वी, आठ एकाशन, सोलह बियाशन, चार हजार सज्झाय', ऐसा कहना।

[७]

सांवत्सरिक प्रतिक्रमणकी विधि

सांवत्सरिक प्रतिक्रमणकी विधि भी हरतरहसे पाक्षिक प्रतिक्रमणकी विधिके अनुसार ही है, परन्तु उसमें विशेषता इतनी है कि बारह लोगस्सके काउस्सग्गके स्थानपर चालीस लोगस्स और एक नमस्कारका अथवा एकसौ साठ नमस्कारका काउस्सग्ग करना, 'पक्खी' के स्थानपर 'संवत्सरी' शब्द बोलना और तपके स्थानपर 'अट्ठमभत्तं, तीन उपवास, छः आयंबिल, नौ निव्वी, बारह एकाशन, चौबीस बियाशन और छः हजार सज्झाय' ऐसा केहना।

[८]

छींक आवे तो करनेकी विधि

पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमणमें जो अतिचारसे पूर्व छींक आवे तो चैत्यवन्दनसे फिर आरम्भ करना चाहिये और दुक्ख-खय कम्म-खयके काउस्सग्गसे पूर्व छींकका काउस्सग्ग करना चाहिये तथा माङ्गलिकके लिये श्रीसकलचन्द्रजी उपाध्यायरचित 'सत्तरभेदी पूजा' पढ़ानी चाहिये। अतिचारके पश्चाद् छींक आवे तो केवल छींकका काउस्सग्ग करना और ऊपर कहे अनुसार 'सत्तरभेदी पूजा' पढ़ानी, ऐसा सम्प्रदाय है।

छींक के काउस्सग्गकी विधि

इरियावहीं पडिक्कमण करके लोगस्स० कहकर 'इच्छा० क्षुद्रापद्रव-ओहडावणत्थं काउस्सग्गं करूँ?' गुरु कहें- 'करेह' तब 'इच्छं' कहकर क्षुद्रोपद्रव० 'अन्नत्थ' सूत्र कहकर, चार लोगस्सका 'सागरवर-गंभीरा'

तकका अथवा तो सोलह नमस्कारका काउस्सग करना और नीचे लिखी हुई (स्तुति) कहनी।

" सर्वे यक्षाम्बिकाद्या ये, वैयावृत्यकरा जिने।
क्षुद्रोपद्रव-सङ्घातं, ते द्रुतं द्रावयन्तु नः ॥ ३ ॥ "

फिर 'लोगस्स'.सूत्र कहकर प्रतिक्रमणकी आगेकी विधि करनी।

[९]

पच्चक्खाण पारनेकी विधि

१. प्रथम इरियावही पडिक्कमण करके 'जगचिंतामणि'का चैत्यवन्दन कर 'जय-वीयराय' सूत्र तकके सब पाठ कहने, फिर 'मन्नह जिणाणं'की सज्झाय कहकर मुहपत्ती पडिलेहनी।

२. फिर खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० पच्चक्खाण पारूँ ?' यथाशक्ति' कहकर फिर खमा० 'इच्छा० पच्चक्खाण पार्युं' 'तह त्ति' कहकर दाहिना हाथ कटासण अथवा चरवले पर रखकर, एक नमस्कार गिनकर जो पच्च-क्खाण किया हो, उसका नाम बोलकर पारना। वह इस प्रकार—

" उग्गए सूरे नमुक्कार-सहिअं, पोरिसिं, साढपोरिसिं, गंठिसहिअं, मुट्ठि-सहिअं पच्चक्खाण कर्युं, चउव्विहार, आयं-बिल, निव्वि, एगासण, बियासण, पच्चक्खाण कर्युं, तिविहार पच्चक्खाण फासिअं, पालिअं, सोहिअं, तीरिअं, किट्टिअं, आराहिअं, जं च न आराहिअं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥ "

अन्तमें एक नमस्कार गिनना।

[१०]

पोषध-विधि

(१) **पोषधके प्रकार:**-पोषधके* मुख्य चार प्रकार हैं-(१) आहार-पोषध, (२) शरीर-सत्कार-पोषध, (३) ब्रह्मचर्य-पोषध और (४) अव्यापार-पोषध। इन चारों प्रकारोंके देश और सर्वसे दो दो भेद हैं, परन्तु वर्तमान समाचारीमें आहार-पोषध देश और सर्वसे किया जाता है। शेष अन्य तीनों पोषध सर्वसे किये जाते हैं। तिविहार उपवास, आयंबिल, निव्वी तथा एकाशन करना वह देश-आहार-पोषध है और चोविहार उपवास करना वह सर्व आहार-पोषध है।

(२) **पोषधमें प्रतिक्रमणादि:**— पौषध करनेकी इच्छावालेको प्रभातमें जल्दी उठकर रात्रिक-प्रतिक्रमण करना फिर उपाश्रयमें आकर गुरुके समक्ष पोषध उच्चरना। वर्तमान सामाचारी इस प्रकार है. परन्तु मुख्य रूपसे प्रातः पोषध लेकर फिर प्रतिक्रमण करना चाहिये। इस प्रतिक्रमणमें 'जीवहिंसा-आयोलणा' सुत्त ('सात लाख) और 'अट्ठारस पाव ठाणाणि' सूत्रके बदलेमें 'गमणागमणे' सूत्र कहना (जो आगे दिया हुआ है)। और 'साहु-वन्दण-सुत्त' ('अड्ढाइज्जेसु' सूत्र) से पूर्व 'बहुवेल' का आदेश लेना। फिर चार खमा० प्रणि० द्वारा आचार्यादिको वन्दन करके 'साहु-वन्दण' सुत्त ('अड्ढाइज्जेसु' सूत्र) कहना और प्रतिक्रमण पूर्ण करना+। फिर खमा० प्रणि० पूर्वक इरियावहियं करके खमा० प्रणि० पूर्वक आदेश माँगना।

---

* पोषधके अर्थ आदिके लिये देखो प्रबोध टीका, भाग २ रा, सूत्र ३२ की गाथा २९।

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य तथा अभयदेवसूरि आदिने 'पोषध' शब्दको शुद्ध मानकर उसका व्यवहार किया है।

+ रात्रिक-पोषधमें भी दूसरे दिन प्रातःकालके प्रतिक्रमणमें इस प्रकार विधि करना।

'इच्छा० पडिलेहण करूँ ?' फिर 'इच्छं' कहकर पाँच वस्तु पडिलेहनी– मुहपत्ती, चरवला, कटासणा, कंदोरा और धोती। फिर इरिया० कहकर बाकीके वस्त्र पडिलेहने। उसके बाद देववन्दन करना।

(३) फिर उपाश्रयमें आकर पोषधके लिये गुरु–सम्मुख नीचे लिखी अनुसार विधि करनीः–(इसमें प्रतिक्रमणके साथमें पडिलेहण करनेवालेको निम्न प्रकारसे विधि तो करना, किन्तु वस्त्र नहीं पडिलेहने; क्यों कि उनकी पडिलेहणा प्रथम की हुई है।)

(१) खमा० प्रणि० करके, 'इरियावही' पडिक्कमी, 'तस्स उत्तरी सूत्र तथा 'अन्नत्थ' सूत्र बोलकर, काउस्सग्ग करना। उसमें 'चउवीसत्थय' सुत्त (लोगस्स' सूत्र) का स्मरण करके काउस्सग्ग पूर्ण कर वह सूत्र प्रकट बोल्ना (२) फिर 'इच्छा• पोसह–मुहपत्ती पडिलेहुं ?' ऐसे कहकर मुहपत्ती पडिलेहनकी आज्ञा माँगनी। गुरु कहें 'पडिलेहेह' तब 'इच्छं' कहकर बैठकर मुहपत्ती पडिलेहनी। (३) फिर खमा० प्रणि० करके 'इच्छा–पोसह संदिसाहुं ? ऐसा कहकर आज्ञा माँगनी। गुरु कहें–संदिसाभि' तब 'इच्छं' कहकर खमा० प्रणि० करके कहना कि 'इच्छा० पोसह ठाउं ?' गुरु कहें– 'ठाएह' तब 'इच्छं' कहकर खडे–खडे एक नमस्कार गिनना। (४) फिर 'इच्छकारि भगवन्! पसाय करी पोसह दंडक उच्चरावोजी' ऐसे कहकर गुरु महाराजके पास या किसी पूज्य व्यक्तिके पास अथवा वैसा योग न हो तो स्वयंको 'पोसह लेनेका' सूत्र (क्रमाङ्क ४४) बोल्ना। फिर सामायिक मुहपत्ती पडिलेहणके आदेशसे लेकर तीन नमस्कार गिनकर सज्झाय करने तक सामयिक लेनेकी सारी विधि करनी। उसमें विशेषता इतनी है कि 'जाव नियमं' स्थान पर 'जाव पोसहं' कहना। (६) फिर खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० बहुवेल संदिसाहुं ?' कहना। गुरु कहें–'संदिसामि' तब 'इच्छं' कहकर खमा० प्रणि० करके 'इच्छा' बहुवेल करूँगा' ऐसे कहना। गुरु कहें–'करना' तब 'इच्छं' कहना। (७) खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० पडिलेहण करूँ ?' इस तरह कहना। गुरु कहें–'करेह' तब 'इच्छं' कहकर

पाँच वस्तुका पडिलेहण करना। उसमें मुहपत्तीका ५० बोल्से, चरवलाका १० बोल्से, कटासणका २५ बोलसे, सूतकी मेखलाका (कंदोरेका) १० बोलसे और धोतीका २५ बोलसे पडिलेहणा करना। (८) फिर पडिलेहना की हुई धोती पहनकर, कंदोरा बाँधकर, इरियावही प्रतिक्रमण करके खमा० प्रणि० 'इच्छा० पडिलेहणा पडिलेहावोजी' ऐसा कहना। गुरु कहें–'पडिलेहावेमि' तब 'इच्छं' कहना। (९) फिर स्थापनाचार्यजीकी पडिलेहणा करके (स्थापित हो तो पुनः स्थापित करके अथवा बडे व्यक्तिके उत्तरीय वस्त्रकी प्रतिलेखना करके) खमा० प्रणि० 'इच्छा० उपधि–मुहपत्ती पडिलेहुं?' ऐसा कहना। गुरु कहें–'पडिलेहेह' तब 'इच्छं' कहकर मुहपत्तीकी पडिलेहणा करनी। (१०) फिर खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० उपधि संदिसाहुं?' ऐसा कहना। गुरु कहें–'संदिसावेमि' तब 'इच्छं' कहकर खमा० प्रणि० करके इच्छा० उपधि पडिलेहुं? ऐसा कहना। गुरु कहे 'पडिलेहेह' तब 'इच्छं' कहकर शेष वस्त्रोंकी पडिलेहना करनी। (११) फिर एक आदमीको दण्डासन याच लेना चाहियेX और उसकी पडिलेहना करके, इरियावही पडिक्कमण करके +काजा लेना चाहिये। फिर उसे शुद्ध कर, जीव–जन्तु मृत या जीवित हो तो उसकी तपास कर दंडासन द्वारा प्रमार्जन करते हुए निरवद्य भूमिका पर जाकर 'अणुजाणह जस्सुग्गहो' कहकर काजा परठवना और तीनवार 'वोसिरे' कहना (१२) फिर मूल स्थानपर आकर सबके साथ देव–वन्दन और सज्झाय करना।

(४) देव–वन्दनकी विधि इस प्रकार जाननी—

(प्रथम खमा० प्रणि० करके इरियावही पडिक्कमण कर, 'लोगस्स' कहकर उत्तरासन डालकर खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० चेइयवंदणं करेमि'

X वस्तु याचनेका अर्थ अन्य गृहस्थोंसे 'यह वस्तु हम वापरते हैं' ऐसा आदेश लेनेका है।

+ काजामें सचित्त–एकेन्द्रिय (अनाज तथा हरी वनस्पति) तथा कलेवर निकले तो गुरुसे आलोयणा लेनी। त्रसजीव निकले तो यतना करनी।

ऐसे कहना। बादमें 'इच्छं' कहकर चैत्य-वन्दन, 'तित्थ-वंदण-सुत्त' ('जंकिंचि' सूत्र) 'सक्कत्थय-सुत्त' (नमो त्थु णं सूत्र') और 'पणिहाण-सुत्त' ('जय-वीयराय' सूत्र) 'आभवमखंडा' तक कहकर खमा० प्रणि० करके चैत्यवन्दन करके, 'सक्कत्थय सुत्त' कहकर चार थोय (स्तुतियाँ) बोलने तककी सब विधि करनी। (२) फिर 'सक्कत्थय-सुत्त' आदि बोलकर दूसरी बार चार स्तुतियाँ बोलनी। (३) फिर 'सक्कत्थय-सुत्त' तथा 'सव्व-चेइय-वंदण-सुत्त' ('जावंति चेइआई') और 'सव्व-साहू-वंदण-सुत्त' ('जावंत के वि साहू') नमोऽर्हत् का पाठ बोलकर स्तवन बोलकर 'पणिहाणसुत्त' का पाठ 'आभवमखंडा' तक बोलना। (४) फिर खमा० प्रणि० करके 'चैत्य-वन्दन,' 'तित्थ-वंदण-सुत्त' ('जंकिंचि' सूत्र) 'सक्कत्थय-सुत्त' बोलकर 'पणिहाण-सुत्त' पूरा बोलना। इसके पश्चात् विधि करते हुए अविधि हुई हो उसका आत्माको 'मिच्छा मि दुक्कडं' द्वारा दण्ड देकर प्राभातिक देव-वन्दनके अन्तमें सज्झाय कहनी (मध्याह्न तथा सायङ्कालको नहीं कहनी।)

(५) **सज्झायकी विधि** इस प्रकार जाननी-प्रथम खमा० प्रणि० करके इच्छा० सज्झाय करुं? ऐसा कहना। गुरु कहें-'करेह' तब 'इच्छं' कहकर नमस्कार गिनकर पैरोंपर बैठकर एक व्यक्ति 'सद्दह-निचकिच्च-सज्झाओ'। ('मन्नह-जिणाणं' की सज्झाय सूत्र-४५) बोले।

(६) छः घड़ी दिन चढ़नेके बाद पोरिसी पढ़ानी। वह इस प्रकार-खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० बहु-पडिपुन्ना पोरिसी?' ऐसा कहना। गुरु कहें 'तह त्ति' तब 'इच्छं' कहना। फिर खमा० प्रणि० करके इरियावही पडिक्कमण कर खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० पडिलेहण करूँ?' ऐसा कहना। गुरु कहें 'करेह' तब 'इच्छं' कहना और मुहपत्ती पडिलेहनी।

(७) गुरु हों तो उनके समक्ष राइय-मुहपत्ती पडिलेहनी। * वह इस प्रकार:—प्रथम खमा० प्रणि० करके इरियावही पडिक्कमण कर खमा०

* जिन्होंने गुरुके साथ रात्रिक- प्रतिक्रमण न किया हो उनके लिये यह विधि है।

प्रणि० करके 'इच्छा० राइअ-मुहपत्ती पडिलेहुँ ?' ऐसा कहना। गुरु कहें-'पडिलेहेह' तब 'इच्छं' कहकर मुहपत्ती पडिलेहनी। फिर द्वादशावर्त-वन्दन करना। बादमें 'इच्छा० राइअं आलोउं ? इस प्रकार कहना। गुरु कहें-'आलोएह' तब 'इच्छं' कहकर 'आलोएमि, जो मे राइओ अइआरो' तथा सव्वस्स वि राइअ०' कहकर पदस्थ हों तो उनको द्वादशावर्त्त-वन्दन करना और पदस्थ न हों तो एक ही खमा० प्रणि० करना। फिर 'इच्छकार मुहराइ०' कहकर खमा० प्रणि० करके 'गुरु-खामणा-सुत्त' ('अब्भुट्ठिओ हं' सूत्र) द्वारा गुरुको खमाना। फिर द्वादशावर्त्त-वन्दन करके इच्छकारी भगवन्! पसाय करी पच्चक्खाणका आदेश देनाजी' ऐसा कहकर पच्चक्खाण लेना। यहाँ चोविहार या तिविहार उपवास अथवा पुरिमड्ढ आयंबिल या एकाशनका पच्चक्खाण करना चाहिये। खास कारण हो तो गुरुकी आज्ञासे साड्डपोरिसी-आयंबिल-एकाशनका पच्चक्खाण भी कर सकते है।

(८) फिर सर्व मुनिराजोंको दो बार खमा० प्रणिपात करके, इच्छकार तथा 'गुरुखामणा-सुत्त' का पाठ बोलकर वन्दन करना।

(९) फिर लघुशङ्का करनी हो (मातरा करनी हो) तो कुण्डी, पूंजणी और अचित्त जलकी याचना करनी। तथा मातरीया पहन कर पूंजणी द्वारा कुण्डी पूंजकर, उसमें लघुशङ्का करके परठवनके स्थानपर जाना। वहाँ कुण्डी नीचे रखकर निर्जीव भूमि देखकर 'अणुजाणह जस्सुग्गहो' कहकर मूत्र परठवना। परठवनेके बाद फिरसे कुण्डी नीचे रखकर तीन बार 'वोसिरे' कहकर, कुण्डी मूल स्थानपर रखकर, अचित्त जलसे हाथ धोकर वस्त्र बदलकर स्थापनाचार्यके सम्मुख आना और खमा० प्रणि० करके इरियावही पडिक्कमण करना। यहाँ इतना याद रखना कि जब जब पोषधशाला अथवा उपाश्रयके बाहर जानेका प्रसङ्ग आये तब तीन बार 'आवस्सही' कहना और अन्दर प्रवेश करते समय तीन बार 'निसीहि' कहना।

(१०) पोसह लेनेके पश्चात् जिनमन्दिरमें दर्शन करने जाना चाहिये। उसकी विधि इस प्रकार है-कटासण बाँये कन्धेपर डालकर, उत्तरासण करके

चरवला बाँयी कोखमें और मुहपत्ती दाँये हाथमें रखकर ईर्यासमिति शोधते हुए मुख्य जिनमन्दिरमें जाना। वहाँ तीन बार 'निसीहि' कहकर मन्दिरके प्रथमद्वारमें प्रवेश करना और मूलनायकजीके सम्मुख जाकर दूरसे प्रणाम करके तीन प्रदक्षिणा देनी। फिर दूसरी बार 'निसीहि' बोलकर रङ्गमण्डपमें प्रवेश करके, दर्शन-स्तुति करके, खमा० प्रणि० करके, इरियावही पडिक्कमण करना। फिर मन्दिर सौ हाथसे अधिक दूर हो तो 'गमणागमणे' आलोचना और तीन बार खमा० प्रणि० करके 'निसीहि' कहकर चैत्यवन्दन करना। वह पूर्ण होनेपर जिनमन्दिरसे बाहर निकलते समय तीन बार 'आवस्सही' कहकर उपाश्रयमें आना। वहाँ तीन बार 'निसीहि' कहकर प्रवेश करना और सौ हाथसे अधिक जाना हुआ हो, तो इरियावही पडिक्कमण करना तथा 'गमणागमणे' आलोचना।+

यदि चातुर्मास हो तो मध्याह्नके देव-वन्दन से पहले दूसरी बारका काजा लेना चाहिये। उसके लिये एक व्यक्तिको इरियावही पडिक्कमण करके काजाको लेना चाहिये। और उसे शुद्ध करके योग्य स्थान पर परठवना चाहिये। (तदनन्तर इरियावही पडिक्कमण नहीं करना)। फिर मध्याह्नका देववन्दन करना। उसकी विधि पूर्ववत् जाननी। फिर जिसको पानीका उपयोग करना हो अथवा आयंबिल, एकाशन करने जाना हो उसको पच्चक्खाण पूर्ण करना चाहिये। पच्चक्खाण पूर्णकरनेकी विधि अन्यत्र दी हुई है)।

(१२) पानी पीना हो उसको× घड़ा तथा कटोरी (ग्लास) याचकर उसका पडिलेहण करके उसमें याचा हुआ अचित्त जल कटासणपर बैठकर पीना और पानी पीनेका पात्र पोंछकर रखना। पानीवाला पात्र खुला नहीं रखना।

+ जब जब सौ हाथसे अधिक जाना हुआ हो, अथवा कुछ भी परठवना हो तब इरियावही पडिक्कमण करना और 'गमणागमणे' आलोचना।

× वापरनेके पात्र अक्षरोंसे अङ्कित नहीं होने चाहिये, क्यों कि अक्षर पर होठ लगनेसे अथवा झूँठे पानीका स्पर्श होनेसे ज्ञानावरणीय कर्म बँधता है।

(१३) यदि आयंबिल, निव्वी अथवा एकाशन करनेके लिये अपने घर जाना हो तो ईर्यासमिति शोधते हुए जाना और घरमें प्रवेश करते हुए 'जयणा–मंगल' बोलकर आसन (कटासण) डालकर, बैठकर, स्थापनाचार्य स्थापित कर, इरियावही पडिक्कमण करना। फिर खमा० प्रणि० करके 'गमणागमणे' आलोचना। फिर काजालेकर परठवकर इरियावही करके, पटिया तथा थाली आदि बरतन याचकर उसका प्रमार्जन कर फिर आहार याचकर संभव हो तो अतिथि–संविभाग करके, निश्चल आसनपर बैठकर मौनपूर्वक आहार करना। यथा सम्भव आहार प्रणीत (रस–कसवाला) नहीं होना चाहिये, और 'चब–चब' आवाज हो ऐसा नहीं होना चाहिये। ली हुई वस्तुमेंसे कोईभी वस्तु झूँठी नहीं छोड़नी और परोसनेवाला 'बापरो' ऐसा कहे, फिर बापरना। जिसको घर नहीं जाना हो, वह पोषधशालामें पूर्वप्रेरित पुत्रादिद्वारा लाया हुआ आहार कर सकता है, किन्तु साधुकी तरह बहोरनेके लिये नहीं जा सकता। इसके लिये प्रथम स्थानका प्रमार्जन करना और उसपर कटासन बिछाना। फिर पात्र आदिका प्रमार्जन कर, स्थापना स्थापित कर इरियावही पडिक्कमण करके निश्चल आसनपर बैठकर मौनपूर्वक आहार करना।

विशिष्ट प्रकारके कारण बिना मोदकादि स्वादिष्ट वस्तु तथा लवङ्ग ताम्बूल आदि मुखवास वापरना नहीं।

फिर मुख–शुद्धि करके तिविहारका पच्चक्खाण करना और नमस्कार गिनकर उठना तथा काजा लेकर परठवना। बादमें पोषध शालामें आकर स्थापनाजीके सम्मुख इरियावही पडिक्कमण करके चैत्यवन्दन करना। उसमें 'जगचिंतामणि' सुत्त बोलना और 'पणिहाण-सुत्त' ('जय वीयराय')–तककी सब विधि करनी।

(१४) इसके बाद स्वाध्याय और ध्यानमें प्रवृत्त होना।

(१५) तीसरे प्रहरके बाद मुनिराजने स्थापनाचार्यका पडिलेहण किया हो उसके समक्ष (दूसरी बारका) पडिलेहण करना। वह इस प्रकार–

(१) प्रथम खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० बहुपडिपुन्ना पोरिसी?' ऐसे कहना। तब गुरु कहें–'तह त्ति' तब 'इच्छं' कहकर खमा० प्रणि० करके इरियावही पडिक्कमण करना। (२) फिर खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० गमणागमणे' आलोऊँ?' ऐसा कहना गुरु कहें–'आलोएह' तब 'इच्छं' कहकर 'गमणागणे' आलोवना। (३) फिर खमा० प्रणि० करके इच्छा० पडिलेहण करूँ?' गुरु कहें– 'करेह' तब 'इच्छं' कहकर खमा० प्रणि० करके कहना कि 'इच्छा० पोसहसाला प्रमार्जूं?' गुरु कहें– 'पमज्जेह' तब 'इच्छं' कहकर उपवासवालेको मुहपत्ती, कटासणा और चरवला ये तीनों और आयंबिल एकाशनवालेको इन तीनोंके अतिरिक्त कंदोरा और धोती इस प्रकार पाँचकी पडिलेहना करनी। (४) फिर खमा० प्रणि० करके 'इरियावही' पडिक्कमण कर (उपवासवालेको इरियावही पडिक्कमण नहीं करना।) और खमा० प्रणि० करके 'इच्छकारी भगवन्! पसाय करी पडिलेहणा पडिलेहावोजी!', ऐसे कहकर बड़े व्यक्तिका उत्तरीय–वस्त्र पडिलेहना। (५) फिर खमा० प्रणि० करके कहना कि 'इच्छा० उपधि मुहपत्ती पडिलेहुं? गुरु कहें 'पडिलेहेह' तब 'इच्छं' कहकर मुहपत्तीकी पडिलेहणा करनी। (६) फिर खमा० प्रणि० करके इच्छा० सज्झाय करूँ?' ऐसा कहकर सज्झायका आदेश माँगना। गुरु कहें– 'करेह' तब घुटनोंपर बैठकर, एक नमस्कार गिन, 'मन्नह–जिणाणं' की सज्झाय बोलनी। (७) फिर भोजन किया हो उसको 'द्वादशावर्त्त–वन्दन' करके और अन्यको खमा० देकर पाणहारका पच्चक्खाण करना। प्रातः तिविहार उपवासका पच्चक्खाण लिया हो और पानी नहीं पिया हो तो इस समय चउविहारका पच्चक्खाण करना और चउविहार उपवासवाले को 'पारिठ्ठावणिया' आगार रहितका 'सूरे उग्गए' चोविहारका पच्चक्खाण करना और कारण हो तो गुरुकी आज्ञासे 'मुट्ठि–सहियं' का पच्चक्खाण करना। (८) फिर खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० उपधि संदिसाहु?' ऐसा कहना और गुरु कहें– 'संदिसावेमि' तब 'इच्छं' कहकर खमा० प्रणि० करके फिर कहना कि 'इच्छा० उपधि पडिलेहउं?' गुरु कहें–'पडिलेहेह' तब 'इच्छं' कहकर

प्रथम पडिलेहनसे अवशिष्ट वस्त्रोंकी पडिलेहणा करनी। उसमें रात्रि–पोषध करनेवालेको प्रथम कमलीका पडिलेहण करना और फिर सर्व उपधि (वस्त्रादि) लेकर खडा होना। (९) फिर दंडासण याचकर काजा लेनेके नियमानुसार काजा लेना। ('मुट्ठि–सहियं' का पच्चक्खाण करनेवालेको पानी वापरना हो तो नमस्कार गिनकर पच्चक्खाण पारके वापरना। फिर सबको देव–वन्दन करना चाहिये।

(१६) पोसह पारनेसे पूर्व याचे हुए दंडासन, कुण्डी, पानी आदि गृहस्थको फिर सँभला देने।

(१७) फिर यथावसर दैवसिक अथवा पाक्षिकादि प्रतिक्रमण करना। उसमें प्रथम सिर्फ इरियावही पडिक्कमण करना और फिर खमा० प्रणि० करके चैत्य–वन्दन करना। 'जीवहिंसा–आलोयण' सुत्त ('सात–लाख' सूत्र) तथा 'अट्ठारस–पावठाणाणि' ('अठारह–पापस्थानक') सूत्रके बदलेमें 'गमणागमण' आलोचना और 'सामाइय–सुत्त' ('करेमि भंते' सुत्र) 'जाव–नियमं' के स्थान पर 'जाव–पोसहं' कहना।

(१८) प्रतिक्रमण करनेके पश्चात् सामायिक पूरा करनेके बदले चार प्रहरके पोसहवाले पोसह पारें। उसकी विधि इस प्रकार है––

खमा० प्रणि० करके इरियावही पडिक्कमण कर 'चउक्कसाय–सुत्त'से 'जय वीयराय' सूत्र तक कहना। फिर खमा० प्रणि–करके 'इच्छा० मुहपत्ती पडिलेहुं ? ऐसा कहना और गुरु कहें–'पडिलेहेह' तब 'इच्छं' कहकर मुहपत्ती पडिलेहनी। बादमें खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० पोसह पारूँ ? ऐसे कहना। गुरु कहें 'पुणो वि कायव्वो' तब 'यथाशक्ति' कहना। इसके बाद खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० पोसह पार्यो' ऐसे कहना। गुरु कहें–'आयारो न मोत्तव्यो' तब 'तह त्ति' कहकर चरवले पर हाथ रखकर एक नमस्कार बोलकर 'पोसह पारनेका सूत्र' (सागरचन्दो कामो') बोलना। फिर सामायिक पारनेकी विधिके अनुसार सामायिक पारना।

(१९) रात्रि-पोषध करनेकी इच्छावालेको कमसे-कम एकाशन तो किया हुआ होना ही चाहिये; उसको चूनेका पानी, कुण्डल, रुई, दण्डासण याच लेने चाहिये ओर कामली तथा संथारिया साथ रखना चाहिये। पहले पडिलेहण, देव-वन्दन किया हुआ हो तो बादमें पोषध लेनेकी विधिके अनुसार, पोषध तथा सामायिक लेकर सब आदेश माँगे। और* उस समय केवल मुहपत्तीका ही पडिलेहण करना। परन्तु पोषध उच्चारणके बाद पडि-लेहण तथा देव-वन्दन किया जाय वह अधिक योग्य है।

(२०) जिसने प्रातः आठ प्रहरका ही पोषध लिया हो वह सायङ्कालीन देव-वन्दनके पश्चात् कुण्डल जाँच ले, अर्थात् रुईके दो फोहे दोनों कानोंमें रखे। यदि उनकी खो दे तो आलोयणा लगती है। फिर दण्डासण तथा रात्रिके लिये चूना डाला हुआ अचित्त पानी याचकर रख ले तथा सौ हाथ वसति देख आये जिसमें रात्रिको मातरा आदि परठव सके। बादमें खमा० प्रणि० करके इरियावही कहकर इच्छा० स्थंडिल पडिलेहुं ?' ऐसा कहकर आदेश माँगे। गुरु कहें 'पडिलेहेह' तब 'इच्छं' कहकर चौबीस मांडला करे। इन मांडलोंकी मनमें धारणा की जाती है वह इस प्रकार :—

प्रथम संथारेकी जगहके पास छः माडले करना।

(१) आघाडे[1] आसन्ने[2] उच्चारे[3] पासवणे[4] अणहियासे[5]।

(२) आघाडे आसन्ने पासवणे अणहियासे।

(३) आघाडे मज्झे[6] उच्चारे पासवणे अणहियासे।

(४) आघाडे मज्झे पासवणे अणहियासे।

---

* नवीन पोषध लेनेवालेको 'बहुपडिपन्ना पोरिसी'का आदेश नहीं माँगना परन्तु पोशधशालाके प्रमार्जनका आदेश माँगना चाहिये।

१ खास कठिनाईके समय। २ पासमें। ३ बड़ीनीतिके प्रसङ्गमें। ४ लघुनीतिके प्रसङ्गमें। ५ असह्य होनेपर। ६ मध्यमें।

(५) आघाडे दूरे[७] उच्चारे पासवणे अणहियासे।

(६) आघाडे दूरे पासवणे अणहियासे।

दूसरे छः मांडले उपाश्रयके अन्दर ऊपरके अनुसार ही कहवे, किन्तु वहाँ 'अणहियासे'के स्थानपर 'अहियासे'[८] कहना।

तीसरे छः मांडले उपाश्रयके द्वारके बाहर अथवा समीपमें रहकर करने तथा चौथे छः मांडले उपाश्रयसे करीब-सौ हाथ दूर रहकर करने। उन बारह मांडलोंमें आघाडेके स्थानपर अणाघाडे[९] शब्द बोलना। शेष शब्द ऊपर लिखे अनुसार कहने [ये मांघलेवाली जगह पहलेसे ही देख लेनी और मांडला स्थापनाजीके पास रहकर बोलते समय उस-उस स्थानपर दृष्टिका उपयोग करना। इस प्रकार चौबीस मांडला करनेके बाद इरियावही पडिक्कमण करके चैत्यवन्दन-पूर्वक प्रतिक्रमण करना।

(२१) रात्रि-पोषधवाला प्रहर रात्रि-पर्यन्त स्वाध्याय करे। फिर खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० बहुपडिपुन्ना-पोरिसी?' ऐसा बोले। गुरु कहे 'तह त्ति' तब खमा० प्रणि० करके इरियावही-पडिक्कमण करे। फिर खमा०प्रणि० करके 'इच्छा० बहुपुडिपुन्ना पोरिसी राइय-संथारे ठाऊं (मि)?' ऐसा कहे। गुरु कहे 'ठाओ' तब 'पणिहाण-सुत्त' तकके पाठ बोल कर चैत्यवन्दन करे। उसमें चैत्य-वन्दनके अधिकारमें 'पासनाह-जिण थुई' ('चउक्कसाय-सूत्र') बोले। फिर खमा० प्रणि० करके 'इच्छा० संथारा-विधि भणवा मुहपत्ती पडिलेहूँ?' ऐसा कह कर आदेश माँगे और गुरु कहें 'पडिलेहेह' तब 'इच्छं' कहकर मुहपत्तीका पडिलेहण करे और 'निसीहि निसीहि निसीहि, नमो खमासमणाणं गोयमाईणं महामुणीणं' इतना पाठ 'नमस्कार' 'सामाइय-सुत्त' तीन बार कहे। फिर 'संथारा-पोरिसी' पढावें। उसमें 'अरिहंतो मह देवो। यह गाथा तीन बार बोले। बादमें सात नमस्कार गिनकर शेष गाथाएँ बोले।

(२२) इस प्रकार 'संथारा-पोरिसी' कह लेनेके बाद स्वाध्याय-ध्यान

७ दूर। ८ सह्य होनेपर। ९ खास कठिनाई न हो उस समय।

करे और जब निद्रा-पीडित होवे तब लघुशङ्काकी बाधा दूरकर इरिया० 'गमणागमणे' करके दिनमें पडिलेही हुई भूमि पर संथारा करे। वह इस प्रकार:-' प्रथम भूमि पडिलेहकर संथारिया बिछाये। उसके ऊपर उत्तरपट (चादर) बिछाये, मुहपत्ती करमें लगा दे, कटासना, चरवल दाँयी ओर रखे और मातरिया पहनकर बाँयी करवटसे तकिया रख कर सोये।'

(२३) रात्रिमें चलना पड़े तो दंडासणसे पडिलेहते हुए चले-बीचमें जागे तो बाधा टालकर इरिया० करके कमसे कम तीन गाथाका स्वाध्याय करके सोये।

(२४) पिछली रातमें जागकर नमस्कारका स्मरणकर भावना करके, मातरेकी बाधा दूर करे। फिर इरियावही पडिक्कमण कर 'कुसुमिण दुसुमिण' का काउसग्ग करके प्रतिक्रमणके अवसरपर रात्रिक प्रतिक्रमण करे।

(२५) फिर स्थापनाचार्यजीका पडि० होनेके पश्चात् पूर्वोक्त विधिसे पडिलेहण करे और इरिया० पूर्वक काजाको लेकर पूर्वोक्त विधिसे देव-वन्दन तथा सज्झाय करे।

(२६) फिर इरियावही पडिक्कमण कर 'इच्छा० मुहपत्ती पडिलेहूँ ?' वहाँसे पोसह पारनेकी विधिमें बताये अनुसार 'सामाइय-वय-जुत्तो' कहने तककी सारी विधि करके पोसह पारे और अविधि हुई हो उसका 'मिच्छा मि दुक्कडं' दे।

गमणागमणे

ईर्या-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदानभंड-मत्त-निक्खेवणा-समिति, पारिष्ठापनिका-समिति, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति, ये पाँच समिति, तीन गुप्ति; आठ प्रवचन-माता श्रावकके धर्ममें सामायिक पौसह लेकर उसका अच्छी तरह पालन नहीं किया और खण्डन-विराधना हुई हों, ते सविहूं मन, वचन कायाए करी मिच्छा मि दुक्कडं। इति।

[११]

सामायिक लेनेकी विधिके हेतु

योग और अध्यात्मका विषय अतिसूक्ष्म होनेसे तथा प्रायः वह मानसिक होनेसे ऐसे प्रसङ्ग अनेकवार आते हैं कि जब साधक संशय अथवा खेदकी विषम जालमें फँस जाता है। ऐसे प्रसङ्गपर सद्गुरुके अतिरिक्त कौन संशयका निवारण करे ? कौन खेदको दूर करे ? इन्द्रभूति गौतमके संशय श्रीवीरप्रभुने दूर किये थे, अतः सद्गुरुका सान्निध्य सामायिक जैसे योगानुष्ठानके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

शरीर, वस्त्र और उपकरणकी शुद्धिपूर्वक सामायिककी साधना करनेको तत्पर हुआ साधक भूमिका प्रमार्जन करके सद्गुरुके सान्निध्यमें सामायिकका अनुष्ठान करे।

जिस साधकको सद्गुरुका योग नहीं मिले वह गुरुके विनयको सुरक्षित रखनेके लिये उनकी स्थापना करके काम चलाये। ऐसी स्थापना करनेके लिये बाजठ आदि उच्च आसनपर अक्ष, वराटक, धार्मिक-पुस्तक अथवा जपमाला आदि रखकर उसमें गुरुपदकी भावना की जाती है। तदर्थ 'स्थापना-मुद्रा' से दाहिना हाथ उसके सम्मुख रखकर तथा बाँये हाथमें मुहपत्ती धारणकर उसको मुखके आगे रखकर प्रथम मङ्गलके रूपमें नमस्कार-मन्त्रका पाठ बोला जाता है। बादमें 'पंचिंदियसुत्तं' (गुरु-स्थापना-सूत्र) बोला जाता है। इस प्रकार आचार्यपदकी स्थापना होने पर सामने रखी हुई वस्तुएँ विधिवत् 'स्थापनाचार्य' माने जाते हैं और उसके पश्चात् जो जो आदेश या अनुज्ञाएँ लेनी हों, वे सब उनके पाससे ली जाती हैं। 'गुरुमहाराजके स्थापनाचार्य' हों तो यह विधि करनेकी आवश्यकता नहीं, परन्तु 'स्थापनाचार्य' इस प्रकार रखे हुए होने चाहिये कि उनके और साधकके बीच क्रिया करते समय किसीका आना जाना न हो।

सूत्रकी रचनामें बहुश्रुतोंने यथाशक्य रहस्य ठूँसकर भरा है; अतः उसका पाठ करते समय वह शुद्ध रीतिसे बोला जाय और साथ ही साथ

उसके अर्थ तथा भावका भी चिन्तन हो यह आवश्यक है। नमस्कार-मन्त्र सामायिकका अङ्ग है। जिन्होंने सामयिककी शोध की, सामायिकी प्ररूपणा की वे अर्हन्त भगवन्त इसमें प्रथम स्थानपर विराजित हैं। सामायिकका अन्तिम साध्य सिद्धावस्था है, अतः सिद्ध भगवन्त इसमे द्वितीय स्थानमें विराजित हैं। बादके तीन स्थान सामायिककी उत्कृष्ट साधना करनेवाले आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओंको प्राप्त हैं। इन सबकी महत्ता सामयिककी साधनाके रूपमें ही है।

मङ्गलरूप 'नमस्कार-सूत्र' बोलनेके बाद 'पंचिंदय-सुत्त' बोला जाता है। उसमें गुरु-गुणका स्मरण है। ऐसे गुणवाले गुरुके सान्निध्यमें बैठकर मैं सामयिकरूपी आध्यात्मिक-अनुष्ठान कर रहा हूँ, इस विचारसे साधकको महद् अंशमें सान्त्वना मिलती हैं। गुरुओंके लिये यह सूत्र आलम्बनरूप है।

इतनी विधि करनेके अनन्तर खड़े होकर गुरुको वन्दन करनेके हेतुसे 'इच्छामि खमासमणो! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए' इतने पद बोले जाते हैं। बादमें चरवलेसे भूमिको प्रमार्जित कर नीचे नमते हुए, मस्तक तथा दोनो हाथ (अञ्जलिपूर्वक) और दोनों जानु (घुटने) इस तरह पाँचों अङ्ग एकत्रित करके, भूमिका स्पर्श करते हुए 'मत्थएण वंदामि' ये पद बोले जाते हैं। वन्दनकी क्रियामें यह पञ्चाङ्ग-प्रणिपात मध्यम प्रकारका वन्दन कहा जाता है।

गुरुको इस प्रकार वन्दन करने बाद पुनः खड़े होकर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! इरियावहियं पडिक्कमामि?' इन शब्दोंसे ईर्यापथिकी प्रतिक्रमणका आदेश माँगा जाता है। यह 'लघुप्रतिक्रमण' हैं अथवा प्रतिक्रमणकी बृहद् भावनाका प्रतीकरूप है, इसमे उसकी सकारण योजना की गयी हैं। जो साधक समभावकी साधना करनेको तत्पर हुआ हो, उसको पाप-प्रवृत्तिके प्रति अनासक्ति होनी ही चाहिये और उस तरह की छोटीसे-छोटी प्रवृत्तिके लिये भी पश्चाताप करनेकी भावना होनी चाहिये। इस आशयसे

प्रथम गमनागमनमें हुई जीवहिंसाका पश्चात्ताप करके उसके सम्बन्धमें हुए दुष्कृतकी क्षमा-याचना की जाती है। 'मिच्छा मि दुक्कडंकी' यह प्रतिक्रमणकी भावनाका बीज है। ये शब्द बोलते समय हृदयमें कँपकँपी होनी चाहिये। कि 'हाय! हाय! मैंने दुष्टने क्या किया!' यह नहीं भूलना चाहिये कि— भावनाशून्य मिथ्या दुष्कृत यह वाणीकी विडम्बना है अथवा तो असत्य प्रलाप है।

मिथ्या-दुष्कृतका उत्तरीकरण कायोत्सर्गद्वारा होता है अर्थात् 'तस्स उत्तरी' सूत्र और 'कायोत्सर्ग' सूत्र बोलकर एक छोटीसी कायोत्सर्गकी क्रिया २५ श्वासोच्छ्वास प्रमाणकी की जाती है। साधकको यह कायोत्सर्गकी क्रिया स्पष्टतया समझ लेनी आवश्यक है। इस स्थलपर वह प्रतीकरूपमें आयोजित है, परन्तु साधनाके समयमें उसका यथार्थ उपयोग करना उचित है। "कायाको स्थानसे स्थिर करके, वाणीको मौनसे स्थिर करके और मनको ध्यानसे स्थिर करके बहिर्भावमें विचरते हुए आत्माका विसर्जन करना" यह उसकी प्रतिज्ञा है। यह कायोत्सर्ग किया जाय तो उत्तरीकरणका मुख्य हेतु सिद्ध हो। कायोत्सर्गके समय स्मरण किये जानेवाले 'लोगस्स' सूत्रके पद अवश्य ही गम्भीर अध्ययन-मनन माँगते हैं। उत्तरोत्तर अभ्याससे उक्त चिन्तन सहज सम्भव है। तदनन्तर प्रकटरूपमें बोले जानेवाले 'लोगस्स' सूत्र अर्थात् चउवीसत्थय' सूत्रका पाठ स्तुति-मंगलरूप है। पश्चात्ताप और प्रायश्चित्तसे कुछ निर्बल बना हुआ हृदय अर्हत् और सिद्ध भगवन्तोंके कीर्तनसे पुनः बलवान् बनता है और सत्प्रवृत्तिरूप आराधनामें उत्साहवान् होता है।

इस क्रियाके पूर्ण होनेके बाद 'मुहपत्ती-पडिलेहण' (मुखवस्त्रिका-प्रतिलेखन) की क्रिया आरम्भ होती है। प्रत्येक क्रिया गुरु-वन्दन और गुरु-आदेशसे करने योग्य होनेसे, यहाँ गुरुको खमासमण प्रणिपातकी क्रिया-पूर्वक वन्दन किया जाता है और मुहपत्ती पडिलेहनेके लिये 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! सामायिक-मुहपत्ती पडिलेहउं?' इन शब्दोंसे आज्ञा माँगी

जाती है। गुरु उपस्थित हों तो वे कहते हैं 'पडिलेहेह' अर्थात् 'प्रति-लेखना करो!' साधक उस आदेशको शिरोधार्य करते हुए कहता है कि 'इच्छं'–'मैं इसी प्रकार चाहता हूं।' फिर वह मुहपत्तीकी पडिलेहणा करता है।

यह विधि पूर्ण होनेके पश्चात् खमासमण प्रणिपातकी क्रियाद्वारा गुरु-वन्दन करके सामायिकमें प्रवेश करनेकी आज्ञा माँगी जाती है, उसमें प्रथम 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! सामायिक संदिसाहुं' इन शब्दोंद्वारा सामायिक करनेकी इच्छा प्रकट कर उसके लिये गुरुका आदेश लेनेकी भावना प्रदर्शित की जाती है, और जब गुरु 'संदिसह' शब्दसे तत्सम्बन्धी आज्ञा दें, तब उसको शिरोधार्य करनेके लिये 'इच्छं' बोलकर पुनः खमासमण प्रणि-पातकी क्रियाद्वारा वन्दन कर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! सामायिक ठाउं?' इन शब्दोंसे 'सामायिक' में स्थिर होनेका आदेश माँगा जाता है। गुरुकी ओरसे 'ठाएह' शब्दद्वारा आदेश मिल जानेपर 'इच्छं' कहकर खड़े होकर दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार-मन्त्रके पाठकी एक बार गणनापूर्वक 'इच्छकारी भगवन्! पसाय करी सामायिक-दंडक-उच्चरावोजी' ऐसी विनति की जाती है। इस विनतिसे गुरु 'सामाइय-सुत्त' अर्थात् 'करेमि भंते' सूत्रका पाठ बोलते हैं। गुरु यदि सूत्र बोलें तो उस समय साधकको दोनों हाथ जोड़कर कुछ मस्तक झुकाकर शान्तिसे श्रवण करना चाहिये और मध्यम स्वरमें बोलना चाहिये, यानि गुरु प्रतिज्ञा लिवाते हैं और साधक प्रतिज्ञा लेता है।

'प्राण जाय पर प्रतिज्ञा न जाय' यह भावना साधकको दृढ रीतिसे हृदयमें धारण करनी चाहिये, क्यों कि साधनाकी सफलताका सर्व आधार उसके निर्वाह अथवा पालन पर निर्भर है। प्रत्येक धार्मिक क्रिया अथवा आध्यात्मिक अनुष्ठान प्रतिज्ञापूर्वक किया जाता है, उसका कारण यह है कि साधकको उसके साध्यका बराबर ध्यान रहे और उससे सम्बन्धित उसका पुरुषार्थ अस्खलित गतिसे चालू रहे।

'सामायिककी साधना' करनेके लिये ऊपर कहे अनुसार प्रतिज्ञा ग्रहण करनेके बाद स्थिर आसनपर बैठनेके लिये आज्ञा माँगी जाती है। तदर्थ खमासमण प्रणिपातकी क्रिया करके 'इच्छा० संदिसह भगवन्! बेसणे संदिसाहुं!' अर्थात् हे भगवन्! आपकी आज्ञा हो तो मैं बैठनेकी अनुमति माँगता हूँ, इस प्रकार कहा जाता है। गुरु हो तो वे 'संदिसह' कहते हैं, नहीं तो उनकी अनुमति मिली हुई मानकर 'इच्छं' कहकर पुनः खमासमण-द्वारा 'इच्छा० संदिसह भगवन्! बेसणे ठाउं!' अर्थात् हे भगवन्! आपकी इच्छा हो तो मैं बैठकपर स्थिर होऊँ! ऐसा आदेश माँगा जाता है। तों वे 'ठाएह' कहते हैं। नहीं तो उनकी अनुमति मिली हुई मानकर 'इच्छं' कहनेमें आता है। 'इच्छं' पदका व्यवहार सर्वत्र इस प्रकार समझ लेना चाहिये।

अब 'सामायिक' में स्वाध्यायादि क्रिया मुख्य होनेसे उसका आदेश माँगनेके लिये खमासमण प्रणिपातकी क्रियापूर्वक 'इच्छा० संदिसह भगवन्! सज्झाय (स्वाध्याय) संदिसाहुं!' इस प्रकार बोला जाता है। गुरु हो तो वे 'संदिसह' कहते हैं और आज्ञाका स्वीकार 'इच्छं' पदद्वारा करके पुनः खमासमण प्रणिपातकी क्रियापूर्वक 'इच्छा० संदिसह भगवन्! सज्झाय करूँ!' इन शब्दोंसे 'स्वाध्याय'का निश्चित आदेश लिया जाता है। यहाँ स्वाध्याय शब्दसे सूत्रकी वाचना, प्रच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा तथा मन्त्रजप और ध्यान अभिप्रेत है। गुरु इस प्रकारके स्वाध्यायका आदेश देते हैं, अतः 'इच्छं' कहकर मङ्गलरूप तीन नमस्कार गिनकर 'सामायिककी साधना' आरम्भ की जाती है, जो इस समयसे लेकर बराबर दो घड़ी तक अर्थात् ४८ मिनिट पर्यन्त एकसरीखी चालू रखनी चाहिये।

जितने क्षण समभावमें जाँय वह 'सामायिक' है तो भी उसको व्रतकी कोटिमें लानेके लिये एक 'सामायिक साधना' का समय एक मुहूर्त अर्थात् दो घड़ी जितना (४८ मिनिट) निश्चित किया गया है।

[१२]

सामायिक पारनेकी विधिके हेतु

'सामायिककी साधना' करनेवाला जीवन-परिवर्तन हो जाता हैं, वास्तविकरूपमें वह परिवर्तन करनेके लिये ही आयोजित है। मैत्री आदि भावनासे वासित मन कठोरता, कृपणता, मिथ्याभिमान ममत्वको शीघ्र झेलता नहीं अर्थात् प्रारम्भ किया हुआ सामायिक छूट न जाय यही इष्ट है। ऐसा होने पर भी व्यावहारिक मर्यादाओंके कारण उसकी पूर्णाहूति करनी पड़ती है, जिसकी खास विधि है। तदर्थ प्रथम खमासमण प्रणिपातद्वारा गुरुवन्दन कर ईर्यापथ-प्रतिक्रमण किया जाता है अर्थात् 'इरियावही' सूत्र 'तस्स उत्तरी' सूत्र और 'अन्नत्थ' सूत्रके पाठ बोलकर पचीस श्वासोच्छ्वासके कायोत्सर्गमें स्थिर होकर प्रकट 'लोगस्स' सूत्र बोला जाता है। फिर मुहपत्ती पडिलेहण किया जाता है। तदनन्तर पुनः खमासमण प्रणिपातद्वारा गुरुको वन्दन करके सामायिक पारनेकी-पूर्ण करनेकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये कहा जाता है कि 'इच्छा० संदिसह भगवन्! सामायिक पारूँ?' इस समय गुरु कहते हैं कि—'पुणो कि कायव्वो' फिर भी करने योग्य है।' उस समय साधक 'यथाशक्ति' शब्दद्वारा अपनी मर्यादा सूचित करता है कि मेरी शक्ति अभी यहीं पूर्णाहूति करने जितनी है। इसके बाद फिर खमासमण प्रणिपात कर, गुरुके समक्ष प्रकट किया जाता है कि 'इच्छा० संदिसह भगवन्! सामायिक पार्युं' अर्थात् हे भगवन्! इच्छापूर्वक आज्ञा दीजिये—मैने सामायिक

पूर्ण किया है।' उस समय गुरु कहते हैं कि 'आयारो न मोत्तव्वो' —'आचार नहीं छोड़ना,' अर्थात् सामायिक करना यह तुम्हारा आचार है, अतः उसमें प्रमाद नहीं करना। तात्पर्य यह कि यह साधना एकसे अधिक बार करने योग्य है। प्रतिदिन नियमित करने-योग्य है और उसमें एक भी दिन रीता न जाय इसकी ओर लक्ष्य रखना।

इतनी विधिके बाद दाहिना हाथ चरवलेपर रख एक 'नमस्कार' का पाठ अन्त्य मङ्गलके रूपमें बोला जाता है और 'सामाइय-पारण —गाहा' (सामाइय—वय—जुत्तो) के पाठद्वारा सामायिककी महत्ताका पुनः स्मरण कर, उसमें जो कोई दोष अथवा स्खलना हुई हो उसके लिये हार्दिक दुःख व्यक्त किया जाता है। फिर दाहिना हाथ स्थापनाके समक्ष उलटा रखकर नमस्कारका पाठ एक बार बोला जाता है इससे 'स्थापनाचार्य'की 'उत्थापना' हुई मानी जाती है। फिर यहाँ 'सामायिक'की विधि पूर्ण होती है। जो एकसे अधिक सामायिक करनेकी इच्छा रखते हों वे उसकी पूर्णाहुतिकी विधि पूरी न कर फिरसे 'सामायिक' की प्रवेशविधि करते हैं। इस तरह एक साथ तीन सामायिककी क्रियाएँ हो सकती हैं ओर तीसरी बार पारनेकी विधि करनी चाहिये।

जो व्यक्ति 'सामायिक'का अनुसरण करता है, वह सुख, शान्ति और सामर्थ्यका लाभ प्राप्त कर सकता है।

[१३]

चैत्यवन्दनकी विधिके हेतु

कोई भी धर्मानुष्ठान गुरु अथवा देवको वन्दन करके उनकी आज्ञा पूर्वक करना चाहिये, इस हेतुसे प्रथम तीन खमासमण प्रणि० की किया की जाती है और चैत्यवन्दन करनेका आदेश माँगा जाता है। और आदेश मिलनेकी स्वीकृतिके रूपमें चैत्यवन्दन प्रारम्भ किया जाता है। धर्मानुष्ठानका आरम्भ मङ्गलचरणसे होना चाहिये। अतः प्रथम उसमें तीर्थङ्कर भगवन्तोंकी स्तुति-वर्णनरूप ऐच्छिक चैत्यवन्दन बोला जाता है। इस ऐच्छिक चैत्यवन्दनद्वारा अनुष्ठाता अनेक भावोंसे चैत्यवन्दन कर सकता है। ऐसे किसी भी चैत्यवन्दनकी पूर्णाहुति ' जं किंचि नाम तित्थं ' इस सूत्रसे की जाती है। क्यों कि इससे तीनों लोकमें स्थित सकल तीर्थोंकी वन्दना होती है। अर्थात् समस्त विश्वमें स्थित चैत्य और तीर्थ–संस्थाओंके प्रति पूर्ण श्रद्धा व्यक्त की जाती है। इसके बाद ' सक्कत्थय–सुत्त ' अर्थात् (' नमो त्थु णं ' सूत्र) का पाठ योगमुद्रासे बोला जाता है, उसका कारण अर्हद्देवोंके उत्कृष्ट गुणोंकी आराधना है। अन्य शब्दोंमें कहा जाय तो इसमें ' भावजिन ' के प्रति भक्ति–भावनाका अर्घ्य है। इस सूत्रकी अन्तिम गाथाद्वारा तीर्थङ्कर पदकी भूत, वर्तमान और भविष्यकालीन अवस्थाओं को भी वन्दन किया जाता है, जिससे आराध्यके रूपमें इस पदकी महत्ता हृदयमें स्थिर होती है। ' योगमुद्रा ' का हेतु जिनेश्वरोंके इन गुणोंमें तल्लीनताका अनुभव करना है। तत् पश्चात्

'सव्वचेइय-वंदण' सुत्तं ('जावंति चेइयाइं' सूत्र) का पाठ सर्व चैत्योंकी पूज्यताको मनमें अङ्कित करता है तथा खमासमण प्रणिपातकी क्रिया और 'सव्वसाहुवंदण' सुत्तं ('जावंत के वि साहू' सूत्रका पाठ सम्पूर्ण विश्वमें चारित्रकी सुगन्ध फैलाये हुए साधु-मुनिराजोंके प्रति पूज्यभाव की अभिव्यक्ति करता है। चैत्यवन्दनके अधिकारमें यह साधुवन्दन क्यों? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि भिन्न भिन्न भूमिकापर स्थित रहकर आत्मविकासकी साधना करनेवाले ये सन्त पुरुष चैत्यवन्दनरूपी 'श्रद्धायोग' या 'भक्तियोग' की भावनाको दृढ करनेमें निमित्तभूत हैं।

इतनी विधिके पश्चात् 'नमोऽर्हत्' सूत्रके मङ्गलाचरणपूर्वक स्तवन बोला जाता है। अनुष्ठाताको यहाँ हृदयके तार झनझनाने चाहिये, क्योंकि 'तोतेके राम' की तरह केवल मुखसे उच्चारण करनेका कोई अर्थ नहीं। भगवद्भजनकी इच्छा, प्रवृत्ति और तल्लीनता ये तीनों ही मङ्गलकारी हैं। चैत्यवन्दनका यह हृदय है, चैत्यवन्दनका यह प्राण है। इस समय भावनाके पूरमें उभार आना ही चाहिये। काव्यकलाके लिये यहाँ स्थान है, सङ्गीतकलाके लिये यहाँ अवकाश है, अभिनयकलाको अवश्य ही उपयुक्त मार्ग मिलता है किन्तु एक शर्त यह है कि ये सब अर्हद्-उपासनाकी तल्लीनतासे उद्भूत हुए होने चाहिये।

इसके पश्चात् 'पणिहाण-सुत्त' ('जय वीयराय' सूत्र) के पाठद्वारा हृदयकी शुभ भावनाओंको दृढ किया जाता है और अन्तमें

'चेइयवंदण–सुत्त' (अरिहंत चेइयाणं' सूत्र) द्वारा अर्हच्चैत्योंका आलम्बन स्वीकृत करके कायोत्सर्ग किया जाता है। चैत्यवन्दनकी अन्तिम सिद्धि कायोत्सर्ग और ध्यानद्वारा ही होती है, यह बतलानेके लिये उसका क्रम अन्तिम रखा है। यह कायोत्सर्ग श्रद्धा, मेधा, धृति, धारणा और अनुप्रेक्षा–पूर्वक करना चाहिये, इस बातका सूचन सूत्रके मूल पाठमें ही किया हुआ है।

इस कायोत्सर्ग–ध्यानकी पूर्णाहुति नमुक्कार (नमस्कार–मन्त्र) के प्रथम पदके उच्चारणद्वारा की जाती है और चैत्यवन्दनकी पूर्णाहुति अन्त्य मङ्गलरूप अधिकृत जिनस्तुति अथवा 'कल्लाणकंदं थुई' की पञ्चजिनस्तुतिरूप प्रथम गाथा बोलकर, खमासमण प्रणिपातकी वन्दनापूर्वक की जाती है।

श्रीजिनेश्वरके गुणोंका बार बार रटन करनेसे उनकी प्राप्तिके लिये उत्साह बढता है, चित्तमें प्रसन्नता प्रकट होती है और तदर्थ योग्य पुरुषार्थके बलका अनुभव होता है।

शास्त्रोंमें कहे अनुसार श्रावकको कम–से–कम प्रातः, मध्याह्न और सायं इस तरह तीन बार चैत्यवन्दन करना चाहिये।

[१४]

दैवसिक प्रतिक्रमणकी विधिके हेतु

१ विरतावस्थामें की हुई क्रिया पुष्टिकारक और फलदायिनी होती है, अतः प्रतिक्रमणके आदिमें सामायिक ग्रहण किया जाता है।

२ फिर पच्चक्खाण लेनेके लिये गुरुके विनयार्थ मुहपत्ती पडिलेहकर द्वादशावर्त्त–वन्दन किया जाता है। पच्चक्खाण यह छठा आवश्यक है, परन्तु वहाँ तक पहुँचनेमें दिवस–चरिम–प्रत्याख्यानका समय बीत जाता है इसलिये सामायिकके बाद शीघ्र ही पच्चक्खाण किया जाता है।

३ सब धर्मानुष्ठान देव–गुरुके वन्दन–पूर्वक सफल होते है, अतः प्रथम यहाँ देववन्दन किया जाता है। चैत्यवन्दनभाष्यमें उसके बारह अधिकार इस प्रकार हैं :–

" नमु जे अई अरिहं लोग सव्व पुक्ख तम सिद्ध जो देवा।
उज्जिंत चत्ता वेआवच्चग अहिगार पढमपया ॥ ४२ ॥
पढमहिगारे वंदे, भावजिणे बीयए उ दव्वजिणे ॥
इगचेइअ–ठवण–जिणे, तइय–चउत्थंमि नामजिणे ॥ ४३ ॥
तिहुअण–ठवण–जिणे, पुण पंचमए विहरमाणजिण छट्ठे।
सत्तमए सुयनाणं, अट्ठमे सव्व–सिद्ध–थुई॥ ४४ ॥
तित्थाहिव–वीर–थुई, नवमे दसमे य उज्जयं (जिंत)त–थुई।
अट्ठावयाइ इगद(गार) सि, सुदिट्ठिसुर–समरणा चरिमे ॥ ४५ ॥

देव–वन्दनके बारह अधिकारोंमें प्रथम पद इस प्रकार समझने–

(१) नमु० (२) जे अई० (३) अरिहं० (४) लोग० (५) सव्व० (६) पुक्ख० (७) तम० (८) सिद्ध० (९) जो देवा० (१०) उज्जिंत० (११) चत्ता० (१२) वेआवच्चग०

प्रथम अधिकार 'नमो त्थु णं' से 'जिअभयाणं' तक गिना जाता है। उसमें भावजिनको वन्दन करता हूँ। दूसरा अधिकार 'जे अ अईआ सिद्धा' से 'वंदामि' तक गिना जाता है, उसमें द्रव्य जिनको वन्दन करता हूँ। तीसरा अधिकार 'अरिहंत चेइआणं' से गिना जाता है, उसमें एक चैत्यमें रहे हुए स्थापनाजिनको मैं वन्दन करता हूँ। चौथा अधिकार 'लोगस्स उज्जोअगरे' इन पदोंसे गिना जाता है, उसमें नामजिनको वन्दन करता हूँ।

पाँचवाँ अधिकार 'सव्वलोए अरिहंत चेइआणं' इन पदोंसे आरम्भ होता है, उसमें तीनों भुवनके स्थापना जिनको वन्दन करता हूँ। छठा अधिकार 'पुक्खरवरदीवड्ढे' से प्रारम्भ होता है, उसमें मैं विहरमान जिनोंको वन्दन करता हूँ। सातवाँ अधिकार इसी सूत्रके 'तम-तिमिर-पडल-विद्धंसणस्स' पदसे प्रारम्भ होता है, उसमें श्रुतज्ञानको वन्दन करता हूँ। आठवाँ अधिकार 'सिद्धाणं बुद्धाणं' पदोंसे चालू होता है। उसमें सर्व सिद्धोंकी स्तुति करता हूँ।

नौवाँ अधिकार इसी सूत्रके 'जो देवाण वि देवो' पदसे 'तारेइ नरं व नारिं वा' तकका गिना जाता है। उसमें वर्तमान तीर्थके अधिपति श्रीवीरभगवान्की स्तुति करता हूँ।

दसवाँ अधिकार इसी सूत्रके 'उज्जित-सेल-सिहरे' पदसे शुरु होता है, उसमें रैवताचलमण्डन श्रीअरिष्टनेमि भगवान्को वन्दन करता हूँ। ग्यारहवाँ अधिकार इसी सूत्रके 'चत्तारि अट्ठ दस दो अ' इस पदसे प्रारम्भ होता है, उसमें अष्टापद-पर्वतपर स्थित चौबीस

जिन (प्रतिमा) को वन्दन करता हूँ और बारहवाँ अधिकार 'वेयावच्च–गराणं' पदसे चालू होता है, उसमें सम्यग्दृष्टिदेवोंका स्मरण करता हूँ।

देव–वन्दन करनेवालेको ये बारह अधिकार अच्छी तरह समझकर इनके अनुसार वन्दन करनेका लक्ष्य रखना चाहिये।

इसके पश्चात् योगमुद्रासे बैठकर 'सक्कत्थय–सुत्त' अर्थात् 'नमो त्थु णं' सूत्रका पाठ बोला जाता है, वह देववन्दन–अधिकारमें श्रीतीर्थङ्कर भगवन्तको अन्तिम वन्दन समझना।

फिर 'भगवदादिवन्दन' सूत्रद्वारा विद्यमान श्रीश्रमणसङ्घको तथा 'इच्छकारी समस्त श्रावकोंको वन्दन करूँ' इन शब्दोंसे श्रावक–श्राविकाओंको हाथ जोड़कर प्रणाम किया जाता है।

४ इतनी पूर्वविधि करनेके बाद प्रतिक्रमणमें मन, वचन और कायासे स्थिर होनेके लिये 'इच्छा० देवसिय पडिक्कमणे ठाउं?' इन पदोंसे प्रतिक्रमणकी स्थापना करनेका आदेश माँगा जाता है। दूसरे शब्दोंमें कहा जाय तो यहाँ प्रतिक्रमणके अनुष्ठानका प्रणिधान किया जाता है; यह आदेश मिलनेपर दाहिना हाथ तथा मस्तक चरवलेपर रखकर, प्रतिक्रमणका बीजरूप 'सव्वस्स वि देवसिअ' सूत्र अर्थात् 'पडिक्कमण–ठवणा सुत्त' बोला जाता है। यहाँ चरवलेपर दायाँ हाथ रखते समय तथा मस्तक नीचे झुकाते समय गुरुके चरण स्पर्श करते हो ऐसी भावना रखी जाती है तथा "पाप

भारसे नीचा झुकता हूँ, ऐसा भी चिन्तन किया जाता है। इस सूत्रका अर्थ यह है कि 'दिनके अन्तर्गत मनकी दुष्ट प्रवृत्तिसे, वाणीकी दुष्ट प्रवृत्तिसे तथा कायाकी दुष्ट प्रवृत्तिसे जिन अतिचारोंका सेवन हुआ हो, उन सबका मेरा पाप मिथ्या हो।' सारे प्रतिक्रमण का यही हेतु है। प्रतिक्रमणमें ये सब वस्तुएँ विस्तारसे कही जाती हैं। अतः इसको बीजक माना जाता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि भगवन्तके दर्शनमें बीजकके उपन्याससे सर्व अर्थकी सामान्य–विशेषरूपता प्राप्त होती है।

अब सारी क्रियाएँ विरतावस्थामें आनेसे शुद्ध होती हैं इसलिये प्रतिक्रमणकी क्रिया करनेसे पूर्व आवश्यकके रूपमें यहाँ 'सामाइय–सुत्त' अर्थात् 'करेमि भंते!' सूत्र बोला जाता है।

५ फिर 'करेमि भंते' सूत्र बोलकर आगे गुरुके समक्ष अतिचारोंका आलोचन (निवेदन) करनेका है, उसकी पहली तैया-रीके रूपमें 'अइआरालोअण–सुत्त' 'तस्स–उत्तरी' सूत्र तथा 'अन्नत्थ' सूत्र बोलकर 'अइआर–वियारण की गाथाओंका काउ-स्सग्ग किया जाता है।

प्रतिक्रमणका मुख्य हेतु पञ्चाचारकी विशुद्धि है, अतः इस काउस्सग्गमें दिवस–सम्बन्धी पाँचों आचारों में लगे हुए अतिचारोंका सूक्ष्मतासे विचार कर मनमें धारणा की जाती है। ×

× साधु इस स्थानपर नीचेकी गाथाद्वारा अतिचारोंका चिन्तन करते हैं:–

प्रतिक्रमणकी क्रिया देव और गुरुके विनयपूर्वक करनी चाहिये। इसलिये दूसरे आवश्यकके रूपमें देवके विनयमें 'चउ-वीसत्थय-सुत्त' अर्थात् 'लोगस्स' सूत्र बोलकर चौबीस जिनेश्वरदेवोंको वन्दन किया जाता है।

६ इसके बाद गुरु-विनयरूप गुरुवन्दन करनेकी प्राथमिक तैयारीके रूपमें मुहपत्तीका पचास बोलपूर्वक पडिलेहण किया जाता है। हेयका परिमार्जन करने और उपादेयकी उपस्थापना करनेके लिये यह क्रिया अत्यन्त रहस्यमयी है, अतः इसकी उचित विधि गुरु अथवा पूज्य व्यक्तिके पाससे बराबर जान लेनी और तदनुसार क्रिया करनेमें सावधानी रखनी चाहिये।

गुरु-वन्दनमें पचीस आवश्यकका ध्यान रखना और बत्तीस दोषोंका त्याग करनेके लिये खास उपयोग रखना।

७ गुरुको द्वादशावर्त्तसे वन्दन कर लेनेके पश्चात् चौथे

**"सयणासण-न्न-पाणे, चेइअ-जइ-सिज्ज-काय-उच्चारे।
समिई भावण-गुत्ती-वितहायरणे अईआरा ॥"**

—शयन, आसन, अन्न-पानी आदि अविधिपूर्वक ग्रहण करनेसे, चैत्यके बारेमें अविधिपूर्वक वन्दन करनेसे, मुनियोंका यथायोग्य विनय न करनेसे, वसति आदि अविधिपूर्वक प्रमार्जन करनेसे, स्त्री आदिसे युक्त स्थानपर रहनेसे, उच्चार-मल-मूत्रका सदोष स्थानमें वर्जन करनेसे, पाँच समिति, बारह भावना और तीन गुप्तिका अविधिपूर्वक सेवन करनेसे, अर्थात् शयन, आसनादि सम्बन्धी क्रियामें विपरीत आचरण होनेसे जो अतिचार लगे हों उनको सँभारना।

आवश्यकमें प्रवेश किया जाता है। उसमें पहले ठीक तरह शरीर झुका कर पहले काउस्सग्गमें धारणा किये हुए अतिचारकी आलोचना करनेके हेतुसे 'इच्छा० संदिसह भगवन्! देवसियं आलोएमि' यह सूत्र बोलकर गुरु-समक्ष आलोचना की जाती है। फिर 'सात लाख' और 'अठारह पापस्थानक' ये सूत्र बोले जाते हैं। इसका कारण दिवस-सम्बन्धी दोषोंकी आलोचना करना है। बादमें 'सव्वस्सवि' सूत्र बोला जाता है। उसमें 'इच्छकारेणा संदिसह भगवन्!' ये शब्द गुरुके समक्ष प्रायश्चित्त-याचनाके रूपमें है और गुरु 'पडिक्कमेह' शब्दसे 'प्रतिक्रमण' नामक प्रायश्चित्तका आदेश देते हैं× तब 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं' ये शब्द बोले जाते हैं और प्रतिक्रमणकी विशेष आलोचना करनेके लिये नीचे बैठकर प्रथम माङ्गलिकके लिये नमस्कार गिना जाता है। फिर समताकी वृद्धिके लिये 'करेमि भंते' सूत्र बोला जाता है। बादमें अतिचारोंकी सामान्य आलोचनाके लिये 'अईयारालोयण-सुत्त' बोला जाता है और तदनन्तर वीरासनसे बैठकर 'सावग-पडिक्कमण-सुत्त' बोला जाता है। इस सूत्रके प्रत्येक पदका अर्थ बराबर समझकर उसका चिन्तन करना चाहिये और उसमें प्रदर्शित जिन अतिचारोंका सेवन हुआ हो उनके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये। आन्तरिक पश्चात्ताप पवित्रताको प्राप्त करनेका सुविहित मार्ग है, अतः प्रत्येक मुमुक्षको उसका पूर्ण सावधानीसे अनुसरण करना चाहिये।

× दस प्रकारके प्रायश्चित्तमें प्रतिक्रमण-प्रायश्चित्त दूसरा है। विशेष जानकारीके लिये देखो प्रबोधटीका भाग १, सूत्र ६.

फिर गुरुमहाराजके प्रति हुए अपने अपराधोंके क्षमापनके लिये द्वादशावर्त्त—वन्दन करना चाहिये। शास्त्रकारोंने साधुओंको—गुरुको आठ कारणोंसे (प्रसङ्गोंपर) वन्दन करनेके लिये कहा है। इस प्रकारः—

"पडिकमणे सज्झाये, काउस्सग्गा—वराह—पाहुणए।
आलोयण—संवरणे, उत्तमट्ठे य वंदणयं॥"

प्रतिक्रमण करते, सज्झाय (स्वाध्याय) करते, कायोत्सर्ग करते अपराधकी क्षमा माँगते, अतिथि—साधुके आने पर, आलोयण लेते, प्रत्याख्यान करते और अनशन करते, ऐसे आठ प्रसङ्गोंपर द्वादशावर्त्त—वन्दन करना।

फिर 'अब्भुट्ठिओ हं अब्भिंतर'के पाठसे गुरुमहाराजको खमाना।

८ प्रतिक्रमण करने पर भी जिन अतिचारोंकी शुद्धि नहीं हुई हो, उनकी शुद्धि करनेके लिये पाँचवें आवश्यकमें प्रवेश किया जाता है। परन्तु यह क्रिया करनेसे पूर्व उपर्युक्त शास्त्र वचनानुसार प्रथम गुरुको वन्दन किया जाता है और फिर अवग्रहमेंसे पीछे हटकर 'आयरिय उवज्झाय—सूत्र' बोला जाता है+ वह यह बतलानेके लिये कि अपनेसे आचार्य, उपाध्याय, स्थविरादिके प्रति जो कषायका सेवन हुआ हो, उससे वापस लौट रहा हूँ। काउस्सग्गकी सिद्धिके लिये कषायकी ऐसी शान्ति उपयुक्त है।

फिर 'करेमि भंते' सूत्र 'इच्छामि ठामि' सूत्र, 'तस्स उत्तरी' सूत्र तथा 'अन्नत्थ' सूत्र बोलकर दो लोगस्सका काउस्सग्ग किया जाता

+ कुछ आचार्योंके मतसे 'आयरियाइ-खामणा-सुत्त' तककी विधि 'प्रतिक्रमण आवश्यक' है।

है, उसका हेतु चारित्राचारकी विशुद्धि है। यहाँ काउस्सग्ग करनेसे पूर्व जो सूत्र बोले जाते है, उनका अर्थ विचारनेसे चारित्रका शुद्ध स्वरूप समझमें आता है तथा उनमें कौनसी वस्तुएँ अतिचाररूप हैं, उसका स्पष्ट ध्यान आ जाता है।

बादमें 'लोगस्स' तथा 'सव्वलोए अरिहंत-चेइआणं' सूत्र बोलकर एक लोगस्सका काउस्सग किया जाता है, उसका हेतु दर्शनाचारकी विशुद्धि है। फिर 'पुक्खरवरदीवड्ढे' तथा 'सव्वलोए अरिहंत चेइआणं' सूत्र बोलकर एक लोगस्सका काउस्सग्ग किया जाता है, उसका हेतु ज्ञानाचारकी विशुद्धि है।

फिर 'सिद्धाणं बुद्धाणं' सूत्र बोलते हैं उसका हेतु सर्व आचारका निरतिचारावस्थापूर्वक पालन करनेसे उत्कृष्ट फल प्राप्त करनेवाले सर्व सिद्धोंको वन्दन करना है।

इस तरह चारित्राचार दर्शनाचार और ज्ञानाचारकी विशुद्धिके लिये कायोत्सर्ग करनेपर, तथा सिद्ध भगवन्तोंको वन्दन करनेके बाद श्रुतदेवता और क्षेत्रदेवताके आराधनाके निमित्त एक-एक नमस्कारका काउस्सग्ग किया जाता है।

९ फिर नमस्कार गिनकर, मुहपत्तीका पडिलेहण कर, द्वादशावर्त्त-वन्दन किया जाता है। उसमें नमस्कारकी गणना मङ्गल लिये की जाती है और मुहपत्तीका पडिलेहण तथा द्वादशावर्त्त-वन्दन छट्ठा 'प्रत्याख्यान' आवश्यकके निमित्त किया जाता है। लोकमें भी ऐसी प्रथा है कि राजा अमुक कार्य बतलाये तब वह करनेके बाद प्रणाम करके निवेदित करना। फिर प्रतिक्रमण करनेवाला छहों आवश्यक

करनेके स्मरणरूप छः आवश्यक कर लेनेका निवेदन करता है और यहाँ षडावश्यकमय प्रतिक्रमणकी क्रिया पूर्ण होती है।

१० फिर 'इच्छामो अणुसट्ठिं' ऐसे वचन बोले जाते हैं, उसका पारिभाषिक अर्थ यह है कि गुरुमहाराजके सब आदेश पूर्ण होनेके बाद अब हितशिक्षाके लिये नया आदेश हो तो हम चाहते हैं। सम्यक्त्व—सामायिकादिकी आरोपण—विधिमें तथा अङ्गादिकके उपदेशमें भी इस प्रकार 'इच्छामो अणुसट्ठिं' ऐसा वचन आता है।

फिर 'नमो खमासमणाणं' और 'नमोऽर्हत्०' के मङ्गलाचरण-पूर्वक वर्धमान स्वरसे वर्धमानअक्षरयुक्त श्रीवर्धमानस्वामीकी स्तुति बोली जाती है। उसमें समाचारी ऐसी है कि गुरुमहाराजके एक स्तुति (गाथा) बोलनेके पश्चात् दूसरे वह और शेष स्तुति साथ बोलें। परन्तु पाक्षिक प्रतिक्रमणमें गुरुमहाराजका तथा पर्वका विशेष बहुमान करनेके लिये गुरुके तीनों स्तुति बोलनेके बाद सब साधु और श्रावक यह स्तुति पुनः समकालमें उच्चस्वरसे बोलें। यहाँ ऐसा सम्प्रदाय है कि-साध्वियों और श्राविकाओंको 'संसार—दावानल' की तीन स्तुतियाँ बोलनी चाहिये।

फिर 'नमो त्थु णं' सूत्र बोलकर आदेश याचनापूर्वक पूर्वाचार्य-रचित स्तवन बोला जाता है तथा 'सप्तति--शत--जिनवन्दन' बोलकर भगवान् आदि चारको 'थोभ-वन्दन' किया जाता है तथा दाँया हाथ चरवलेपर अथवा भूमिपर रखकर 'अड्ढाइज्जेसु' सूत्र बोलते हैं। वह सब पूर्णाहुतिमें देव-गुरुकी वन्दना करनेके लिये समझना।

११ फिर प्रायश्चित्त-विशुद्धिके निमित्त काउस्सग्ग किया जाता है, अतः उसका हेतु स्पष्ट है कि काउस्सग्गके बाद बोला जानेवाला लोगस्सका पाठ मङ्गलरूप है।

१२ बादमें सज्झायका आदेश माँगकर सज्झाय (स्वाध्याय) बोली जाती है। उसके सम्बन्धमें शास्त्रकारोंने कहा है कि—

"बारसविहंमि वि तवे, सब्भितर–बाहिरे कुसल–दिट्ठे।
नवि अत्थि नवि अ होही, सज्झाय–समं तवोकम्मं ॥"

सर्वज्ञ-कथित बारह प्रकारके 'बाह्य और अभ्यन्तर तपके विषयमें सज्झाय-समान-दूसरा तप कर्म न है [न था,] और होगा भी नहीं।'*

१३ सज्झायके बाद दुःख–क्षय तथा कर्मक्षयके निमित्त कायोत्सर्ग किया जाता है, अतः उसका हेतु स्पष्ट है। इस काउस्सग्गमें 'शान्ति-स्तव'का पाठ एक व्यक्ति बोलता है और अन्य सुनते हैं, उसमें कितना गूढ रहस्य स्थित है, वह सूत्र-विवरणके प्रसङ्गपर हमने विस्तारसे बतलाया है।

१४ फिर 'सामायिक पारनेकी विधि प्रारम्भ होती है, उसमें लोगस्सका पाठ बोलनेके बाद 'चउक्कसाय' आदि सूत्र बोलकर चैत्यवन्दन किया जाता है। श्रावकको एक अहोरात्रमें सात चैत्यवन्दन करने चाहिये, उनमेंसे अन्तिम चैत्यवन्दन रात्रिमें सोनेसे पूर्व करना चाहिये, वह यहाँ किया जाता जाता है। बादकी सब क्रिया सामायिक पारनेकी विधिके अनुसार है जिसको पहले विस्तारसे बतला चुके हैं।

* इसके बादकी विधि 'प्रतिक्रमण-गर्भ-हेतु' में नहीं है।

[१५]

रात्रिक प्रतिक्रमणकी विधिके हेतु।

१ प्रथम सामायिक लिया जाता है, उसका हेतु देवसिक-प्रतिक्रमणके हेतुके अनुसार समझना।

२ फिर कुस्वप्न-दुःस्वप्नके निमित्तसे काउस्सग्ग किया जाता है, उसमें रागादिमय स्वप्नको कुस्वप्न समझना और द्वेषादिमय स्वप्नको दुःस्वप्न समझना। स्वप्नमें स्त्रीको अनुरागद्वारा देखी हो, तो वह दृष्टि-विपर्यास कहलाता है। तदर्थ १०० श्वासोच्छ्वासका काउस्सग्ग करना चाहिये, जो कि 'लोगस्स' सूत्रका 'चंदेसु निम्मलयरा' तकका पाठ चार बार विधिवत् स्मरण करनेसे होता है। और स्वप्नमें अब्रह्मका सेवन हुआ हो, तो उसके निमित्त १०८ श्वासोच्छ्वासका काउस्सग्ग करना चाहिये, जो कि 'लोगस्स' सूत्रका 'सागरवर-गंभीरा' तकका पाठ चार बार विधिपूर्वक स्मरण करनेसे होता है। फिर 'लोगस्स' सूत्रका पाठ प्रकटरूपमें बोला जाता है, वह मङ्गलरूप समझना। कुस्वप्न-दुःस्वप्नका यह अधिकार मुख्यतया स्त्री-सङ्गसे रहित मुनिराजको लक्ष्य करके कहा गया है और उसके लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है, वह पातककी शुद्धिके लिये प्रायश्चित्तरूप होनेसे आवश्यकसे अतिरिक्त हैं।

३ सर्व धर्मानुष्ठान देव-गुरुके वन्दन-पूर्वक करनेसे सफल होते हैं, अतः यहाँ प्रथम चैत्यवन्दन किया जाता है और उसमें 'जग-चिंतामणि' सूत्रसे 'जय वीयराय' सूत्र तकके सूत्र बोले जाते हैं। फिर भगवान् आदि चारको वन्दन किया जाता है, अर्थात् देव तथा गुरु दोनोंको वन्दन होता है।

४ दैवसिक प्रतिक्रमणमें सज्झाय अन्तमें की जाती है, तो यहाँ प्रारम्भमें की जाती है, उसका कारण यह है कि प्रातःकालीन प्रतिक्रमणके लिये यथोक्त समयकी राह देखना है। सज्झायमें भरत-बाहुबलि आदि महापुरुष तथा सुलसा, चन्दनबाला आदि महासतियोंका प्रभातमें स्मरण किया जाता है, क्योंकि उन्होंने जैसा जीवन बिताया है वह अपने लिये अध्यात्मका ऊँचा आदर्श स्थापित करता है।

५ फिर गुरुको सुखशाता पूछकर रात्रिकप्रतिक्रमणकी विधिपूर्वक स्थापना की जाती है और दाहिना हाथ चरवला अथवा कटासणा पर रखकर प्रतिक्रमणके बीजकरूप 'सव्वस्स वि राइअ दुच्चिंतिअ०' आदि पद बोले जाते हैं।

६ फिर 'नमो त्थु णं' सूत्र बोला जाता है। वह देव-वन्दन मङ्गलके लिये समझना।

७ फिर 'करेमि भंते' आदि सूत्र बोलकर एक लोगस्सका काउस्सग्ग किया जाता है, वह चारित्राचारकी शुद्धिके लिये समझना। बादमें एक 'लोगस्स' बोल कर एक लोगस्सका काउस्सग्ग किया जाता है, वह दर्शनाचारकी शुद्धिके लिये समझना। फिर 'पुक्खरवरदीवड्ढे' आदि सूत्र बोलकर 'अइयार-वियारण-गाहा' का काउस्सग्ग किया जाता है, वह मुख्यतया ज्ञानाचारकी शुद्धिके लिये समझना। 'दैवसिक प्रतिक्रमणमें चारित्राचारकी शुद्धिके लिये दो लोगस्सका काउसग्ग किया जाता है ओर यहाँ एक लोगस्सका काउस्सग्ग क्यों? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि 'दिनकी अपेक्षा रात्रिमें थोड़ी प्रवृत्ति होनेसे दोष अल्प होना सम्भव है।' फिर 'पहले काउस्सग्गमें अतिचारोंका चिन्तन करनेकी अपेक्षा तीसरे काउस्सग्गमें अतिचारका चिन्तन क्यों किया जाता है? इसका उत्तर यह है कि पहले काउस्सग्गमें निद्राका कुछ उदय सम्भवित है, अतः अतिचारोंका पूर्णतया चिन्तन नहीं हो सकता, इसलिये उसका तीसरे काउस्सग्गमें चिन्तन किया जाता है।'

८-९ फिर तीसरे और चौथे आवश्यककी जो क्रिया होती है उसके हेतु दैवसिक प्रतिक्रमणकी विधिके अनुसार समझना।

१० फिर तीन आचारोंके काउस्सग्गसे भी अशुद्ध रहे हुए अतिचारोंकी एकत्र शुद्धिके लिये तप-चिन्तनका कायोत्सर्ग करना चाहिये। वह नहीं आता हो तो सोलह नमस्कार गिननेकी प्रवृत्ति है, किन्तु वास्तवमें तो तपका चिन्तन करना चाहिये। उसकी विधि इस प्रकार समझनी :—

'श्रीवीर भगवान्ने छः मासका तप किया था। हे चेतन! वह तप तूं कर सकेगा? तब मनमें उत्तरका चिन्तन करना कि वैसी शक्ति नहीं है और परिणाम नहीं है। फिर अनुक्रमसे एक एक उपवास कम करके विचार करना। ऐसा करते हुए पाँच मासतक आना। फिर एक-एक मास कम करके विचार करना और एक मास तक आना। फिर एक दिन ऊण मासखमण, दो दिन ऊण मासखमण इस प्रकार तेरह दिन बाकी रहें तबतक अर्थात् सत्रह उपवासका विचार करना। फिर 'हे चेतन! तूं चौंतीस भक्त (सोलह उपवास) कर, बत्तीस भक्त कर, तीस भक्त कर' इस प्रकार दो-दो भक्त कम करते हुए चोथ भक्त (एक उपवास) तक विचार करना। और उतनी भी शक्ति न हो तो अनुक्रमसे आयंबिल, निव्वी, एगासण, बियासण, अवड्ढ, पुरिमड्ढ, साड्ढपोरिसी, पोरिसी, नवकारसी-पर्यन्त विचार करना। उसमें जहाँतक करनेकी शक्ति हो अर्थात् वह तप पहले किया हो, वहाँसे ऐसा विचार करे कि 'शक्ति है, पर परिणाम नहीं।' बादमें वहाँसे घटाते-घटाते जो पच्चक्खाण करना हो वहाँ आकर रुके और 'शक्ति भी है और परिणाम भी है' इस तरह विचार करके मनमें दृढ निश्चय करके काउस्सग्गको पूरा करना।

११ फिर छठे आवश्यककी क्रिया प्रारम्भ होती है, अतः मुहपत्तीका पडिलेहण करके द्वादशावर्त्त-वन्दन किया जाता है और सर्व तीर्थों को वन्दन करनेके हेतुसे 'सकल-तीर्थ-वन्दना' बोली जाती है। बादमें पूर्वचिन्तित पच्चक्खाण किया जाता है। उसमें गुरुके समीप प्रतिक्रमण होता हो तो गुरुके पास, अन्यथा स्वयं ही पच्चक्खाण कर लिया जाता है। और 'सामायिक पच्चक्खाण किया है जी।!' ऐसा कहा जाता है। यदि पच्चक्खाण लेते नहीं आता हो तो पच्चक्खाणकी धारणा की जाती है और 'पच्चक्खाण धार लिया है जी!' ऐसा कहा जाता है।

१२ फिर छहों आवश्यक पूर्ण होनेका हर्ष प्रगट करनेके लिये 'इच्छामो अणुसट्ठिं' कह कर 'प्राभातिक-स्तुति' अर्थात् 'विशाल-लोचन-दलं'

सूत्रकी तीन गाथा बोली जाती है, वे मन्द स्वरसे बोलनी, किन्तु उच्च स्वरसे नहीं बोलनी, क्योंकि उच्च स्वरसे बोलनेसे हिंसक जीव जाग उठें और हिंसामें प्रवृत्त हों, उसका निमित्त बननेका प्रसंग आये।

१३ बादमें चार थोय (स्तुति) से देव-वन्दन किया जाता है, तथा चार खमा० प्रणि० देकर भगवान् आदिको थोभ-वंदण किया जाता है, तथा श्रावक 'अड्ढाइज्जेसु' सूत्र बोलते हैं, वह सब मङ्गलके लिये समझना।

श्रावक पोषधमें हो तो यहाँ 'बहुवेल संदिसाहु' और 'बहुवेल-करूँगा' ऐसे आदेश माँगे। स्वतन्त्र श्रावकको ऐसा नहीं करना। ये आदेश माँगनेका कारण यह है कि सब कार्य गुरुमहाराजको पूछकर करना चाहिये।

१४-१५ बादमें श्रीसीमन्धरस्वामी तथा श्रीसिद्धाचलजीके चैत्य-वन्दन किये जाते हैं, वह सामाचारीके अनुसार तथा सामायिकका दो घड़ीका समय पूरा करनेके लिये समझना। इस प्रतिक्रमणमें एक तो 'जग-चिंतामणि' सुत्त से प्रारम्भ होनेवाला और दूसरा 'प्राभातिक स्तुति' इस प्रकार दो चैत्यवन्दनोंके करनेकी प्रवृत्ति है, वह विशेष माङ्गलिकके लिये समझनी।

१६ तदनन्तर सामायिक पूर्ण किया जाता है, उसका हेतु पहले बतला चुके हैं।

[१६]

पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमणकी विधिके हेतु

दिन और रात्रिके अन्तमें प्रतिदिन प्रतिक्रमण करनेपर भी यदि किसी अतिचारका विस्मरण हुआ हो, अथवा याद करने पर भी भयादिके कारण गुरु-समक्ष उसका प्रतिक्रमण नहीं किया हो, अथवा मन्द परिणामके कारण उसका सम्यक् प्रकारसे प्रतिक्रमण करनेके लिये तथा विशेष शुद्धिके लिये पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण किया जाता है। कहा है कि—

"जह गहं पइ–दिवसं पि, सोहियं तह वि पव्व संधीसु।
सोहिज्जइ सविसेसं, एवं इहयं पि नायव्वं॥"

—जैसे घर प्रतिदिन साफ किया जाता है, तो भी पर्वके दिनोंमें उसकी विशेष प्रकारसे सफाई की जाती है, ऐसे यहाँ भी जानना चाहिये।

१ पाक्षिकादि–प्रतिक्रमणमें प्रारम्भकी 'सावग–पडिक्कमण–सुत्त' तककी विधि दैवसिक प्रतिक्रमणके अनुसार की जाती है, अतः उसके हेतु भी तदनुसार ही समझने। इसके पश्चात् शीघ्र ही पक्खी–प्रतिक्रमण प्रारम्भ करनेका हेतु यह है कि पक्खी–प्रतिक्रमण यह चौथा आवश्यक है, अतः उसका यहीं अनुसन्धान हो।

२ फिर गुर्वादिकको खमानेसे ही सर्व अनुष्ठान सफल होते हैं, इसलिये 'अब्भुट्ठिओ हं संबुद्धा! खामणेणं', इत्यादि पाठ द्वारा गुर्वादिक सम्बुद्धोंको खमाया जाता है, परन्तु गुर्वादिकके खमानेसे पूर्व द्वादशावर्त्त–वन्दन किया जाता है और वैसा वन्दन करनेसे पूर्व मुहपत्तीकी पडिलेहना की जाती है। इस प्रकार मुहपत्तीका पडिलेहण करनेवाला व्यक्ति प्रतिक्रमणकी मण्डलीमें गिना जाता है, अन्य नहीं गिने जाते। (इसी उद्देशसे जिसने मुहपत्तीकी प्रतिलेखना नहीं की हो उस व्यक्तिको छींक आये तो उसका बाध नहीं गिनना। ऐसी प्रवृत्ति है।)

३ फिर संक्षेप और विस्तारसे पापकी आलोचना करनेके लिये 'आलोयणा–सुत्त' बोलनेके अनन्तर अतिचार बोले जाते हैं। उनमें किन अतिचारोंका सेवन हुआ है, यह जानकर आलोचना और प्रतिक्रमणके लिये एक व्यक्ति अतिचार बोलता है और अन्य एकाग्र चित्तसे सुनते हैं।

४–५–फिर 'सव्वस्स वि' सूत्र बोलकर सर्व अतिचारोंका प्रतिक्रमण–प्रायश्चित्त ग्रहण किया जाता है। उसके बाद पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक तपके रूपमें एक, दो और तीन उपवास; अथवा दो, चार और छः आयंबिल; अथवा तीन, छः और नौ निव्वी; अथवा चार, आठ

और बारह एकाशन; अथवा आठ, सोलह और चौबीस बियासन अथवा दो, चार और छः हजार सज्झायके तपका निवेदन किया हुआ हो तो 'पइट्ठिओ' बोला जाता है, उसका अर्थ यह है कि 'मैं अभी वैसे तपमें स्थित हूँ', और यदि ऐसा तप शीघ्र ही करना हो तो 'तह त्ति' कहा जाता है। कुछ लोग इस समय कुछ नहीं बोलकर मौन रहते हैं और कुछ लोग 'यथाशक्ति' कहकर उसका अंशतः स्वीकार करते हैं। पापोंका प्रायश्चित्त करनेके लिये इस तपकी योजना है, अतः वह अवश्य करना चाहिये।

६ फिर प्रत्येक खामणासे सबको खमाया जाता है और उसके पूर्व और पश्चात् विनयके लिये गुरुको द्वादशावर्त्त-वन्दन किया जाता है।

७ से १० फिर 'पक्खीसुत्त' बोलकर श्रुताराधनके उल्लासपूर्वक 'सुय-देवया' थुई कही जाती है। और 'सावग-पडिक्कमण' सुत्त कहकर बारह लोग-स्सका काउस्सग्ग किया जाता है, वह अतिचारोंकी विशेष शुद्धिके लिये जानना।

११ फिर 'इच्छा० अब्भुट्ठिओ हं समत्त (समाप्त)–खामणेणं अब्भितर–पक्खियं खामेउं?' आदि शब्दोंसे खमाया जाता है, वह काउ-स्सग्ग करते समय शुभ एकाग्रभावसे कोई अपराध याद आये हों तो उनको खमानेके लिये जानना। अथवा यहाँ पाक्षिक प्रतिक्रमणकी समाप्ति होती है, अतः पहले क्षमापनके बाद कुछ अप्रीतिकारी हुआ हो, अथवा अशुद्ध क्रिया हुई हो तो उसके क्षमापनके लिये जानना!

१२ फिर 'सावग–पडिक्कमण' सुत्तसे दूसरी विधि दैवसिक प्रति-क्रमणकी विधिके अनुसार करनी है, अतः उसके हेतु तदनुसार समझने।

यहाँ श्रुतदेवताके कायोत्सर्गके स्थानपर भुवनदेवताका कायोत्सर्ग किया जाता है, उसका हेतु यह है कि क्षेत्रदेवताकी निरन्तर स्मृतिमें भुवनकी क्षेत्रा-न्तर्गतता होनेसे तत्त्वसे तो भुवनदेवताकी स्मृति प्रतिदिन होती ही है, तो भी पर्वके दिन उनका बहुमान करना।

१३ स्तवनके स्थानपर 'अजिय–संति–थओ' और 'शान्तिस्तव' के स्थानपर 'बृहच्छान्ति' बोली जाती है, वह पर्वके दिन भावकी विशेष वृद्धि के लिये समझनी।

[१७]

मङ्गल–भावना ।

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमः प्रभुः ।
मङ्गलं स्थूलभद्राद्या, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥ १ ॥
नमस्कारसमो मन्त्रः, शत्रुञ्जयसमो गिरिः ।
वीतरागसमो देवो, न भूतो न भविष्यति ॥ २ ॥
ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमो नमः ॥ ३ ॥
अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः ।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु वो मङ्गलम् ॥ ४ ॥
पाताले यानि बिम्बानि, यानि बिम्बानि भूतले ।
स्वर्गेऽपि यानि बिम्बानि, तानि वन्दे निरन्तरम् ॥ ५ ॥
जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्दिने दिने ।
सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु, सदा मेऽस्तु भवे भवे ॥ ६ ॥
दर्शनं देवदेवस्य, दर्शनं पापनाशनम् । ।
दर्शनं स्वर्गसोपानं, दर्शनं मोक्षसाधनम् ॥ ७ ॥
अन्यथा शरणं नास्ति, त्वमेव शरणं मम ।
तस्मात् कारुण्यभावेन, रक्ष रक्ष जिनेश्वर ! ॥ ८ ॥

प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं,
वदनकमलमङ्कः कामिनीसङ्गशून्यः ।
करयुगमपि यत्ते शस्त्रसम्बन्धवन्ध्यं,
तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ॥ ९ ॥
सरसशान्तसुधारससागरं, शुचितरं गुणरत्नमहाकरम् ।
भविकपङ्कजबोधदिवाकरं, प्रतिदिनं प्रणमामि जिनेश्वरम् ॥ १० ॥
अद्य मे सफलं जन्म, अद्य मे सफला क्रिया ।
शुभो दिनोदयोऽस्माकं, जिनेन्द्र! तव दर्शनात् ॥ ११ ॥
न हि त्राता नहि त्राता, नहि त्राता जगत्त्रये ।
वीतरागसमो देवो, न भूतो न भविष्यति ॥ १२ ॥

[१८]

प्रभुके सम्मुख बोलनेके दोहे।

प्रभु-दरिसण सुख-सम्पदा, प्रभु दरिसण नवनिध ।
प्रभु-दरिसणथी पामिये, सकलपदारथ सिद्ध ॥ १ ॥
भावे जिनवर पूजिये, भावे दीजे दान ।
भावे भावना भाविये, भावे केवलज्ञान ॥ २ ॥
जीवडा! जिनवर पूजिये, पूजानां फल होय ।
राज नमे परजा नमे, आण न लोपे कोय ॥ ३ ॥
पाँच कोडीने फूलडे, पाम्या देश अढार ।
राजा कुमारपालनो, वर्त्यो जयजयकार ॥ ४ ॥
प्रभु नामनी औषधि, खरा भावथी खाय ।
रोग शोक व्यापे नहीं, सवि सङ्कट दूर थाय ॥ ५ ॥

[१९]

शत्रुञ्जयको प्रणिपात करते समय बोलनेके दोहे।

सिद्धाचल समरुं सदा, सोरठ देश मझार।
मनुष्य–जन्म पामी करी, वन्दूँ वार हजार ॥ १ ॥
एकेकुं डगलुं भरे, शत्रुञ्जय समुं जेह।
ऋषभ कहे भव क्रोडनां, कर्म खपावे तेह ॥ २ ॥
सिद्धाचल सिद्धि वर्या, गृहि–मुनिलिङ्ग अनन्त।
आगे अनन्ता सिद्धशे, पूजो भवि! भगवन्त ॥ ३ ॥
शत्रुञ्जय गिरि–मण्डणो, मरुदेवानो नन्द।
युगलाधर्म निवारको, नमो युगादि जिणन्द ॥ ४ ॥
सोरठ देशमां संचर्यो, न चढ्यो गढ़ गिरनार।
शेत्रुंजी नदी नाह्यो नहीं, एले गयो अवतार ॥ ५ ॥

[२०]

नवाङ्गपूजाके दोहे।

जल भरी सम्पुट पत्रमां, युगलिक–नर पूजन्त।
ऋषभ–चरण–अंगूठडो, दायक भवजल–अन्त ॥ १ ॥
जानु बले काउस्सग्ग रह्या, विचर्या देश–विदेश।
खड़ा खड़ा केवल लह्युं पूजो जानु नरेश ॥ २ ॥
लोकान्तिक वचने करी, वरस्या वरसीदान।
कर–कांडे प्रभु–पूजना, पूजो भवि बहुमान ॥ ३ ॥

मान गयुं दोय अंसथी, देखी वीर्य अनन्त।
भुजाबले भवजल तर्या, पूजो स्कन्ध महन्त ॥ ४ ॥
सिद्धशिला गुण ऊजली, लोकान्ते भगवन्त।
वसिया तिणे कारण भवि, शिर शिखा–पूजन्त ॥ ५ ॥
तीर्थङ्कर–पद–पुण्यथी, त्रिभुवनजन सेवन्त।
त्रिभुवन-तिलक समा प्रभु, भाल तिलक जयवन्त ॥ ६ ॥
सोल पहोर प्रभु देशना, कण्ठे विवर वर्तुल।
मधुर ध्वनि सुरनर सुणे, तिणे गले तिलक अमूल ॥ ७ ॥
हृदय–कमल–उपशम बले, बाल्या राग ने रोष।
हिम दहे वन–खण्डने, हृदय तिलक सन्तोष ॥ ८ ॥
रत्नत्रयी गुण ऊजली, सकल सुगुण विश्राम।
नाभिकमलनी पूजना, करतां अविचल धाम ॥ ९ ॥
उपदेशक नव तत्त्वना, तिणे नव अङ्ग जिणन्द।
पूजो बहुविध रागशुं, कहे शुभवीर मुणिन्द ॥ १० ॥

[२१]

अष्टप्रकारी पूजाके दोहे

१ जल–पूजा

जल–पूजा जुगते करो, मेल अनादि विनास।
जल–पूजा फल मुझ हजो, मागो एम प्रभु पास ॥ १ ॥

२ चन्दन–पूजा

शीतल गुण जेहमां रह्यो, शीतल प्रभु–मुखरङ्ग।
आत्म शीतल करवा भणी, पूजो अरिहा–अङ्ग ॥ २ ॥

३ पुष्प-पूजा

सुरभी अखण्ड कुसुमे ग्रही, पूजो गत सन्ताप ।
सुम(न)जन्तु भव्य ज परे, करीए समकित छाप ।। ३ ।।

४ धूप-पूजा

ध्यान-घटा प्रगटावीए, वामनयन जिन धूप ।
मिच्छत्त दुर्गन्ध दूरे टले, प्रगटे आत्मस्वरूप ।। ४ ।।

५ दीपक-पूजा

द्रव्य दीप सुविवेकयी, करतां दुःख होय फोक ।
भाव-प्रदीप प्रगट हुए, वासित लोकालोक ।। ५ ।।

६ अक्षत-पूजा

शुद्ध अखण्ड अक्षत ग्रही, नन्दावर्त-विशाल ।
पूरी प्रभु संमुख रहो, टाली सकल जंजाल ।। ६ ।।

७ नैवेद्य-पूजा

अणाहारी पद में कर्या, विग्गह गई अनन्त ।
दूर करी ते दीजिए, अणाहारी शिव सन्त ।। ७ ।।

८ फल-पूजा

इन्द्रादिक पूजा भणी, फल लावे धरी राग ।
पुरुषोत्तम पूजा करी, मागे शिवफल-त्याग ।। ८ ।।

[२२]

प्रभु-स्तुति ×

(१)

छे प्रतिमा मनोहारिणी दुःखहरी, श्रीवीर जिणन्दनी,
भक्तोने छे सर्वदा सुखकरी, जाणे खीली चान्दनी।
आ प्रतिमाना गुण भाव धरीने, जे माणसो गाय छे,
पामी सघळां सुख ते जगतनां, मुक्ति भणी जाय छे॥ १॥

(२)

आव्यो शरणे तुमारा जिनवर! करजो, आश पूरी हमारी,
नाव्यो भवपार मारो तुम विण जगमां, सार ले कोण मारी?
गायो जिनराज आजे हरख अधिकथी, पर्म आनन्दकारी,
पाये तुम दर्श नासे भव-भय-भ्रमणा, नाथ सर्वे अमारी॥ १॥

(३)

त्हाराथी न समर्थ अन्य दीनने, उद्धारनारो प्रभु,
म्हाराथी नहि अन्य पात्र जगमां, जोतां जडे हे विभु।
मुक्ति मङ्गल-स्थान तो य मुजने, इच्छा न लक्ष्मी तणी,
आपो सम्यगूरत्न 'श्याम' जीवने, तो तृप्ति थाये घणी॥ १॥

× प्रभु-स्तुति, चैत्यवन्दन, स्तवन आदिमें भाषाकी दृष्टिसे यथाशक्य सुधार किया है, किन्तु छन्दकी दृष्टिसे जो अशुद्धियाँ हैं, उन्हें सुधारने से मूल कलेवर (पाठ) बदल जाता है इसलिये उसमें परिवर्तन नहीं किया।

(४)

सकल–कर्मवारी, मोक्ष–मार्गाधिकारी,
त्रिभुवन–उपकारी, केवलज्ञान–धारी।
भविजन–नित सेवो, देव ए भक्ति भावे,
एही ज जिन भजन्ता, सर्व सम्पत्ति पावे ॥ १ ॥
जिनवर–पद सेवा, सर्व सम्पत्तिदाई,
निशदिन सुखदाई, कल्पवल्ली सहाई।
नमि–विनमि लही जे, सर्व–विद्या बडाई,
ऋषभ जिनह सेवा, साधतां तेह पाई ॥ २ ॥

[२३]

चैत्यवन्दन

(१)

पद्मप्रभु ने वासुपूज्य, दोय राता कहीए।
चन्द्रप्रभु ने सुविधिनाथ, दो उज्वल लहीए ॥ १ ॥
मल्लिनाथ ने पार्श्वनाथ, दो नीला निरख्या।
मुनिसुव्रत ने नेमिनाथ, दो अंजन सरीखा ॥ २ ॥
सोले जिन कञ्चन समा, एवा जिन चोवीस।
धीरविमल पण्डिततणो, ज्ञानविमल कहे शिष्य ॥ ३ ॥

(२)

बार गुण अरिहन्तदेव, प्रणमीजे भावे।
सिद्ध आठ गुण समरतां, दुःख–दोहग जावे ॥ १ ॥

आचारज–गुण छत्रीश, पचवीश उवज्झाय।
सत्तावीश गुण साधुना, जपतां शिवसुख थाय॥ २॥
अष्टोत्तर–शत गुण मली, एम समरो नवकार।
धीरविमल पण्डिततणो, नय प्रणमे नित सार॥ ३॥

(३)

श्रीशान्तिनाथका चैत्यवन्दन

शान्ति जिनेश्वर सोलमा, अचिरा–सुत वन्दो।
विश्वसेन–कुल–नभमणि, भविजन–सुख–कन्दो॥ १॥
मृगलंछन जिन आउखुं, लाख वरस प्रमाण।
हत्थिणाउर–नयरी–धणी, प्रभुजी गुण–मणि–खाण॥ २॥
चालीश धनुषनी देहडी, समचउरस संठाण।
वदन–पद्म ज्युं चंदलो, दीठे परम कल्याण॥ ३॥

(४)

चौबीस जिनलाञ्छनका चैत्यवन्दन

ऋषभ–लंछन ऋषभदेव, अजित–लंछन हाथी।
सम्भव–लंछन घोडलो, शिवपुरनो साथी॥ १॥
अभिनन्दन–लंछन कपि, क्रौंच–लंछन सुमति।
पद्म–लंछन पद्मप्रभु, विश्वदेवा सुमति॥ २॥
सुपार्श्व–लंछन साथीओ, चन्द्रप्रभु–लंछन चन्द्र।
मगर–लंछन सुविधि प्रभु, श्रीवच्छ शीतल जिनन्द॥ ३॥
लंछन खड्गी श्रेयांसने, वासुपूज्यने महिष।
सूवर–लंछन पाये विमलदेव, मल्या ते नामो शिष॥ ४॥

सिंचाणो जिन अनन्तने, वज्र—लंछन श्रीधर्म ।
शान्ति—लंछन मरगलो, राखे धर्मनो मर्म ॥ ५ ॥
कुन्थुनाथ जिन बोकड़ो, अरजिन नन्दावर्त ।
मल्लि कुम्भ वखाणीए, सुव्रत कच्छप विख्यात ॥ ६ ॥
नमि जिनने नीलो कमल, पामीए पङ्कजमांही ।
शङ्ख—लंछन प्रभु नेमजी, दीसे ऊंचे आंही ॥ ७ ॥
पार्श्वनाथने चरण सर्प, नीलवरण शोभित ।
सिंह—लंछन कंचनतनु, वर्धमान विख्यात ॥ ८ ॥
एणी परे लंछन चिन्तवी, ओलखीए जिनराय ।
ज्ञानविमल प्रभु सेवतां, लक्ष्मीरतन सूरिराय ॥ ९ ॥

(५)

श्रीसिद्धाचलजीका चैत्यवन्दन

विमल—केवलज्ञान—कमला—कलित, त्रिभुवन हितकरं ।
सुरराज—संस्तुत—चरणपङ्कज, नमो आदि जिनेश्वरं ॥ १ ॥
विमल—गिरिवर—शृङ्गमण्डन, प्रवर—गुणगण—भूधरं ।
सुर—असुर—किन्नर—कोडि—सेवित, नमो आदि जिनेश्वरं ॥ २ ॥
करत नाटक किन्नरी—गण, गाय जिन—गुण मनहरं ।
निर्जरावली नमे अहर्निश, नमो आदि जिनेश्वरं ॥ ३ ॥
पुण्डरीक गणपति सिद्धि साधी, कोडी पण मुनि मनहरं ।
श्रीविमल गिरिवर—शृङ्ग सिद्धा, नमो आदि जिनेश्वरं ॥ ४ ॥

निजसाध्य—साधक सुर—मुनिवर, कोडि'नन्त ए गिरिवरं ।
मुक्ति—रमणी वर्या रंगे, नमो आदि जिनेश्वरं ॥ ५ ॥
पाताल—नर—सुर—लोकमांही, विमल गिरिवरतो परं ।
नहि अधिक तीरथ तीर्थपति कहे, नमो आदि जिनेश्वरं ॥ ६ ॥
विमल गिरिवर—शिखर—मण्डण, दु:ख—विहण्डण ध्याइये ।
निज शुद्ध—सत्ता—साधनार्थं, परम ज्योति निपाइये ॥ ७ ॥
जितमोह—कोह—विछोह निद्रा, परम—पद—स्थित जयकरं ।
गिरिराज—सेवा—करण—तत्पर, पद्मविजय सुहितकरं ॥ ८ ॥

(६)

श्रीसिद्धाचलजीका चैत्यवन्दन

श्रीशत्रुंजय सिद्ध—क्षेत्र, दीठे दुर्गति वारे ।
भाव धरीने जे चढे, तेने भवपार उतारे ॥ १ ॥
अनंन्त सिद्धनो एह ठाम, सकल तीर्थनो राय ।
पूर्व नवाणुं ऋषभदेव, ज्यां ठवीआ प्रभु पाय ॥ २ ॥
सूरजकुण्ड सोहामणो, कवड जक्ष अभिराम ।
नाभिराया—कुलमण्डणो, जिनवर करूं प्रणाम ॥ ३ ॥

(७)

श्रीऋषभदेवका चैत्यवन्दन

आदिदेव अलवेसरु, विनीतानो राय ।
नाभिराया—कुलमण्डणो, मरुदेवा माय ॥ १ ॥

पाँचसें धनुषनी देहडी, प्रभुजी परम दयाल।
चोराशी लख पूर्वनुं, जस आयु विशाल ॥ २ ॥
वृषभ—लंछन जिन वृष—धरु (ए), उत्तम गुण मणिखाण।
तस पद—पद्म सेवन थकी, लहीए अविचल ठाण ॥ ३ ॥

(८)

श्रीसीमन्धरस्वामीका चैत्यवन्दन

श्रीसीमन्धर! जगधणी, आ भरते आवो।
करुणावन्त करुणा करी, अमने वन्दावो ॥ १ ॥
सयल भक्त तुमे धणी, जो होवे मुज नाथ।
भवोभव हुं छुं ताहरो, नहि मेलुं हवे साथ ॥ २ ॥
सयल सङ्ग छंडी करी, चारित्र लेइशुं।
पाय तुमारा सेवीने, शिवरमणी वरीशुं ॥ ३ ॥
ए अलजो मुजने घणो, पूरो सीमन्धर देव।
इहां थकी हुं विनवुं, अवधारो मुज सेव ॥ ४ ॥

(९)

श्रीसीमन्धरस्वामीका चैत्यवन्दन

श्रीसीमन्धर वीतराग, त्रिभुवन तुमे उपकारी।
श्रीश्रेयांस पिताकुले, बहु शोभा तुमारी ॥ १ ॥
धन्य धन्य माता सत्यकी, जेणे जायो जयकारी।
वृषभ लंछन बिराजमान, वन्दे नर नारी ॥ २ ॥

धनुष पाँचशें देहडीए, सोहे सोवन वान।
कीर्तिविजय उवज्झायनो, विनय धरे तुम ध्यान ॥ ३ ॥

(१०)

श्रीसीमन्धरस्वामीका चैत्यवन्दन

सीमन्धर परमातमा, शिव–सुखना दाता।
पुक्खलवइ–विजये जयो, सर्व जीवना त्राता ॥ १ ॥
पूर्व विदेहे पुण्डरीगिणी, नयरीए सोहे।
श्रीश्रेयांस राजा तिहां, भवियणनां मन मोहे ॥ २ ॥
चौद सुपन निर्मल लही, सत्यकी राणी मात।
कुन्थु–अरजिन–अन्तरे, श्रीसीमन्धर जात ॥ ३ ॥
अनुक्रमे प्रभु जनमीआ, वळी यौवन पावे।
मात–पिता हरखे करी, रुक्मिणी परणावे ॥ ४ ॥
भोगवी सुख संसारनां, संजम मन लावे।
मुनि–सुव्रत–नमि–अन्तरे, दीक्षा प्रभु पावे ॥ ५ ॥
घातीकर्मनो क्षय करी, पाम्या केवलज्ञान।
वृषभ–लंछने शोभता, सर्व भावना जाण ॥ ६ ॥
चोराशी जस गणधरा, मुनिवर एक सो कोड़।
त्रण भुवनमां जोवतां, नहि कोई एहनी जोड़ ॥ ७ ॥
दश लाख कह्या केवली, प्रभुजीनो परिवार।
एक समय त्रण कालना, जाणे सर्व विचार ॥ ८ ॥

उदय पेढाल—जिन—अन्तरे, थाशे जिनवर सिद्ध ।
जसविजय गुरु प्रणमतां, शुभ वांछित फल लीध ॥ ९ ॥

(११)

नवपदजीका चैत्यवन्दन

सकल—मङ्गल—परम—कमला—केलि—मंजुल—मन्दिरं ।
भव—कोटि—संचित—पाप—नाशन, नमो नवपद जयकरं ॥ १ ॥
अरिहन्त सिद्ध सूरीश वाचक, साधु दर्शन सुखकरं ।
वर ज्ञान पद चारित्र तप ए, नमो नवपद जयकरं ॥ २ ॥
श्रीपाल राजा शरीर साजा, सेवतां नवपद वरं ।
जगमांहि गाज्या कीर्तिभाजा, नमो नवपद जयकरं ॥ ३ ॥
श्रीसिद्धचक्र पसाय सङ्कट, आपदा नासे अरं ।
वली विस्तरे सुख मनोवांछित नमो नवपद जयकरं ॥ ४ ॥
आंबिल नव दिन देववन्दन, त्रण टंक निरन्तरं ।
बे वार पडिक्कमणां पलेवण, नमो नवपद जयकरं ॥ ५ ॥
त्रण काल भावे पूजिए, भवतारकं तीर्थङ्करं ।
तिम गुणणुं दोय हजार गणीए, नमो नवपद जयकरं ॥ ६ ॥
इम विधिसहित मन—वचन—काया, वश करी आराधीए ।
तप वर्ष साडाचार नवपद, शुद्ध साधन साधीए ॥ ७ ॥
गद कष्ट चूरे शर्म पूरे, यक्ष विमलेश्वर वरं ।
श्रीसिद्धचक्र प्रताप जाणी, विजय विलसे सुखभरं ॥ ८ ॥

(१२)

दूजका चैत्यवन्दन

दुविध धर्म जेणे उपदिश्यो, चोथा अभिनन्दन।
बीजे जन्म्या ते प्रभु, भवदुःखनिकन्दन ॥ १ ॥
दुविध ध्यान तुमे परिहरो, आदरो दोय ध्यान।
इम प्रकाश्युं सुमतिजिने, ते चविया बीजदिन ॥ २ ॥
दोय बन्धन राग–द्वेष, तेहने भवि! तजिये।
मुज परे शीतल जिन कहे, बीज दिन शिव भजिये ॥ ३ ॥
जीवाजीव पदार्थनुं, करो नाण सुजाण।
बीज दिन वासुपूज्य परे, लहो केवलनाण ॥ ४ ॥
निश्चय नय व्यवहार दोय, एकान्ते न ग्रहीए।
अरजिन बीज दिने चव्या, एम आगळ कहीए ॥ ५ ॥
वर्तमान चोवीशी ए, एम जिन–कल्याण।
बीज दिने केई पामिया, प्रभु नाण–निर्वाण ॥ ६ ॥
एम अनन्त चोवीशीए, हुआ बहु कल्याण।
जिन उत्तम पद पद्मने, नमतां होय सुख–खाण ॥ ७ ॥

(१३)

ज्ञानपञ्चमीका चैत्यवन्दन

त्रिगड़े बेठा वीर जिन, भाखे भविजन आगे।
त्रिकरण शुं त्रिहुं लोकजन, निसुणो मन रागे ॥ १ ॥

आराधो भली भांतसे, पाँचम अजुआली।
ज्ञान–आराधन कारणे, एहिज तिथि निहाली ॥ २ ॥
ज्ञान बिना पशु सारिखा, जाणो इणे संसार।
ज्ञान–आराधनथी लह्युं, शिव–पद–सुख श्रीकार ॥ ३ ॥
ज्ञानरहित किरिया कही, कास–कुसुम उपमान।
लोकालोक–प्रकाशकर, ज्ञान एक परधान ॥ ४ ॥
ज्ञानी श्वासोच्छ्वासमां, करे कर्मनो छेह।
पूर्व कोडी वरसां लगे, अज्ञानी करे जेह ॥ ५ ॥
देश आराधक क्रिया कही, सर्व–आराधक ज्ञान।
ज्ञानतणो महिमा घणो, अङ्ग पाँचमे भगवान ॥ ६ ॥
पञ्च मास लघुपञ्चमी, जावजीव उत्कृष्टि।
पञ्च वरस पञ्च मासनी, पञ्चमी करो शुभ दृष्टि ॥ ७ ॥
एकावन हि पञ्चनो, काउस्सग्ग लोगस्स केरो।
उजमणुं करो भावशुं टालो भव–फेरो ॥ ८ ॥
एणी पेरे पञ्चमी आराधीए, आणी भाव अपार।
वरदत्त–गुणमञ्जरी परे, रङ्गविजय लहो सार ॥ ९ ॥

(१४)

अष्टमीका चैत्यवन्दन

महा शुदि आठम दिने, विजया–सुत जायो।
तेम फागण शुदि आठमे, सम्भव चवी आयो ॥ १ ॥
चैत्र वदनी आठमे, जन्म्या ऋषभजिणन्द।
दीक्षा पण ए दिन लही, हुआ प्रथम मुनिचन्द ॥ २ ॥

माधव शुदि आठम दिने, आठ कर्म कर्यां दूर।
अभिनन्दन चोथा प्रभु, पाम्या सुखभरपूर ॥ ३ ॥
एहिज आठम ऊजली, जनम्या सुमति जिणन्द।
आठ जाति कलशे करी, न्हवरावे सुर-इन्द ॥ ४ ॥
जन्म्या जेठ वदि आठमे, मुनिसुव्रत स्वामी।
नेम आषाड शुदि आठमे, अष्टमी गति पामी ॥ ५ ॥
श्रावण वदनी आठमे, नमि जन्म्या जगभाण।
तेम श्रावण शुदि आठमे, पासजीनुं निरवाण ॥ ६ ॥
भादरवा वदि आठम दिने, चविया स्वामी सुपास।
जिन उत्तम पद-पद्मने, सेव्याथी शिव-वास ॥ ७ ॥

(१५)

मौनएकादशीका चैत्यवन्दन

शासननायक वीरजी, प्रभु केवल पायो।
संघ चतुर्विध स्थापवा, महसेन वय आयो ॥ १ ॥
माधव सित एकादशी, सोमल द्विज यज्ञ।
इन्द्रभूति आदे मली, छे एकादश विज्ञ ॥ २ ॥
एकादशसें चउ गुणो, तेहनो परिवार।
वेद अरथ अवलो करे, मन अभिमान अपार ॥ ३ ॥
जीवदिक संशय हरी, एकादश गणधार।
वीरे स्थाप्या वन्दीए, जिनशासन जयकार ॥ ४ ॥
मल्लिजन्म अर-मल्लि-पास, वर-चरण-विलासी।
ऋषभ अजित सुमति नमि, मल्लि घन-घाती विनाशी ॥ ५ ॥

पद्मप्रभ शिववास पास, भवभवना तोड़ी ।
एकादशी दिन आपणी, ऋद्धि सघळी जोड़ी ॥ ६ ॥
दश क्षेत्रे तिहुं कालनां, त्रणसें कल्याण ।
वर्ष अग्यार एकादशी, आराधो वरनाण ॥ ७ ॥
अगियार अङ्ग लखावीए, एकादश पाठां ।
पूजणी ठवणी वींटणी मसी कागळ ने काठां ॥ ८ ॥
अगियार अव्रत छांडवा ए, वहो पडिमा अगियार ।
खिमाविजय जिशनासने, सफल करो अवतार ॥ ९ ॥

(१६)

श्रीपर्युषणा–पर्वका चैत्यवन्दन

पर्व पर्युषण गुणनीलो, नवकल्पी विहार ।
चार मासान्तर स्थिर रहे, एही ज अर्थ उदार ॥ १ ॥
अषाड सुदी चउदश थकी, संवत्सरी पचास ।
मुनिवर ।दिन सित्तेरमें, पडिकमतां चौमास ॥ २ ॥
श्रावक पण समता धरी, करे गुरुनां बहुमान ।
कल्पसूत्र सुविहित मुखे, सांभले थइ एक तान ॥ ३ ॥
जिनवर चैत्य जुहारीए, गुरुभक्ति विशाल ।
प्रायः अष्ट भवान्तरे, वरीए शिव–वरमाल ॥ ४ ॥
दर्पणथी निज रूपनों, जुए सुदृष्टि रूप ।
दर्पण अनुभव अर्पणो, ज्ञानरयण मुनि भूप ॥ ५ ॥

आत्मस्वरूप विलोकतां, प्रगटयो मित्र–स्वभाव ।
राय उदाई खामणां, पर्व पर्युषण दाव ॥ ६ ॥
नव वखाण पूजी सुणो, शुक्ल चतुर्थी सीमा ।
पञ्चमी दिन वांचे सुणे, होय विराधक नियमा ॥ ७ ॥
ए नहि पर्वे पञ्चमी, सर्व समाणी चोथे ।
भवभीरू मुनि मानशे, भाख्युं अरिहा नाथे ॥ ८ ॥
श्रुतकेवली वयणां सुणीए, लही मानव अवतार ।
श्रीशुभवीरने शासने, सफल करो अवतार ॥ ९ ॥

[२४]

स्तवन

(१)

श्रीआदिजिनका स्तवन

प्रथम जिनेश्वर प्रणमीए, जास सुगन्धी रे ! काय ।
कल्पवृक्ष परे तास इन्द्राणी–नयन जे भृङ्ग परे लपटाय ॥
प्रथम जिनेश्वर० ॥ १ ॥
रोग–उरग तुज नवि नडे, अमृत जेह आस्वाद ।
तेहथी प्रतिहत तेह, मानुं कोई, नवि करे, जगमां तुम शुं रे वाद ॥
प्रथम जिनेश्वर० ॥ २ ॥
वगर धोई तुज निर्मली, काया कञ्चन–वान ।
नहीं प्रस्वेद लगार, तारे तुं तेहने, जेह धरे ताहरुं ध्यान ॥
प्रथम जिनेश्वर० ॥ ३ ॥

राग गयो तुज मन थकी, तेहमां चित्र न कोय।
रुधिर आमिषथी राग गयो तुज जन्मथी, दूध–सहोदर होय ॥
प्रथम जिनेश्वर० ॥ ४ ॥

श्वासोच्छ्‌वास कमल समो, तुज लोकोत्तर वात।
देखे न आहार–निहार चरम–चक्षु–धणी, एहवा तुज अवदात ॥
प्रथम जिनेश्वर० ॥ ५ ॥

चार अतिशय मूलथी ओगणीश देवना कीध।
कर्म खप्याथी अग्यार चोत्रीस एम अतिशया, समवायांगे प्रसिद्ध ॥
प्रथम जिनेश्वर० ॥ ६ ॥

जिन उत्तम गुण गावतां, गुण आवे निज अङ्ग।
पद्मविजय कहे एह समय प्रभु पालजो, जेम थाऊं अक्षय अभङ्ग ॥
प्रथम जिनेश्वर० ॥ ७ ॥

(२)

श्रीआदिजिनका स्तवन

माता मरुदेवीना नन्द ! देखी ताहरी मूरति मारुं मन लोभाणुंजी
के मारुं चित्त–चोराणुं जी।

करुणाना घर करुणा–सागर, काया–कञ्चन–वान।
धोरी–लंछन पाउले कांई, धनुष पाँचसे मान....माता० ॥ १ ॥

त्रिगडे बेसी धर्म कहंता, सूणे पर्षदा बार।
योजनगामिनि वाणी मीठी, बरसन्ती जलधार....माता० ॥ २ ॥

उर्वशी रूडी अपसराने, रामा छे मनरङ्ग ।
पाये नेउर रणझणे कांई, करती नाटारम्भ....माता० ॥ ३ ॥
तुंहि ब्रह्मा, तुंहि विधाता, तुं जगतारण हार ।
तुज सरीखो नहि देव जगतमां, अडवडिया आधार....माता० ॥४॥
तुं हि भ्राता, तुं हि त्राता, तुंहि जगतनो देव ।
सुर–नर–किन्नर—वासुदेवा, करता तुज पद सेव....माता० ॥ ५ ॥
श्रीसिद्धाचल तीरथ केरो, राजा ऋषभ जिणंद ।
कीर्ति करे **माणेकमुनि** ताहरी, टालो भवभय फंद....माता० ॥६॥

(३)

श्रीआदिजिनका स्तवन

(राग–मारु–करम परीक्षा करण कुंवर चल्यो–ए देशी)

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, ओर न चाहुं रे कन्त ।
रीझ्यो साहेब सङ्ग न परिहरे रे, भांगे सादि–अनन्त–ऋ० ॥ १ ॥
प्रीतसगाई रे जगमां सहु करे रे, प्रीतसगाई न कोय ।
प्रीतसगाई रे निरुपाधिक कही रे, सोपाधिक धन खोय–ऋ० ॥ २ ॥
कोई कंथ कारण काष्ठभक्षण करे रे, मलशुं कन्तने धाय ।
ए मेलो नवि कहीए संभवे रे, मेलो ठाम न ठाय–ऋ० ॥ ३ ॥
कोई पतिरञ्जन अति घणुं तप करे रे, पतिरञ्जन तन ताप ।
ए पतिरञ्जन में नवि चित्त धर्युं रे, रञ्जन धातु मिलाप–ऋ० ॥ ४ ॥
कोइ कहे लीला रे अलख अलख तणी रे, लख पूरे मन आश ।
दोष–रहितने लीला नवि घटे रे, लीला दोष विलास–ऋ० ॥ ५ ॥

चित्तप्रसन्ने रे पूजन फल कह्युं रे, पूजा अखण्डित एह ।
कपटरहित थई आतम अरपणारे, आनन्दघन–पद–रेह–ऋ० ॥ ६ ॥

(४)

श्रीअजितनाथस्वामीका स्तवन

(राग–आशावरी–मारूं मन मोह्युं रे श्रीविमलाचले रे–ए देशी)

पंथडो निहालुं रे बीजा जिन तणो रे, अजित अजित गुणधाम ।
जे तें जीत्या रे तेणे हुं जीतियो रे, पुरुष किश्युं मुज नाम–पंथ० ॥ १ ॥
चरम नयण करी मारग जोवतां रे, भूल्यो सयल संसार ।
जेणे नयणे करी मारग जोइए रे, नयण ते. दिव्य विचार–पंथ० ॥२॥
पुरुष परंपर अनुभव जोवतां रे, अन्धो अन्ध पलाय ।
वस्तु विचारे रे जो आगमे करी रे, चरण धरण नहि ठाय–पंथ०॥३॥
तर्क विचारे रे वादपरम्परा रे, पार न पहुंचे कोय ।
अभिमते वस्तु रे वस्तुगते कहे रे, ते विरला जग जोय–पंथ०॥४॥
वस्तु विचारे दिव्य नयणतणो रे, विरह पड्यो निरधार ।
तरतम जोगे रे तरतम वासना रे, वासित बोध आधार–पंथ० ॥५॥
काललब्धि लही पंथ-निहालशुं रे, ए आशा अवलम्ब ।
ए जन जीवे रे जिनजी ! जाणजो रे, आनन्दघन-मत-अम्ब-पंथ०॥६॥

(५)

श्रीअजितनाथस्वामीका स्तवन

प्रीतलड़ी बंधाणी रे अजित जिणंद शुं,
प्रभुपाखे क्षण एक मने न सुहाय जो ।

ध्यानानी ताली रे लागी नेहशुं,
जलदघटा जेम शिवसुत वाहन दाय जो—प्रीतलडी० ॥ १ ॥
नेहघेलुं मन म्हारुं रे प्रभु अलजे रहे,
तनमनधन ते कारणथी प्रभु मुज जो ।
म्हारे तो आधार रे साहेब रावरो,
अन्तरगतनी प्रभु आगल कहुं गुंज जो—प्रीतलडी० ॥ २ ॥
साहेब ते साचो रे जगमां जाणीए,
सेवकनां जे म्हेजे सुधोरे काज जो ।
एहवे रे आचरणे केम करी रहुं,
बिरुद तमारुं तारण—तरण—जहाज जो—प्रीतलडी० ॥ ३ ॥
तारकता तुज मांहे रे श्रवणे सांभली,
ते भणी हुं आव्यो छुं दीनदयाल जो ।
तुज करुणानी लहेरे रे मुज कारज सरे,
शुं घणुं कहीए जाण आगल कृपाल जो—प्रीतलडी० ॥ ४ ॥
करुणाधिक कीधी रे सेवक उपरे,
भवभय भावठ भांगी भक्ति प्रसंग जो ।
मनवांछित फलीयारे प्रभु आलम्बने,
कर जोडीने **मोहन** कहे मनरंग जो—प्रीतलडी० ॥ ५ ॥

(६)

श्रीसम्भवनाथस्वामीका स्तवन

सम्भवदेव ते धुर सेवो सवेरे, लही प्रभु—सेवन भेद ।
सेवन कारण पहेली भूमिकारे, अभय अद्वेष अखेद—सम्भव० ॥१॥

भय चञ्चलता हो जे परिणामनी रे, द्वेष अरोचक भाव ।
खेदप्रवृत्ति हो करतां थाकीये रे, दोष अबोध लखाव–सम्भव०॥२॥
चरमावर्त* चरम–करण तथा रे, भव–परिणति–परिपाक ।
दोष टले वळि दृष्टि खुले भली रे, प्राप्ति प्रवचन वाक्–सम्भव०॥३॥
परिचय पातक घातक× साधु शुं रे, अकुशल अपचय चेत ।
ग्रन्थ अध्यातम श्रवण मनन करी रे, परिशीलन नय-हेत-सम्भव०॥४॥
कारण जोगे हो कारज नीपजे रे, एमां कोई न वाद ।
पण कारण विण कारज साधिये रे, ए निज मत उनमाद-सम्भव०॥५॥
मुग्ध सुगम करी सेवन आदरे रे, सेवन अगम अनूप ।
देजो कदाचित् सेवक याचना रे, आनन्दघन-रस-रूप-सम्भव०॥७॥

(७)

श्रीअभिनन्दनस्वामीका स्तवन

(राग–धनाश्री–सिंधुडा आज निहेजो रे दीसे नाहलो–यह देशी)

अभिनन्दन जिन! दरिसण तरसीए, दरिसण दुर्लभ देव ।
मत मत भेदे रे जो जई पूछिए, सौ थापे अहमेव–अभि० ॥ १ ॥
सामान्ये करी दरिसण दोहिलुं, निर्णय सकल विशेष ।
मदमें घेर्यो रे अन्धो किम करे? रवि-शशि-रूप विलेख–अभि० ॥ २ ॥
हेतुविवादे हो चित्त धरी जोइए, अति दुरगम नयवाद ।
आगमवादे हो गुरुगम को नहीं, ए सबलो विखवाद–अभि० ॥ ३ ॥

---

* अन्तिम पुद्गलपरावर्तन । × अनिवृत्तिकरण ।

घाति–डुंगर आडा अति घणा, तुझ दरिसण जगनाथ।
धीठाई करी मारग संचरूं, सेंगु कोइ न साथ —अभि० ॥ ४ ॥
दरिसण दरिसण रटतो जो फिरूं, तो रण–रोझ समान।
जेने पीपासा हो अमृतपाननी, किम भांजे विषपान–अभि० ॥ ५ ॥
तरस न आवे हो मरण-जीवनतणो, सीझे जो दरिसण काज॥
दरिसण दुर्लभ सुलभ कृपा थकी, आनन्दघन महाराज–अभि० ॥ ६ ॥

(८)

श्रीविमलनाथस्वामीका स्तवन

(राग–मल्हार : ईडर आंबा आंबली रे, ईडर दाडिम द्राख–यह देशी)

दुःख दोहग दूरे टल्यां रे, सुख संपदशुं भेट।
धींग धणी माथे किया रे, कुण गंजे नर खेट––
विमल जिन! दीठा लोयण आज, म्हारां सिद्धयां वंछित
काज–विमल० ॥ १ ॥
चरण–कमल कमला वसे रे, निर्मल थिर पद देख।
समल अथिर पद परिहरी रे, पङ्कज पामर पेख–विमल० ॥ २ ॥
मुज मन तुझ पद–पङ्कजे रे, लीनो गुण मकरन्द।
रङ्क गणे मन्दरधरा रे, इन्द्र–चन्द्र–नागिन्द–विमल० ॥ ३ ॥
साहेब! समरथ तूं धणी रे, पाम्यो परम उदार।
मन विशरामी वालहो रे, आतमचो आधार–विमल० ॥ ४ ॥
दरिसण दीठे जिनतणुं रे, संशय न रहे वेध।
दिनकार–कर–भर पसरतां रे, अन्धकार–प्रतिषेध–विमल० ॥ ५ ॥

अमियभरी मूरति रची रे, उपमा न घटे कोय ।
शान्तसुधारस झीलती रे, निरखत तृप्ति न होय—विमल० ॥ ६ ॥
एक अरज सेवक तणी रे, अवधारो जिनदेव !
कृपा करी मुझ दीजिए रे, आनन्दघन—पद—सेव—विमल० ॥ ७ ॥

(९)

श्रीअनन्तनाथस्वामीका स्तवन

(राग—रामगिरि : करखा प्रभाती)

धार तरवारनी सोहिली दोहिली, चौदमा जिनतणी चरण सेवा ।
धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवना धार पर रहे न देवा—
धार० ॥ १ ॥
एक कहे सेविए विविध किरिया करी, फल अनेकान्त लोचन न देखे ।
फल अनेकान्त किरिया करी बापड़ा, रडवडे चार गतिमांहि लेखे—
धार० ॥ २ ॥
गच्छना भेद बहु नयण निहालतां, तत्त्वनी बात करतां न लाजे ॥
उदरभरणादि निज काज करतां थकां, मोह नडीया कलिकाल राजे—
धार० ॥ ३ ॥
वचन निरपेक्ष व्यवहार जूठो कह्यो, वचन सापेक्ष व्यवहार साचो ।
वचन निरपेक्ष व्यवहार संसार फल, सांभली आदरी कांई राचो—
धार० ॥ ४ ॥
देव गुरु धर्मनी शुद्धि कहो किम रहे ? किम रहे शुद्ध श्रद्धान आणो ।
शुद्ध श्रद्धान विणु सर्व किरिया करी, छार पर लींपणुं तेह जाणो—
धार० ॥ ५ ॥

पाप नहि कोई उत्सूत्र भाषण जिस्यो, धर्म नहि कोई जग सूत्र सरिखो।
सूत्र अनुसार जे भविक किरिया करे, तेहनुं शुद्ध चारित्र परिखो–
धार० ॥ ६ ॥

एह उपदेशनो सार संक्षेपथी, जे नरा चित्तमां नित्य ध्यावे।
ते नरा दिव्य बहुकाल सुख अनुभवी, नियत **आनन्दघन** राज्य पावे–
धार० ॥ ७ ॥

(१०)

श्रीशान्तिनाथस्वामीका स्तवन

(राग–मल्हार : चतुर चोमासुं पडिकमी–यह देशी)

शान्ति जिन एक मुज विनति, सुणो त्रिभुवन–राय रे!
शान्ति स्वरूप किम जाणीए, कहो मन किम परखाये रे–
शान्ति० ॥ १ ॥

धन्य तुं आतम जेहने, एहवो प्रश्न अवकाश रे!
धीरज मन धरी सांभलो, कहुं शान्ति प्रतिभास रे–शान्ति० ॥ २ ॥

भाव अविशुद्ध सुविशुद्ध जे, कह्या जिनवर देव रे!
ते तेम अवितथ सद्दहे, प्रथम ए शान्तिपद सेव रे–शान्ति० ॥ ३ ॥

आगमधर गुरु समकिती, किरिया संवर सार रे!
सम्प्रदायी अवञ्चक सदा, शुचि अनुभव आधार रे–शान्ति ॥ ४ ॥

शुद्ध आलम्बन आदरे, तजी अवर जंजाल रे!
तामसी वृत्ति सवि परिहरे, भजे सात्त्विकी शाल रे–शान्ति ॥ ५ ॥

फल विसंवाद जेहमां नहीं, शब्द ते अर्थ सम्बन्धी रे !
सकल नयवाद व्यापी रह्यो, ते शिव साधन सन्धिरे–शान्ति० ॥ ६ ॥

विधि प्रतिषेध करी आतमा, पदारथ अविरोध रे !
ग्रहण विधि महाजने परिग्रह्यो, ईस्यो आगमे बोध रे–शान्ति० ॥ ७ ॥

दुष्टजन संगति परिहरी, भजे सुगुरु सन्तान रे !
जोग सामर्थ्य चित्त भाव जे, धरे मुगति निदान रे–शान्ति० ॥ ८ ॥

मान अपमान चित्त सम गणे, सम गणे कनक पाषाण रे !
वन्दक निन्दक सम गणे, इस्यो होये तुं जाण रे–शान्ति० ॥ ९ ॥

सर्व जगजन्तुने सम गणे, गणे तृण मणि–भाव रे !
मुक्ति संसार बेहु सम गणे, मुणे भवजलनिधि नाव रे–शान्ति० ॥१०॥

आपणो आतमभाव जे, एक चेतनाधार रे !
अवर सवि साथ संयोगथी, एह निज परिकर सार रे–शान्ति० ॥११॥

प्रभु मुखथी एम सांभली, कहे आतमराम रे !
ताहरे दरिसणे निस्तर्यो, मुज सिध्यां सवि काम रे–शान्ति० ॥१२॥

अहो अहो हुं मुजने कहुं, नमो मुज नमो मुज रे !
अमित फल दान दातारनी, जेहनी भेट थई तुज रे–शान्ति० ॥१३॥

शान्ति सरूप संक्षेपथी, कह्यो निज पर–रूप रे !
आगम मांहे विस्तर घणो, कह्यो शान्ति जिन–भूप रे–शान्ति०॥१४॥

शान्ति सरूप एम भावशे, धरी शुद्ध प्रणिधान रे !
आनन्दघन पद पामशे, ते लेहेशे बहुमान रे–शान्ति० ॥ १५ ॥

(११)

श्रीशान्तिजिनका स्तवन

शान्ति जिनेश्वर साचो साहिब, शान्ति करण अनुकुलमें
हो जिनजी ! शान्ति० ।
तुं मेरा मनमें तुं मेरा दिलमें, ध्यान धरूँ पलपलमें
साहेबजी ! शान्ति० ॥ १ ॥
भवमां भमतां में दरिसण पायो, आशा पूरो एक पलमें
हो जिनजी ! शान्ति० ॥ २ ॥
निर्मल ज्योत वदन पर सोहे, निकस्यों ज्यूं चन्द बादलमें
साहेबजी ! शान्ति० ॥ ३ ॥
मेरो मन प्रभु ! तुम साथे लीनो, मीन वसे ज्यूं जलमें
हो जिनजी शान्ति० ॥ ४ ॥
जिनरंग कहे प्रभु शान्ति जिनेश्वर, दीठो देव सकलमें
साहेबजी ! शान्ति० ॥ ५ ॥

(१२)

श्रीकुन्थुनाथस्वामीका स्तवन

(राग–गूर्जरी रामकली, अम्बर दे दे मुरारि ! हमारो–यह देशी)

मनडुं किमहि न बाजे हो कुन्थुजिन ! मनडुं किमहि न बाजे ।
जिम जिम जतन करीने राखूं, तिम तिम अलगुं भाजे हो–
कुन्थुजिन० ॥ १ ॥

रजनी वासर वसती ऊजड़, गयण पायाले जाय।
'साप खाय ने मुखडुं थोथुं', एह उखाणो न्याय हो—
कुन्थुजिन० ॥ २ ॥

मुगतितणा अभिलाषी तपिया, ज्ञान ध्यान अभ्यासे।
वयरीडुं कांई एहवुं चिंते, नाखे अवले पासे हो—
कुन्थुजिन० ॥ ३ ॥

आगम आगमधरने हाथे, नावे किणविध आंकूं।
किहां कणे जो हठ करी हटकुं(तो)व्यालतणी परे वांकुं हो—
कुन्थुजिन० ॥ ४ ॥

जो ठग कहुं तो ठगतुं न देखूं, शाहुकार पण नांही।
सर्वमांहे ने सहुथी अलगुं, ए अचरिज मनमांहि हो—
कुन्थुजिन० ॥ ५ ॥

जे जे कहुं ते कान न धारे, आपमते रहे कालुं।
सुर नर पण्डितजन समजावे, समजे न माहरुं सालुं हो—
कुन्थुजिन० ॥ ६ ॥

मैं जाण्युं ए लिंग नपुंसक, सकल मरदने ठेले।
बीजी वाते समरथ छे नर, एहने कोई न झेले हो—
कुन्थुजिन० ॥ ७ ॥

मन साध्युं तेणे सघलुं साध्युं, एह वात नहीं खोटी।
एम कहे साध्युं ते नवि मानुं, एक ही वात छे मोटी हो—
कुन्थुजिन० ॥ ८ ॥

मनडुं दुराराध्य तैं वश आण्युं, (ते) आगमथी मति आणुं ।
आनन्दघन–प्रभु मांहरुं आणो, तो साचुं करी जाणुं हो–
कुन्थुजिन० ॥ ९ ॥

(१३)

श्रीपार्श्वनाथजीका स्तवन

अन्तरजामी सुण अलवेसर, महिमा त्रिजग तुम्हारो;
सांभलीने आव्यो हुं तीरे, जन्म–मरण–दुःख वारो ।
सेवक अरज करे छे राज, अमने शिव सुख आपो० ॥ १ ॥
सहुकोनां मन वांछित पूरो, चिन्ता सहुनी चूरो ।
एहवुं बिरुद छे राज तमारुं; केम राखो छो दूरो–सेवक० ॥ २ ॥
सेवकने वलवलतो देखी, मनमां महेर न धरशो ।
करुणासागर किम कहेवाशो, जो उपकार न करशो–सेवक०॥ ३ ॥
लटपटनुं हवे काम नहिं छे, प्रत्यक्ष दरिसख दीजे ।
धूंआडे धीजुं नहि साहिब ! पेट–पड्या पतीजे–सेवक० ॥ ४ ॥
श्रीशंखेश्वर–मण्डन साहिब ! विनतडी अवधारो ।
कहे जिनहर्ष मया करी मुजने, भवसागरथी तारो–सेवक० ॥ ५ ॥

(१४)

श्रीमहावीरस्वामीका स्तवन

सिद्धारथना रे ! नन्दन विनवुं, विनतडी अवधार ।
भवमण्डपमां रे ! नाटक नाचियो, हवे मुज दान देवार ॥
हवे मुज पार उतार–सिद्धा० ॥ १ ॥

त्रण रतन मुज आपो तातजी ! जेम नावे रे ! सन्ताप ।
दान दियंता रे ! प्रभु कोसर कीसी ? आपो पदवी रे आप ॥
सिद्धा० ॥ २ ॥

चरण-अँगूठे रे ! मेरु कंपावियो, मोड्या सुरनां रे ! मान ।
अष्ट करमना रे ! झगडा जीतवा, दीधां वरसी रे ! दान ॥
सिद्धा० ॥ ३ ॥

शासननायक शिवसुखदायक, त्रिशला कूखे रतन ।
सिद्धारथनो रे ! वंश दीपावियो, प्रभुजी तुमे तुमे धन्य ! धन्य !
सिद्धा० ॥ ४ ॥

वाचक-शेखर कीर्तिविजय गुरु, पामी तास पसाय ।
धर्मतणे रस जिन चोवीसमा, विनयविजय गुण गाय ॥
सिद्धा० ॥ ५ ॥

(१५)

श्रीसीमन्धरजिनका स्तवन

सुणो चन्दाजी ! सीमन्धर परमातम पासे जाजो,
मुज विनतड़ी प्रेम धरीने एणी पेरे तुमे संभळावजो ।
जे त्रण भुवननो नायक छे, जस चोसठ इन्द्र पायक छे,
ज्ञान-दर्शन जेहने क्षायक छे, सुणो चन्दाजी ! ॥ १ ॥
जेनी कंचन वरणी काया छे, जस धोरी-लंछन पाया छे ।
पुंडरीगिणी नगरीनो राया छे, सुणोचन्दाजी ! ॥ २ ॥

बार पर्षदामांही विराजे छे, जस चोत्रीस अतिशय छाजे छे ।
गुण पांत्रीश वाणीए गाजे छे, सुणो चन्दाजी ! ॥ ३ ॥
भविजनने जे पडिबोहे छे, जस अधिक शीतल गुण सोहे छे ।
रूप देखी भविजन मोहे छे, सुणो चन्दाजी ! ॥ ४ ॥
तुम सेवा करवा रसियो छुं, पण भरतमां दूर वसियो छुं ।
महा—मोहराय—कर फसियो छुं, सुणो चन्दाजी ! ॥ ५ ॥
पण साहिब चित्तमां धरियो छुं, तुम आणा—खड्ग कर ग्रहियो छुं ।
तब कांइक मुजथी डरियो छुं, सुणो चन्दाजी ! ॥ ६ ॥
जिन उत्तम पूंठ हवे पूरो, कहे पद्मविजय थाउँ शूरो ।
तो वाधे मुज मन अति नूरो, सुणो चन्दाजी ! ॥ ७ ॥

(१६)

श्रीसीमन्धरजिनका स्तवन

पुक्खलवइ—विजये जयो रे ! नयरी पुंडरीगिणी सार ।
श्रीसीमन्धर साहिबा रे ! राय श्रेयांसकुमार—
जिणन्दराय ! धरजो धर्मसनेह ॥ १ ॥
मोटा—नाना—अन्तरो रे ! गिरुआ नवि दाखन्त ।
ससि—दरिसण सायर वधे रे ! कैरव—वन विकसन्त ।
जिणन्दराय ! धरज्यो धर्मसनेह ॥ २ ॥
ठाम—कुठाम न लेखवे रे ! जग वरसन्त जलधारे ।
कर दोय कुसुमे वासिये रे ! जग छाया आधार- आधार—
जिणन्दराय ! धरज्यो धर्मसनेह ॥ ३ ॥

राय ने रङ्क सरीखा गणे रे ! उद्द्योते ससि—सूर ।
गङ्गा जल ते बिहु तणा रे ! ताप करे सवि दूर—
जिणन्दराय ! धरज्यो धर्मसनेह ॥ ४ ॥

सरिखा सहुने तारवा रे ! तिम तुमे छो महाराज !
मुज शुं अन्तर किम करो रे ! बांह्य ग्रह्यानी लाज—
जिणन्दराय ! धरज्यो धर्मसनेह ॥ ५ ॥

मुख देखी टीलुं करे रे ! ते नवि होय प्रमाण ।
मुजरो माने सवि तणो रे ! साहिब ! तेह सुजाण—
जिणन्दराय ! धरज्यो धर्मसनेह ॥ ६ ॥

वृषभ—लंछन माता सत्यकी रे ! नन्दन रुक्मिणी कन्त ।
वाचक जस इम विनवे रे ! भय—भञ्जन भगवन्त—
जिणन्दराय ! धरज्यो धर्मसनेह ॥ ७ ॥

(१७)

श्रीसिद्धाचलजीका स्तवन

विमलाचल नितु वन्दीए, कीजे एहनी सेवा ।
मानुं हाथ ए धर्मनो, शिव—तरु—फल लेवा—विमला० ॥ १ ॥
उज्ज्वल जिन—गृह—मण्डली, तिहां दीपे उत्तंगा ।
मानुं हिमगिरि विभ्रमे, आई अम्बर—गंगा—विमला० ॥ २ ॥
कोई अनेरुं जग नहीं, ए तीरथ तोले ।
इम श्रीमुख हरि आगले, श्रीसीमन्धर बोले—विमला० ॥ ३ ॥

जे सघलां तीरथ कर्यां, आत्रा फल कहीए।
तेहथी ए गिरि भेटतां, शतगणुं फल लहीए–विमला० ॥ ४ ॥
जनम सफल होय तेहनो, जेह ए गिरि वन्दे।
सुजसविजय सम्पद लहे, ते नर चिर नन्दे–विमला० ॥ ५ ॥

(१८)

द्वितीयाका स्तवन

(देशी–सुरती महिनानी)

सरस वचन रस वरसती, सरसती कला भण्डार।
बीजतणो महिमा कहूं जिम कह्यो शास्त्र मोझार ॥ १ ॥
जम्बूद्वीपना भरतमां, राजगृही उद्यान।
वीर जिणन्द समोसर्यां, वन्दन आव्या राजन ॥ २ ॥
श्रेणिक नामे भूपति, बेठा बेसण–ठाय।
पूछे श्रीजिनरायने, द्यो उपदेश महाराय ॥ ३ ॥
त्रिगडे बेठा त्रिभुवनपति, देशना दीये जिनराय।
कमल–सुकोमल–पाँखडी, इम जिन–हृदय सोहाय ॥ ४ ॥
शशि–प्रगटे जिम ते दिने, धन्य ते दिन सुविहाण।
एक मने आराधतां, पामे पद निर्वाण ॥ ५ ॥

ढाल दूसरी

(अष्टापद अरिहन्ताजी–यह देशी)

कल्याण जिननां कहूं, सुण प्राणीजी रे।
अभिनन्दन अरिहन्त ए भगवन्त, भविप्राणीजी रे!

माघ शुदि बीजने दिने, सुण प्राणीजी रे !
जन्म्या प्रभु सुखकार, हरख अपार, भविप्राणीजी रे ! ॥ १ ॥
वासुपूज्य जिन बारमा, सुण प्राणीजी रे !
एहि ज तिथे थयुं नाण, सकल विहाण, भविप्राणिजी रे !
अष्ट कर्म चूरण करी, सुण प्राणीजी रे !
अवगाहन एक बार, मुक्ति मोझार, भविप्राणिजी रे ! ॥ २ ॥
अरनाथ जिनजी नमु, सुण प्राणीजी रे !
अष्टादशमा अरिहत. ए भगवन्त, भविप्राणीजी रे !
उज्ज्वल तिथि फागण भली, सुण प्राणीजी रे !
च्यवीआ जिनवर सार, सुन्दर नार, भविप्राणीजी रे ! ॥ ३ ॥
दशमा शीतल जिनेसरु, सुण प्राणीजी रे !
परम पदनी ए वेल, गुणनी गेल, भवि प्राणीजी रे !
वैशाख वदी बीजने दीने, सुण प्राणीजी रे !
मूक्यो सर्वे साथ, सुर–नरनाथ, भविप्राणीजी रे ! ॥ ४ ॥
श्रावण सुदनी बीज भली, सुण प्राणीजी रे !
सुमतिनाथ जिनदेव च्यवीआ देव, भविप्राणीजी रे !
एणी तिथिए जिनजी तणा, सुण प्राणीजी रे !
कल्याणक पञ्च सार, भवनो पार, भविप्राणीजी रे ! ॥ ५ ॥

ढाल तीसरी

जगपति जिन चोविशमे रे लाल !
ए भाख्यो अधिकार ।

श्रेणिक आदे सहु मल्या रे लाल !
 शक्ति तणे अनुसार ॥
रे भविकजन भाव धरी ने सांभलो रे।
 आराधो धरी हेत[१] । ॥ १ ॥

दोय वरस दोय मासनी रे लाल !
 आराधो धरी खन्त रे—भविकजन !
उजमणो विधिशुं करो रे लाल !
 बीज ते मुक्ति महन्त, रे भविकजन ! ॥ २ ॥

मार्ग मिथ्या दूरे तजो रे लाल !
 आराधो गुण थोक, रे भविकजन !
वीरनी वाणी सांभलो रे लाल !
 उछरंग थयो बहु लोक, रे भविकजन ! ॥ ३ ॥

एणी बीजे केई तर्या रे लाल !
 वली तरशे केई निःशङ्क, रे भविकजन !
शशि सिद्धि अनुमानथी रे लाल !
 शैल नागधर अङ्क, रे भविकजन ! ॥ ४ ॥

अषाड सुदि दशमी दिने रे लाल !
 ए गायो स्तवन रसाल, रे भविकजन !
नवलविजय सुपसायथी रे लाल !
 चतुरने मङ्गल—माल, रे भविकजन ! ॥ ५ ॥

---

१ इस प्रकारकी गणनामें विवक्षा ही प्रमाण है।

कलश

एम वीर जिनवर सयल–सुखकर, गायो अति उलट भरे,
अषाड उज्ज्वल दशमी दिवसे, संवत अढार अठोत्तरे।
बीज–महिमा एम वर्णव्यो, रही सिद्धपुर चोमास ए!
जेह भाविक भावे सुणे गावे तस धरे लील–विलास ए॥ १ ॥

(१९)

ज्ञानपंचमीका स्तवन

सुत सिद्धारथ भूपनो रे! सिद्धारथ भगवान।
बार पर्षदा आगले रे! भाखे श्रीवर्धमान–
रे भवियण चित्तधरो,
मन–वचन–काय अमायो रे! ज्ञानभक्ति करो ॥ १ ॥
गुण अनन्त आतम तणा रे! मुख्य पणे तिहां दोय।
तेहमां पण ज्ञान ज वडुं रे! जिणथी दंसण होय–
रे भवियण० ॥ २ ॥
ज्ञाने चारित्र गुण वधे रे! ज्ञाने उद्द्योत–सहाय।
ज्ञाने स्थविरपणुं लहे रे ! आचारज उवज्झाय– ाय–
रे भवियण० ॥ ३ ॥
ज्ञानी श्वासोश्वासमां रे! कठिन करम करे नाश।
वह्नि जेम ईंधण दहे रे! क्षणमां ज्योति प्रकाश–
रे भवियण० ॥ ४ ॥

प्रथम ज्ञान पछी दया रे ! संवर मोहविनाश ।
गुणस्थानक पगथालीए रे ! जेम चडे मोक्ष आवास–
रे भवियण० ॥ ५ ॥

मइ–सुअ–ओहि–मणपज्जवा रे ! पञ्चम केवलज्ञान ।
चउ मूंगा श्रुत एक छे रे ! स्वपर–प्रकाश निदान–
रे भवियण० ॥ ६ ॥

तेहनां साधन जे कह्यां रे ! पाटी पुस्तक आदि ।
लखे लखावे साचवे रे ! धर्मी धरी अप्रमाद–
रे भवियण० ॥ ७ ॥

त्रिविध आशातना जे करे रे ! भणतां करे रे अन्तराय ।
अन्धा बहेरा बोबडा रे ! मूंगा पांगुला थाय–
रे भवियण० ॥ ८ ॥

भणतां गणतां न आवडे रे ! न मले वल्लभ चीज ।
गुणमञ्जरी–वरदत्त परे रे ! ज्ञान विराधन बीज–
रे भवियण० ॥ ९ ॥

प्रेमे पूछे पर्षदा रे ! प्रणमी जगगुरु–पाय ।
गुणमञ्जरी–वरदत्तनो रे ! करो अधिकार–पसाय–
रे भवियण० ॥ १० ॥

(२०)

अष्टमीका स्तवन

श्रीराजगृही शुभ ठाम, अधिक दिवाजे रे,
विचरंता वीर जिणन्द, अतिशय छाजे रे;

चोत्रीश अने पात्रीश, वाणीगुण लावे रे,
वाउं वार्या वधामणी जाय, श्रेणिक आवे रे. ॥ १ ॥
तिहां चोसठ सुरपति आवी, त्रिगडुं बनावे रे,
तेमां बेसीने उपदेश, प्रभुजी सुणावे रे;
सुर नर ने तिर्यंच, निज निज भाषा रे,
तिहां समजीने भवतीर, पामे सुख खासा रे. ॥ २ ॥
तिहां इन्द्रभूति गणधार, श्रीगुरु वीरने रे,
पूछे अष्टमीनो महिमाय, कहो प्रभु अमने रे;
भाखे वीर जिणन्द, सुणो सहु प्राणी रे,
आठमदिन जिन-कल्याण, धरो चित्त आणी रे. ॥ ३ ॥

(२१)

ढाल दूसरी

श्रीऋषभनुं जन्म-कल्याण रे!
वली चारित्र लह्युं भले वाण रे!
त्रीजा सम्भव च्यवन कल्याण रे!
भवि तुमे! अष्टमी तिथि सेवो रे!
ए छे शिववधू वरवानो मेवो रे—भवि तुमे! अष्टमी० ॥ १ ॥
श्रीअजित-सुमति जिन जन्म्यां रे!
अभिनन्दन शिवपद पाम्यां रे!
च्यव्या सातमा जिनगुणग्राम-भवि तुमे! अष्टमी० ॥ २ ॥

वीशमां मुनिसुव्रत स्वामी रे !
नमि नेमि जन्म्या गुण धामी रे !
वर्या मुक्तिवधु नेमस्वामी—भवि तुमे ! अष्टमी० ॥ ३ ॥
पार्श्वनाथजी मोह–महंता रे !
इत्यादिक जिन गुणवन्ता रे !
कल्याणक मुख्य कहेतां—भवि तुमे ! अष्टमी० ॥ ४ ॥
श्रीवीर जिणन्दनी वाणी रे !
निसुणी समज्या भवि प्राणी रे !
आठम दिन अति गुण खाणी—भवि तुमे ! अष्टमी० ॥ ५ ॥
अष्ट कर्म ते दूर पलाय रे !
एथी अडसिद्धि अडबुद्धि थाय रे !
ते कारण सेवो चित्त लाय—भवि तुमे ! अष्टमी० ॥ ६ ॥
श्रीउदयसागर गुरुराया रे !
जस शिष्य विवेके ध्याया रे !
तस **न्यायसागर** गुण गाया, भवि तुमे ! अष्टमी० ॥ ७ ॥

(२२)

दीवालीका स्तवन

मोरे दीवाली थई आज, प्रभुमुख जोवाने,
सर्या सर्या रे सेवकना काज, भवदुःख खोवाने।

महावीरस्वामी मुगते पहोंच्या, गौतम केवलज्ञान रे !
धन्य अमावास्या धन्य दीवाली, महावीर प्रभु निरवाण–
जिनमुख जोवाने ॥ १ ॥
चारित्र पाली निरमलुं रे, टाल्यां विषम–कषाय रे !।
एवा मुनिने वन्दीए जे, उतारे भवपार–जिन० ॥ २ ॥
बाकुल वहोर्या वीरजिने, तारी चन्दनबाला रे !।
केवल लई प्रभु मुगते पहोंच्या, पाम्या भवनो पार–जिन० ॥ ३ ॥
एवा मुनिने वन्दीए जे, पंचज्ञानने धरता रे !।
समवसरण दई देशना प्रभु, तार्या नरने नार–जिन० ॥ ४ ॥
चोवीशमा जिनेश्वररूरे, मुक्तितणा दातार रे !।
कर जोडी कवि एम भणे प्रभु ! दुनिया फेरो टाल–जिन० ॥ ५ ॥

(१)

स्तुतियाँ

श्रीआदिजिनकी स्तुति

आदि–जिनवर राया, जास सोवन्न–काया,
मरुदेवी माया, धोरी–लंछन पाया ।
जगस्थिति निपाया, शुद्ध चारित्र पाया,
केवलसिरि – राया, मोक्षनगरे सिधाया ॥ १ ॥
सवि जिन सुखकारी, मोह–मिथ्या निवारी,
दुरगति दुःख भारी, शोक–सन्ताप वारी ।

श्रेणी क्षपक सुधारी, केवलानन्त धारी,
नमीए नर–नारी, जेह विश्वोपकारी ॥ २ ॥
समवसरण बेठा, लागे जे जिन मीठा,
करे गणप पइट्ठा, इन्द्र–चन्द्रादि दीठा।
द्वादशाङ्गी वरिट्ठा, गूंथतां टाले रिट्ठा,
भविजन होय हिट्ठा, देखी पुण्ये गरिट्ठा ॥ ३ ॥
सुर समकितवन्ता, जेह रिद्धे महन्ता,
जेह सज्जन सन्ता, टाळीए मुज चिन्ता।
जिनवर सेवन्ता, विघ्न वारे दूरन्ता,
जिन उत्तम थुणन्ता, पद्मने सुख दिन्ता ॥ ४ ॥

(२)

श्रीशान्तिनाथकी स्तुति

वन्दो जिन शान्ति, जास सोवन्न–कान्ति,
टाले भव–भ्रान्ति, मोह–मिथ्यात्व–शान्ति।
द्रव्य-भाव-अरि-पान्ति, तास करता निकान्ति,
धरतां मन खान्ति, शोक–सन्ताप वान्ति ॥ १ ॥
दोय जिनवर नीला, दोय रक्त रंगीला,
दोय धोला सुशीला, काढता कर्म–कीला।
न करे कोई हीला, दोय श्याम सलीला,
सोल स्वामीजी पीला, आपजो मोक्ष–लीला ॥ २ ॥

जिनवरनी वाणी, मोह – वल्ली – कृपाणी,
सूत्रे देवाणी, साधुने योग्य जाणी ।
अर्थे गुंथाणी, देव–मनुष्य–प्राणी ।
प्रणमो हित आणी, मोक्षनी ए निशाणी ॥ ३ ॥
वागेसरी देवी, हर्ष हियडे धरेवी,
जिनवर–पय–सेवी, सार श्रद्धा वरेवी ।
जे नित्य समरेवी, दुःख तेहना हरेवी,
पद्मविजय कहेवी, भव्य–सन्ताप खेवी ॥ ४ ॥

(३)

श्रीशङ्खेश्वर – पार्श्वजिन स्तुति

संखेश्वर पासजी पूजीए, नरभवनो लाहो लीजीए ।
मनवांछित पूरण सुरतरु, जय वामा सुत अलवेसरु ॥ १ ॥
दोय राता जिनवर अतिभला, दोय धोला जिनवर गुण नीला ।
दोय लीला दोय शामल कह्या, सोले जिन कञ्चन वर्ण लह्या ॥ २ ॥
आगम ते जिनवर भाखियो, गणधर ते हइडे राखियो ।
तेहनो रस जेणे चाखियो, ते हुओ शिवसुख साखियो ॥ ३ ॥
धरणीधर राय पद्मावती, प्रभु पार्श्वतणा गुण गावती ।
सहु सङ्घना सङ्कट चूरती, **नयविमल**ना वांछित पूरती ॥ ४ ॥

(४)

श्रीमहावीर जिननी स्तुति

जय ! जय ! भवि हितकर वीर जिनेश्वर देव,
सुरनरना नायक, जेहनी सारे सेव ।

करुणारस–कन्दो वन्दो, आनन्द आणी,
त्रिशला–सुत सुन्दर, गुणमणि केरो खाणी ॥ १ ॥
जस पञ्च कल्याणक, दिवस विशेष सुहावे,
पण थावर नारक, तेहने पण सुख थावे।
ते च्यवन–जन्म–व्रत, नाण अने निरवाण,
सवि जिनवर केरां, ए पांचे अहिठाण ॥ २ ॥
जिहां पञ्च–समिति–युत, पञ्च–महाव्रत सार,
जेहमां परकाश्या, वली पञ्च व्यवहार।
परमेष्ठी–अरिहन्त, नाथ सर्वज्ञने पार,
एह पञ्च पदे लह्यो, आगम अर्थ उदार ॥ ३ ॥
मातङ्ग सिद्धाई, देवी जिन–पद सेवी,
दुःख–दुरित उपद्रव, जे टाले नित मेवी।
शासन–सुखदायी, आई ! सुणो अरदास,
श्रीज्ञानविमल–गुण, पूरो वांछित आस ॥ ४ ॥

(५)

श्रीसीमन्धर जिनकी स्तुति

श्रीसीमन्धर जिनवर, सुखकर साहिब देव,
अरिहन्त सकलनी, भाव धरी करुं सेव।
सकलागम–पारग–गणधर–भाषित–वाणी,
जयवन्ती आणा, **ज्ञानविमल** गुण खाणी ॥ १ ॥

(६)

श्रीसीमन्धर स्वामीकी स्तुति

महाविदेह क्षेत्रमां सीमन्धर स्वामी, सोनानुं सिंहासनजी,
रूपानां त्यां छत्र विराजे, रत्न मणिना दीवा दीपेजी ।
कुमकुम वरणी त्यां गहुंली विराजे, मोतीना अक्षत सारजी,
त्यां बेठा सीमन्धर स्वामी, बोले मधुरी वाणीजी ॥
केसर चन्दन भर्या कचोलां कस्तूरी बरासोजी,
पहेली पूजा अमारी होजो, ऊगमते प्रभातेजी ॥ १ ॥

(७)

श्रीसिद्धचक्रकी स्तुति

जिन शासन—वांछित—पूरण देव रसाळ,
भावे भवी भणीए, सिद्धचक्र गुणमाल ।
त्रिहुं काले एहनी, पूजा करे ऊजमाळ,
ते अजर—अमर—पद, सुख पामे सुविशाळ ॥ १ ॥
अरिहन्त, सिद्ध वन्दो, आचारज उवज्झाय,
मुनि दरिसण नाण, चरण तप ए समुदाय ।
ए नवपद समुदित, सिद्धचक्र सुखदाय,
ए ध्याने भविनां, भवकोटि दुःख जाय ॥ २ ॥
आसो चैतरमां, शुदि सातमथी सार,
पूनम लगी कीजे, नव आंबिल निरधार ।

दोय सहस गणणुं, पद सम साडा चार,
एकाशी आयम्बिल, तप आगम अनुसार ॥ ३ ॥
श्रीसिद्धचक्रनो सेवक, श्रीविमलेश्वर देव,
श्रीपालतणी परे, सुख पूरे स्वयमेव ।
दुःख दोहग्ग नावे, जे करे एहनी सेव,
श्रीसुमति सुगुरुनो, **राम** कहे नित्यमेव ॥ ४ ॥

(८)

श्रीसिद्धाचलकी स्तुति

पुण्डरीकगिरि महिमा, आगममां प्रसिद्ध,
विमलाचल भेटी, लहीए अविचल रिद्ध ।
पञ्चम गति पहोंच्या, मुनिवर कोडा कोड,
एणे तीरथ आवी, कर्म विघातक छोड ॥ १ ॥

(९)

श्रीशत्रुञ्जयकी स्तुति

श्रीशत्रुञ्जय तीरथ सार, गिरिवरमां जेम मेरु उदार,
ठाकुर राम अपार ;
मन्त्रमांही नवकार ज जाणु, तारामां जेम चन्द्र वखाणुं,
जलधर जलमां जाणुं ।
पंखीमांहे जिम उत्तम हंस, कुलमांहे जिम ऋषभनो वंस,
नाभि तणो ए अंस ;

क्षमावन्तमां श्रीअरिहन्त, तपशूरा मुनिवर महन्त,
शत्रुञ्जयगिरि गुणवन्त ॥ १ ॥

ऋषभ अजित सम्भव अभिनन्दा, सुमतिनाथ मुख पूनम चन्दा,
पद्मप्रभु सुखकन्दा;
श्रीसुपार्श्व चन्द्रप्रभु सुविधि, शीतल श्रेयांस सेवो बहु बुद्धि,
वासुपूज्य मति शुद्धि।
विमल अनन्त धर्म जिन शान्ति, कुंथु अर मल्लि नमुं एकांति,
मुनिसुव्रत शिव पांति,
नमि नेमि पास वीर जगदीश, नेम विना ए जिन त्रेवीश,
सिद्धगिरि आव्या ईश ॥ २ ॥

भरतराय जिन साथे बोले, कहो स्वामी! कुण शत्रुंजय तोले?
जिननुं वचन अमोले,
ऋषभ कहे सुणो भरतजी राय, 'छ'—री' पालतां जे नर जाय,
पातक भूको थाय।

पशु पंखी जे इण गिरि आवे, भव त्रीजे ते सिद्ध ज थावे,
अजरामर पद पावे;
जिन मतमां शेत्रुंजो वखाण्यो, ते में आगम दिलमांहि आण्यो,
सुणतां सुख उर ठायो ॥ ३ ॥

संघपति भरतेसर आवे, सोवन तणा प्रासाद करावे,
मणिमय मूरत ठावे;

नाभिराया मरुदेवी माता, ब्राह्मी–सुन्दरी व्हेन विख्याता,
मूर्ति नवाणुं भ्राता।
गोमुख यक्ष चक्रेश्वरी देवी, शत्रुंजय सार करे नित मेवी,
तपगच्छ ऊपर हेवी;
श्रीविजयसेन सूरीश्वर राया, श्रीविजयदेवसूरि प्रणमी पाया,
ऋषभदास गुण गाया ॥ ४ ॥

(१०)

बीजकी स्तुति

दिन सकल मनोहर, बीज दिवस सुविशेष,
रायराणा प्रणमे, चंद्रतणी जिहां रेख।
तिहां चन्द्र विमाने, शाश्वता जिनवर जेह।
हुं बीजतणे दिन, प्रणमुं आणी नेह ॥ १ ॥
अभिनन्दन चन्दन, शीतल शीतलनाथ,
अरनाथ सुमति जिन, वासुपूज्य शिवसाथ।
इत्यादिक जिनवर, जन्मज्ञान–निरवाण,
हूं बीजतणे दिन, प्रणमुं ते सुविहाण ॥ २ ॥
प्रकाश्यो बीजे, दुविध धर्म भगवन्त,
जेम विमल कमल होय, विपुल नयन विकसन्त।
आगम अति अनुपम, जिहां निश्चय–व्यवहार,
बीजे सवि कीजे, पातकनो परिहार ॥ ३ ॥

गजगामिनी कामिनी, कमल-सुकोमल चीर,
चक्रेश्वरी केसर, सरस सुगन्ध शरीर।
करजोडी बीजे, हुं प्रणमुं तस पाय,
एम लब्धिविजय कहे, पूरो मनोरथ माय ॥ ४ ॥

(११)

पञ्चमीकी स्तुति

श्रावण शुदि दिन पञ्चमीए, जन्म्या नेम जिणन्द तो,
श्याम वरण तनु शोभतुं ए, मुख शारद को चन्द तो।
सहस वरस प्रभु आउखुं ए, ब्रह्मचारी भगवन्त तो
अष्ट करम हेला हणी ए, पहोता मुक्ति महन्त तो ॥ १ ॥
अष्टापद पर आदि जिन ए, पहोंता मुक्ति मोझार तो,
वासुपूज्य चम्पापुरी ए, नेम मुक्ति गिरनार तो।
पावापुरी नगरीमां वली ए, श्रीवीरतणुं निर्वाण तो,
सम्मेतशिखर वीश सिद्ध हुआ ए, शिर वहुं तेहनी आण तो ॥ २ ॥
नेमनाथ ज्ञानी हुआ ए, भाखे सार वचन तो,
जीवदया गुण-वेलडी ए, कीजे तास जतन तो।
मृषा न बोलो मानवी ए, चोरी चित्त निवार तो,
अनन्त तीर्थङ्कर एम कहे ए, परिहरीए परनार तो ॥ ३ ॥
गोमेध नामे यक्ष भलो ए, देवी श्रीअम्बिका नाम तो,
शासन सान्निध्य जे करे ए, करे वली धर्मनां काम तो।
तपगच्छ-नायक गुणनीलो ए, श्रीविजयसेनसूरिराय तो,
ऋषभदास पाय सेवंता ए, सफल कर्यो अवतार तो ॥ ४ ॥

(१२)

अष्टमीकी स्तुति

मङ्गल आठ करी जस आगल, भावधरी सुरराजजी,
आठ जातिना कलश भरीने, न्हवरावे जिनराजजी ।
वीर जिनेश्वर जन्ममहोत्सव, करतां शिवसुख साधेजी,
आठमनुं तप करतां अम घर, मङ्गल–कमला वाधेजी ॥ १ ॥
अष्टकर्म–वयरी–गज–गंजन, अष्टापद परे बलियाजी,
आठमें आठ स्वरुप बिचारे, मद आठे तस गलियाजी ।
अष्टमी गति पहोंतां जे जिनवर, फरस आठ नहि अंगजी,
आठमनुं तप करतां अम घर, नित्य वाधे रंगजी ॥ २ ॥
प्रतिहारज आठ बिराजे, समवसरण जिनराजेजी,
आठमे आठमो आगम भाखी भविजन संशय भांजेजी ।
आठ जे प्रवचननी माता, पाले निरतिचारोजी,
आठमने दिन अष्ट प्रकारे, जीवदया चित धारोजी ॥ ३ ॥
अष्ट प्रकारी पूजा करीने, मानवभव–फल लीजेजी,
सिद्धाईदेवी जिनवर सेवी, अष्ट महासिद्धि दीजेजी ।
आठमनुं तप करतां लीजे, निर्मल केवल नाणजी,
धीरविमल कवि सेवक नय कहे, तपथी कोडि कल्याणजी ॥ ४ ॥

(१३)

एकादशीकी स्तुति

एकादशी अति रूअडी, गोविन्द पूछे नेम,
किण कारण ए पर्व मोटुं, कहोने मुझशुं तेम ।

जिनवर–कल्याणक अति घणां, एकसोने पचास,
तेणे कारण ए पर्व मोटुं, करो मौन उपवास ॥ १ ॥
अगियार श्रावक तणी पडिमा, कही ते जिनवर देव,
एकादशी एम अधिक सेवो, वनगजा जिम रेव।
चोवीश जिनवर सयल–सुखकर, जेसा सुरतरु चंग,
जेम गंग निर्मल नीर जेहवो, करो जिनशुं रंग ॥ २ ॥
अगियार अंग लखावीए, अगियार पाठां सार,
अगियार कवली वींटणां, ठवणी पूंजणी सार।
चाबखी चंगी विविध रंगी, शास्त्रतणे अनुसार,
एकादशी एम ऊजवो, जेम पामीए भवपार ॥ ३ ॥
वर-कमल-नयणी कमल-वयणी, कमल सुकोमल काय,
भुजदण्ड चण्ड अखण्ड जेहने, समरतां सुख थाय।
एकादशी एम मन वशी, गणी हर्ष पण्डित शिष्य,
शासनदेवी विघन निवारे, संघ तणां निशदिश ॥ ४ ॥

पर्युषणकी स्तुति

(१४)

बरस दिवसमां अषाढ–चोमासुं, तेहमां वलीभादरवो मास,
आठ दिवस अतिखास;
पर्व पजूसण करो उल्लास, अट्ठाइधरनो करवो उपवास,
पोसह लीजे गुरु पास।
वडा कल्पनो छट्ठ करीजे, तेह तणो बखाण सुणीजे,
चौद सुपन वांचीजे;

पड़वे ने दिवसे जन्म वंचाय, ओच्छव महोच्छव मङ्गल गवाय,
वीर जिणेसर राय ॥ १ ॥
बीजे दिने दीक्षा अधिकार, सांज–समय निरवाण विचार,
वीर तणो परिवार;
त्रीजे दिने श्रीपार्श्व विख्यात, वली नेमिसरनो अवदात,
वली नवभवनी वात।
चोवीशे जिन अन्तर तेवीश, आदि जिनेश्वर श्रीजगदीश,
तास वखाण सुणीश;
धवल मङ्गल गीत गहुंली करीए, वली प्रभावना नित अनुसरीए,
अट्ठम तप जय वरीए ॥ २ ॥
आठ दिवस लगे अमर पलावो, तेह तणो पडहो वजडावो,
ध्यान धरम मन भावो;
संवत्सरी–दिन–सार कहेवाय, संघ चतुर्विध भेलो थाय,
बारसा–सूत्र सुणाय।
थिरावली ने सामाचारी, पट्टावली प्रमाद निवारी,
सांभलजो नरनारी;
आगम सूत्रने प्रणमीश, कल्पसूत्रशुं प्रेम धरीश,
शास्त्र सर्वे सुणीश ॥ ३ ॥
सत्तरभेदी जिनपूजा रचावो, नाटक केरा खेल मचावो,
विधिशुं स्नात्र भणाओ;
आडम्बरशुं देहेरे जईए, संवत्सरी पडिकमणुं करीए,
संघ सर्वने खमीए।

पारणे साहम्मिवच्छल कीजे, यथाशक्तिए दान ज दीजे,
पुण्य भण्डार भरीजे ;
श्रीविजयक्षेमसूरि गणधार, जसवन्तसागर गुरु उदार,
जिणंदसागर जयकार ॥ ४ ॥

(१५)

पर्युषणकी स्तुति

पुण्यनुं पोषण पापनुं शोषण, पर्व पजूसण पामीजी,
कल्प घरे पधरावो स्वामी, नारी कहे शिष नामीजी ।
कुंवर गयवर खन्ध चढावी, ढोल निशान वगडावोजी,
सद्गुरुसंगे चढते रंगे, वीर-चरित्र सुणावोजी ॥ १ ॥
प्रथम वखाणे धर्म सारथि पद, बीजे सुपनां चारजी,
त्रीजे सुपन पाठक वली चोथे, वीर जनम अधिकारजी ।
पांचमे दीक्षा छट्ठे शिवपद, सातमे जिन त्रेवीशाजी,
आठमे थिरावली संभलावे, पिउडा पूरो जगीशजी ॥ २ ॥
छठ्ठ अठ्ठम अठ्ठाई कीजे, जिनवर चैत्य नमीजेजी,
बरसी पडिकमणुं मुनिवन्दन संघ सकल खामीजेजी ।
आठ दिवस लगे अमर प्रभावना, दान सुपात्रे दीजेजी,
भद्रबाहु-गुरु वचण सुणीने, ज्ञान सुधारस पीजेजी ॥ ३ ॥
तीरथमां विमलाचल गिरिमां, मेरु महीधर जेमजी,
मुनिवर मांही जिनवर म्होटा, परव पजूसण तेमजी ।
अवसर पामी साहम्मिवच्छल, बहु पकवान वडाईजी,
खिमाविजय जिनदेवी सिद्धाई, दिन दिन अधिक वधाईजी ॥ ४ ॥

(२६)

सज्झाय

(१)

क्रोधके विषयमें

कडवां फल छे क्रोधनां, ज्ञानी एम बोले।
रीसतणो रस जाणीए, हलाहल तोले—कडवां० ॥ १ ॥
क्रोधे क्रोड पूरवतणुं, संजम फल जाय।
क्रोध सहित तप जे करे, ते तो लेखे न थाय ॥ २ ॥
साधु घणो तपीओ हतो, धरतो मन वैराग।
शिष्यना क्रोध थकी थयो, चण्डकोसियो नाग ॥ ३ ॥
आग उठे जे घरथकी, ते पहेलुं घर बाळे।
जलनो जोग जो नवि मले, तो पासेनुं परजाळे ॥ ४ ॥
क्रोध तणी गति एहवी, कहे केवलनाणी।
हाणि करे जे हेतनी, जाळवजो एम जाणी ॥ ५ ॥
उदयरतन कहे क्रोधने, काढजो गले साही।
काया करजो निर्मली, उपशम रसे नाही ॥ ६ ॥

(२)

मानके विषयमें

रे जीव! मान न कीजिए, माने विनय न आवे रे!
विनय विना विद्या नहि, तो किम समकित पावे रे? ॥ १ ॥

समकित विण चारित्र नहि, चारित्र विण नहि मुक्ति रे।
मुक्तिनां सुख छे शाश्वतां, तो किम लहीए जुक्ति रे ॥ २ ॥

विनय वड़ो संसारमां, गुणमां अधिकारी रे।
माने गुण जाये गली, प्राणी जो जो विचारी रे ॥ ३ ॥

मान कर्युं जो रावणे, तो ते रामे मार्यो रे।
दुर्योधन गर्वे करी, अन्ते सवि हार्यो रे ॥ ४ ॥

सूकां लाकडां सारीखो, दुःखदायी ए खोटो रे।
उदयरत्न कहे मानने, देजो देशवटो रे ॥ ५ ॥

(३)

मायाके विषयमें

समकितनुं मूल जाणीएजी, सत्य वचन साक्षात्।
साचामां समकित वसेजी, मायामां मिथ्यात्व—
रे प्राणी! म करीश माया लगार ॥ १ ॥

मुख मीठो जूठो मने जी रे! कूड-कपटनो रे कोट।
जीभे तो जी-जी करे जी रे! चित्तमां ताके चोट—
रे प्राणी! म करीश माया लगार ॥ २ ॥

आप गरजे आघो पडेजी रे! पण न धरे रे! विश्वास।
मनशुं राखे आंतरोजी रे! ए मायानो पास—
रे प्राणी! म करीश माया लगार ॥ ३ ॥

जेहशुं बांधे प्रीतडीजी रे ! तेहशुं रहे प्रतिकूल।
मेल न छंडे मनतणोजी रे ! ए मायानुं मूल–
रे प्राणी ! म करीश माया लगार ॥ ४ ॥

तप कीधो माया करीजी रे ! मित्रशुं राख्यो भेद।
मल्लि जिनेश्वर जाणजोजी रे ! तो पाम्या स्त्रीवेद–
रे प्राणी ! म करीश माया लगार ॥ ५ ॥

उदयरत्न कहे सांभलोजी रे ! मेलो मायानी बुद्ध।
मुक्तिपुरी जावा तणो जी रे ! ए मारग छे शुद्ध–
रे प्राणी ! म करीश माया लगार ॥ ६ ॥

(४)

लोभके विषयमें

तुमे लक्षण जो जो लोभनां रे ! लोभे मुनिजन पामे क्षोभना रे !
लोभे डाह्या–मन डोल्या करे रे, लोभे दुर्घट पंथे संचरे रे !
तुमे लक्षण० ॥ १ ॥

तजे लोभ तेनां लऊं भामणां रे ! वली पाय नमी करूँ खामणां रे
लोभे मर्यादा न रहे केहनी रे ! तुमे संगत मेलो तेहनी रे !
तुमे लक्षण० ॥ २ ॥

लोभे घर मेली रणमां मरे रे ! लोभे उच्च ते नीचुं आदरे रे ! !
लोभे पाप भणी पगलां भरे रे ! लोभे अकारज करतां न ओसरे रे !
तुमे लक्षण० ॥ ३ ॥

लोभे मनडुं न रहे निर्मलुं रे! लोभे सगपण नासे वेगलुं रे!
लोभे न रहे प्रीति ने पावटुं रे! लोभे धन मेले बहु एकटुं रे!
तुमे लक्षण० ॥ ४ ॥

लोभे पुत्र पोते पिता हणे रे! लोभे हत्या—पातक नवि गणे रे!
ते तो दामतणा लोभे करी रे! ऊपर मणिधर थाए मरी रे!
तुमे लक्षण० ॥ ५ ॥

जोतां लोभनो थोभ दीसे नहि रे! एवुं सूत्र-सिद्धान्ते कह्युं सही रे!
लोभे चक्री सुभूम नामे जुओ रे! ते तो समुद्रमां डूबी मुओ रे!
तुमे लक्षण० ॥ ६ ॥

एम जाणीने लोभने छंडजो रे! एक धर्मशुं ममता मंडजो रे!
कवि **उदयरत्न** भाखे मुदा रे! वंदुं लोभ तजे तेहने सदा रे!
तुमे लक्षण० ॥ ७ ॥

(९)

आठ मदकी सज्झाय

मद आठ महामुनि वारिये, जे दुर्गतिना दातारो रे!
श्रीवीर जिणंद उपदिशे, भाखे सोहम गणधारो रे!
मद आठ० ॥ १ ॥

हाजी **जातिनो मद** पहेलो कह्यो, पूर्वे हरिकेशीए कीधो रे!
चण्डाल तणे कुल उपन्यो, तपथी सवि कारज सीधो रे!
मद आठ० ॥ २ ॥

हांजी कुलमद बीजो दाखीयो, मरिची भवे कीधो प्राणी रे !
कोडाकोडी–सागर–भवमां भम्यो, मद म करो इम जाणी रे !
मद आठ० ॥ ३ ॥

हांजी बलमदथी दुःख पामीआ, श्रेणिक-वसुभूति-जीवो रे !
जई भोगव्यां दुःख नरकतणां, मुख पाडतां नित रीवो रे !
मद आठ० ॥ ४ ॥

हांजी सनतकुमार नरेसरु, सुर आगल रूप वखाण्युं रे !
रोम–रोम काया बगड़ी गई, मद चोथानुं ए टाणुं रे !
मद आठ० ॥ ५ ॥

हांजी मुनिवर संयम पालतां, तपनो मद मनमां आयो रे !
थया कूरगडु ऋषिराजिया, पाम्या तपनो अन्तरायो रे !
मद आठ० ॥ ६ ॥

हांजी देश दशारणनो धणी (राय), दशार्णभद्र अभिमानी रे !
इन्द्रनी रिद्धि देखी बूझिओ, संसार तजी थयो ज्ञानी रे !
मद आठ ॥ ७ ॥

हांजी स्थूलभद्र विद्यानो कर्यो, मद सातमो जे दुःखदायी रे !
श्रुत पूरण–अर्थ न पामीओ, जुओ मानतणी अधिकाई रे !
मद आठ० ॥ ८ ॥

राय सुभूम षट्खण्डनो धणी, लाभनो मद कीधो अपार रे !
हय-गय-रथ सब सागर गळ्युं, गयो सातमी नरक मोझार रे !
मद आठ० ॥ ९ ॥

इम तन–धन–जोबन राज्यनो, न करो मनमां अहंकारो रे !
ए अथिर असत्य सवि कारमुं, क्षणमां विणसे बहु वारो रे !
मद आठ० ॥ १० ॥

मद आठ निवारो व्रतधारी, पालो संयम सुखकारी रे !
कहे **मानविजय** ते पामशे, अविचल पदवी नरनारी रे !
मद आठ० ॥ ११ ॥

(२७)
छन्द तथा पद

(१)
कलश
(छप्पय)

नित जपिये नवकार, सार सम्पति सुखदायक
सिद्ध मन्त्र ए शाश्वतो, एम जल्पे श्रीजगनायक ।
श्रीअरिहन्त सुसिद्ध, शुद्ध आचार्य भणीजे,
श्रीउवज्झाय सुसाधु, पञ्च परमेष्ठी थुणीजे ।
नवकार सार संसार छे, कुसललाभ वाचक कहे,
एक चित्ते आराधतां, विविध ऋद्धि वंछित लहे, ॥ १ ॥

(२)
श्रीनमस्कार–माहात्म्य

समरो मन्त्र भलो नवकार, ए छे चौद पूरवनो सार ।
एना महिमानो नहि पार, एनो अर्थ अनन्त उदार ॥
समरो मन्त्र....॥ १ ॥

सुखमां समरो दुःखमां समरो, समरो दिन ने रात ।
जीवतां समरो मरतां समरो, समरो सौ संघात ॥
समरो मन्त्र.... ॥ २ ॥

जोगी समरे भोगी समरे, समरे राजा–रंक ।
देवो समरे दानव समरे, सौ निःशंक ॥
समरो मन्त्र.... ॥ ३ ॥

अड़सठ अक्षर एना जाणो, अड़सठ तीरथ सार ।
आठ सम्पदायी परमाणो, अडसिद्धि दातार ॥
समरो मन्त्र.... ॥ ४ ॥

नवपद एनां नव निधि आपे, भवभवनां दुःख कापे ।
वीरवचनथी हृदये व्यापे, परमातम–पद आपे ॥
समरो मन्त्र.... ॥ ५ ॥

(३)

श्रीगौतमस्वामीका छन्द

वीर जिणेसर केरो शिष्य, गौतम नाम जपो निशदिस ।
जो कीजे गौतमनुं ध्यान, तो घर विलसे नवे निधान ॥ १ ॥

गौतम नामे गयवर चडे, मनवांछित हेला सांपडे ।
गौतम नामे नावे रोग, गौतम नामे सर्व संजोग ॥ २ ॥

जो वैरी विरुआ वंकडा, तस नामे नावे ढूकडा ।
भूत–प्रेत नवि खंडे प्राण, ते गौतमना करूं वखाण ॥ ३ ॥

गौतम नामे निर्मल काय, गौतम नामे वाधे आय।
गौतम जिनशासन शणगार, गौतम नामे जयकार ॥ ४ ॥
शाल–दाल–सुरसा–घृत–गोल, मनवांछित कापड–तंबोल।
घर सुघरणी निर्मल चित्त, गौतम नामे पुत्र विनीत ॥ ५ ॥
गौतम उदयो अविचल भाण, गौतम नाम जपो जगजाण।
म्होटां मन्दिर मेरु समान, गौतम नामे सफल विहाण ॥ ६ ॥
घर मयगल–घोडानी जोड, वारु पाहोंचे वंछित कोड।
महीयल माने म्होटा राय, जो पूजे गौतमना पाय ॥ ७ ॥
गौतम प्रणम्या पातक टले, उत्तम नरनी संगत मले।
गौतम नामे निर्मल ज्ञान, गौतम नामे वाधे वान ॥ ८ ॥
पुण्यवन्त अवधारो सहु, गुरु गौतमना गुण छे बहु।
कहे लावण्य–समय कर जोड, गौतम तूठे सम्पत्ति कोड ॥ ९ ॥

(४)

सोलह सतियोंका छन्द

आदिनाथ आदे जिनवर वन्दी, सफल मनोरथ कीजिए।
प्रभाते उठी मंगलिक कामे, सोले सतीनां नाम लीजिए ॥
आदि० ॥ १ ॥

बालकुमारी जगहितकारी, ब्राह्मी भरतनी बहेनडी ए।
घट घट व्यापक अक्षर रूपे, सोले सतीमां जे वडी ए ॥
आदि० ॥ २ ॥

बाहुबल-भगिनी सतीय शिरोमणि, सुन्दरी नामे ऋषभसुता ए।
अंकस्वरूपी त्रिभुवनमांहे, जेह अनुपम गुणजुता ए॥
आदि० ॥ ३ ॥

चन्दनबाला बालपणाथी, शियलवती शुद्ध श्राविका ए।
अडदना बाकुले वीर प्रतिलाभ्या, केवल-लही व्रत-भाविका ए॥
आदि० ॥ ४ ॥

उग्रसेन-धुआ-धारिणी-नंदिनी, राजिमति नेम-वल्लभा ए।
जोबन-वेशे कामने जीत्यो, संयम लइ देवदुल्लभा ए॥
आदि० ॥ ५ ॥

पंच-भरतारी पांडव-नारी, द्रुपद-तनया वखाणी ए।
एकसो आठे चीर पुराणा, शियल-महीमा तस जाणीए ए॥
आदि० ॥ ६ ॥

दशरथ नृपनी नारी निरुपम, कोशल्या कुलचन्द्रिका ए।
शियल-सलूणी राम-जनेता, पुण्यतणी परनालिका ए॥
आदि० ॥ ७ ॥

कौशांबिक ठामे शतानिक नामे, राज्य करे रंग राजीओ ए।
तस घर घरणी मृगावती सती, सुरभुवने जस गाजीओ ए॥
आदि० ॥ ८ ॥

सुलसा साची शियले न काची, राची नहि विषयारसे ए।
मुखडुं जोतां पाप पलाये, नाम लेतां मन उल्लसे ए॥
आदि० ॥ ९ ॥

राम रघुवंशी तेहनी कामिनी, जनकसुता सीता सती ए।
जग सहु जाणे धीज करंता, अनल शीतल थयो शियलथी ए॥
आदि० ॥ १० ॥

काचे तांतणे चालणीं बांधी, कूवा थकी जल काढियुं ए।
कलङ्क उतारवा सती सुभद्राए, चम्पा–बार उघाडियुं ए।
आदि० ॥ ११ ॥

सुर–नर–वन्दित शियल अखण्डित, शिवा शिवपद–गामिनी ए।
जेहने नामे निर्मल थईए, बलिहारी तस नामनी ए।
आदि० ॥ १२ ॥

हस्तिनागपुरे पाण्डुरायनी, कुन्ती नामनी कामिनी ए।
पाण्डवमाता दशे दशार्हनी, ब्हेन पतिव्रता पद्मिनी ए॥
आदि० ॥ १३ ॥

शीलवती नामे शीलव्रतधारिणीं, त्रिविधे तेहने वंदीए ए।
नाम जपन्ता पातक जाए, दरिसण दुरित निकंदीए ए।
आदि० ॥ १४ ॥

निषधा नगरी नलह नरिंदनी, दमयन्ती तस गेहनी ए।
सङ्कट पडतां शियल ज राख्युं, त्रिभुवन कीर्ति जेहनी ए।
आदि० ॥ १५ ॥

अनङ्ग-अजिता जग-जन-पूजिता, पुष्पचूला ने प्रभावती ए।
विश्व–विख्याता कामित–दाता, सोलमी सती पद्मावती ए।
आदि० ॥ १६ ॥

वीरे भाखी शास्त्रे साखी, उदयरत्न भाखे मुद्दा ए।
वहाणुं वातां जे नर भणशे, ते लहेशे सुखसम्पदा ए॥
आदि० ॥ १७ ॥

(५)

चिदानन्दजी कृत पद

(राग–हितशिक्षाका)

पूरव पुण्य–उदय करी चेतन! नीका नरभव पाया रे। पूरव ए टेक।
दीनानाथ दयाल दयानिधि, दुर्लभ अधिक बताया रे।
दश दृष्टान्ते दोहिलो नरभव, उत्तराध्ययने गाया रे॥ पूरव०॥ १॥
अवसर पाय विषय रस राचत, ते तो मूढ कहाया रे।
काग उड़ावण काज विप्र जिम, डार मणि पछताया रे। पूरव०॥ २॥
नदी-घोल-पाषाण न्याय कर, अर्धवाट तो आया रे।
अर्ध सुगम आगल रही तिनकुं, जिनने कछु घटाया रे। पूरव०॥ ३॥
चेतन चार गतिमें निश्चे, मोक्षद्वार ए काया रे।
करत कामना सुर पण याकी, जिनकुं अनर्गल माया रे॥ पूरव०॥ ४॥
रोहणगिरि जिम रत्नखाण तिम, गुण सहु यामें समाया रे।
महिमा मुखसें वरणत जाकी, सुरपति मन शंकाया रे॥ पूरव०॥ ५॥
कल्पवृक्ष सम संयमकेरी, अतिशीतल जिहाँ छाया रे।
चरण करण गुण-धरण महामुनि, मधुकर मन लोभाया रे॥ पूरव०॥ ६॥
या तन विणतिहु काल कहो किन, साचा सुख निपजाया रे।
अवसर पाय न चूक चिदानंद, सद्‌गुरु यूं दरसाया रे॥ पूरव०॥ ७॥

(६)

श्रीआनन्दघनजी कृत पद

(राग–आशावरी)

आशा औरनकी क्या कीजे, ज्ञान–सुधारस पीजे। आशा० ॥ टेक॥
भटके द्वार द्वार लोकनके, कूकर आशाधारी।
आतम-अनुभव-रसके-रसिया, उतरे न कबहु खुमारी॥ आशा० ॥ १ ॥
आशादासी करे जे जाये, ते जन जगके दासा।
आशादासी करे जे नायक, लायक अनुभव-प्यासा ॥ आशा० ॥ २ ॥
मनसा प्याला प्रेम–मसाला, ब्रह्म–अग्नि परजाली।
तन भाठी अवटाई पीये कस, जागे अनुभव लाली ॥ आशा० ॥ ३ ॥
अगम पियाला पियो मतवाला, चिन्हे अध्यातम वासा।
आनन्दघन चेतन व्हे खेले, देखे लोक तमासा ॥ आशा० ॥ ४ ॥

[२८]

आरतीयाँ

(१)

जय ! जय ! आरती आदि जिणंदा,
नाभिराया मरुदेवीको नंदा........जय ! जय ! ! ।
पहेली आरती पूजा कीजे,
नरभव पामीने ल्हावो लीजे....जय ! जय ! ! ॥ १ ॥

दूसरी आरती दीन–दयाला,
धूलेवमण्डन प्रभु जग–उजियाला....जय ! जय ! ! ।
तीसरी आरती त्रिभुवन देवा,
सुर–नर–इन्द्र करे तोरी सेवा....जय ! जय ! ! ॥ २ ॥
चौथी आरती चउगति चूरे,
मनवांछित फल शिवसुख पूरे....जय ! जय ! ! ।
पंचमी आरती पुण्य–उपाया,
मूलचन्द रिखव–गुण गाया....जय ! जय ! ! ॥ ३ ॥

(२)

अपसरा करती आरती जीन आगे,
हां रे जिन आगे रे जिन आगे ।
हां रे ए तो अविचल सुखड़ा मागे,
हा रे नाभिनन्दन पास....अ...... ॥ १ ॥
ता थेई नाटक नाचती पाय ठमके,
हा रे दोय चरणमां झांझर झमके ।
हा रे सोवन घुघरडी घमके,
हां रे लेती फुदडी बाल....अ.... ॥ २ ॥
ताल मृदंग ने वासली डफ वीणा,
हा रे रूडा गावंती स्वर झीणा ।
हां रे मधुर सुरासुर नयणां,
हां रे जोती मुखडुं निहाल....अ.... ॥ ३ ॥

धन्य मरुदेवा माताने पुत्र जाया,
हां रे तोरी कंचन वरणी काया।
हां रे मैं तो पूरब पुण्ये पाया,
हां रे देख्यो तेरो देदार....अ.... ॥ ४ ॥
प्राणजीवन परमेश्वर प्रभु प्यारो,
हां रे प्रभु सेवक हुं छुं तारो।
हां रे भवोभवनां दुखडां वारो,
हां रे तुमे दीनदयाल....अ.... ॥ ५ ॥
सेवक जाणी आपनो चित्त धरजो,
हां रे मारी आपदा सघळी हरजो।
हां रे मुनिमाणेक सुखियो करजो,
हां रे जाणी पोतानो बाल....अ.... ॥ ६ ॥

(२९)

मङ्गल–दीपक

(१)

दीवो रे! दीवो मंगलिक दीवो।
आरती उतारण बहु चिरं जीवो; दीवो रे! ॥ १ ॥
सोहामणुं घर पर्व–दीवाली।
अम्बर खेले अमराबाली, दीवो रे! ॥ २ ॥
देपाळ भणे एणे कुळ अजुआळी।
भावे भगते विघ्न निवारी; दीवो रे! ॥ ३ ॥

देपाल भणे इणे ए कलिकाले।
आरती उतारी राजा कुमारपाले; दीवो रे! ॥ ४ ॥
अम घर मंगलिक तुम घर मंगलिक।
मगलिक चतुर्विध सघने होजो; दीवो रे! ॥ ५ ॥

(२)

चारो मंगल चार आज, चागे मंगल चार।
देख्यो दरस सरस जिनजीको, शोभा सुंदर सार। आज० ॥ १ ॥
छिनुंछिनुंछिनुं मनमोहन चरचो, घसी केसर घनसार। आज० ॥ २ ॥
विविध जाति के पुष्प मंगावो, मेगर लाल गुलाल। आज० ॥ ३ ॥
धूप उखेवो ने करो आरती, मुख बोलो जयजयकार। आज० ॥ ४ ॥
हर्ष धरी आदीश्वर पूजो, चोमुख प्रतिमा चार। आज० ॥ ५ ॥
हैये धरी भाव भावना भावो, जिम पामो भवपार। आज० ॥ ६ ॥
सकलचन्द सेवक जिनजीको, आनंदघन उपकार। आज० ॥ ७ ॥

(३०)

छूटे बोल

मार्गानुसारिके ३५ बोल.

१ न्यायसम्पन्न–विभव–न्यायसे धन प्राप्त करना। स्वामि–द्रोह करके, मित्रद्रोह करके, विश्वास दिलाकर ठगनेसे, चोरी करके, धरोहर आदिमें बदलकर आदि निन्द्य काम करके धन प्राप्त नहीं करना।

२ शिष्टाचार–प्रशंसा–उत्तम पुरुषोके आचरणकी प्रशंसा करनी।

३ समान कुलाचारवाले किन्तु अन्य गोत्रीके साथ विवाह–सम्बन्ध करना।

४ पाप–कार्यसे डरना।

५ प्रसिद्ध देशाचारके अनुसार वर्त्तन करना।

६ किसीका अवर्णवाद बोलना नहीं–किसीकी निन्दा नहीं करनी।

७ जिस घरमें प्रवेश और निर्गमन–निकलने के मार्ग अनेक न हों तथा जो घर अति गुप्त और अति प्रकट न हो और पड़ोसी अच्छे न हों ऐसे घरमें नहीं रहना।

८ अच्छे आचरणवाले पुरुषोंकी संगति करनी।

९. माता तथा पिताकी सेवा करनी–उनका सर्व प्रकारसे विनय करना और उनको प्रसन्न रखना।

१० उपद्रववाले स्थानका त्याग करना–लड़ाई दुष्काळ आदि आपत्तिजनक स्थान छोड़ देना।

११ निन्दित कार्यमें प्रवृत्त नहीं होना–निन्दाके योग्य कार्य नहीं करने।

१२ आवकके अनुसार खर्च रखना। आमदानी के अनुसार खर्च करना।

१३ धनके अनुसार वेष रखना। आमदानी के अनुसार वेषभूषा रखनी।

१४ आठ प्रकारके बुद्धिके गुणोंको सेवन करना। उन आठ गुणों के नाम :—

१ शास्त्र सुननेकी इच्छा। २ शास्त्र सुनना। ३ उनका अर्थ समझना। ४ उसको याद रखना। ५ उसमें तर्क करना। ६ उसमें विशेष तर्क करना। ७ सन्देह नहीं रखना। ८ यह वस्तु ऐसी ही है, ऐसा निश्चय करना।

१५ नित्य धर्मको सुनना। (जिससे बुद्धि निर्मल रहे।)

१६ पहले किया हुआ भोजन पच जाय, तब नया भोजन करना।

१७ जब सच्ची (वास्तविक) भूख लगे तब खाना, किन्तु एकबार खा लेनेके बाद शीघ्र ही मिठाई आदि आयी हुई देख कर लालचसे खानी नहीं, क्योंकि अजीर्ण हो जाता है।

१८ धर्म, अर्थ और काम इन तीनों वर्गों को साधना।

१९ अतिथि और गरीब आदिको अन्नपानादि देना।

२० निरन्तर अभिनिवेश रहित रहना। किसीको पराभव करने की इच्छा करके अनीतिके कार्यका आरम्भ नहीं करना।

२१ गुणी पुरुषोंका पक्षपात करना—उनका बहुमान करना।

२२ निषिद्ध देश कालका त्याग करना। राजा तथा लोकद्वारा निषेध किये हुए देश कालमें जाना नहीं।

२३ अपनी शक्तिके अनुसार कार्यका आरम्भ करना।

२४ पोषण करने योग्य जैसे कि माता—पिता—स्त्री—पुत्रादिकका भरण—पोषण करना।

२५ व्रतसे युक्त और ज्ञानमें बडे ऐसे पुरुषोंका पूजन करना-सन्मान करना।

२६ दीर्घदर्शी बनना—कोई भी कार्य करनेसे पूर्व दीर्घदृष्टि डालना, उसके शुभाशुभ परिणामका विचार करना।

२७ विशेषज्ञ होना। प्रत्येक वस्तुकी वास्तविकता समझकर अपनी आत्माके गुणदोषोंकी खोज करनी।

२८ कृतज्ञ होना—किये हुए उपकार और अपकारका समझनेवाला होना।

२९ लोकप्रिय बनना—विनयादि गुणोंसे लोकप्रिय बनना।

३० लज्जालु होना—लाज और मर्यादामें रहना।

३१ दयालु बनना—दयाभाव रखना।

३२ सुन्दर आकृतिवान् बनना—क्रूर आकृतिका त्याग करके सुन्दर आकृति रखनी।

३३ परोपकारी बनना—दूसरोंका उपकार करना।

३४ अन्तरङ्गारिजित् बनना—काम, क्रोध, लोभ, मान, मद तथा ईर्षा इन छः अन्तरङ्ग शत्रुओंको जीतना।

३५ वशीकृतेन्द्रियग्राम होना—इन्द्रिय समूह को वश करना—सर्व इन्द्रियोंको वश करनेका अभ्यास करना।

श्रावकके २१ गुण

१ अक्षुद्र, २ रूपवान, ३ शान्त प्रकृतिवान्, ४ लोकप्रिय, ५ अक्रूर, ६ पापभीरु, ७ अशठ, ८ दाक्षिण्यवान्, ९ लज्जालु,

१० दयालु, ११ मध्यस्थ–सौम्यदृष्टि, १२ गुणरागी, १३ सत्कथाख्य, १४ सुपक्षयुक्त, १५ दीर्घदर्शी, १६ विशेषज्ञ, १७ वृद्धानुगामी, १८ विनयी, १९ कृतज्ञ, २० परहितार्थकारी, २१ लब्धलक्षय।

भावश्रावकके ६ लिङ्ग

१ व्रत और कर्म करनेवाला हो, २ शीलवान् हो, ३ गुणवान् हो, ४ ऋजु व्यवहारवाला हो, ५ गुरु शुश्रूषावाला हो और ६ प्रवचन कुशल हो।

भावश्रावकके १७ लक्षण

नीचे लिखी नौ वस्तुओंका सच्चा स्वरूप समझकर उसके अनर्थसे दूर रहेः–

(१) स्त्री, (२) इन्द्रियाँ, (३) अर्थ (पैसा), (४) संसार, (५) विषय, (६) तीव्र आरंभ, (७) घर, (८) दर्शन, (९) गड्डलिका प्रवाह (देखादेखी)।

(१०) आगम पुरस्सर प्रवृत्ति करे।

(११) यथाशक्ति दानादि प्रवृत्ति करे।

(१२) विधिका जानकार बने।

(१३) अरक्तद्विष्ट–राग–द्वेष न करे।

(१४) मध्यस्थ–कदाग्रह–हठ न रखे।

(१५) असम्बद्ध–धन, स्वजन आदिमें भावप्रतिबन्ध–रहित रहे।

(१६) परार्थकामोपभोगी—दूसरेके आग्रहसे शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शका उपभोग करे।

(१७) निरासक्त भावसे गृहवास पालनेवाला बने।

(३१)

श्रावकके प्रतिदिन धारने योग्य

१४ नियम

" सचित्त—दव्व—विगई—वाणह—तंबोल—वत्थ—कुसुमेसु।
वाहण—सयण—विलेवण—बंभ—दिसि—ण्हाण—भत्तेसु॥ "

१ **सचित्त—नियम**—श्रावक को मुख्य वृत्तिसे सचित्तका त्यागी होना चाहिये, तथापि वैसा न बन सके तो वहाँ सचित्तका परिमाण निश्चित करना कि इतने सचित्त द्रव्यों से अधिक मुझे त्याग है। अचित्त वस्तु वापरनेसे चार प्रकारके लाभ होते हैं—

(१) सर्व सचित्तका त्याग होता है, (२) रसनेन्द्रिय वशमें हो जाती हैं, (३) कामचेष्टाकी शान्ति होती है और (४) जीवोंकी हिंसासे बच सकते हैं।

२ **द्रव्य—नियम**—(दव्व)—आजके दिन मैं इतने 'द्रव्योंसे' अधिक उपयोगमें न लूँगा, ऐसा नियम लेनेको 'द्रव्य नियम' कहते हैं। यह 'द्रव्य' शब्दसे परिणामके अन्तरवाली वस्तु ग्रहण करनी चाहिये। जैसे कि—खीचड़ी, लड्डू, बड़े और पापड़।

जिन्होंके मतसे नामान्तर, स्वादान्तर, रूपान्तर और परिणामान्तर द्वारा द्रव्यकी भिन्नता निश्चित होती है।

३ विकृति-नियम—विकृतियाँ दस हैं:—(१) मधु, (२) मांस, (३) मक्खन, (४) मदिरा, (५) दूध, (६) दही, (७) घृत, (८) तेल, (९) गुड, (१०) बड़े (तली हुई वस्तुएँ) इनमेंसे प्रथम चारका सम्पूर्ण त्याग और अन्यका शक्तिशः त्याग वह विकृति-नियम। विकृति त्यागके साथ उन प्रत्येकका नीवियाता.........का भी त्याग होता है। और वैसा करनेकी इच्छा नहीं हो तो नियम लेते समय ही धार लिया जाता है कि 'मुझे विकृतिका त्याग है पर उसमें नीवियाताकी यतना है।

उपानह-नियम—आजके दिन इतने जूतोंसे अधिक जूते नहीं पहनूँ ऐसा जो नियम वह 'उपानह-नियम'। इसमें उपानह शब्दसे चप्पल, बूँट, पावडी, मोजे आदि सब साधन समझने चाहिये।

५ **तंबोल-नियम**—चार प्रकारके आहारमेंसे स्वादिम आहार—अर्थात् तंबोल। उसमें पान, सुपारी, तज, लवङ्ग, इलायची आदिका समावेश होता है। इसका दिवस—सम्बन्धीपरिमाण करना वह 'तंबोल—नियम'।

६ **वस्त्र—नियम**—पहननेके तथा ओढनेके वस्त्रोंका दिवस-सम्बन्धी परिमाण निश्चित करना वह—'वस्त्र—नियम'।

७ पुष्पभोग–नियम–मस्तकपर रखनेके योग्य, गलेमें पहन-नेके योग्य, हाथमें लेकर सूँघने योग्य आदि फूलों तथा उनसे निर्मित वस्तु जैसे कि–फूलकी शय्या, फूलके तकिये, फूलके पंखे, फूलकी जाली, फूलके गजरे, फूलकी कलगी, फूलके हार–तुर्रे, तेल, इत्र आदिका परिमाण निश्चित करना वह 'पुष्पभोग–नियम'।

८ वाहन–नियम–रथ, हाथी, घोड़ा, उँट, खच्चर, पालखी, गाड़ा–गाड़ी, टमटम–तांगा, सायकल, मोटर, रेल्वे, आगबोट, ट्राम, बस, विमान, आदि एक दिनमें इतनेसे अधिक नहीं वापरना, इसका निश्चय करना वह 'वाहन–नियम'।

९ शयन–नियम–खाट, खटिया, कुर्सी, कोच, गादी, तकिया, गदला, गोदड़ा तथा पाट प्रमुखका दिवस–सम्बन्धी नियम करना, वह 'शयन–नियम'।

विलेपन–नियम–विलेपन तथा उबटनके योग्य द्रव्य-जैसे कि चन्दन, केशर, कस्तूरी, अबीर, अरगजा तथा पीठी आदि द्रव्योंके परिमाणका दिवस–सम्बन्धी नियम करना, वह 'विलेपन–नियम'।

११ ब्रह्मचर्य–नियम–दिनमें अब्रह्मका सेवन नहीं करना। वह श्रावकके लिये वर्ज्य है। तथा रात्रिको यतना करनी आवश्यक है, उसके परिमाणका नियम करना, वह 'ब्रह्मचर्य–नियम'।

१२ दिग्–नियम–भावना और प्रयोजनके अनुसार दसों दिशाओंमें जाने–आनेका परिमाण वह 'दिग्–नियम'।

१३ **स्नान-नियम**-दिनमें इतनी बारसे अधिक नहीं नहाना तत्सम्बधी नियम-'स्नान-नियम'। यहाँ श्रीजिनेश्वरादिकी भक्ति आदिके निमित्तसे स्नान करना पड़े तो उसमें नियमका बाध नहीं होता।

१४ **भक्त-नियम**-दिवस-सम्बन्धी आहारका परिमाण निश्चित करना वह भक्त-नियम। इस व्रतका पालन स्व-अपेक्षासे करना चाहिये। कुटुम्ब या ज्ञाति आदिके निमित्तसे घरपर आहारादि बनाने पड़े तो, उसकी इसमें छूट है।

तदुपरान्त निम्न-लिखित नियम भी अधिक धारण किये जाते हैं:-

१ **पृथ्वीकाय**-मिट्टी कितनी वापरनी।

२ **अप्‌काय**-पीने, नहाने, धोने आदिमें कुल कितना पानी वापरना।

३ **तेउकाय**-चूला, दीपक, भट्ठी, सिघड़ी आदि कितने उपयोगमें लेना।

४ **वायुकाय**-पंखे आदिका कितना उपयोग करना।

५ **वनस्पतीकाय**-वनस्पतिकी कितनी वस्तुओंका उपयोग करना।

१ **असि**-तलवार, छुरी, चाकू आदि कितने हथियार वापरने।

२ मषी—दावात, कलम, कूंची, होल्डर, बरू, पेन्सिल आदि कितने वापरने ।

३ कृषि-हल, हँसिया, आदि खेती के औजार कितने वापरने।

इन प्रत्येक वस्तुका प्रातः नियम धारण किया हो, उसका सायङ्कालको विचार करना । उनमेंसे यदि नियमके अतिरिक्त उपयोग हुआ हो तो गुरु महाराजके पास आलोचना कर आज्ञानुसार प्रायश्चित करना । नियमानुसार उपयोग हुआ हो, तो वह विचार लेना और थोडी वस्तु वपरायी हो तो शेष नहीं वपरायी हुई साक्षात् उपयोगसे लगनेवाले कर्मदोषसे बच गई है, अतः उतना लाभ हुआ मानना । इस प्रकार नियम विचारनेको 'नियम संक्षेप किये' कहते है ।

(३२)

सत्रह प्रमार्जना

खमासामण तथा वन्दन करते समय स्थानकी प्रमार्जना करनी आवश्यक है । वह इस प्रकारः—दाहिने पैरसे कमर के नीचेके पाँव-पर्यन्त पीछेका सारा भाग, पीछेका करमरका नीचेका मध्यभाग, दाँये पाँवके नीचेका पिछले पाँवतकका सर्व भाग इन तीनोंका चरवलेसे प्रमार्जन करना । उसी प्रकार दाँया पाँव, मध्यभाग और बाँया पाँव इन तीनोंके आगेके भागका भी पाँवतक प्रमार्जन करना, इस तरह छः । नीचे बैठते समय तीनबार भूमि पूँजनी, ऐसे नौ । फिर

दाहिने हाथमें मुहपत्ती लेकर उससे ललाटकी दाँयी ओरसे प्रमार्जन करते हुए सारा ललाट, सारा बाँया हाथ और नीचे कोनी तक, इसके पश्चात् इसी प्रकार बाँये हाथमें मुहपत्ती लेकर बाँयी ओरसे पूँजते हुए सारा ललाट, सारा दाहिना हाथ और नीचे कोनी तक, वहाँसे चरवलेकी डण्डीको मुहपत्तीसे पूंजना। ऐसे ११। फिर तीनबार चरवलेके गुच्छपर ऐसे १४ और उठते समय तीनबार अव-ग्रहसे बाहर निकलते समय कटासणपर पूँजना, ऐसे सत्रह।